वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप

ओम्प्रकाश पाण्डेय

डी॰ लिट्॰

रीडर, संस्कृत तथा प्राकृत विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ

विश्व प्रकाशन

(वाइली ईस्टर्न लिमिटेड का प्रभाग)

नई दिल्ली • बंगलूर • बम्बई • कलकत्ता • गुवाहाटी • हैदराबाद • लखनऊ
मद्रास • पुणे • लन्दन

विश्व प्रकाशन
(वाइली ईस्टर्न लिमिटेड का प्रभाग)

नई दिल्ली	:	4835/24 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली–110002
बंगलूर	:	27, बुल टैम्पल रोड, बसवनगुंडी, बंगलूर–560004
बम्बई	:	128/A, नूरानी बिल्डिंग, ब्लाक नं. 3, पहली मंजिल, जे.एल.बी. रोड, महिम, बम्बई-400016
कलकत्ता	:	40/8 बालीगंज, सरक्यूलर रोड, कलकत्ता–700019
गुवाहाटी	:	पन बाजार, रानी बारी, गुवाहाटी–781001
हैदराबाद	:	1-2-412/9, गगन महल, निकट ए.वी. कालेज, दामुलगुडा, हैदराबाद–500029
लखनऊ	:	18, मदन मोहन मालवीय मार्ग, लखनऊ–226001
मद्रास	:	नं॰ 6, पहला मुख्य मार्ग, गांधी नगर, मद्रास–600020
पुणे	:	इन्दिरा कोऑपरेटिव हाउसिंग सोसाइटी लि., (इन्दिरा हाइट), फ्लैट नं. 2 बिल्डिग नं. 7, इरण्डवाने पौड फाटा, कार्वे रोड, पुणे–411038
लन्दन	:	विश्व प्रकाशन लिमिटेड, स्पैटेक हाउस, लंघम रोड, साउथ गौडस्टोन, सरे, RH9 8HB, लन्दन, UK

ISBN : 81-7328-037-1

वी. एस. जौहरी द्वारा विश्व प्रकाशन (वाइली ईस्टर्न लिमिटेड का प्रभाग)
4835/24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली–110002 के लिए प्रकाशित
एवं स्पैक्ट्रम मीडिया, 3721/5, सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली द्वारा टाइपसेटिंग तथा
विकास ऑफसैट, दिल्ली द्वारा भारत में मुद्रित।

प्राक्कथन

वैदिक साहित्य और तत्त्वज्ञान के समुज्ज्वल आलोक की स्निग्ध रश्मियां अनादि काल से सम्पूर्ण मानवता को प्रेरित और ऊर्जस्वित करती रही हैं। अत: वेद समग्र विश्व की सर्वाधिक महीयसी निधि हैं।

विगत डेढ़ शताब्दियों में, बहुसंख्यक पौरस्त्य और पाश्चात्य वेदानुशीलियों ने वैदिक साहित्य तथा संस्कृति के परिचयात्मक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से अधिकांश आज कालबाह्य हो चुके हैं और उनका केवल ऐतिहासिक संग्रह की दृष्टि से ही मूल्य रह गया है। सम्प्रति विद्यमान कुछ अन्य ऐसे ग्रन्थों में दृष्टिकोणों का असन्तुलन, एकाङ्गिता और पूर्वग्रहों की तो भरमार है, किन्तु नवीन तथ्यों और प्रामाणिकता का अभाव है। ऐसी स्थिति में, वैदिक साहित्य एवं संस्कृति के स्वरूप पर एक ऐसे सर्वाङ्गीण, वैज्ञानिक, सन्तुलित और नवीन शोध-निष्कर्षों से संवलित परिचयात्मक इतिहास ग्रन्थ की आवश्यकता सुदीर्घकाल से अनुभव की जा रही थी, जो सामान्य अध्येताओं, उच्च कक्षाओं के छात्रों और शोधप्रज्ञों के लिए समान रूप से उपादेय सिद्ध हो सके। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी सन्दर्भ में प्रायोजित है। यह अधुनातन शोध-परिणामों से पूर्ण, सन्तुलित दृष्टि-बिन्दुओं से समन्वित और एकांगीपन से मुक्त है। वेद हमारे गौरव ग्रन्थ हैं, इस तथ्य को कहीं भी ओझल नहीं होने दिया गया है। ऋग्वैदिक खिल सूक्तों, वेदों के आधुनिक भारतीय भाष्यकारों, वैदिक विज्ञान और गणित, सामगान की प्रक्रिया, वैदिक काव्य के सौन्दर्य, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, भक्तिभावना, श्रौतसूत्रों और वैदिक यज्ञों पर इसमें नवीन, विशिष्ट और विस्तृत सामग्री का समावेश है। इस प्रकार वैदिक साहित्य और संस्कृति के समग्र स्वरूप को अत्यन्त निष्ठापूर्वक विस्तृत पटल पर उपस्थापित करने का भरसक प्रयत्न लेखक ने किया है।

इस ग्रन्थ के लेखन-काल में, जीवन संगिनी श्रीमती निर्मल मोहनी, आयुष्मती पुत्री कु॰ प्रज्ञा तथा कुमारत्रयी (आयुष्मान् मनीष, मानस तथा महिम्न) ने जो झिड़कियां झेलते हुए भी बहुविध सहयोग किया, तदर्थ वे स्नेह और आशीस् के आस्पद हैं ग्रन्थ को पूर्ण करने के लिए अग्रज श्री आनन्द मिश्र 'अभय' तथा अनुज श्री अजय सिंह ने जो निरन्तर उकसाने का कार्य किया, इसके लिए वे भी साधुवाद के भाजन हैं। इसके प्रकाशन में प्राप्त विशिष्ट सहयोग के लिए मैं लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो॰ महेन्द्र सिंह सोढा, प्रो॰ बी॰ डी॰ गुप्त, वाइली ईस्टर्न लिमिटेड के संचालक श्री ए॰ माचवे, विश्व प्रकाशन के विशिष्ट अधिकारी श्री वी॰ एस॰ जौहरी तथा उनकी सक्रिय टीम के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

'ब्रह्म सत्यं च पातु माम्।'

लेखक

२३, मिलनी पार्क,
विश्वविद्यालय-कैम्पस, बादशाहबाग, लखनऊ
मंगलवार, १६ अगस्त १९९४ ई॰

अनुक्रमणी

(खण्ड - १)

(खण्ड - २)

(खण्ड - ३)

खण्ड – १

प्रथम अध्याय – पूर्वपीठिका

- वेद का स्वरूप एवं महत्त्व
- अविर्भाव एवं अपौरुषेयता
- वैदिक वाङ्मय का वर्गीकरण
- रक्षा के उपाय
- काल-निर्णय, व्याख्याकार एवं व्याख्या-पद्धतियाँ
- वैदिक विज्ञान

प्रथम अध्याय

पूर्वपीठिका

वेद का स्वरूप

'वेद' शब्द 'विद्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है पवित्र ज्ञान। स्वर की दृष्टि से यह आद्युदात्त और अन्तोदात्त दोनों रूपों में प्राप्त होता है। ज्ञानार्थक 'वेद' शब्द आद्युदात्त है, जबकि अन्तोदात्त 'वेद' शब्द का अर्थ है कुशमुष्टि। अथर्ववेद एवं परवर्ती साहित्य में वैदिक वाङ्मय के ज्ञापक 'वेद' शब्द का उन्मुक्त प्रयोग है।[1] पाणिनीय गणपाठ में यह वृषादिगण तथा उञ्छादिगणों में प्राप्त होता है। 'विद्' धातु लाभ, सत्ता, ज्ञान और विचारणा अर्थों में पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट है। इसलिए विद्वानों ने 'वेद' का निर्वचन सभी दृष्टियों से किया है, जैसाकि ऋक्प्रातिशाख्य के अन्तर्गत विष्णुमित्र की 'वर्गद्वयवृत्ति' से स्पष्ट–है–'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते एभिर्धर्मादि पुरुषार्था: इति वेदा:।' इसमें तीनों धात्वर्थ समाविष्ट हो गये हैं।

सायणाचार्य के अनुसार इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-निवारण का अलौकिक उपाय जो ग्रन्थ बतलाए, वह वेद है–'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेद:।'[2] वास्तव में ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान से अभिलषित-प्राप्ति और कलञ्ज (विषाक्त शस्त्र से आहत जन्तु)–भक्षण के त्याग से अनिष्ट का निवारण होगा, इसका ज्ञान न तो किसी प्रत्यक्ष विधि से सम्भव है और अनुमापक हेतु के अभाव में यह अनुमान-प्रक्रिया से गम्य भी नहीं है–इसलिए यह वेद (आप्त ज्ञान) ही बतला सकता है–

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपाथा न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता।।[3]

वेद को 'श्रुति', 'त्रयी', 'छन्दस्', 'निगम', 'आम्नाय' और 'स्वाध्याय' नामों से भी अभिहित किया जाता है। गुरुमुख से सुनकर प्राप्त होने के कारण यह 'श्रुति' है। यास्क के अनुसार 'निगम'

१. अथर्व संहिता ७.५४.२; १०.८.१७; १५.३.७। वेदत्रय: शत० ब्रा० ५.५.५.१०; १३.४.३.३; निरुक्त १.१.२., १८, २०। बहुवचन में भी शतपथादि में प्रयोग है –त्रयोवेदा, अजायन्त–शत. ब्रा. ११.५.८.३। चत्वारो वा इमे वेदा: गोपथ ब्रा० १.२.१६।

२-३. सायणाचार्य, तैत्तिरीय-संहिता भाष्य भूमिका।
(आनन्दाश्रम, पुणे।)

का अर्थ अर्थयुक्त है। यह नाम वेदों की गम्भीर अर्थवत्ता पर बल देता है। 'त्रयी' नाम रचना-त्रैविध्य के कारण रूढ़ हुआ। वेद ऋक्, यजुष् और सामन् आर्थात् पद्य, गद्य और गीतिरूप हैं। नागेश के 'लघुशब्देन्दुशेखर' गत कथन 'आम्नायसमाम्नायशब्दौ वेदे एव रूढौ' के अनुसार 'आम्नाय' और 'समाम्नाय' शब्दों में कोई अन्तर नहीं है–दोनों की प्रसिद्धि वेद के पर्याय रूप में हैं। मीमांसा–सूत्रकार जैमिनि और निरुक्तकार यास्क दोनों को ही वेद के ये नाम अत्यन्त प्रिय हैं। 'म्ना' (अभ्यासार्थक) धातु से निष्पन्न 'आम्नाय' शब्द वेद के दैनन्दिन अभ्यास पर बल देता है। 'छन्द' का अर्थ है छादन अर्थात् बन्धन–'छन्दांसि छादनात्' (निरुक्त)। छन्द मनोभावों को आच्छन्न ही करते हैं। 'निघण्टु' में 'छन्द' शब्द कान्ति-अर्थ में भी पठित है। कारण यह है कि सभी वेद हमारे लिए काम्य हैं, कामनाओं के पूरक हैं। यह पूजा अर्थ में भी आया है, क्योंकि सभी वेद-मन्त्रों की अर्चा में गति है अथवा सभी वेद हमारे लिए पूज्य हैं। आगे चलकर 'छन्द' शब्द सामवेदीय मन्त्रों के विशिष्ट अर्थ में भी दिखलाई देता है। 'स्वाध्याय' नाम वेदों के प्रतिदिन भलीभाँति अध्ययन किये जाने के कारण रूढ़ हुआ। योगी अरविन्द ने वेद को अन्तःस्फुरित उन मन्त्रों (कविता) का विशाल संग्रह बतलाया है, जिनमें एक महान्, व्यापक, शाश्वत तथा अपौरुषेय सत्य मूर्त्त हुआ है।[४]

वेद का महत्त्व

वैदिक साहित्य के महत्त्व के निम्नाङ्कित प्रमुख कारण प्रतीत होते हैं :

(१) धार्मिक दृष्टि से वेद भारत में सर्वोपरि हैं। ये हिन्दू धर्म के मूल स्रोत हैं–'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।' वस्तुतः ये समस्त धर्मों के श्रेष्ठ तत्त्वों से संवलित हैं, इसलिए मनु ने इन्हें धर्ममात्र का मूल स्रोत कहा है :

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्त्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे, सर्वज्ञानमयो हि सः।।[५]

धर्म के जिज्ञासुओं के लिए वेद परम प्रमाण हैं–'धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।[६]'

आगे मनु ने इसे देवों, पितरों और मनुष्यों–सभी का नित्य नेत्र बतलाया है :

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः।। (मनुस्मृति, १२.९४)

यज्ञ-संस्था के उद्भव और विकास, संस्कारों सहित समस्त गृह्यानुष्ठानों का विवरण, वर्णाश्रम-व्यवस्था, पुरुषार्थ-चतुष्टय, तीन ऋणों तथा पञ्च महायज्ञ प्रभृति का ही वेदों में निरूपण नहीं है, अपितु आगे चलकर नाम-जप, तीर्थ-स्नानादि का विवरण भी इनमें सन्निहित है।

४. Hymns to the Mystic Fire की भूमिका, २-३. मनुस्मृति २.७ तथा १३।
५-६. मनुस्मृति २.७ तथा १३।

पुरुषसूक्तगत मन्त्र के अंश 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' से ज्ञात होता है कि सृष्टि-व्यवस्था के प्रथम नियमों की संरचना भी वेदों में निरूपित हुई।

(२) दार्शनिक दृष्टि से सभी आस्तिक दर्शन अपना मूल स्रोत वेद को ही बतलाते हैं। वैशेषिक-दर्शन का सूत्र है–'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्–(१.१.३), 'तत्' परमेश्वर का यहाँ वाचक है, जिसके वचन वेद हैं–इसीलिए वे प्रमाणरूप में हैं। वेदान्त में श्रुति को प्रत्यक्ष कहा है, क्योंकि उसे अपने प्रामाण्य के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती 'प्रत्यक्षं श्रुतिः प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात्।' ब्रह्मसूत्र (१.३.२९) में श्रुति को नित्य कहा गया है–'अत एव च नित्यत्वम्।' मीमांसा का तो आविर्भाव ही वेद के गौरव के संवर्धन-हेतु हुआ। वह उसे सर्वस्व ही मानती है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार महाप्रलय में नित्य सर्वज्ञ परमेश्वर वेद का प्रणयन कर सृष्टि के आदि में स्वयं ही विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रवर्तन करता है–'महाप्रलये तु ईश्वरेण वेदान् प्रणीय सृष्ट्यादौ स्वयमेव सम्प्रदायः प्रवर्त्यत एवेति भावः' (–न्यायवर्तिकतात्पर्यटीका)।

(३) सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी विभिन्न संस्थाओं का मूल आविर्भाव, भारतीय परम्परा के अनुसार वेदों से ही हुआ, जैसाकि मनु का कथन है :

सर्वेषां तु स नामानि, कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।। (मनुस्मृति १.२१)

वर्ण-व्यवस्था का मूल पुरुषसूक्त के 'ब्राह्मणोऽस्य' प्रभृति मन्त्र में है ही। तैत्तिरीय संहिता में ३०० व्यवसायों का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त सामाजिक शिष्टाचार, स्वजनों एवं मान्यों के प्रति कर्त्तव्यों का निर्देश तो पदे-पदे है। राष्ट्र-रक्षा, उसके विविध उपायों, विभिन्न शासन-प्रणालियों, संस्थाओं और सिद्धान्तों का वर्णन भी वेदों में है। प्रजातांत्रिक पद्धति के अनुरूप वैदिक वाङ्मय में 'सभा' और 'समिति' सदृश जनाकांक्षाओं को पुरस्कृत करने वाली प्रतिनिधि संस्थाएं निरूपित हैं। आर्थिक नीतियों और सिद्धान्तों के निर्धारण की दिशा में भी वेदों से हमें महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन प्राप्त हो सकता है। एक ही परिवार में विभिन्न व्यवसायों के लोग कैसे सुख-शान्ति और सौमनस्य से रहते थे, इसकी सूचना निम्नलिखित मन्त्र से मिलती है :

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नाना धियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव (ऋ०सं० ९.११२.३)।।

–(मैं मन्त्र-समूहों का रचयिता अर्थात् कवि हूँ, मेरा पुत्र वैद्य है, मेरी कन्या बालू से जौ आदि को सेंकती है। इस प्रकार हम लोग भिन्न-भिन्न कार्य करते हुए भी परस्पर सहयोग से रहते हैं।)

भाई-भाई से द्वेष न करे, बहन बहन से विरोध न करे। सभी लोग परस्पर हिल-मिल कर अपना-अपना कार्य करते हुए प्रेमपूर्वक बोलें :

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुतस्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वाव्वाचं वदत भद्रया ।।

अथर्ववेद का यह मन्त्र आज के तनावपूर्ण वातावरण में, जब सामाजिक सम्बन्ध कलुषित होते जा रहे हैं, कितना प्रासंगिक है, कहने की आवश्यकता नहीं।

ऐतिहासिक दृष्टि से, वेदों की भारतीय इतिहास के आदि काल के परिज्ञान के लिए तो आवश्यकता है ही, विश्व-इतिहास के सन्दर्भ में भी बहुत उपादेयता है। सप्तसैन्धव प्रदेश के इतिहास, भूगोल, पर्यावरण, नदियों, दाशराज्ञ युद्ध, विभिन्न राजाओं और जन-समूहों के विषय में वेदों में असीम सामग्री संचित है। गुजरात (द्वारका तथा लोथल) के उत्खननों से सिद्ध हो गया है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता और वैदिक सभ्यता में पूर्णतया अभिन्नता थी। डॉ॰ अविनाश चन्द्र दास[७] प्रभृति विद्वानों के अनुसन्धान उत्खननों के माध्यम से निरन्तर उपादेय होते जा रहे हैं।

(४) वैज्ञानिक और पर्यावरण इत्यादि की दृष्टि से भी वेदों में महत्त्वपूर्ण सामग्री संचित है। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं–भौतिकी, गणित, आयुर्विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र-प्रभृति की दृष्टि से वेदों का अनुशीलन होता रहा है। प्रारम्भ में म॰ म॰ पं॰ मधुसूदन ओझा, गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी और मोतीलाल शर्मा प्रभृति विद्वानों ने वेदों में निहित वैज्ञानिक तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया था, किन्तु आज यह अध्ययन निरन्तर अग्रसर हो रहा है। वैदिक गणित को अनेक सरकारों ने राजकीय स्तर पर भी मान्यता प्रदान कर दी है। भारती कृष्णतीर्थ की इस विषय पर लिखी पुस्तकों ने अनेक पतिष्ठित गणितज्ञों को इस दिशा में प्रेरित किया है। विलासपुर (म॰ प्र॰) के इंजीनियरिंग कॉलेज के निवृत्त प्राचार्य डॉ॰ वी॰ के॰ वर्मा ने भौतिक विज्ञान के सन्दर्भ में वेदों का बृहत् अनुशीलन किया है।[८] अथर्ववेदीय लाक्षा सूक्त में प्राप्त तथ्यों की मैंने जब रांची स्थित लाक्षा-अनुसन्धान-केन्द्र के एक वरिष्ठ वैज्ञानिक से जिज्ञासा की, तो उसने उनके सत्य होने की पुष्टि की। पर्यावरण जन्य प्रदूषण से मुक्ति के सन्दर्भ में भी वेदों की प्रासंगिकता सम्प्रति अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। ऋग्वेदीय अरण्यानी सूक्त वनों के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी देता है। सम्भवतः इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों को सभी सत्यविद्याओं से युक्त बतलाया था।

(५) भाषाशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से तो वेदों में इतनी प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है कि अभी सबका विशद अध्ययन नहीं हो सका। ऋग्वेद के वाक्सूक्त में भाषा की सामर्थ्य का सर्वप्रथम निरूपण है। 'चत्वारि वाक् परिमिता' प्रभृति मन्त्र में भाषा के चार रूपों का उल्लेख है–परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी की अवधारणा का वही मूल है। प्रातिशाख्यों और यास्कीय निरुक्त में भाषाविज्ञान की ध्वनि, पद (रूप), वाक्य और अर्थ-सभी इकाइयों की दृष्टि से विशद विश्लेषण दिखलाई देता है।

७. 'ऋग्वेदिक इण्डिया' तथा 'ऋग्वेदिक कल्चर' शीर्षक ग्रन्थों में डॉ॰ दास ने सप्तसैन्धव प्रदेश के भूगोल तथा इतिहास का महत्त्वपूर्ण विवरण संजोया है।

८. डॉ॰ वी॰ के॰ वर्मा, वैदिक सृष्टि-उत्पत्ति रहस्य (दो भाग), बिलासपुर।

(६) इधर अर्धशती से वेदों का काव्यात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से भी अनुशीलन करने की प्रवृत्ति बलवती होती जा रही है। औपम्यगर्भ अकारों के अकृत्रिम रूप, सहज नादसौन्दर्य, छन्दों के लयात्मक तथा गत्यात्मक निखार वैदिक कवि की अनायास उपलब्धियाँ हैं।

वेदों का अविर्भाव

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार किसी व्यक्तिविशेष ने वेदों की रचना नहीं की। मन्त्रों के साथ जिन ऋषियों के नाम मिलते हैं, वे वस्तुतः उनके द्रष्टा हैं, रचयिता नहीं। सायणाचार्य के अनुसार ये द्रष्टा अथवा ऋषि अतीन्द्रिय अर्थ का साक्षात्कार करने वाले हैं–'अतीन्द्रियार्थद्रष्टारो हि ऋषयः।' यास्क का कथन भी महत्त्वपूर्ण है–'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः (निरुक्त १.२)।'

ग्रन्थरूप में वेद मानव-समुदाय को कैसे प्राप्त हुए, इस विषय में प्रायः ४० मत मिलते हैं, जिनका वर्गीकरण निम्नलिखित तीन श्रेणियों में किया जा सकता है :

(१) वेद स्वतः आविर्भूत, अतएव अपौरुषेय हैं। पूर्व मीमांसाकार जैमिनि और उनके भाष्यकार शबरस्वामी तथा वार्तिककार कुमारिल भट्ट ने इसका विशद विवेचन किया है। इनकी प्रमुख युक्तियाँ ये हैं : (क) जो वस्तु जिसके द्वारा निर्मित होती है, उसके साथ उसके कर्त्ता का स्मरण किसी-न-किसी रूप में बना रहता है, किन्तु वेद के कर्त्ता का निभ्रन्ति रूप में आज तक किसी को स्मरण नहीं है–इससे सिद्ध होता है कि इसका कोई कर्त्ता नहीं है। (ख) मनुष्य जिन स्वर्ग तथा देवता इत्यादि को प्रत्यक्ष नहीं देख सकता, अथवा किस कर्म के द्वारा आत्मा में कैसा अपूर्व या अदृष्ट संस्कार उत्पन्न होता है, यह नहीं जान सकता–इन्हीं स्वर्ग, अपूर्व तथा देवता प्रभृति का वेदों में विवरण है। बिना ज्ञान के शब्द प्रयोग हो नहीं सकता, इसलिए प्रश्न यह है कि वेद रूप में शब्दों के प्रयोगकर्त्ता को इन परोक्ष वस्तुओं का ज्ञान कैसे हुआ ? यदि इसके उत्तर में यह कहा जाये कि 'बिना ज्ञान के ही, दूसरे को वंचित करने के लिए ऐसे शब्द गढ़े गये, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि वेदों की सुव्यवस्थित शब्द-रचना, कार्य-कारण भाव की प्रामाणिक सत्ता, साध्य-साधन तथा इति कर्त्तव्यता रूप से तीन अंशों की प्राप्ति से वेद अल्पज्ञों की कृति नहीं लगते। दूसरे वृष्टि और आरोग्य-प्राप्ति प्रभृति प्रत्यक्ष लाभों के सन्दर्भ में वेद-वर्णित उपायों का फल दिखलाई देता है। इससे यह सिद्ध है कि स्वर्गादि के विषय में भी वैदिक विवरण प्रामाणिक ही है। ऐसी स्थिति में प्रश्न है कि इस विवरण के वक्ता को स्वर्गादि का ज्ञान कैसे हुआ? प्रत्यक्षादि से इनका ज्ञान हो नहीं सकता। यदि यह माना जाये कि ऋषि-मुनियों ने योग और तपस्या से इनका ज्ञान प्राप्त कर लिया, तो यह ठीक नहीं लगता, क्योंकि तब प्रश्न यह होगा कि योग, यज्ञ और तपस्या की प्रेरणा बिना वेद के ऋषियों को कहाँ से मिली? क्योंकि वेद से ही यज्ञ तथा तप का ज्ञान होता है। यदि वेद को इन यज्ञ तथा तप इत्यादि से उत्पन्न मान लिया जाये तो अन्योन्याश्रय दोष हो जायेगा। इसलिए इस दोष से बचने का उपाय वेद को स्वतः प्रादुर्भूत मानना ही है। (ग) मन्त्रों के साथ जिन ऋषियों का उल्लेख मिलता है, वे प्रवचन कर्त्ता हैं :

आख्या प्रवचनात (मीमांसा सूत्र)।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार महाभूत परमात्मा के निःश्वास रूप से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्वाङ्गिरस् वेद प्रकट होते हैं :

'यथा प्रदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इति' (–शत० ब्रा० १४वां काण्ड)। जैसे श्वास-प्रश्वास के ग्रहण-धारण में मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, उसकी इच्छा से श्वास-प्रश्वास नहीं चलते, वैसे ही वेद-निर्माण में भी ईश्वर स्वतन्त्र नहीं है। नित्यवेद उससे प्रकट भर हो जाते हैं। इसी प्रकार के कथन स्मृतियों में भी हैं :

अनादिनिधना वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी नित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।

मीमांसकाभिमत अपौरुषेयत्व का निरूपण आगे किया जायेगा।

(२) न्याय-वैशेषिक दर्शनों में ईश्वर को वेद का रचयिता माना गया है। उनके अनुसार प्रत्येक ग्रन्थ किसी रचयिता के द्वारा ही रचा जाता है, तो वेद ग्रन्थ को अकस्मात् कैसे प्रादुर्भूत मान लिया जाये? वेदों की वाक्य-रचना स्पष्ट ही बुद्धिपूर्वक की हुई प्रतीत होती है-'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (–वैशेषिक सूत्र ६.१.१), इसलिए किसी बुद्धिमान् को ही उनका कारण भी मानना पड़ेगा–और वह परमेश्वर ही हो सकता है। निःश्वास रूप या उत्सृष्ट रूप का अभिप्राय यह है कि प्रतिकल्प में जब-जब सृष्टि होती है, तब-तब ये वेद इसी रूप में परमात्मा द्वारा निर्मित होते हैं। अपने समर्थन में ये आचार्य पुरुषसूक्त के इस मन्त्र को भी उद्धृत करते हैं :

तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।। (ऋ०सं० १०.९०.९)

मन्त्रार्थ यह कि सबके द्वारा पूजनीय और यजनीय परमात्मा से ऋक्, यजुष्, साम और छन्द अर्थात् अथर्ववेद प्रकट हुए। दूसरी बात यह कि ईश्वर को वक्ता मान लेने पर वेदों के प्रामाण्य में कोई सन्देह नहीं उठ सकता, क्योंकि वह परम आप्त (विश्वसनीय) है। उत्तर मीमांसा (वेदान्त) में भी इसी से मिलता-जुलता सिद्धान्त माना जाता है। वहाँ केवल परब्रह्म ही पूर्ण नित्य माना जाता है। वेद भी ब्रह्म रूप ही है। परमात्मा ने ऋषियों की पश्यन्ती या मध्यमा वाणी में वेदों को प्रकट कर दिया और उन्होंने वैखरी द्वारा शिष्य-प्रशिष्यों में उनका प्रचार किया। पुराणों ने परमात्मा और ऋषियों के मध्य ब्रह्मा को सम्मिलित कर दिया, जिन्हें ईश्वर से सर्वप्रथम वेदरूप ज्ञान मिला और उन्होंने उसे ऋषियों को दिया।

(३) इस तृतीय मत के अनुसार ऋषिगण ही वास्तव में मन्त्रों के रचयिता हैं–हाँ, परमात्मा के अनुग्रह से उन्हें ज्ञान अवश्य प्राप्त हुआ। कुछ वैदिक मन्त्रों को भी इस सन्दर्भ में प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया जाता है :

यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिणः अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण।
तां दैवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके।।

(तैत्तिरीय ब्राह्मण, २.७.७)

अभिप्राय यह कि मनीषी और मन्त्रकर्त्ता तथा दैवी गुणों से युक्त ऋषियों ने जिस दैवी वाक् का अन्वेषण किया, उसे प्राप्त और प्रकट किया, हम उसी की आराधना करते हैं–वह हमें पुण्यलोक में प्रतिष्ठित करे।

'नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः' (तैत्ति० ब्रा० ४.१.१) तथा 'इमे सर्वे वेदा निर्मिताः' प्रभृति मन्त्रांशों से भी इसकी पुष्टि होती है। ऋषियों की वेदोपलब्धि की प्ररोचना करने वाले बहुसंख्यक मन्त्र प्राप्त होते हैं। स्मृतिगत निम्नोक्त श्लोक भी इस सन्दर्भ में अवतरण योग्य है :

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा।।

सम्प्रति यही तीसरा मत बुद्धिग्राह्य प्रतीत होता है। इसके अनुसार ईश्वर से ब्रह्मा और उनके क्रमशः वसिष्ठ, शक्ति, पराशर, व्यास को वेदज्ञान प्राप्त हुआ, जिन्होंने अपने पैलप्रभृति शिष्यों के माध्यम से इसका विस्तार किया।

वेदों की अपौरुषेयता–पक्ष एवं विपक्ष

भारतीय दृष्टि में वेद अपौरुषेय हैं, किन्तु पूर्व मीमांसा के आचार्यों ने इसकी जो विवेचना की है तथा वहां से लेकर सायणाचार्य ने अपनी भाष्य-भूमिकाओं में इस विषय में जो विशद शास्त्रार्थ प्रस्तुत किया है, उससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही कुछ लोग ऐसे रहे हैं, जिन्हें वेदों के अपौरुषेयत्त्व के प्रति बहुत आस्था नहीं थी; हो सकता है यह पूर्वपक्ष कल्पित ही हो क्योंकि सिद्धान्त पक्ष की प्रस्तुति से पूर्व अपने विरोधियों के तर्कों की संभावना कर लेना भारतीय मनीषियों की शैली भी रही है। इस सन्दर्भ में दोनों पक्षों के प्रमुख तर्कों पर एक दृष्टि यों डाली जा सकती है :

पौरुषेय वादियों के तर्क–(१) वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या (मीमांसा सूत्र १.१.२७)–वेद-कर्त्ताओं के नाम प्राप्त होते हैं–जैसे बाल्मीकि के द्वारा रची गई रामायण 'वाल्मीकीय' कहलाती है, उसी प्रकार 'काठक संहिता' का नामकरण भी हुआ है। इसका अभिप्राय है कि इस संहिता की रचना कठने की। (२) अनित्यदर्शनरच्च (मी० सू० १.१.२८)–वेद में जनन-मरणशील, अतएव अनित्य व्यक्तियों के नाम मिलते हैं, यथा–'बबरः प्रावाहणिरकामयत्' (तैत्ति० सं० ७.१.१०.२) यहाँ प्रवहण के पुत्र बबर का उल्लेख है, इससे स्पष्ट है कि वेद की रचना बबर नामक व्यक्ति के अनन्तर हुई। (३) वेद में कहीं वनस्पतियों के द्वारा और कहीं सर्पों के द्वारा सत्रानुष्ठान का उल्लेख है, जो सम्भव नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि किसी उन्मत्त व्यक्ति ने वेदों की रचना की।

इनका खण्डन करते हुए **अपौरुषेयवादियों** के तर्क इस प्रकार हैं :

(१) वेद-मन्त्रों के साथ मिलने वाले नाम रचयिताओं के नहीं हैं। ये नाम उनके हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम मन्त्र-संहिताओं का उपदेश दिया। (२) बबर आदि नाम अनित्य प्राणियों के नहीं हैं; प्रत्युत यहाँ 'प्रवहण' शब्द से प्रवहण-स्वभावशील (बहने वाली) वायु मात्र का निर्देश है–'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' (मी॰ सू॰ १.१.३१) (३) जहाँ तक वनस्पतियों और सर्पों के द्वारा सत्रयाग के अनुष्ठान की बात है, वह अर्थवाद मात्र है। यह याग को गौरव देने के लिए है। जब अचेतन प्राणियों ने भी सत्रयाग का अनुष्ठान किया, फिर चेतन और विद्वानों की तो बात ही क्या की जाये। यदि ये वाक्य उन्मत्त पुरुषकृत होते, तो इनमें कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं होता। (४) पौरुषेयवादी यदि यह कहें कि बादरायण ने अपने 'शस्त्रयोनित्वाद्' सूत्र में ब्रह्म को वेद का कारण बतलाया है, तो इससे भी वेद की अपौरुषेयता पर कोई आंच नहीं आती। इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि किसी मनुष्य ने वेदों की रचना की।

निष्कर्ष यह कि भारतीय मनीषी वेद को सर्वथा नित्य और अपौरुषेय ही मानते हैं–'अनादिनिधना नित्या वाक्।'

वैदिक वाङ्मय का वर्गीकरण

आचार्य आपस्तम्ब ने अपनी 'यज्ञ परिभाषा' में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को ही 'वेद' नाम से अभिहित किया है-'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (३१)। महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनके द्वारा प्रवर्तित 'आर्य-समाज' के अनुयायी केवल मन्त्र अर्थात् संहिता भाग को ही वेद मानते हैं। अन्य बहुत से विद्वानों की धारणा है कि कृष्णयजुर्वेद के सन्दर्भ में ही आपस्तम्ब की मान्यता स्वीकार की जानी चाहिए, क्योंकि उसमें मन्त्र और ब्राह्मण भाग एक साथ विन्यस्त हैं। यों, आपस्तम्ब के अतिरिक्त आचार्य षड्गुरुशिष्य ने भी मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद माना है :

मन्त्रब्राह्मणयोराहुर्वेद शब्दं महर्षयः।
विनियोक्तव्यरूपो यः स मन्त्र इति चक्षते।।
विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि।[९]

सत्यव्रत सामश्रमिभट्टाचार्य प्रभृति आधुनिक विद्वानों ने दोनों ही मतों में विद्यमान सत्यांश को ध्यान में रखकर उनके समन्वय की चेष्टा की है।[१०]

यास्क के अनुसार मनन करने से मन्त्र निष्पन्न हुए 'मन्त्राः मननात्।' पूर्वमीमांसा से प्रभावित षड्गुरुशिष्य और सायणाचार्य ने जैमिनि के 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या'–(यज्ञ में प्रवृत्त करने वाले वचन मन्त्र हैं) से प्रभावित प्रतीत होते हैं। षड्गुरुशिष्य के उपर्युक्त कथन के अनुसार मन्त्र वह

९. सर्वानुक्रमणी वृत्ति की भूमिका से।
१०. वेदत्रयी परिचय, पृष्ठ ४ [उ० प्र० हिन्दी संस्थान, लखनऊ से प्रकाशित]।

है, जिसका याग में विनियोग किया जाये। इसी प्रकार सायणाचार्य ने भी मीमांसकों की बहुश्रुत उक्ति 'प्रयोगसमवेतार्थस्मारका: मन्त्रा:' की ही पुष्टि की है :

'याज्ञिकसमाख्यानस्य निर्दोषलक्षणत्वात्। तच्च समाख्यानमनुष्ठानस्मारकादीनां मन्त्रत्वं गमयति।'

संक्षेप में, 'मन्त्र' का लाक्षणिक आशय है वेद का संहिता-भाग। मन्त्र के अतिरिक्त अन्य भाग को 'ब्राह्मण' कहते हैं–इनका निरूपण आगे किया गया है।

मन्त्र के प्रकार–रचना-त्रैविध्य के आधार पर मन्त्र तीन प्रकार के हैं-ऋक्, यजुष् और सामन्। इन्हें दूसरे शब्दों में पद्य, गद्य और गान कह सकते हैं। जैमिनि के इस सन्दर्भ में ये तीन सूत्र प्राप्त होते हैं :

(१) तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था (मी० सू० २.१.३५)

(२) गीतिषु सामाख्या (मी०सू० २.१.३६)

(३) शेषे यजु: शब्द: (वही २.१.३७)

तात्पर्य यह कि अर्थ के अनुसार पाद-व्यवस्था वाले छन्दोबद्ध मन्त्र ऋक् या ऋचा हैं। सायण ने 'अर्च' धातु से इसकी व्युत्पत्ति करते हुए ऋचा की यज्ञपरक व्याख्या की है, तद्नुसार किसी देवता, क्रिया या यागगत साधन की प्रशंसा करने के कारण ऋचा शब्द सार्थक है–'अर्चनीत्यमुमर्थमृक्छब्द आचष्टे। अर्च्यते प्रशस्यते अनया देवविशेष: क्रियाविशेषस्तत्साधनविशेषो वेत्यृक्छब्दव्युत्पत्तिरिति।' जैमिनि के ऊपर उद्धृत द्वितीय सूत्र के अनुसार गेय मन्त्र साम हैं। इसी क्रम में, तीसरा सूत्र ऋचाओं और सामों के अतिरिक्त सभी अवशिष्ट मन्त्रों को 'यजुष्' घोषित करता है। वस्तुत: अधिकांश 'यजुष्' मन्त्र ऐसे हैं, जिनका प्रयोजन यागानुवर्तित है (–यजुर्यजते:) तथा उनमें अक्षरों की सीमा नहीं निश्चित की जाती है–'अनियताक्षरावसानो यजु:।' इस प्रकार ये गद्यात्मक मन्त्र हैं।

रचना-विधा के अतिरिक्त मन्त्रों का विषय-वस्तु के अनुसार भी विभाजन किया गया है। शुक्ल यजुर्वेद के भाष्य में उव्वट ने मन्त्रों के विषयानुरूप ये भेद बतलाए हैं :

विध्यर्थवाद याच्ञाशी: स्तुति: प्रैष: प्रवह्लिका:।
प्रश्नो व्याकरणं तर्क: पूर्ववृत्तानुकीर्त्तनम्।।
अवधारणं चोपनिषत् वाक्यार्थास्तु त्रयोदश।
मन्त्रेषु ये प्रदृश्यन्ते व्याख्यातृ-श्रोतृ चोदिता:।।

इनके उदाहरण क्रमश: इस प्रकार है :

(१) **विधि**–अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते (वाजसनेयी संहिता २४.१)

(२) **अर्थवाद**–देवा यज्ञमतन्वत (वही १९.९२)

(३) **याञ्चा**–तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मेपाहि (वही ३.१७)

(४) **आशी:**–आ वो देवा स ईमहे (वही ४.५)।

(५) **प्रैष:**–होता यक्षत्समिधाग्निम् (वही ३.१२)

(६) **प्रवह्लिका**–इन्द्राग्नी अपादियम् (वही २१.२९)।

(७) **प्रश्न**–क: स्विदेकाकी चरति (वही, ३३.९३)।

वैदिक - वाङ्मय - विस्तार:

	ऋग्वेदः	(शुक्ल) यजुर्वेदः (कृष्ण)		सामवेदः	अथर्ववेदः
मूल-शाखा:	२१	१६	८५	१०००	९९
उपलब्ध-शाखा:	शाकल, बाष्कल	काण्व, माध्यंदिन	तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ० कपिष्ठल, श्वेताश्वतर	कौथुम, गणायनीय, जैमिनीय	पिप्पलाद, शौनक
ब्राह्मणम्	ऐतरेय, कौषितकी	शतपथ,	तैत्तिरीय- संहितान्तर्गत, तैत्तिरीय	पंचविश (प्रौढ/ताण्ड्य) षड्विंश, सामविधान, आर्षेय, मन्त्र, देवताध्याय, वंश, संहितोपनिषद्, जैमिनीय, जैमिनीयोपनिषद्, आर्षेय	गोपथ
आरण्यकम्	ऐतरेय, सांख्यायन	वृहदारण्यक	तैत्तिरीय आरण्यक	तलवकार	
उपनिषदः	ऐतरेय, कौषितकी, बाष्कल	ईशावास्य बृहदारण्य	तैत्तिरीय, महानारायण, मैत्रायणी, काठक, श्वेताश्वतर	छान्दोग्य, केन	प्रश्न, माण्डूक्य, मुण्डक इ०
श्रौत-सूत्रम्	आश्वलायन सांख्यायन	कात्यायन	आपस्तम्ब, बौधायन हिरण्यकेशी (सत्याषाढ) भारद्वाज वैखानस, वाधूल, मानव (मैत्रायणी) वाराह०	खादिर, लाटचायन, द्राह्यायण	वैतान
गृह्य-सूत्रम्	आश्वलायन, साख्यायन	कात्यायन (पास्कर)	मानव, आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ, वैखानस, कठ	खादिर, गोभिल, गौतम	कौशिक
धर्मसूत्रम्	वसिष्ठ		आपस्तम्ब, बौधायन हिरण्यकेशी०	गौतम	
उपवेदः	आयुर्वेद	धनुर्वेदः		गान्धर्ववेद	सर्प, पिशाच, असुर, इतिहास, पुराण, स्थापत्य

(८) **व्याकरण**–सूर्य एकाकी चरति (वही, ३३.१०)

(९) **तर्क**–मा गृध: कस्यस्विद्धनम् (वही, ४०.१)

(१०) **पूर्ववृत्तानुकीर्त्तन**–ओषधयस्समवदन्त (वही, १२.९६)

(११) **अवधारण**-तमेव विदित्वातिमृत्युमेति (श्वेताश्वतर उप॰)

(१२) **उपनिषत्**–ईशावास्यमिदं सर्वम् (यजु॰सं॰ ४०.१)।

मीमांसा के शाबरभाष्य में 'आशिर' इत्यादि १३ मन्त्रभेद प्राप्त होते हैं। ये दूसरी दृष्टि से किये गये हैं, जिन्हें वहीं देखना चाहिए। यास्क ने ऋचाओं को तीन भागों में विभक्त किया है-परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत तथा आध्यात्मिक।

चार संहिताएँ : चार ऋत्विक्–ऋग्वेदादि संहिताओं के संकलन में रचना-विधा का तो आधार रहा ही है–एक दृष्टि यज्ञपरक भी रही है। ऋग्वेद में ऋचाओं का, यजुर्वेद में यजुषों का और सामवेद में सामों का बाहुल्य है। अथर्ववेद में सभी प्रकार के मन्त्र प्राप्त होते हैं, इसलिए उसका नामकरण द्रष्टा ऋषि (अथर्वा) के आधार पर हुआ है। 'वेदत्रयी' शब्द विधा के आधार पर ही रूढ़ हुआ है।

यज्ञ में चार ऋत्विक् होते हैं–होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। होता ऋचाओं का पाठ करता है, इसलिए ऋग्वेद 'होतृवेद' भी कहलाता है। अध्वर्यु यजुष् मन्त्रों का उच्चारण करता है और उद्गाता सामों का गान। ब्रह्मा का कार्य अन्य ऋत्विकों के कार्यों का निरीक्षण है–इसी कारण वह 'सर्वकर्माभिज्ञ' माना जाता है। उसका अपना वेद है अथर्ववेद। एक ऋचा में इन चारों ऋत्विकों के कार्यों का उल्लेख इस प्रकार है :

> **ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्**
> **गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।**
> **ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां**
> **यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः।।** (ऋ॰ सं॰ १०.७१.११)

सिद्धान्ततः वेदानुसार चार ही संहिताएँ होनी चाहिए, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से, शाखा-क्रम से अनेक संहिताएँ उपलब्ध होती हैं। यह स्थिति यजुर्वेद की अनेक शाखाओं के कारण है।

अन्य वैदिक साहित्य–संहिताओं के अतिरिक्त शेषांश ब्राह्मण है। वर्ण्य विषय के आधार पर सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय को दो भागों में बाँटा जाता है–कर्मकाण्ड और ज्ञान काण्ड। कुछ विद्वानों ने उपासना को तृतीय काण्ड मानने का विचार रखा है।

संहिताओं और ब्राह्मणों से ही आरण्यक और उपनिषद् भाग भी अधिगृहीत हैं। इस विभाजन का आधार भी विषयगत ही है। संहिताओं और ब्राह्मणों में प्रमुख रूप से कर्मकाण्ड का विवेचन हुआ है तथा आरण्यकों और उपनिषदों में ज्ञानकाण्ड का। संक्षेप में, वैदिक साहित्य के ये ही चार स्तम्भ हैं–संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्।

इनके अतिरिक्त छः वेदांग हैं– १. शिक्षा, २. कल्प, ३. ज्योतिष, ४. निरुक्त, ५. व्याकरण और ६. छन्द। आगे इनका विशद विवरण दिया जायेगा।

वेद की रक्षा के उपाय

वेद-मन्त्रों के शुद्ध स्वरूप को यथावत् रूप में बनाये रखने के लिए तथा उनके उच्चारण में तनिक भी अन्तर न आने देने के लिए वैदिकों ने बहुविध व्यवस्था की थी। ये उपाय पाठमूलक थे। इन्हें 'विकृति' कहा जाता है। इनके कारण मंत्रों में कहीं भी पाठान्तर या पदच्युति नहीं हुई है। आठ विकृतियों का एक कारिका में इस प्रकार उल्लेख है :

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः।।

इसके अनुसार जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घनपाठ संज्ञक आठ विकृतिपाठ हैं। इनके अतिरिक्त तीन पाठ और हैं–संहितापाठ, पदपाठ तथा क्रमपाठ। संहितापाठ में मन्त्र अपने मूलरूप में रहता है। पदपाठ में पदों को अलग-अलग असंहित रूप में (–सन्धि रहित रूप में–) पढ़ा जाता है। संहितापाठ से पदपाठ में मन्त्र को अन्तरित करने पर स्वरों में भी कुछ परिवर्तन हो जाता है। पदपाठ के विशेष नियमों का आगे (अन्तिम अध्याय में) उल्लेख किया जायेगा। क्रमपाठ में क्रम से दो पदों का पाठ होता है। इनमें से कुछ पाठों और विकृतियों का यहाँ निदर्शन प्रस्तुत है।

१. **संहितापाठ**–ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा (ऋ०सं० १०.९७.२)

२. **पदपाठ**–ओषधयः। सम्। वदन्ते। सोमेन। सह। राज्ञा।

३. **क्रमपाठ**–ओषधयः, संवदन्ते, वदन्ते सोमेन, सोमेन सहराज्ञा, राज्ञेति राज्ञा।

४. **जटापाठ**–ओषधयः सम् सम् ओषधयः, ओषधयः सम्, संवदन्ते, वदन्ते सम्, संवदन्ते।

५. **शिक्षा पाठ**–ओषधयः सं, समोषधयः, ओषधयः संवदन्ते। संवदन्ते, वदन्ते सं, संवदन्ते, सोमेन।

६. **घनपाठ**–ओषधयः सं, समोषधयः ओषधयः संवदन्ते, वदन्ते समोषधय ओषधयः संवदन्ते, संवदन्ते वदन्ते सं संवदन्तेवदन्ते सं संवदन्ते सोमेन, सोमेन वदन्ते।

इनमें घनपाठ सबसे जटिल है, जिसमें प्रथम पद पांच बार, द्वितीय पद दस बार तथा तृतीय और चतुर्थ पद १३-१३ बार आते हैं। परम्परागत वैदिकों ने इन पाठों का अभ्यास कर अद्यावधि वेद-मन्त्रों को अविकल रूप में सुरक्षित रखा है, जिसकी जितनी भी सराहना की जाये, कम है। यही कारण है कि वेदों की अक्षर-सम्पदा में न तो रत्ती भर प्रक्षेप किया जा सका और न परिवर्तन ही। वह आज तक प्रायः यथावत् ही है।

वेद का काल-निर्णय

प्रामाणिक साक्ष्यों के अभाव में वेदों के रचना-काल का निर्णय करना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसी कारण मनीषियों के मध्य इस विषय में प्रचुर मतभेद हैं। काल-निर्णय का प्रयास करने वाले विद्वानों को तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे वैदिक और वेदभक्त आते हैं,

जिनके लिए वेद अनादि, अपौरुषेय और नित्य हैं। वे इस विषय में विचार करना ही व्यर्थ समझते हैं। उनके मन का कुतूहल केवल यह जानकर ही समाप्त हो जाता है कि जिस दिन सृष्टि का आरम्भ हुआ, तभी ऋषियों के हृदय में वेदों का भी अविर्भाव हो गया। दूसरी श्रेणी उन पाश्चात्य विद्वानों की है, जिन्होंने वेद के काल-निर्णय की दृष्टि से कुछ पूर्वाग्रह पाल रखे हैं। वस्तुतः ईसाई मत के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि पिछले आठ हजार वर्षों में हुई, इसलिए वे खींच-तानकर वेदों का रचना-काल आज से ४-५ हजार वर्ष पूर्व ही निश्चित कर देना चाहते हैं। तीसरे वर्ग में वे अनुसन्धान प्रेमी हैं, जो शोध के समय आस्तिकता की सीमाओं को बाधक नहीं मानते। वे अनादिता के पक्ष में इसलिए नहीं हैं, क्योंकि इससे अध्ययन परम्परा प्रशस्त नहीं होती। इन विद्वानों ने ज्योतिष और भूगर्भ शास्त्र इत्यादि की अधुनातन खोजों के आधार पर वेद के रचनाकाल की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है।

वेदों के रचना-काल की पूर्व-सीमा का हमें कोई ज्ञान नहीं है। अन्तिम सीमा की दृष्टि से बुद्ध का काल माना जा सकता है। बुद्ध ने यज्ञों का प्रबल विरोध किया था। इससे विद्वान् यह निष्कर्ष निकालते हैं कि तब तक संभवतः यज्ञ-प्रक्रिया का सम्पूर्ण विकास हो चुका होगा। यज्ञों के विधि-विधान का विपुल विकास कल्पसूत्रों में हुआ है जिनकी रचना सूत्र-काल में हुई। इसके अतिरिक्त सन् १९०७ ई० में एशिया माइजर के बोघाजकोई नामक स्थान से प्रो० ह्यूगो विकलर को एक शिलालेख प्राप्त हुआ जिसमें १४०० ई० पूर्व के प्रारम्भ में मितानी और हित्ती लोगों के मध्य हुई किसी सन्धि का उल्लेख है। इसमें, साक्षी रूप में अन्य देवताओं के साथ मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्या (अश्विन) देवों का भी उल्लेख है। इससे अनुमान किया जाता है कि तब तक अर्थात् १४०० ई० पूर्व तक मूल वैदिक संहिताओं की रचना हो चुकी थी।

वेद के रचना-काल के विषय में प्रचलित प्रमुख मतों का परिचय इस प्रकार है :

१. मैक्समूलर का मत

बुद्ध के अविर्भाव को आधार मानकर प्रो० मैक्समूलर ने वेद-रचना का काल १२०० वर्ष ई० पूर्व माना। उन्होंने सम्पूर्ण वैदिक काल को चार भागों में विभक्त किया :

(क) १२०० ई० पूर्व से १००० ई०पू०–छन्दोकाल तथा प्रकीर्ण मन्त्रों का रचना-काल। इसी काल में ऋग्वेद की रचना हुई।

(ख) १००० ई०पू० से ८०० ई०पू०–मन्त्र-काल। इस काल में मन्त्रों का संहिताओं के रूप में संकलन किया गया।

(ग) ८०० ई०पू० से ६०० ई०पू०–ब्राह्मण-काल। ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना इसी अन्तराल में हुई।

(घ) ६०० ई०पू० से ४०० ई०पू०–सूत्रकाल। श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों की रचना इन्हीं २०० वर्षों में हुई।

यह मत कुछ समय तक बहुत प्रचलित रहा, किन्तु बाद में स्वयं इसके प्रस्तावक प्रो० मैक्समूलर ने ही इसे अमान्य कर दिया। बोघाजकोई से उपर्युक्त शिलालेख के प्राप्त होने पर तो यह बिल्कुल ही निरस्त हो गया।

२. लोकमान्य तिलक का मत

तिलक जी ने ज्योतिष के आधार पर वेद की रचना का सर्वप्राचीन काल ई॰पू॰ ६००० से ४००० ई॰पू॰ माना है। उन्होंने यह तिथि विभिन्न नक्षत्रों के वसन्त-सम्पात के आधार पर निश्चित की है तथा वेद काल को चार भागों में विभक्त किया है :

(क) **अदिति-काल**–६००० ई॰पू॰ से ४००० ई॰पू॰ । इस काल में निविद् मन्त्रों की रचना हुई।

(ख) **मृगशिरा-काल**–४००० से २५०० ई॰पू॰ । ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र इसी युग में रचे गये।

(ग) **कृत्तिका-काल**–२५०० ई॰पू॰ से १४०० ई॰। चारों वेद संहिताओं का संकलन और तैत्तिरीय संहिता तथा कुछ ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना इसी युग में हुई। मन्त्रों की रचना भले ही ६००० ई॰पू॰ में प्रारम्भ हो गई थी, किन्तु यज्ञों की दृष्टि से उनका परिष्कार और संग्रह इसी काल में हुआ।[११] वेदाङ्ग ज्योतिष की रचना भी इसी युग में हुई, क्योंकि इसमें सूर्य और चन्द्रमा के श्रविष्ठा के आदि में उत्तर की ओर घूम जाने का वर्णन है,[१२] जो गणना के अनुसार १४०० ई॰पू॰ की घटना है।

(घ) **अन्तिम काल**–१४०० ई॰पू॰ से ५०० ई॰पू॰। श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों तथा विभिन्न दर्शन-सूत्रों की रचना का यही काल है।

अन्त में तिलक जी ने एक सुझाव दिया है कि यदि वेद का रचनाकाल ४००० ई॰पू॰ मान लिया जाये तो भारतीय और पाश्चात्य मतों का समन्वय हो जायेगा।

तिलक की गणना-प्रक्रिया–ऋतुओं का आगमन सूर्य–संक्रमण पर आधृत है। ऋतुएँ निरन्तर पीछे हट रही हैं। पहले वर्ष का आरम्भ वसन्त से होता था। उस समय वसन्त-सम्पात (Vernal Equinox) क्रमशः उत्तरा भाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा आदि नक्षत्रों में होता था, आज वह मीन की संक्रान्ति से आरम्भ होता है–यह संक्रान्ति पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र के चतुर्थ चरण से आरम्भ होती है। धीरे-धीरे नक्षत्र एक के बाद एक के क्रम से पीछे हटे हैं। नक्षत्र २७ हैं और सूर्य का संक्रमण-वृत्त या राशिचक्र (Zodiac) ३६० डिग्री का है। अतः प्रत्येक नक्षत्र की दूरी (३६०÷२७) १३ डिग्री है। प्रत्येक नक्षत्र समयानुसार अपने स्थान से हटता रहता है। एक नक्षत्र को एक डिग्री पीछे हटने में ७२ वर्ष लगते हैं। इस प्रकार एक नक्षत्र को १३ डिग्री पीछे हटने में अर्थात् दूसरे नक्षत्र के स्थान पर पहुँचने में ९७२ वर्ष (७२×१३) लगते हैं। अतः लगभग १५०० वर्ष पूर्व कृत्तिका में वसन्त-सम्पात हुआ होगा।

११. It was at this time that the Samhitas were probably compiled into systematic books and attempts made to ascertain the meaning of the oldest hymns and formulae—The Orion Page 207.

१२. प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदृक्।
सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघ-श्रवणयोः सदा।।

लोकमान्य तिलक को ऋग्वेद में कुछ ऐसे मन्त्र[१३] मिले, जिनसे मृगशिरा नक्षत्र में वसन्त-सम्पात होने के संकेत प्राप्त होते हैं। यह वसन्त-सम्पात और आगे पुनर्वसु तक जाता है।[१४] मृगशिरा में कृत्तिका दो नक्षत्र पहले है और पुनर्वसु के चार नक्षत्र पहले। अतः मृगशिरा में वसन्त-सम्पात का समय कृत्तिका वाले समय से १९४४ (९६२ x २) वर्ष पूर्व होगा। फलतः मृगशिरा में वसन्त-सम्पात होने का समय ४४४४ वर्ष ई०पू० है। निष्कर्ष यह है कि वेदों की रचना लगभग ४५०० वर्ष पूर्व अर्थात् आज से ६५०० वर्ष पूर्व हुई होगी। यदि पुनर्वसु में वसन्त-सम्पात मानें तो लगभग २०० वर्ष और बढ़ जायेंगे।

३. **शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित का मत**–दीक्षित जी ने शतपथ ब्राह्मण का एक अंश उद्धृत किया है, जिससे ज्ञात होता है कि उक्त ब्राह्मण के रचनाकाल में कृत्तिकाओं का उदय ठीक पूर्वीय बिन्दु पर होता था।[१५] इससे सूचना मिलती है कि कृत्तिका नक्षत्र अपने स्थान से ४ ३/४ नक्षत्र (भरणी, अश्विनी, रेवती और उत्तरा, भाद्रपद होते हुए) पीछे हट चुका है अतः कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त-सम्पात सम्भवतः २५०० ई० पूर्व हुआ होगा, वहीं शतपथ ब्राह्मण का रचना काल है। चारों वेदों की रचना में एक सहस्र वर्ष और लगे होंगे। इस प्रकार ३५०० ई०पू० में वेदों की रचना आरम्भ हुई होगी।

४. **याकोबी का मत**–शर्मण्यदेशीय वेदज्ञ याकोबी का आधार भी ज्योतिष शास्त्र ही है। उन्होंने गृह्यसूत्रों में, वैवाहिक संस्कार के प्रसंग में आये ध्रुव दर्शन कृत्य पर विचार करके अपना मत प्रकट किया कि लगभग ४५०० वर्ष ई०पू० में ऋग्वेद की रचना हुई होगी। यह विस्मयोत्पादक साम्य है कि दो दूरस्थ विद्वान् एक ही शास्त्र के विभिन्न आधारों पर एक ही निश्चय पर पहुंचे। तिलक ने अपने ग्रन्थों में इस साम्य का उल्लेख किया है।

५. **अविनाश चन्द्रदास का मत**–डॉ० दास ने भूगर्भशास्त्र और भूगोलगत साक्ष्यों के आधार पर ऋग्वेद का रचनाकाल ईसा से २५ सहस्र वर्ष पूर्व निश्चित किया है। कुछ प्रमुख तथ्य ये हैं–(क) ऋग्वेद में सरस्वती नदी के समुद्र में मिलने का उल्लेख है–'एकाचेतत् सरस्वती नदीनाम् शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्' (ऋ०सं० ७-९५-२)। (ख) यह समुद्र राजस्थान में था। किसी बड़े भूकम्प के कारण समुद्र और सरस्वती दोनों विलीन हो गये। (ग) आर्यों के निवास-स्थान सप्तसैन्धव प्रदेश के चारों ओर चार समुद्र थे। पूर्वी समुद्र वहाँ था, जहाँ आज उत्तर प्रदेश और बिहार है; पश्चिमी समुद्र आज भी वहीं है, उत्तरी समुद्र उत्तर में था–आज का 'कैस्पियन' समुद्र उसी का अवशेष है; दक्षिणी समुद्र राजस्थान में था। (घ) गंगा-प्रदेश हिमालय की तलहटी तथा असम

१३. विशृंगिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रा : – ऋ०सं० १-३३-१२
युद्धः सत्यं मायिनं मृगम् – ऋ० सं० १-८०-७।
शिरो नवस्य सविषम् – वही १०-८६-५।

१४. दस्रो यमोऽनलोब्रह्मा चन्द्रो रुद्रोऽदितिर्गुरुः।
क्रमानूक्षत्रदेवताः (लघुसंग्रह श्लोक ६१-६१)

१५. एकं द्वे त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि, अथैता एवं भूयिष्ठा यत् कृत्तिकास्तद् भूमानमेव एतदुपैति, तस्मात् कृत्तिकास्वाद धीत। एता हवै प्राच्यै दिशे न च्यवन्ते, सर्वाणिहवा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते।
(शतपथ ब्राह्मण २-१२)

के पर्वतीय प्रदेश समुद्र के अन्दर थे। (ङ) भूगर्भशास्त्रियों के अनुसार यह स्थिति ईसा से ५० हजार वर्ष से लेकर २५ हजार वर्ष पहले थी।

६. **महर्षि दयानन्द सरस्वती का मत**—आर्य-समाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द के अनुसार वेदों का उद्‌गम परमात्मा से हुआ। अत: जिस दिन सृष्टि आरम्भ हुई, उसी दिन वेदों का भी आविर्भाव हुआ। भारतीय ज्योतिष के अनुसार वर्तमान सृष्टि १९५५८८५०८६ वर्ष पहले हुई थी। अत: यही वेदोत्पत्ति काल भी है।

७. **विण्टरनित्स का मत**—वैदिक काल २५०० ई॰पू॰ से ५०० ई॰पू॰ तक माना जा सकता है। पं॰ दीनानाथ शास्त्री चुलेट ने भी ज्योतिष के आधार पर वेद का रचना काल आज से तीन लाख वर्ष प्राचीन माना है।

मैक्डॉनैल ने ऋग्वेद की रचना ईसा से १३०० वर्ष पहले बतलाई है। उसी समय भारतीय आर्य और ईरानी आर्य अलग-अलग हुए।

८. **डॉ॰ भाण्डारकर का मत**—ईशावास्य उपनिषद् में आए 'असुर्या' शब्द को डॉ॰ भाण्डारकर ने वर्तमान 'असीरिया' का समानार्थक प्रमाणित किया है। असीरिया (मेसोपोटामिया) के निवासी ही वेदों में उल्लिखित असुर हैं। लगभग २५०० वर्ष ई॰पू॰ में ये भारत में प्रविष्ट हुए। उसी आधार पर ऋग्वेद का रचनाकाल ६००० ई॰पू॰ माना जा सकता है।

९. **अमलनरेकर का मत**—इतिहासज्ञ एच०जी० वेल्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आउटलाइन्स ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री' में २५००-५०००० वर्ष पूर्व के विश्व की रूपरेखा प्रस्तुत की है। इसी आधार पर अमलनरेकर ने ६६०००-७५००० वर्ष पहले ऋग्वेद का रचनाकाल बतलाया है।

उपर्युक्त मतों की बड़ी संख्या से यह स्पष्ट है कि प्रयासों की इस संकुलता के विपरीत वेदों की रचना का काल अभी तक अनिर्णीत ही है। सम्प्रति यह प्रश्न केवल वैदिकों तक ही सीमित नहीं है; पुरातत्त्व, मानवशास्त्र एवं भूगर्भ-विज्ञान की नई शोधों के आयाम भी इससे जुड़े हैं। यद्यपि यह सही है कि वेदानुशीलियों के समक्ष प्रामाणिक साक्ष्यों का अभाव दुर्भेद्य चट्टान बनकर खड़ा है, किन्तु यह भी निश्चित है कि शीघ्र ही किसी दिन मानविकी के अध्येता इस समस्या को सुलझाकर ही रहेंगे।

वेद-व्याख्या की प्राच्य परम्परा

वैदिक व्याख्यान की आरम्भिक परम्परा के चार सोपान हैं। ये हैं—१. संहिताकरण, २. पदपाठकरण, ३. ब्राह्मण ग्रन्थों के रूप में और ४० वेदाङ्गों के रूप में। इनका पृथक्-पृथक् विवरण इस प्रकार है :

संहिताकरण—वेद-मंत्रों को एक साथ रखने के लिए, उनके संहिताकरण-हेतु कुछ सिद्धान्त निश्चित किये गये। प्रथम सिद्धान्त था, ऋषियों के आधार पर मन्त्रों का वर्गीकरण-ऋग्वेद के २-७ मण्डलों में यह सिद्धान्त दिखलाई देता है। दूसरा आधार लिया गया देवताओं का। उदाहरणार्थ नवम् मण्डल में समस्त सोम विषयक मन्त्र एक साथ रखे गये। तीसरे आधार में विभिन्न सूक्तों का क्रम-निर्धारण करना था। उदाहरण के लिए क्षुद्र सूक्तों को लिया जा सकता है।

पदपाठकरण–वेदार्थ को समझने का यह दूसरा बड़ा प्रयत्न था। ऋग्वेद का पदपाठ शाकल्य ने प्रस्तुत किया, जिनकी मान्यता शाखा प्रवर्तक आचार्यों में की जाती है।

शाकल्यः प्रथमस्तेषां तस्मादन्यो रथीतरः।
बाष्कलिश्च भरद्वाज इति शाखा प्रवर्तकाः।। (ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वभाग, २०३४)

यास्क ने निरुक्त में शाकल्य को उद्धृत किया है। कहीं-कहीं इनसे असहमति भी व्यक्त की है। ऋग्वेद पर रावण-रचित पदपाठ भी प्राप्त होता है। कहीं-कहीं इसमें भिन्नता है। शुक्लयजुर्वेद (माध्यन्दिन संहिता) का पदपाठ भी मुद्रित है, लेकिन उसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है। तैत्तिरीय संहिता के पदपाठ की रचना आत्रेय ने की। सामवेद के पदपाठ का प्रणयन गार्ग्य ने किया अथर्ववेद के पद-पाठकार का नाम अज्ञात है। इन विभिन्न पदकारों के मध्य परस्पर भिन्नताएं मिलती हैं। जिसे एक पदकार पद मानता है, उसी में अन्य पदकार दो-दो पदों की सम्भावना करते हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेदीय 'मेहना' को एक पद मानते हैं और सामवेदीय पदकार ने इसमें तीन पद माने हैं–म, इह, न। दुर्गाचार्य ने अपनी निरुक्तवृत्ति में इसका उल्लेख करते हुए कहा है :

'बह्टचानाम् 'मेहना' इत्येकं पदम्। छन्दोगानां त्रीण्येतानि पदानि–'म', 'इह', 'न' इति। तदुभयं पश्यता भाष्यकारेण उभयोः शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ।'

स्कन्दस्वामी ने 'विचित्राः पदकाराणामभिप्रायाः' कहकर विभिन्न पदपाठकारों के मध्य विद्यमान भिन्नता का उल्लेख किया है।

वेद-व्याख्यान का तृतीय गम्भीर प्रयत्न ब्राह्मण ग्रन्थों में दिखलाई देता है। ब्राह्मण ग्रन्थकारों ने यज्ञानुष्ठान की दृष्टि से विभिन्न मन्त्रों, मन्त्रांशों और पदों की व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। उदाहरण के लिए शतपथ ब्राह्मण को वाजसनेयि संहिता की 'रनिंग कमेण्ट्री' कहा जा सकता है। प्रतीकात्मक और व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या का आरम्भ भी ब्राह्मणों में हुआ। मन्त्र की व्याख्या करके वे क्रियमाण कर्म के साथ उसके स्वारस्य को प्रदर्शित करना चाहते थे, क्योंकि उनकी भाषा में यह 'रूप समृद्धि' थी, और रूप-समृद्धि बड़े गौरव की बात थी–'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद् रूपसमृद्धं यत्क्रियमाणं कर्म ऋग्यजुर्वाऽभिवदति।' ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रदर्शित निर्वचनों से ही आगे निरुक्त की दिशा प्रशस्त हुई।

चतुर्थ प्रयत्न वेदांगों के रूप में हुआ। इनमें भी निरुक्त और व्याकरण की विशेष भूमिका रही, जिनकी विवेचना सप्तम अध्याय में की जायेगी।

मध्ययुगीन वेद-व्याख्याकार

इस श्रेणी में स्कन्दस्वामी, उद्गीथ, माधव, वेङ्कटमाधव और सायण प्रभृति भाष्यकार हैं। इनका परिचय क्रमशः दिया जायेगा। ऋग्वेद के प्रमुख भाष्यकार ये हैं :

स्कन्द स्वामी–यह ऋग्वेद के आद्य भाष्यकार हैं। शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी ने इन्हें अपना गुरु बतलाया है :

य: सम्राट कृतवान्सप्तसोमसंस्थास्तथर्कद्युतिम्।
व्याख्यां कृत्वाऽध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः।।

डॉ॰ लक्ष्मणसरूप ने इसी आधार पर इनका समय ईसा की छठी शताब्दी के प्रारम्भ में निश्चित किया है। स्कन्दस्वामी ने ऋग्वेद और निरुक्त दोनों पर भाष्यों की रचना की थी। सायण की तुलना में स्कन्दस्वामी का ऋग्भाष्य अपेक्षाकृत संक्षिप्त है। यह केवल चतुर्थष्टक तक ही प्राप्त है। वेंकटमाधव के कथन से ज्ञात होता है कि भाष्य-रचना में स्कन्दस्वामी की सहायता नारायण ने की थी।[१६]

उदगीथ–ऋग्वेद के अन्तिम कुछ मण्डलों पर इनका भाष्य उपलब्ध है। इन्होंने स्वयं अपने को वनवासी (कर्णाटक के पश्चिमी भाग) से सम्बद्ध बतलाया है। भाष्य की शैली स्कन्दस्वामी से प्रभावित प्रतीत होती है। स्कन्दस्वामी और उद्गीथ के ऋग्भाष्य विश्वेश्वरानन्द-संस्थान (होशियारपुर) से प्रकाशित हो चुके हैं।

माधव–यह वेङ्कटमाधव से भिन्न हैं। इनके ऋग्भाष्य का प्रकाशन प्रो॰ कूहनन राज ने सम्पादित करवाया। माधव के ऋग्भाष्य के प्रारम्भ में ११ अनुक्रमणियाँ थीं, जिनमें से कुछ आज अप्राप्य हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं स्वरानुक्रमणी। माधव के भाष्य का अनुकरण प्राय: सभी परवर्ती भाष्यकारों ने किया। केवल एक ही अष्टक पर यह भाष्य उपलब्ध है।

वेङ्कटमाधव–इन्होंने सम्पूर्ण ऋग्वेद पर भाष्य रचा था। भाष्य के प्रथम अध्याय के अन्त में प्रदत्त परिचय के अनुसार इनके पितामह का नाम माधव, पिता का वेङ्कटार्य और माँ का नाम भवसुन्दरी था। ये कौशिक गोत्रीय तथा आन्ध्र प्रदेश के निवासी थे। श्री साम्बशिव शास्त्री के अनुसार इनका स्थितिकाल १०५० से ११५० ई॰ के मध्य है। इनका भाष्य अत्यन्त संक्षिप्त है। ब्राह्मण ग्रन्थों के विपुल उद्धरण इसका मूल्य बढ़ा देते हैं। वेद-व्याख्या की दृष्टि से इन्होंने निरुक्त और व्याकरण की अपेक्षा ब्राह्मणों को अधिक उपादेय बतलाया है :

संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः।
निरुक्त व्याकरणयोरासीत् येषां परिश्रमः।।
अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रमाः।
शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि।।

आनन्दतीर्थ–द्वैतवादी सुप्रसिद्ध माधव वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तक मध्वाचार्य का ही यह नाम है। इनका ऋग्भाष्य कुछ ही मन्त्रों पर छन्दोबद्ध है। इनके अनुसार वेदों में सर्वत्र भगवान नारायण का ही प्रतिपादन है :

१६. स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति ते क्रमात्।
चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम्।।

स पूर्णत्वात् पुमान् नाम पौरुषे सूक्त ईरितः।
स एवाखिलवेदार्थः सर्वशास्त्रार्थ एव च।।

इनके भाष्य पर जयतीर्थ ने टीका लिखी। इस टीका पर भी आगे नरसिंह तथा नारायण ने विवृतियाँ रचीं। आनन्दतीर्थ का समय वि०सं० १२५५ से १३३५ के मध्य माना जाता है।

आत्मानन्द—इन्होंने केवल 'अस्यवामीय' सूक्त पर ही भाष्य लिखा। इनका आविर्भाव १४वीं शती विक्रमी में हुआ। अपने भाष्य को उन्होंने 'विष्णुधर्मोत्तर' का अनुवर्ती माना है। प्रत्येक मन्त्र का अर्थ उन्होंने परमात्मापरक किया है।

सायणाचार्य—सम्प्रति सायणाचार्य के वेद-भाष्य ही वेदार्थ समझने में हमारे सहयोगी हैं सायण ने ५ संहिताओं, ११ ब्राह्मणों और २ आरण्यकों पर भाष्य रचे। उनकी सूची इस प्रकार है-**संहिताएँ**—तैत्तिरीय संहिता, ऋग्वेद संहिता, सामवेद संहिता, काण्व संहिता और अथर्ववेद संहिता; **ब्राह्मण**—तैत्तिरीय ब्राह्मण, वंश ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, ताण्ड्य (पञ्चविंश) महाब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण सामविधान ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण, देवताध्याय ब्राह्मण, उपनिषद् ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण, वंशब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण; **आरण्यक**—तैत्तिरीय आरण्यक तथा ऐतरेय आरण्यक सर्वप्रथम सायण ने तैत्तिरीय संहिता पर भाष्य रचा, क्योंकि यह उनकी अपनी शाखा थीं। उसके अतिरिक्त यज्ञ की दृष्टि से भी इसका अधिक उपयोग था। सायण के वेद-भाष्य अपने में सम्पूर्ण तथा सर्वथा विश्वसनीय हैं, श्रुतियों, ब्राह्मणों तथा वेदाङ्गों के प्रचुर उद्धरणों ने उन्हें और भी प्रामाणिकता तथा गौरव प्रदान किया है। उन भाष्यों के प्रारम्भ की लम्बी-लम्बी भूमिकाओं में सायण ने वेदानुशीलन से सम्बद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर शास्त्रीय ढंग से विचार किया है। प्राची और प्रतीची के सभी सायणोत्तर वेदानुशीली उनसे अशेष उपकृत हुए हैं। निष्कर्ष भले ही भिन्न हों, किन्तु आधार सभी का सायण-भाष्य ही है। अथर्ववेद पर सायण का पूरा भाष्य नहीं मिलता। सायण का दृष्टिकोण यज्ञपरक है। भाष्यों में स्वर और व्याकरण-प्रक्रिया पर भी उन्होंने विचार किया है। 'यद्वा' कहकर दूसरे पक्ष भी प्रस्तुत किये हैं।

सायण के अग्रज माधवाचार्य जो बाद में विद्यारण्य स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए, विजयानगरम् के हिन्दू सम्राट बुक्क के अमात्य और गुरु थे। बुक्क ने माधव को ही वेदों पर भाष्य लिखने के लिए प्रेरित किया, किन्तु माधव ने अपने अनुज सायणाचार्य से यह कार्य कराने के लिए कहा :

सप्राहनृपतिं राजन् ! सायणार्यो ममानुजः।
सर्वं वेत्त्येष वेदानां व्याख्यातृत्त्वे नियुज्यताम्।।

माधवाचार्य ने बुक्क से कहा—महाराज, मेरा अनुज सायण वेद के विषय में सब कुछ जानता है, अतः उसे ही वेदों के व्याख्यान में नियुक्त कीजिए।

सायण ने अग्रज के प्रति सम्मान व्यक्त करने के लिए अपने वेद-भाष्यों को 'माधवीय' नाम दिया है। यों सामूहिक रूप में इन भाष्यों का नाम वेदार्थ-प्रकाश है।

सायण बुक्कनरेश के मन्त्री तथा बुक्क के पुत्र हरिहर (द्वितीय) के प्रधान मंत्री थे। उनके पिता का नाम मायण, माँ का नाम श्रीमती और गुरु का नाम श्रीकण्ठ था। उनका समय १४वीं

शताब्दी है। सायण जिस प्रकार से महावेदस और भाष्यकार थे, वेसे ही धुरन्धर राजनीतिज्ञ तथा योद्धा भी कहे जाते हैं। युद्ध में उनकी खड्ग का अनुरणन सुनकर शत्रुओं के छक्के छूट जाते थे। सायण का पारिवारिक जीवन भी बहुत सुखद था। उनके सभी पुत्र साहित्यिक, सहदय और कला निष्णात थे। सायण का जीवन वस्तुत: बहुमुखी प्रतिभा का प्रतीक है।

एक शिलालेख, जो सन् १३८६ का है[१७] से ज्ञात होता है कि महाराज हरिहर ने विद्यारण्यस्वामी के समक्ष चतुर्वेद-भाष्य प्रवर्तक नारायण वाजपेययाजी, नरहरि सोमयाजी तथा पण्ढरि दीक्षित नामक तीन ब्राह्मणों को अग्रहार देकर सम्मानित क्यिा। प्रतीत होता है कि इन लोगों ने वेद-भाष्य रचना में सायण की सहायता की।

सायण के ऋग्वेद-भाष्य पर विद्वानों ने काल विपर्यस्त मान्यताओं के प्रस्तुतिकरण (Anachronism) का दोषारोपण किया है। उदाहरण के लिए उनका कथन है कि सायण-भाष्य में १५वीं शती के अद्वैतसिद्धान्त प्रभृति धार्मिक-आध्यात्मिक विश्वास उपलब्ध हो जाते हैं। दूसरा दोष केवल यज्ञ को ही केन्द्र बिन्दु मानकर भाष्य-प्रणयन करना है। ऐसे स्थलों पर भी, जहाँ दूसरा अर्थ किया जा सकता था, सायण ने खींचतान कर यज्ञपरक अर्थ करने की चेष्टा की है।

इसके बावजूद सभी देशी-विद्वानों ने मुक्तकंण्ठ से सायण के वेद-भाष्यों की प्रशंसा की है।[१८] जर्मनी में वेदज्ञों के एक वर्ग ने, जिसके नेता रडल्फ रॉथ थे, कुछ काल तक हठपूर्वक सायण का विरोध किया, किन्तु कालान्तर में वहीं के विद्वानों ने गेल्डनर जैसे मनीषी के नेतृत्त्व में यह स्वीकार किया कि सायण-भाष्य की सहायता लिये बिना वेदाध्ययन की दिशा में हम एक पग भी आगे नहीं चल सकते।

शुक्ल यजुर्वेदीय भाष्यकार

शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता के दो भाष्यकार मुख्य माने जाते हैं। इनका परिचय इस प्रकार है :

उव्वट अथवा उवट—वाजसनेयि संहिता के ये प्रथम भाष्यकार माने जाते हैं। उव्वट आनन्दपुर

१७. इस सन्दर्भ में ऋग्वेद के आंग्ल अनुवादक प्रो. विलसन का कथन अवधार्य है–
Sayana undoubtedly had a knowledge of his text far beyond the pretensions of any European scholar, and must have been in possession either through his own learning or that of his assistants of all the interpretations which have been perpetuated by traditional teaching from the early times-Translation of Rigveda.

१८. सायण-भाष्य के प्रथम संपादक मैक्समूलर का यह अभिमत भी उल्लेखनीय है – We ought to bear in mind that five and twenty years ago, we could not have made even our first steps, we could never at least have agained a firm footing without his leading strings.
सायण के विषय में विशद जानकारी के लिए पं. बलदेव उपाध्याय कृत 'आचार्य सायण और माधव' द्रष्टव्य है। इसका प्रकाशन हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से हुआ है।

के निवासी थे। इनके पिता का नाम वज्रट था।[१९] अवन्ति-सम्राट भोज का इन्होंने उल्लेख किया है, जिससे इनका समय ११वीं शताब्दी का मध्य प्रतीत होता है। नामकरण से ये कश्मीरी प्रतीत होते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य, यजुर्वेद प्रातिशाख्य, ऋक्सर्वानुक्रमणी, तथा ईशावास्योपनिषद् पर भी इनके भाष्य उपलब्ध हैं। भाष्य-भूमिका में इन्होंने स्वयं अपनी व्याख्या-पद्धति का उल्लेख किया है[२०], जिसे इन्होंने 'व्याख्याधर्मा:' कहा है। तदनुसार व्याख्या करते हुए व्याख्येय अंश के अतिरिक्त पदों को छोड़ देना चाहिए, अनुपस्थित पद का वाक्य में समावेश करना चाहिए, दूरस्थ शब्द को सन्निकट लाना चाहिए तथा शब्दों के क्रम को यथोचित रूप से व्यवस्थित करना चाहिए। लिंग, धातु एवं विभक्ति को उनके अपने-अपने स्थान पर ही भावानुकूल ग्रहण करना चाहिए तथा किसी भी मन्त्र में जो कुछ भी वैदिक हो उसे लौकिक बना लेना चाहिए। उव्वट ने परम्परागत अर्थ पर विशेष बल दिया है; भाष्य की सप्रमाण पुष्टि की है। उनका दृष्टिकोष्ण उदार है। भाष्य में अलंकार शास्त्रीय अपने गहन ज्ञान का उपयोग करते हुए उव्वट ने स्थान-स्थान पर पूर्णोपमा, लुप्तोपमा, रूपक इत्यादि अलंकारों को दिखलाया है। पशु-स्वभाव की जानकारी का भी उन्होंने प्रदर्शन किया है। संक्षिप्त होते हुए भी उव्वट का भाष्य परिपक्व, सुलझा हुआ और स्पष्ट है।

महीधर–इनके यजुर्भाष्य का नाम 'वेददीप' है – इसमें वास्तव में उव्वट-भाष्य को ही विस्तृत किया गया है। इनके भाष्य पर अश्लीलता का दोषारोपण आर्य-समाजी विद्वानों ने बहुत किया है, किन्तु वास्तव में ये उस सन्दर्भ में दोषी नहीं हैं। अश्वमेध-प्रकरणगत अश्लीलता ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में भी विद्यमान है; महीधर ने केवल व्याख्या में उसका सन्दर्भ भर दिया है। यज्ञानुष्ठानों से ये सुपरिचित थे। महीधर काशी निवासी नागर ब्राह्मण थे। तन्त्र के क्षेत्र में इनका 'मन्त्रमहोदधि' ग्रन्थ बहुचर्चित है। अपने भाष्य में इन्होंने उव्वट का उल्लेख भी किया है–'भाष्यं विलोक्यौवटमाधवीयम्।' इनके भाष्य में व्याकरण-प्रक्रिया विस्तार से प्रदर्शित है। इनका समय १६वीं शती का मध्यभाग माना जाता है।

शुक्ल यजुर्वेद की कण्व-संहिता पर निम्नलिखित भाष्यकारों के भाष्य उपलब्ध हैं :

हलायुध–यह सायण से पूर्ववर्ती हैं। भाष्य का नाम है– 'ब्राह्मणसर्वस्व।' बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के राज्य में यह धर्माधिकारी थे। इससे इनका समय १२वीं शती विक्रमी का पूर्वार्ध माना जाता है। इनके अन्य ग्रन्थ ये हैं–मीमांसासर्वस्व, वैष्णवसर्वस्व, शैवसर्वस्व और पण्डितसर्वस्व।

१९. आनन्दपुरवास्तव्य वज्रटरव्यस्य सूनुना।
उव्वटेन कृतं भाष्यं पदवाक्यै: सुनिश्चितै:।।
ऋष्यादींश्च पुरस्कृत्य अवन्त्यामुव्वटो वसन्।
मन्त्राणां कृतवान् भाष्यं महीं भोजे प्रशासति।

– वाज.सं. के भाष्य के अन्त में।

२०. अतिरिक्तं पदं त्याज्यं हीनं वाक्ये निवेशयेत्।
विप्रकृष्टं तु संदध्यादानुपूर्व्यं च कल्पयेत्।।
लिङ्गधातु. विभाक्तिं च योज्यं वाक्यानुलोमतः।
यद्यत् स्याच्छान्दसं वाक्ये कुयन्तितु लौकिकम्।।

–बृहद्देवता २-१०० तथा १०१।

सायण–सम्पूर्ण काण्वसंहिता पर सायण का भाष्य उपलब्ध है।

आनन्दबोध भट्टोपाध्याय–अभी तक इनका भाष्य कण्व संहिता के चतुर्थ दशक (३१-४० अध्यायों) पर प्रकाशित हुआ है।[२१] यों उपलब्ध सम्पूर्ण भाष्य है। उव्वट से भाष्य प्रभावित है–कहीं-कहीं मौलिकता भी है। पुष्पिका के अनुसार ये वासुदेवपुरी निवासी जात वेद भट्टोपाध्याय के पुत्र थे।

कृष्ण यजुर्वेद के भाष्यकार

तैत्तिरीय संहिता के उन भाष्यकारों में, जिनके भाष्य प्राप्त नहीं हुए हैं, कुण्डिन, भवस्वामी, गुहदेव और क्षुर के नाम यत्र-तत्र मिलते हैं। सायण से पूर्व केवल भट्टभास्कर मिश्र ऐसे भाष्यकार हैं, जिनका भाष्य उपलब्ध है।

भट्टभास्कर मिश्र–यह सायण, देवराजयज्वा और हरदत्त से पूर्ववर्ती हैं। इनका समय १२वीं शती विक्रमी के पूर्व है। 'तैत्तिरीय संहिता' पर इनके भाष्य का नाम 'ज्ञानयज्ञ' है। याज्ञिक दृष्टि के अतिरिक्त इन्होंने आध्यात्मिक और अधिदैविक सन्दर्भों में भी मन्त्रों की व्याख्या की है। उदाहरण के लिए एक स्थान पर 'हंस' के तीन अर्थ किये हैं–यज्ञपरक अर्थ है हंस, आधिदैविक अर्थ है आदित्य और आध्यात्मिक अर्थ है आत्मा।

तैत्तिरीय संहिता पर साथणाचार्य का भाष्य तो सर्वप्रसिद्ध ही है।

सामवेद के भाष्यकार

माधव–इन्होंने सर्वप्रथम सामवेद संहिता पर 'विवरण' नामक भाष्य की रचना की थी। यह अमुद्रित है। सत्यव्रतसामश्रमी ने, जिन्होंने इसके उपलब्ध होने की सूचना सबसे पहले दी, अपने द्वारा सम्पादित सायण-भाष्य में इसके कुछ अंश टिप्पणी के रूप में दिये थे। इनके पिता का नाम नारायण था–इससे अधिक जानकारी इनके विषय में अभी तक नहीं मिली।

भरतस्वामी–इनका भाष्य भी अभी तक अप्रकाशित ही है। अपने सामवेद-भाष्य के आरम्भ में उन्होंने जो उपक्रमणिका दी है*, उससे ज्ञात होता है कि ये होयसल सम्राट रामनाथ के समसामयिक थे। कश्यप गोत्रीय भारतस्वामी के माता-पिता का नाम था यज्ञदा और नारायणार्य।

२१. संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की शोध-पत्रिका 'सारस्वती सुषमा' के अंकों (संवत् २००९-२०११) में प्रकाशित।

* नमोऽस्तु सामदुग्धाब्धि मन्थमन्दर भूभृते।
श्रीमते नागनाथाय गुरवे गुणराशये।।
नत्वा नारायणं देवं तत्प्रसादादवाप्तधीः।
साम्नां श्री भरतस्वामी काश्यपो व्याकरोत्यृचः।।
होयसलाधीश्वरे पृथ्वीं रामनाथे प्रशासति।
व्याख्या कृतेयं क्षेमेण श्री रंगे वसता मया।
इत्थं श्री भरतस्वामी काश्पयो यज्ञदासुतः।
नारायणार्यतनयो व्याख्यात्साम्नामृचोऽखिलाः।।

गुरु थे श्री नागनाथ। सामवेद-भाष्य की रचना उन्होंने श्रीरंगम् में रहकर की थी। इन्होंने संभवतः सभी सामवेदीय ब्राह्मणों पर भी भाष्य रचे थे, जिनमें से अभी तक सामविधान ब्राह्मण-भाष्य का ही प्रकाशन हुआ है। भरतस्वामी का कार्यकाल १३४५ विक्रमी के आस-पास माना जा सकता है।

गुणविष्णु–छान्दोग्य ब्राह्मण के प्रथम दो प्रपाठकों में संकलित गृह्य कृत्योपयोगी २६८ मन्त्रों की व्याख्या इन्होंने की।[22] इसका नाम है–'छान्दोग्यमन्त्रभाष्य'। यह सायण से पूर्ववर्ती हैं। इनके भाष्य में निघण्टु, निरुक्त और मीमांसा ग्रन्थों के साथ ही ब्राह्मणों, उपनिषदों, गृह्य तथा धर्मसूत्रों के भी उद्धरण प्रचुर परिमाण में प्राप्त होते हैं। व्याकरणविषयक विवादों की स्थिति में इन्होंने अष्टाध्यायी, ऋक् प्रातिशाख्य और काशिका का सन्दर्भ दिया है। गुणविष्णु वंग प्रदेश के निवासी थे। इनके पिता का नाम था भट्टदामुक। हलायुध के 'ब्राह्मणसर्वस्व' में इनके उद्धरण हैं, इससे ये १२वीं शती से भी प्राचीन प्रतीत होते हैं।

अन्य संहिताओं के सदृश सामसंहिता पर भी सर्वाधिक प्रयुज्यमान भाष्य सायणाचार्य का ही है।

अथर्व संहिता पर भाष्य

शौनकीय अथर्व संहिता पर सायणाचार्य का भाष्य उपलब्ध होता है, जो केवल १२ काण्डों तक ही है। इसमें सायण ने अथर्ववेद की 'संहिता-विधि' के रूप नें मान्य कौशिक सूत्र की परम्परा का यथासंभव पालन किया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के भाष्यकार

ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण पर सायण से पूर्ववर्ती दो भाष्यकारों के भाष्य मिलते हैं। इनमें से एक गोविन्द स्वामी (१३वीं शती से पूर्व) का है और दूसरा षड्गुरुशिष्य (१२वीं शती के मध्य में) का है। षड्गुरुशिष्य का भाष्य संक्षिप्त है और अनन्तशयन ग्रन्थ माला (केरल) से प्रकाशित हो चुका है।

शतपथ ब्राह्मण पर सायण से पूर्ववर्ती (षष्ठशती विक्रमी में विद्यमान) हरिस्वामी का अपूर्ण भाष्य प्राप्त होता है। यह पराशर गोत्रीय थे। इनके पिता का नाम था नागस्वामी। अवन्ती के राजा विक्रम के ये धर्माध्यक्ष थे। हरिस्वामी का शतपथ-भाष्य प्राचीन होने के साथ ही प्रामाणिक भी है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण पर भट्टभास्कर और सायणाचार्य के भाष्य उपलब्ध ही हैं।

सामवेद के सभी कौथुमशाखीय ब्राह्मणों पर सायणाचार्य के भाष्य उपलब्ध हैं। ताण्ड्य ब्राह्मण पर हरिस्वामी के पुत्र जयस्वामी की टीका का उल्लेख तो मिलता है, लेकिन वह दिखाई नहीं पड़ी। डॉ॰ लोकेशचन्द्र ने अपने 'सरस्वती विहार' में उसके होने की बात मुझे बतलाई थी, लेकिन

२२. संपादक स्व. दुर्गामोहन भट्टाचार्य, कलकत्ता।

जब निकलवाकर देखी गई, तो वह सायण-कृत टीका ही थी। भट्टभास्कर मिश्र और भरतस्वामी के सामब्राह्मणों के भाष्यों का पहले उल्लेख किया जा चुका है।

द्विजराजभट्ट—संहितोपनिषद् ब्राह्मण पर द्विजराजभट्ट का भाष्य प्रकाशित हो चुका है। स्वयं भाष्यकार के द्वारा प्रदत्त विवरण से ज्ञात होता है कि उनके पिता विष्णु भट्ट महान् वैदिक विद्वान् थे। द्विजराजभट्ट का जन्म श्रीवंश में हुआ। बर्नेल के अनुसार वे दक्षिण भारतीय थे।

अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण पर कोई भी भाष्य नहीं मिलता।

आरण्यकों और उपनिषदों के प्रमुख भाष्यकार

ऐतरेय और तैत्तिरीय आरण्यकों पर सायणाचार्य के भाष्य उपलब्ध हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकि और मैत्रायणी उपनिषदों पर शंकराचार्य के भाष्यों के अतिरिक्त आनन्दगिरि के भाष्य विशेष प्रसिद्ध हैं। कालान्तर में साम्प्रदायिक आग्रहों के अनुसार प्रायः वेदान्ती सम्प्रदायों के अनेक आचार्यों ने इन पर अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार भाष्यों का प्रणयन किया है। बृहदारण्यक पर शंकराचार्य से भी पूर्ववर्ती भर्तृमित्र और भर्तृप्रपंच प्रभृति ने भाष्यों की रचना की थी।

आधुनिक भारतीय वेद-व्याख्याकार

आधुनिक युग में, वेदों के पुनः अनुशीलन का प्रारम्भ भारत में १९वीं शती में हुआ। पौराणिक मान्यताओं से असन्तुष्ट होकर, पुनरुत्थान की दिशा में सक्रिय राजाराममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर प्रभृति ने उपनिषदों में अपनी आस्थाओं के सन्धान की चेष्टा यद्यपि की, किन्तु मूल वैदिक संहिताओं की ओर हमें पुनः प्रेरित करने का श्रेय महर्षि दयानन्द सरस्वती को ही है। अतएव उन्हें ही वैदिक पुनर्जागरण का अग्रदूत माना जाना चाहिए। अन्य विद्वानों में योगी अरविन्द, पं० सातवलेकर और म०म०पं० मधुसूदन ओझा के नाम अग्रगण्य हैं। इनका परिचय इस प्रकार है :

महर्षि दयानन्द सरस्वती—वेदों के आधार पर हिन्दू समाज के पुनर्गठन के लिए प्रयत्नशील महर्षि दयानन्द ने आर्य-समाज के प्रवर्तन के साथ ही वेद-मन्त्रों की नयी व्याख्या भी प्रस्तुत की। सायण, महीधर इत्यादि भारतीय भाष्यकारों के साथ ही मैक्समूलर प्रभृति पश्चिमी वेदज्ञों की भी वेदव्याख्याओं से वे असन्तुष्ट थे। इसलिए यजुर्वेद (शुक्ल) पर उन्होंने सर्वप्रथम भाष्य-रचना की। ऋग्वेद पर भी उन्होंने भाष्य प्रारम्भ किया था—सातवें मण्डल तक हो भी गया था, किन्तु असामयिक निधन से उनका ऋग्वेद-भाष्य पूर्ण न हो सका। अपने वेदविषयक विचारों और मान्यताओं का उन्होंने 'सत्यार्थ-प्रकाश' और 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में विस्तार से प्रतिपादन किया, जिससे प्रेरणा ग्रहण करके शतावधि आर्यसमाजी विद्वानों ने शेष वैदिक साहित्य की व्याख्या उन्हीं के सिद्धान्तों के अनुसार करने की चेष्टा की। इनमें क्षेमकरणदास त्रिवेदी, पं० युधिष्ठिर मीमांसक, गंगाप्रसाद उपाध्याय, स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती, आर्यमुनि, जयदेव विद्यालंकार, सत्यकाम विद्यालंकार प्रभृति प्रमुख हैं।

स्वामी जी ने अग्नि, मरुत, विष्णु, इन्द्र इत्यादि देवों की पृथक् सत्ता स्वीकार न करके उन्हें परमात्मा की विभिन्न शक्तियों के रूप में स्वीकार किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने देवविषयक ऐतिहासिक या आख्यानात्मक तथ्यों का अर्थ भी बदल दिया है। उनकी दृष्टि में वेद ईश्वरकृत तथा ईश्वरीय ज्ञान की निधि हैं। इसलिए वे सभी सत्य विद्याओं के मूल हैं। दार्शनिक दृष्टि से वे एकेश्वरवाद और त्रैतवाद में विश्वास रखते थे। त्रैतवाद के अनुसार ईश्वर निराकार, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वव्यापी है, किन्तु जीव और प्रकृति की भी स्वतन्त्र सत्ता है। वेद-व्याख्या के सन्दर्भ में उन्होंने यास्क-कृत 'निरुक्त' और पाणिनीय व्याकरण (अष्टाध्यायी, पातञ्जल महाभाष्य, काशिका) को ही मूलाधार माना है। यास्क की तरह वे भी आख्यातवाद या धात्वर्थवाद में विश्वास करते थे। शब्दों को यौगिक तथा योगरूढ़ि तो मान सकते थे, किन्तु केवल रूढ़ि नहीं, मन्त्रार्थ का स्फोट् उनके हृदय में जिस रूप में हुआ, व्याकरण और निरुक्त की सहायता से उन्होंने उसी को अभिव्यक्त कर दिया। किसी भी मन्त्र का भाष्य करते समय सर्वप्रथम वे पदच्छेद करते हैं, तदनन्तर अन्वय, पदार्थ करते हुए भावार्थ प्रस्तुत कर देते हैं। भावार्थ में उस मन्त्र विशेष के मनन से जो भी भावना उनके सामने उद्भासित होती है, उसे ही भावार्थ के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। इस दृष्टि से कहीं-कहीं वे पदार्थ को पीछे छोड़ देते हैं वस्तुतः इस भावार्थ को भाष्यकार की टिप्पणी के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। वैदिक विषयों अथवा देवों के आधिभौतिक, अधिदैविक एवं आध्यात्मिक तीनों स्वरूपों का उन्होंने उद्घाटन किया है। अग्नि के भौतिक स्वरूप के साथ ही वे उसकी परमात्मा के प्रकाशक गुण तथा अतिथि, संन्यासी इत्यादि अर्थों के सन्दर्भ में भी व्याख्या करते हैं। पूर्वमीमांसा के सदृश स्वामी जी ने भी वेदों में इतिहास या व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का अस्तित्त्व स्वीकार नहीं किया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के वेद-भाष्यों पर प्रायः ये आक्षेप किये जाते हैं-(१) व्याकरण की प्रक्रिया का प्रयोग उन्होंने प्रकरण को ध्यान में न रखकर स्वेच्छापूर्वक किया है। कहीं-कहीं वाक्य-रचना तक को भी ध्यान में नहीं रखा है। (२) एक ही मन्त्र की विविध स्थलों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है। (३) स्वर-प्रक्रिया का ध्यान नहीं रखा है। (४) भाष्य में स्वाभाविकता कम और खींचतान अधिक है। स्वामी जी के अनुयायियों ने इन आक्षेपों के उत्तर भी यथासाध्य रूप में दिये हैं जिनके उल्लेख की यहां आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

पं० मधुसूदन ओझा–ओझा जी ने विधिवत् यद्यपि किसी भी मन्त्र-संहिता की विस्तृत व्याख्या नहीं लिखी, किन्तु वेद-मन्त्रों के वैज्ञानिक तत्त्वों का उद्घाटन करने के लिए उन्होंने जिन पुस्तकों की रचना की, उनमें प्रसंगवश उद्धृत मन्त्रों की व्याख्या भी की। उन्होंने वेदों की व्याख्या में वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रशस्त किया। ओझा जी के कार्य को म.म. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, मोतीलाल शर्मा और अन्य सुयोग्य शिष्यों ने आगे बढ़या। ओझा जी ने इस पर प्रायः २०० ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें से ५० ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। वैदिक विज्ञान के अन्तर्गत आगे इनके सिद्धान्तों का परिचय दिया जायेगा।

योगिप्रवर अरविन्द–जीवन के पूर्वार्द्ध में सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी रहे अरविन्द अपने उत्तर जीवन में आध्यात्मिक साधना में संलग्न हो गये थे। उन्होंने वेद-मन्त्रों की व्याख्या के क्षेत्र में भी एक नूतन दिशा दी। उनकी दृष्टि रहस्यवादी है। उनका कथन है–"मैंने यह देखा कि वेद के मन्त्र,

एक स्पष्ट और ठीक प्रकाश के साथ मेरी अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को प्रकाशित करते हैं।" उदाहरण के लिए श्री अरविन्द के अनुसार वैदिक इन्द्र प्रबुद्ध मन के देवता हैं; वृत्र अज्ञान अथवा अविद्या का प्रतीक है; इन्द्र उसके हन्ता हैं। इन्द्र से सम्बद्ध गायें आत्मिक प्रकाश की द्योतक हैं। यह आत्मिक प्रकाश ज्ञान का परिचायक है। इन्द्र के विरोधी दस्यु तमस् की शक्तियां हैं, श्री अरविन्द के अनुसार वेद-मन्त्रों में एक उच्चतर, महान्, व्यापक, शाश्वत तथा अपौरुषेय सत्य निहित है। ये दिव्य स्फुरण तथा दिव्य स्रोत से प्रकट हुए हैं। इन पर प्रतीकों का एक आवरण है। ऋषिगण आध्यात्मिक तथा गुह्य ज्ञान से युक्त थे, जिस तक साधारण मानवों की गति नहीं होती। केवल व्याकरण, व्युत्पत्ति या अटकलों से वेद-मन्त्रों का वास्तविक अर्थ नहीं जाना जा सकता। वेद के वचन सच्चे अर्थों में केवल उसी के द्वारा जाने जा सकते हैं जो स्वयं ऋषि या रहस्यवेत्ता (योगी) हो। उदाहरण के लिए श्री अरविन्द के अनुसार 'ऋतम् का अर्थ है एक आध्यात्मिक या आन्तर सत्य, हमारे अपने आपका सत्य, वस्तुओं का सत्य, जगत् का तथा देवताओं का सत्य, हम जो कुछ हैं, उन सबके पीछे विद्यमान सत्य। उन्होंने 'ऋतम्' के परम्परागत अर्थों (–सत्य, जल, यज्ञ, गया हुआ और अन्य) पर अनिश्चितता का आरोप लगाया है। इसी प्रकार सरस्वती के विषय में ऋषिका जब कथन है कि यह सत्य वचनों की प्रेरयित्री, ठीक विचारों को जगाने वाली या विचारों से समृद्ध है, वह हमें हमारी चेतना के प्रति जगाती है या हमें 'महान् समुद्र' से सचेत करती है और हमारे सब विचारों को प्रकाशित कर देती है, तो निःसन्देह यह नदी देवता नहीं है। ऋषि तो प्रार्थना कर रहा है अन्तः प्रेरणा की शक्ति से (यदि उसे नदी कहें तो) अन्तः प्रेरणा की नदी से, सत्य की वाणी से, जो हमारे अन्दर आन्तरिक ज्ञान की रचना कर रही है। श्री अरविन्द के अनुसार यज्ञ एक आन्तरिक कर्म का, देवों और मनुष्यों के बीच एक आन्तरिक लेन-देन का बाह्य प्रतीक है। 'घृत' केवल घी ही नहीं है–यह प्रकाश भी हो सकता है, क्योंकि 'घृ' धातु का अर्थ दीप्ति भी है–क्षरण के साथ। इसी प्रकार 'अश्व' शक्ति का, आध्यात्मिक सामर्थ्य का, तपस्या के बल का प्रतीक है।

श्री अरविन्द ने 'वेद-रहस्य' (पूर्वार्द्ध) में मन्त्रों की जो व्याख्या की है, उसे उन्होंने शब्दशः अनुवाद न कहकर साहित्यिक अनुवाद कहा है। लेकिन यह भी कहा है कि अनुवाद में शब्दों के अर्थ एवं आशय के प्रति पूरी निष्ठा रखी है।

देवताओं के विषय में श्री अरविन्द के विचार ये हैं–वैदिक देवता विश्वव्यापी देवता के नाम, शक्तियाँ और व्यक्तित्व है। वे दिव्य सत्ता के किसी विशेष सारभूत बल का प्रतिनिधित्त्व करते हैं। विश्व के रूप में उन्हीं की अभिव्यक्ति हुई है और उन्होंने ही विश्व को अभिव्यक्त किया है। प्रकाश की सन्तान और असीमता के पुत्र ये मनुष्य की आत्मा के अन्दर अपने बन्धुत्त्व और सख्य को पहचानते हैं और उसे सहायता पहुँचाना और उसके अन्दर अपने-आपको बढ़ाने के द्वारा उसे बढ़ाना चाहते हैं जिससे कि उसके जगत् को वे अपने प्रकाश, बल और सौन्दर्य के द्वारा अभिव्याप्त कर सकें। वे अन्धकार और विभाजन के पुत्रों के विरोध में उसकी सहायता आमन्त्रित करते हैं और अपनी सहायता उसे प्रदान करते हैं, बदले में मनुष्य देवताओं को अपने यज्ञ में आहूत करता है, उन्हें अपनी तीव्रताओं और अपने बलों की, अपनी निर्मलताओं और अपनी मधुरताओं की छवि भेंट करता है।

देवता निर्विशेष भावों के या प्रकृति के मनोवैज्ञानिक और भौतिक व्यापारों के केवल कविकृत मानवीकरण नहीं हैं। वैदिक ऋषियों के लिए वे सजीव और सद्वस्तुएँ हैं। मानव-आत्मा के उलट-फेर तथा अवस्थान्तर एक वैश्विक संघर्ष के निदर्शक होते हैं; न केवल सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों के संघर्ष के किन्तु उनको आश्रय देने वाली तथा उन्हें मूर्त्त करने वाली वैश्व शक्तियों के संघर्ष के भी। वे वैश्विक शक्तियाँ ही देव और दैत्य हैं। विश्व के रंगमंच पर और वैयक्तिक आत्मा में दोनों जगह एक ही वास्तविक नाटक उन्हीं पात्रों के द्वारा खेला जा रहा है।

इस प्रकार श्री अरविन्द ने अपने युग की बौद्धिक अपेक्षाओं के अनुरूप वेद-मन्त्रों को आध्यात्मिक गरिमा से मंडित रहस्यवादी तथा प्रतीकात्मक अर्थ देने की चेष्टा की है।[२३]

वेदमूर्त्ति पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर–आधुनिक युग में स्व० सातवलेकर जी को 'अभिनव सायण' कहा जा सकता है। अनेक वैदिक संहिताओं का सम्पादन करने के साथ ही उन्होंने उन पर सुबोध भाष्यों की भी रचना की। ऋग्वेद और अथर्ववेद के उनके सुबोध भाष्य नितान्त प्रख्यात हैं। वेदविषयक उनके ग्रन्थों की संख्या १०० से ऊपर है। अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त पर भाष्य रचने के कारण अंग्रेजी शासन काल में उन्हें कारागृह की यात्रा भी करनी पड़ी थी। वेदों की व्याख्या में उन्होंनें राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को प्रधानता दी है। एक सुदीर्घकाल से पराधीन राष्ट्र कैसे अपनी समुन्नति कर सकता है तथा राष्ट्र-जीवन में चिरकाल से व्याप्त विकृतियों का निदान कैसे किया जाये यही उनके भाष्यों का मूल स्वर है। अभिनिवेश की दृष्टि से उन्होंने सायण और दयानन्द सभी से प्रेरणा ली है। कहीं-कहीं प्रतीकात्मक अर्थ भी ग्रहण किये हैं। उनका अधिकांश वेद-विषयक कार्य हिन्दी और मराठी में है। देवताओं को वे मनुष्य के शरीर में स्थित विभिन्न शक्तियाँ मानते थे। वेदों में राष्ट्र-रक्षा के उपाय, दासता से मुक्ति, राष्ट्र का नवनिर्माण, रामराज्य की अवतारणा, मानव जीवन को यज्ञमय बनाना, वैदिक प्रजातन्त्र इत्यादि विषयों पर उन्होंने पुस्तिकाएँ लिखीं। उनका सम्पूर्ण जीवन ही वेदमय था। इसी कारण वे 'वेदमूर्त्ति' के विरुद से विभूषित किये गये। १०२ वर्षों की सुदीर्घ आयु का अधिकांश भाग उन्होंने वेदानुशीलन में ही व्यय किया।[२४]

प्रकीर्ण वैदिक व्याख्याकार–स्व०पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने बंगला में वेद-मन्त्रों के अनुवाद किये। मराठी में पं० सिद्धेश्वरशास्त्री चित्राव ने वेदानुवाद का कार्य किया। हिन्दी में सम्पूर्ण ऋग्वेद का अनुवाद पं० रामगोविन्द त्रिवेदी ने प्रस्तुत किया। स्व० श्रीराम शर्मा आचार्य ने भी चारों वेदों का हिन्दी में अनुवाद किया, लेकिन वह शीघ्रता में किया गया कार्य प्रतीत होता है। प्रज्ञाचक्षु स्वामी गंगेश्वरानन्द जी ने कुन्ताप सूक्तों की संस्कृत में इतिहास-पुराणों के अनुरूप व्याख्या की है। इसी प्रकार स्वामी करपात्री जी ने श्रीसूक्त की संस्कृत व्याख्या लिखी। उन्होंने 'वेदार्थ पारिजात'

२३. श्री अरविन्द के विचारों के आधार पर कपालिशास्त्री ने संस्कृत में 'सिद्धाञ्जन भाष्य की रचना की है। 'हिम्स टू दि मिस्टिक फायर' 'आन दि वेद' प्रभृति ग्रन्थों के अतिरिक्त इस सन्दर्भ में श्री ए. बी. पुराणी की कृति भी उपादेय है। इनमें से अधिकांश का प्रकाशन अरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी से हुआ है।

२४. स्व. सातवलेकर जी के सुबोध वेद-भाष्य उनके द्वारा संस्थापित स्वाध्याय-मण्डल, पारडी (जिला-बलसाड़, गुजरात) से प्राप्त किये जा सकते हैं।

के रूप में वैदिक व्याख्या की पारंपरिक (मीमांसानुरूप) प्रणाली के पुरोवर्तन का कार्य भी किया। 'वेदार्थ पारिजात' के सहलेखक के रूप में स्व० पं० पट्टाभिराम शास्त्री भी स्तुत्य हैं। आचार्य विश्व बन्धु जी, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के संस्थापक-निदेशक, ने विधिवत् तो किसी भी संहिता की पूरी व्याख्या नहीं की लेकिन प्रकीर्ण रूप से बहुसंख्यक वेद-मन्त्रों की व्याख्या की। आर्य-समाज से प्रेरणा ग्रहण करने पर भी विश्वबन्धु जी में कट्टरता नहीं थी। वे वेदों में इतिहास का अस्तित्त्व स्वीकार करते थे। उनका 'वैदिक पदानुक्रम कोश' वेद-व्याख्याकारों के लिए परम सहायक ग्रन्थ है। प्रो० हरिदामोदर वेलणकर ने 'ऋक्सूक्तशती' तथा 'ऋक्सूक्तवैजयन्ती' के रूप में शतावधि ऋक्सूक्तों की व्याख्या तो की ही, सप्तम मण्डल का अत्युत्तम संस्करण भी प्रस्तुत किया। डॉ. रामगोपाल ने भी 'वैदिक व्याख्या विवेचन' के अन्तर्गत वेदव्याख्या का निदर्शन कराने की चेष्टा की। स्व० डॉ० सम्पूर्णानन्द ने, राजनैतिक कार्यों में व्यस्त रहने पर भी, अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड की व्याख्या लिखी।

प्रख्यात कलावेत्ता डॉ. आनन्दकुमार स्वामी ने 'ए न्यू एप्रोच टू दि वेदाज' नामक पुस्तक लिखी। डॉ. स्वामी ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था, इसलिए उन्होंने वेदों को रहस्यात्मक वाणी बतलाकर, उनकी व्याख्या में मध्ययुगीन ईसाई सन्तों तथा दान्ते प्रभृति कवियों की अनुभूतियों से भी सहायता लेने का विचार प्रस्तावित किया।

वेदों के सम्पादन तथा परिचयात्मक ग्रन्थों के निर्माण में भारतीय विद्वानों का योगदान—विगत १०० वर्षों में, भारत में वैदिक साहित्य के संपादन और उनके परिचयात्मक इतिहास-ग्रन्थों के निर्माण का प्रचुर कार्य सम्पन्न हुआ है। इसकी विस्तृत जानकारी तो इन परिमित पृष्ठों में नहीं दी जा सकती, उसके लिए लुई रेनू की 'बिब्लियोग्राफी वैदिक' तथा प्रो० दाण्डेकर की 'वैदिक बिब्लियोग्राफी' (पाँच भागों में) देखनी चाहिए—हाँ, कुछ प्रमुख वेद-सेवियों का नाम्ना उल्लेख अवश्य किया जा सकता है। बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसायटी से जिन वैदिक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ, उनमें, संपादन के क्षेत्र में आनन्दचन्द्र वेदान्त वागीश, डॉ. राजेन्द्रलाल मित्र और पं० सत्यव्रत सामश्रमि भट्टाचार्य का विशेष योगदान है। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के 'ओरायन' और 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज' संज्ञक ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने वेदों के ज्योतिष पक्ष पर 'भारतीय ज्योतिष' ग्रन्थ में प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की। सातवलेकर के द्वारा संपादित काठक, काण्व और मैत्रायणी संहिता के संस्करण अत्यन्त उपादेय हैं। सायण-भाष्य सहित सम्पूर्ण ऋग्वेद संहिता के सुसंपादन के श्रेय चिन्तामणि काशीकर को है। उनके द्वारा संपादित श्रौतकोश भी यागों के अनुष्ठान को समझने के लिए आवश्यक है। डॉ० रघुवीर ने जैमिनीय ब्राह्मण, कठ-कपिष्ठल तथा **पैप्पलाद** संहिताओं का संपादन किया। डॉ. लक्ष्मण सरूप ने भी कई वैदिक ग्रन्थों का संपादन किया, जिनमें निरुक्त विशेष उल्लेखनीय है। आचार्य विश्वबन्धु के द्वारा संपादित स्कन्दस्वामी तथा उद्गीथादि के भाष्यों से संवलित ऋग्वेद और सायण-भाष्य सहित अथर्ववेद के संस्करण महत्त्वपूर्ण हैं। पं० चित्रस्वामि शास्त्री ने श्रौतयागों पर श्रेष्ठग्रन्थ लिखे और पं. रामनाथ दीक्षित ने ऊह तथा ऊह्यगानों का संपादन किया। ऋक् प्रातिशाख्य के संपादन तथा अनुवाद में डॉ० मंगलदेव शास्त्री के साथ ही प्रो० वीरेन्द्र कुमार वर्मा को भी कीर्त्ति-लाभ हुआ है। वैदिक वाङ्मय के इतिहास-लेखन के सन्दर्भ में चिन्तामणि विनायक

वैद्य, पं॰ भगवद्दत्त, आचार्य बलदेव उपाध्याय तथा डॉ॰ सूर्यकान्त की कृतियाँ विशेष लोकप्रिय सिद्ध हुई हैं। प्रो॰ दाण्डेकर कृत वैदिक ग्रन्थ-सूचियों का पहले उल्लेख किया ही जा चुका है। पं॰ युधिष्ठिर मीमांसक के 'वैदिक स्वरमीमांसा' तथा 'वैदिक छन्दोमीमांसा' संज्ञक ग्रन्थ बहुचर्चित हैं। श्री कुन्दनलाल शर्मा ने वैदिक वाङ्मय का इतिहास अनेक खण्डों में प्रस्तुत किया है। प्रो॰बी॰आर॰ शर्मा ने सामवेदीय ब्राह्मणों और लक्षण ग्रन्थों के सम्पादन का स्तुत्य प्रयत्न किया है। डॉ. गयाचरण त्रिपाठी का वैदिक देवता विषयक ग्रन्थ श्रेष्ठ है। विश्वविद्यालयों की शोध-योजना के अन्तर्गत अनेक अच्छे ग्रन्थ लिखे गये हैं। सम्प्रति वैदिक अनुशीलन में जो भारतीय विद्वान् निष्ठा से संलग्न हैं, उनमें से कतिपय नाम ये हैं–प्रो॰एस॰ए॰ डांगे, प्रो॰ देवस्थली, प्रो॰ ब्रजबिहारी चौबे, प्रो॰ कृष्णलाल, प्रो॰ सुधीर कुमार गुप्त, प्रो॰ उमाशंकर शर्मा ऋषि, प्रो॰ गणेश उमाकान्त थिटे, डॉ॰ एस.के. लाल, डॉ॰ मातृदत्त त्रिवेदी पी॰डी॰ नवाथे इत्यादि। स्वयं इन पंक्तियों के लेखक की वेद-सपर्या में अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें 'पारस्करगृह्य सूत्र' की विस्तृत हिन्दी व्याख्या, सामवेदीय ब्राह्मणों का परिशीलन, वैदिक खिल सूक्तः एक अध्ययन एवं वेदत्रयी परिचय इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

वेदाध्ययन की पाश्चात्य परम्परा

१८वीं शती के उत्तरार्द्ध में भारतीय विद्या-शेवधि की ओर पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय कलिकाता उच्च न्यायालय के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश सर विलियम जोंस को है। प्राच्य-भारती के अनुशीलन को प्रोत्साहन देने के निमित्त उन्होंने 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' की संस्थापना की। तदनन्तर सन् १८०५ ई॰ में कोलब्रुक ने 'एशियाटिक रिसर्चेज' नामक शोध-पत्रिका में वेदों पर एक प्रशंसागर्भित लेख लिखा। इसके अनन्तर फ्रेडरिख रोजेन नामक जरमन् मनीषी ने ऋग्वेद के प्रथम अष्टक को सम्पादित कर प्रकाशित कराया। १८३७ में रोजेन की असामयिक मृत्यु से ऋग्वेद का सम्पादन अधूरा ही रहा।

पाश्चात्य देशों में फ्रांस, जरमनी, इंग्लैण्ड, हालैंड और (१९१७ से पूर्व के) रूस के विद्वानों ने वेदों के सम्पादन, प्रकाशन, अनुवाद और परिचयात्मक ग्रन्थों के लेखन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। कालान्तर से अमेरिका भी इस पंक्ति में सम्मिलित हो गया। फ्रांस में प्रो॰ युजीन बरनफ ने प्राच्यविद्या के गवेषकों की एक टोली ही तैयार कर दी, जिसमें मैक्समूलर, ह्विटनी और रॉथ के नाम अग्रगण्य हैं।

पाश्चात्य विद्वानों में रॉथ वेदाध्ययन की ऐतिहासिक पद्धति के प्रवर्त्तक माने जाते है। इन्होंने सायण आदि भारतीय भाष्यकारों का बहिष्कार कर वेद-व्याख्या की दृष्टि से तुलनात्मक भाषा विज्ञान और तुलनात्मक पुराकथाविज्ञान को प्रमुखता दी। १८४६ में इन्होंने वैदिक साहित्य के इतिहास पर एक पुस्तिका लिखकर लोगों का ध्यान इधर आकृष्ट किया। इनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है 'सेण्टपीटर्सबर्ग संस्कृत जर्मन महाकोश' का सम्पादन, जिसे पाश्चात्य देशों में नया निरुक्त ही समझा जाता रहा है।

वेदानुक्रम से पाश्चात्य विद्वानों के कार्य का विवरण इस प्रकार है :

ऋग्वेद—ऊपर उल्लिंखित रोजेन के प्रथमाष्टक के १९३८ ई० में प्रकाशन के अनन्तर मैक्समूलर ने सायण भाष्य सहित ऋग्वेद का संपादन कर उसे प्रकाशित कराया। इस कार्य में उन्होंने अपने जीवन के कई मूल्यवान दशक लगाये। मैक्समूलर का विस्तृत परिचय आगे दिया जाएगा। सन् १८६१-६३ में थियोडॉर आउफ्रेरव्ट ने रोमन लिपि में सम्पूर्ण ऋग्वेद को प्रकाशित कराया। १९०६ में शेफ्टेलोवित्स ने ऋग्वेद के खिल भाग का सम्पादन कर उसे प्रकाशित कराया।

अनुवाद—ऋग्वेद के आद्य ऑग्ल अनुवाद का श्रेय प्रो० एच.एच. विलसन को है। चिकित्सा विज्ञान की उच्च शिक्षा पाने के पश्चात् प्रो० विल्सन ईस्ट इण्डिया कम्पनी की टकसाल में परख अधिकारी बनकर आये थे। यहीं उन्होंने सायण-भाष्य के आधार पर ऋग्वेद का अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया था, जो पूर्ण हुआ इग्लैण्ड में। इसका प्रथम प्रकाशन सन् १८५० में हुआ। सन् १८७६-७७ में ग्रासमैन ने ऋग्वेद का शर्मण्यदेशीय भाषा में पद्यानुवाद प्रकाशित कराया। इस अनुवाद का आधार तुलनात्मक भाषा-विज्ञान है। भाषाविज्ञान के छात्र ग्रासमैन के ध्वनि-नियम से परिचित ही हैं। सन् १८७६-८८ में लुडविग ने भी ऋग्वेद का अपना जर्मन अनुवाद प्रकाशित कराया। १८८९ में, ६ भागों में ग्रिफिथ का अंग्रेजी अनुवाद छपा। सन् १९०९-१२ में ओल्डेनबर्ग का जरमन में ऋग्वेद का विस्तृत व्याख्यान प्रकाशित हुआ। लांग्ल्वा का फ्रेंच-अनुवाद सन् १८४८-५१ में छपा।

ऋग्वेद के कुछ अंशों के समीक्षात्मक अनुवादकों में रडल्फ रॉथ, गेल्डनर, एडल्फ केई, रोअर और हिल्लेब्राण्ड्ट के नाम उल्लेखनीय हैं। ओल्डेनवर्ग का नाम भी इसी श्रेणी में है।

प्रो० हाग ने ऐतरेय ब्राह्मण का सम्पादन तथा अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। यह सन् १८९३ में छपा। आउफ्रेरव्ट ने १८७९ में ऐतरेय ब्राह्मण का प्रकाशन सायण-भाष्यांशों तथा सूचियों के साथ रोमन लिपि में कराया। सन् १८८७ में लिण्डर ने कौषीतकि ब्राह्मण का सम्पादन-प्रकाशन किया। ऋग्वेद के दोनों ब्राह्मणों का अंग्रेजी में अनुवाद ए०बी० कीथ ने किया जो सन् १९२० में छपा। इसकी भूमिका-सम्पत्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कीथ ने ही शांखायन आरण्यक का भी अंग्रेजी में अनुवाद किया।

सूत्र-ग्रन्थों की दृष्टि से स्टेन्तसलर ने आश्वलायन गृह्यसूत्र को प्रकाशित किया और हिल्लेब्राण्ड्ट ने शांखायन श्रौतसूत्र का सम्पादन किया।

शुक्ल यजुर्वेद संहिता—प्रो० वेबर ने सन् १८४९-५२ में शुक्ल यजुर्वेद संहिता वाजसनेयि को महीधर-भाष्य के साथ देवनागरी लिपि में प्रकाशित कराया। काण्व शाखा का प्रकाशन भी सन् १८५२ में वेबर ने ही कराया। ग्रिफिथ ने सन् १८९९ में शुक्ल यजुर्वेद का अंग्रेजी में पद्यानुवाद किया।

ब्राह्मण—सन् १८५५ में वेबर ने सायण, हरिस्वामी और द्विवेद गंग के भाष्यों के साथ शतपथ ब्राह्मण का आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित कराया। सन् १९२६ में प्रो० कैलेण्ड ने काण्व शाखीय शतपथ ब्राह्मण को प्रकाशित किया। सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट' ग्रन्थमाला के अन्तर्गत छपा ईग्लिंग-कृत आंग्ल अनुवाद भी उल्लेख्य है।

सूत्र ग्रन्थ—वेबर ने १८५९ में कात्यायन श्रौतसूत्र को प्रकाशित कराया। पारस्कर गृह्य सूत्र का अंग्रेजी में ओल्डेनबर्ग ने और जर्मन में स्टेन्त्स्लर ने अनुवाद किया।

कृष्णयजुर्वेद संहिता—वेबर ने सन् १८४७ में मैत्रायणी संहिता और १८७१-७२ में विस्तृत टिप्पणियों के साथ तैत्तिरीय संहिता का प्रकाशन कराया। श्रेडर ने १८८१-८६ में, ४ भागों में मैत्रायणी संहिता और सन् १९१० में ४ भागों में ही काठक संहिता का प्रकाशन कराया। प्रो. कीथ ने तैत्तिरीय संहिता का अंग्रेजी अनुवाद किया, जो अमेरिका की 'हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज' में सन् १९१४ में छपा।

सूत्र ग्रन्थ—कैलेण्ड ने सन् १९०४-२० में बौधायन श्रौतसूत्र, बौधायन गृह्यसूत्र, काठक गृह्यसूत्र, वाधूलसूत्र और वैखानस गृह्यसूत्र का सम्पादन-प्रकाशन किया। विण्टरनित्स ने आपस्तम्ब गृह्यसूत्र को प्रकाशित कराया और गार्वे ने सन् १८८१-१९०३ में आपस्तम्ब श्रौतसूत्र को। क्नाउएर का मानवगृह्य सूत्र का संस्करण भी उल्लेखनीय है।

सामवेद संहिता—जे. स्टीवेन्सन द्वारा अंग्रेजी में अनूदित और सम्पादित सामवेद की राणायनीय शाखा का प्रकाशन सन् १८४३ में विल्सन ने कराया। बेनफे ने कौथुम शाखा का जर्मन में अनुवाद और संपादन किया जो १८४८ में प्रकाशित हुआ। कैलेण्ड ने सन् १८०७ में, रोमन लिपि में जैमिनीय शाखा का प्रकाशन विस्तृत भूमिका के साथ कराया। ग्रिफिथ ने सामवेद का अंग्रेजी में पद्यानुवाद किया है।

ब्राह्मण—वेबर ने अद्भुत ब्राह्मण का सम्पादन और जर्मन में अनुवाद कर १८५८ में प्रकाशित कराया। वंशब्राह्मण का सम्पादन भी वेबर ने ही किया था। ए.सी. बर्नेल ने सामविधान ब्राह्मग, देवताध्याय ब्राह्मण, वंशब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण आदि अनेक सामवेदीय ब्राह्मणों का सम्पादन किया जो सन् १८७३ से १८७७ तक प्रकाशित हुए। एच. ओर्टल ने जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण का अंग्रेजी में अनुवाद किया। कैलेण्ड ने जैमिनीय ब्राह्मण का जर्मन में अनुवाद तथा आर्षेय ब्राह्मग और जैमिनीय गृह्यसूत्र का सम्पादन किया। प्रो॰ स्टेनकोनो ने सामविधान ब्राह्मण का अनुवाद सन् १८९३ में प्रकाशित कराया। डी॰ गास्ट्रा ने जैमिनीय गृह्यसूत्र का सम्पादन भी किया।

अथर्ववेद संहिता—जर्मनी के प्रो॰ रडल्फ रॉथ और अमेरिका के प्रो॰ विलियम ड्वाइट ह्विटनी ने अथर्ववेद की शौनकीया शाखा का सम्पादन कर १८५६ ई. में प्रकाशन कराया। ब्लूमफील्ड और रिचर्ड गार्बे ने पैप्पलाद शाखा की कश्मीर से शारदा लिपि में प्राप्त जीर्ण प्रति से फोटो प्रति का प्रकाशन सन् १९०१ में कराया। कैलेण्ड ने हालैण्ड से अथर्व संहिता का आलोचनात्मक संस्करण निकाला। ग्रिफिथ ने अथर्ववेद का अंग्रेजी में पद्यानुवाद किया जो सन् १८९८ में छापा। ह्विटनी और लॉनमैन ने अथर्ववेद का अंग्रेजी में अनुवाद कर १९०५ में छपवाया। इसमें विस्तृत भूमिका और टिप्पणियाँ भी हैं। ब्लूमफील्ड ने पैप्पलाद संहिता का अंग्रेजी में अनुवाद किया, जो सन् १९०२ में छपा।

ब्राह्मण—गास्ट्रा ने सन् १९१९ में गोपथ ब्राह्मण का एक उपयोगी संस्करण निकाला। सन् १८९० में ब्लूमफील्ड ने कौशिक सूत्र को प्रकाशित कराया।

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक कोशों की रचना की, व्याकरण लिखे और वेदाध्ययन से सम्बद्ध विभिन्न सूचियाँ तैयार कीं। इनका संक्षिप्त वृत्त नीचे प्रस्तुत है :

कोश-रचना–रॉथ और आटो बोथलिङ्क ने २० वर्षों के कठोर परिश्रम से संस्कृत-जर्मन महाकोश का निर्माण किया। इसका प्रकाशन १८५५ से १८७५ तक ७ भागों में हुआ। इसमें १० हजार पृष्ठ हैं। सेण्टपीटर्सबर्ग (अब रूस में) नगर में छपने के कारण इसे 'सेण्टपीटर्सबर्ग डिक्शनरी' भी कहा जाता है। इसमें तुलनात्मक भाषाविज्ञान के आधार पर शब्दों का विस्तृत इतिहास है। ग्रासमैन ने १८७३-७५ में अपना ऋग्वैदिक कोश प्रकाशित कराया। हिल्लेब्राण्ड्ट का वैदिक कोश तीन भागों में है। यहाँ मैक्डॉनेल और कीथ की 'वैदिक इण्डेक्स' भी उल्लेखनीय है जिसमें वेदों में आए संज्ञा शब्दों का परिचय प्रस्तुत किया गया है।

व्याकरण–ह्विटनी, मैक्डॉनेल और वाकरनागेल ने वैदिक व्याकरण प्रस्तुत किये हैं।

वैदिक छन्द–सर्वप्रथम वेबर ने 'इण्टिशे स्तूदियन; में वैदिक छन्दों पर विचार किया। इसी दिशा में आनल्डि का 'वैदिक मीटर' ग्रन्थ उल्लेखनीय है।

पुराकथा विज्ञान–हिल्लेब्राण्ड्ट की 'विदिशे माइथॉलॉजि' और मैक्डॉनेल की ' वैदिक माइथॉलॉजि' इस दृष्टि से बहुत प्रसिद्ध हैं। कीथ का 'रिलीजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ वेद एण्ड उपनिषद्स, भी वैदिक धर्म और दर्शन का प्रस्तावक उत्तम ग्रन्थ है।

सूचियाँ–सन् १९०६ में ब्लूमफील्ड के 'वैदिक कंकारडेन्स' (मन्त्र-महासूची) का प्रकाशन हुआ, जिसमें ११०२ पृष्ठों में चारों वेदों के प्रत्येक मंत्र के प्रत्येक पाद तथा उसके पाठान्तर दिए हुए हैं। ब्लूमफील्ड का ही दूसरा, सूची ग्रन्थ 'ऋग्वेद रेपिटीशन्स' भी उल्लेखनीय है। सन् १८९१ में कर्नल जेकब ने 'उपनिषद् वाक्यकोश' का प्रकाशन कराया।

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य के इतिहास तथा अन्य परिचयात्मक ग्रन्थ भी बड़े अध्यवसाय ओर मनोयोग से रचे हैं जिनकी विस्तृत सूची अन्त में दी गई है।

पाश्चात्य देशों में वेदाध्ययन की परम्परा अभी जीवित है। इटली के प्रो॰ बोत्तो, जर्मनी के प्रो॰ पालथीमें, अमेरिका में प्रो॰ स्टाल, नीदरलैण्ड में प्रो॰ हीस्टरमैन, प्रो॰ खोण्दा ने 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर' के अनेक भागों में से प्रथम दो भागों (वैदिक लिट्रेचर तथा रिचुअल लिटरेचर) में वैदिक वाङ्मय का अत्यन्त प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया है। प्रो॰ हीस्टरमैन ने राजसूय यज्ञ पर कार्य किया है। प्रो॰ बोडेवित्स ने जैमिनीय ब्राह्मण का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। उनका इसी ब्राह्मण के 'अग्निहोत्र एवं प्राणाग्निहोत्र' भाग पर ग्रन्थ भी बहुचर्चित है। फिनलैंड के प्रो॰ अस्को परपोला (हेलसिंकी विश्वविद्यालय) ने जैमिनिशाखीय सामवेदीय साहित्य पर प्रशंसनीय कार्य किया है।

पाश्चात्य वेदानुशीलियों की सूची बड़ी लम्बी है, किन्तु इस पर भी प्रारंभिक विद्वानों-मैक्समूलर, विल्सन, रॉथ, ह्विटनी, ब्लूमफील्ड, ओल्डेनबर्ग, कालन्द, गेल्डनर, मैक्डानेल और कीथ के विशेष योगदान को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक अनुशीलन की दिशा में बड़े परिश्रम से कार्य किया है, तथापि इनकी अपनी कमियां हैं जिन पर आगे विशद चर्चा की गई है। वेद के वर्तमान छात्र को इन कृतियों से लाभ उठाते समय बहुत सजग रहने की आवश्यकता है।

वैदिक व्याख्या–पद्धतियाँ : एक विहंगमावलोकन

वेद के व्याख्याकारों का परिचय प्राप्त करते समय उनके व्याख्या-सिद्धान्तों का आंशिक उल्लेख गत पृष्ठों में किया जा चुका है। सम्प्रति उन पद्धतियों की क्रमबद्ध समीक्षा प्रासंगिक प्रतीत होती है।

मंत्रों का अर्थाभाववाद–पूर्वमीमांसा तथा उसकी व्याख्याओं, यास्कीय निरुक्त और सायणाचार्य की भाष्य-भूमिका में इस विषय पर विशद शास्त्रार्थ प्राप्त होता है कि वेद-मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं है। उनकी सार्थकता पाठमात्र में पर्यवसित है। उनके पाठ से अदृष्ट अथवा अपूर्व की उपलब्धि मात्र होती है। इसे पूर्व प्रक्ष के रूप में प्रस्तुत कर अन्त में इसका खण्डन किया गया है और यह उपस्थापना की गई है कि वेद-मन्त्रों का वास्तव में अर्थ है और निरुक्त तथा व्याकरण की सहायता से उसे जानने का प्रयत्न करना चाहिए। निरुक्त में अर्थाभाववाद के पुरस्कर्त्ता के रूप में कौत्स नामक किन्हीं आचार्य का उल्लेख है। दोनों की ही युक्तियों का संक्षेप में उल्लेख यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है :

अनर्थका हि मन्त्राः-कौत्स–(१) मन्त्रों के पद तथा उनकी आनुपूर्वी (क्रम) नियत हैं। उदाहरण के लिए 'अग्निमीडे पुरोहितम्' में हम 'अग्नि' शब्द का पर्याय 'वह्नि' नहीं रख सकते। इसी प्रकार 'ईडेऽग्निं पुरोहितम्' भी इसे नहीं कर सकते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि मन्त्रों में कोई अर्थ नहीं है–एक विशिष्टपदावली और विशिष्ट (नियत) क्रम से उनका पाठ करने पर मात्र अदृष्ट या अपूर्व की प्राप्ति होती है। (२) मन्त्र जिस अर्थ का कथन करता है, ब्राह्मण का भी वही अर्थ अभिधेय है। जैसे ' 'उरुप्रथस्व' (तै०सं० १.१.८) इस मन्त्र का विनियोग ब्राह्मण-वाक्य 'पुराडाशं प्रथयति' (तै०ब्रा० ३.२.८.४) रूप में करता है। यदि मन्त्रों का कोई अर्थ होता, तो स्वतः सिद्ध अर्थ को ब्राह्मण के द्वारा विनियोग के रूप में दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। (३) अनेक वेदमन्त्र अविद्यमान अर्थ का उल्लेख करते हैं–जैसे 'चत्वारि शृंगात्रयो अस्य पादा,[२५] मन्त्र में चार सींगों वाले, तीन पैरों वाले, दो सिर वाले और सात हाथों वाले किसी पदार्थ का उल्लेख है, जो संभव नहीं है। (४) अचेतन वस्तुओं को अनेक मन्त्रों में सम्बोधित किया गया है। जैस 'ओषधे त्रायस्व एनम्' (हे वनस्पति! इसकी रक्षा करो), 'शृणोत ग्रावाणः' (पत्थर सुनें) तथा 'स्वधिते मैनं हिंसीः' (ऐ छुरिके! इस बालक को चोट न पहुँचाना) प्रभृति मन्त्रों में वनस्पति, पत्थर और छुरिका प्रभृत्ति अचेतन वस्तुओं पर चेतन कार्यों (रक्षण, श्रवण, अहिंसन) का आरोप किया गया है, जो उचित नहीं प्रतीत होता। (५) अनेक वेद-मन्त्रों में परस्पर-विरोधी कथन मिलते हैं उदाहरण के लिए एक मन्त्र में कहा गया है कि 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे, न द्वितीयः' (रुद्र एक ही है, दूसरा नहीं है)। अन्यत्र इसके विपरीत वचन मिलता है कि पृथ्वी पर सहस्रों रुद्र हैं–'असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्।' इसी प्रकार एक ही अदिति को द्यौ, अंतरिक्ष और स्वर्ग से सम्बद्ध कर दिया गया है, जो संभव नहीं प्रतीत होता। (६) अनेक मन्त्रों के पदार्थ स्पष्टरूप से ज्ञात नहीं होते। उदाहरण के लिए 'अम्यक् सा त इन्द्र' (ऋ०सं० १.१६९.३), 'सृण्येव जर्भरी तुफरी तु'

२५. इसी प्रसंग में आगे इस मन्त्र के अनेक अर्थ दिये गये हैं।

(ऋ०सं० १०.१०६.६) जैसे मन्त्रों के पद अविज्ञेय हैं। (७) कुछ मन्त्रों में अनित्य वस्तुओं का उल्लेख है, यथा 'किं ते कृण्वन्तिकीकटेषु', 'नैचाशाखं नाम नगरं प्रमगन्दो राजा' में कीकट नामक जनपद, नैचाशाख नामक नगर तथा प्रमगन्द नामक राजा का उल्लेख है। इस प्रकार मन्त्रों के साथ अनित्य पदार्थों का संयोग देखकर उनकी निरर्थकता की प्रतीति होती है।

मन्त्र सार्थक हैं : सिद्धान्त पक्ष–जिस प्रकार लोक में क्रिया और कारक के सम्बन्ध से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, उसी प्रकार वेद में भी क्रिया-कारक से सम्बद्ध वाक्य का जब प्रयोग होता है, तब उसका उद्देश्य अर्थ-ज्ञान कराना ही होता है। पूर्वपक्ष की आपत्तियों का निराकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

(१) नियत आनुपूर्वी की बात से मन्त्रों की सार्थकता पर कोई आँच नहीं आती, क्योंकि लौकिक संस्कृत भाषा में भी पदों का नियत प्रयोग और क्रम पाया जाता है, जैसे–'इन्द्राग्नी' और 'पितापुत्रौ।' इससे इनकी सार्थकता नष्ट नहीं हो जाती। फिर हम पाठक्रम के नियम से अदृष्ट का निवारण कहाँ करते हैं ?

(२) मन्त्रों में जिस अर्थ का उपपादन उद्दिष्ट है, ब्राह्मण-वाक्य केवल उसका अनुवाद मात्र करते हैं।

(३) जहाँ मन्त्र में अविद्यमान अर्थ प्रतीत होता हो और अभिधा से अर्थ न निकल रहे हों, वहाँ उसका गौण अर्थ मान लेना चाहिए। 'चत्वारि श्रृंगा' प्रभृति मन्त्र के विभिन्न प्रकार से अर्थ किये जाते हैं। इस प्रकार के गौण प्रयोग लोक में भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए किसी नदी की प्रशंसा करते समय उसे 'चक्रवाकस्तनी', 'हंसदन्तावली', 'काशवस्त्रा' तथा 'शैवालकेशिनी' प्रभृति विशेषणों से अभिहित करते ही हैं।

(४) 'ओषधे त्रायस्व' तथा 'श्रृणोत ग्रावाण:' प्रभृति अचेतन विषयक सम्बोधनों को स्तुतिपरक समझना चाहिए। जिस वपन के करने से औषधि भी त्राण करती है, उसमें वपनकर्त्ता त्राण करेगा ही। इसी प्रकार पाषाण भी जब प्रात: कालीन अनुवाक (वेदपाठ) को सुनते हैं, फिर विद्वान् ब्राह्मणों का क्या कहना।

(५) परस्पर विरोध के प्रसंगों में भी लाक्षणिक प्रयोग माने जा सकते हैं लोक में भी एक ही व्यक्ति (परमेश्वर) को 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' से सम्बोधित किया ही जाता है। इसी प्रकार एक रुद्र के प्रयोग वाले कर्म में 'एको रुद्र:' कहते हैं और सौ रुद्रों के प्रयोग वाले कर्म में 'शतं रुद्रा:' कहने की परम्परा है।

(६) जिन मन्त्रों पर दुरूहता या अविज्ञेयता का आरोप किया जाता है, वह वास्तव में मन्त्र का दोष न होकर हमारा ही अभाव है, जो हम निगम, निरुक्त और व्याकरण से अपरिचित रह जाते हैं। निरुक्त इत्यादि की सहायता से उनका अर्थ भी किया जा सकता है।

(७) मन्त्रों में किसी अनित्य वस्तु का उल्लेख नहीं है। सन्दर्भित उद्धरणों का भी यौगिक अर्थ ग्राह्य है, रूढ़ नहीं।

इस प्रकार प्राचीन आचार्यों ने बड़े ही अध्यवसाय से यह सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक वेद-मन्त्र का अर्थ है और निरुक्त तथा व्याकरण इत्यादि की सहायता से उसे जानने का हमें प्रयत्न करना चाहिए।

निरुक्तकार यास्क की वेदार्थ प्रक्रिया–ब्राह्मणों के पश्चात् वेद-व्याख्या के सन्दर्भ में सर्वाधिक गम्भीर प्रयत्न यास्क का ही है, जिन्होंने लगभग ४५० मन्त्रों की किसी-न-किसी रूप में व्याख्या करने की चेष्टा की है। मन्त्र-व्याख्या का उनका आधार निर्वचनात्मक है। यास्क सरल शब्दों या वाक्यों को ज्यों-का त्यों रख देते हैं। वैदिक पदों को लौकिक पदों में परिवर्तित कर देते हैं। कठिन शब्दों के या तो लौकिक पर्याय दे देते हैं या उनका निर्वचन करके अर्थ निर्धारित कर देते हैं आवश्यकतानुसार किसी प्राचीन इतिहास या प्रथा का उल्लेख भी करते हैं। सन्दिग्ध स्थितियों में वे विरोधी आचार्यों के द्वारा किये गये अर्थों को भी प्रस्तुत कर देते हैं। यास्क ने मन्त्रार्थ की दृष्टि से जिन दृष्टियों का उल्लेख किया है, उनमें नैरुक्त (देवताओं को प्रकृति के विभिन्न स्वरूप मानकर अधिदैवत दृष्टि से की गई व्याख्या), ऐतिहासिक ('तत्रेतिहासमाचक्षते' रूप में), याज्ञिक, पारिव्राजक (आत्मवादी अथवा आध्यात्मिक व्याख्या), नैदान (ऐतिहासिक), आख्यानात्मक (घटनापरक), पद्धतियाँ प्रमुख हैं। सायण, उव्वट, महीधर प्रभृति अधिकांश मध्ययुगीन व्याख्याकारों ने इन्हीं पद्धतियों का आश्रय लिया है। उनकी व्याख्या के केन्द्र में यद्यपि यज्ञ ही रहा है, लेकिन सन्दर्भों के अनुसार अन्य पक्षों का भी वे उल्लेख करते रहे हैं। यास्क के द्वारा स्थान-स्थान पर व्यक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि वेद-व्याख्या के कार्य को वे ब़ड़ी गम्भीरता से लेने के पक्ष में हैं।[26] निरुक्त के टीकाकार भगवद् दुर्गाचार्य ने भी 'गम्भीर पदार्थो वेदः' कहकर वेद-व्याख्यान करते समय हमें पूरी तरह सावधान रहने के लिए सचेत किया है।

मन्त्र-व्याख्या के अनेक आयाम

ऊपर सन्दर्भित 'चत्वारि श्रृंगा त्रयो अस्य पादाः' मन्त्र की अनेक दृष्टियों से की गई व्याख्याओं को देखकर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वेद-व्याख्या कितनी बहुआयामी रही है। सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है :

चत्वारि श्रृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश।।

(ऋ०सं० ४.५८.३)

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है–इसके चार सींग, तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं। यह वृषभ तीन प्रकार से बँधा है। यह जोर से चिल्ला रहा है। (इस) महान् देव ने मरणशील वस्तुओं में प्रवेश किया है।

प्राचीन व्याख्याकारों ने इसकी व्याख्या यज्ञ, सूर्य, शब्द (व्याकरण) तथा काव्यपुरुषपरक की

२६. यास्क के एतद्विषयक कुछ वचन ये हैं – 'अयंमन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतः-' (निरुक्त १३.१२) – मन्त्र का विचार परम्परागत अर्थ के श्रवण और तर्क-युक्तियों से करना चाहिए।
तथा – 'न तु पृथक्त्वेन निर्वक्तव्याः प्रकरणश एवं निर्वक्तव्याः' मन्त्रों की व्याख्या सन्दर्भ से कटकर नहीं, तदनुरूप ही होनी चाहिए।
'पारोवर्यवित्सु खलु भूयोविद्यः प्रशस्यतमो भवति' परम्परागत ज्ञान प्राप्त करने में वह श्रेष्ठ है, जिसने अधिक ज्ञान प्राप्त किया है।

है, जो क्रमशः इस प्रकार है–**यज्ञपरक**–यह महादेव यज्ञ है, जिसके चार सींग चारों वेद हैं, प्रातः मध्याह्न और सायं ये तीनों सवन ही तीनों पैर है। प्रायणीया तथा उदयनीया संज्ञक इष्टियां इसके दोनों सिर हैं। सात छन्द इसके सात पैर हैं। यह यज्ञ मन्त्र (संहिता), ब्राह्मण तथा कल्प के द्वारा त्रिधाबद्ध है। ऐसे स्वरूप से युक्त यज्ञरूपी महादेव ने यजन के लिए मनुष्यों (यजमानों) में प्रवेश किया। **सूर्यपरक**–सूर्य रूपी महादेव के चार सींग चार दिशाएँ हैं, तीन वेद तीनों पैर हैं। रात और दिन–ये दोनों सिर हैं। सात किरणें ही सात हाथ हैं। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश से ये सम्बद्ध है अथवा ग्रीष्म, वर्षा और शीत इन तीनों ऋतुओं का उत्पादक है।

शब्द अथवा व्याकरणपरक–इस व्याख्या के कर्त्ता महाभाष्यकार पतंजलि हैं। उनके अनुसार शब्द ही महादेव हैं। नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात–ये ही चार सींग हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान–ये तीनों काल ही तीनों पैर हैं। नित्य तथा कार्य रूप दो प्रकार की भाषाएँ ही दो सिर हैं। प्रथमादि सात विभक्तियाँ ही सात हाथ हैं। हृदय, कण्ठ और मुख–इन तीन स्थानों से उच्चरित होने के कारण वह तीन स्थानों से आबद्ध हैं। अर्थ की वृष्टि करने से वह 'वृषभ' है।

काव्य-पुरुषपरक–राजशेखर ने 'काव्य मीमांसा' (तृतीय अध्याय) में 'श्रुतिरपि भवन्तमभिस्तौति' कहकर इस मन्त्र को काव्य-पुरुष की स्तुति परक माना है। 'नाट्य-शास्त्र' गत भरत के निम्नलिखित कथन से ही संभवतः राजशेखर ने प्रेरणा ग्रहण की होगी 'सप्तस्वराः, त्रीणि स्थानानि, चत्वारो वर्णाः, द्विविधा काकुः, षडलंकाराः, त्रीणि स्थानानि, चत्वारो वर्णाः, द्विविधा काकुः, षडलंकाराः षडङ्गानि' (नाट्यशास्त्र, १७वाँ अध्याय)।

तुलनात्मक अथवा ऐतिहासिक पद्धति–इस पद्धति की मूल उद्भावना का श्रेय पाश्चात्य विद्वानों को है। इसके मूल में योरोपीय भाषा-परिवार की एकता का सिद्धान्त निहित है। तदनुसार वैदिक भाषा तथा ग्रीक, लैटिन, जरमन इत्यादि भाषाएँ वस्तुतः एक ही भारोपीय भाषा से निर्गत है–भारोपीय भाषा इस परिवार की विभिन्न समानताओं के आधार पर एक कल्पित भाषा है। कदाचित् जब भारतीय आर्य और यूरोपीय आर्य एक ही स्थान पर रहते थे और समान भाषा बोलते थे वही भारोपीय भाषा थी। अपने मूल स्थान से जब वे पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में गये, तो अपनी मूल भाषा के प्रभाव भी लेते गये, जिनके अवशेष इस परिवार की भाषाओं में सन्निहित हैं। यह प्रभाव केवल भाषागत ही नहीं था, कर्मकाण्ड, मिथक और देवशास्त्रीय भी था। इसीलिए विभिन्न भारोपीय भाषा-परिवार के देशों, उनकी संस्कृतियों, धार्मिक कर्मकाण्ड और देवों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। आटो बोथलिंक और रडल्फ रॉथ इन विद्वानों में अग्रणी हैं, जिन्होंने 'सेंट पीटर्सबर्ग संस्- जरमन डिक्शनरी' के माध्यम से इस प्रयत्न को स्थायित्त्व देने की चेष्टा की। भारत पर सुदीर्घकाल तक अंग्रेजी शासन रहने, विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी माध्यम का वर्चस्व रहने तथा भारतीय प्राध्यापकों की अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अपनी उपस्थिति जताने के प्रलोभनवश बहुत दिनों तक भारत के विश्वविद्यालयों के वैदिक अध्ययन में इस प्रणाली के शतावधि दोषों के बावजूद इसका प्राधान्य बना रहा। लेकिन अब यह प्रणाली निम्नलिखित कारणों से त्याज्य बनती जा रही है–(1) इन विद्वानों ने वैदिक शब्दों में अवांछित और अनुचित ढंग से नानाविध पाठ-भेदों की कल्पनाएं की हैं। कहीं-कहीं तो इतनी स्वेच्छाचारिता का परिचय दिया गया है कि उससे वेद का स्वरूप ही

नष्ट हो जाने का संकट उत्पन्न हो गया है। उदाहरण के लिए हेरास इंस्टीट्यूट (बंबई) के निदेशक डॉ॰ एस्टलर, जो एक ईसाई पादरी हैं, का ताजा प्रयास है। उनके अनुसार वर्तमान ऋग्वेद संहिता ऋषि-कवियों की मूल वाणी नहीं, अपितु 'संहिता का निर्जीव तथा विकृत शव है।' उनके अनुसार इसे तैयार करने वाला 'एक पथभ्रष्ट मोची, एक अहम्मन्य विदूषक' है। डॉ॰ एस्टलर के शब्दों में यह संहिता सार 'एक वर्णसंकर, एक अर्द्ध देव + असुर, एक अर्द्धभक्षक-अर्द्धरक्षक प्राणी है, जिसकी अर्द्धमाया + अविद्या ने अपने अर्द्धदानवी प्रभाव से ऋग्वेद के पाठ को निन्दनीय सीमा तक विकृत कर दिया है।' फादर एस्टलर ने संहिता के परम्परागत मन्त्रों के स्वरूप-धारण में कितनी स्वेच्छाचारिता से काम लिया है, उसके उदाहरण स्वरूप एक मन्त्र प्रस्तुत है :

संहिता (ऋ० सं० ५.५०.५) में परम्परागत मन्त्र :
'एष ते देव नेता रथस्पतिः शं रयिः।
शं राये शं स्वस्तय इषः स्तुतोमनामहे देवस्तुतो मनामहे।।

एस्टलर द्वारा पुनर्गठित मन्त्र :
एष ते देव नयितर शं रयिरधिसस्पतिः।
शं राये शं स्वस्तये इषस्तुतः मनामहे देवांस्तुतः मनामहे।।

एस्टलर के प्रयासों की डॉ. फतेहसिंह ने अपने 'ऋग्वेद का भूलोद्धार या मूलोच्छेद' शीर्षक लेख में बड़ी विद्वत्तापूर्ण समीक्षा की है,[२८] जिसे वहीं देखना चाहिए।

इसी प्रकार के प्रयत्न दूसरे पाश्चात्य विद्वानों ने भी किये हैं।

(२) **भारतीय दृष्टिकोण की पूर्ण उपेक्षा**–तथाकथित हिस्टॉरिकल पद्धति में भारतीय दृष्टिकोण और परम्परा की पूर्णतया उपेक्षा की गई है। सुप्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक रेने ग्वेनाँ के अनुसार–'इन ओरियण्टलिस्टों' की सबसे बड़ी गलती यह है कि वे हर वस्तु को अपने ही पाश्चात्य दृष्टिकोण से देखते हैं और अपनी ही सतरंगी मनोवृत्ति से जानने की कोशिश करते हैं, जबकि किसी सिद्धान्त को समझने के लिए पहली शर्त यह है कि अपने को यथासंभव उस दृष्टिकोण पर लाया जाये, जो उस सिद्धान्त के प्रणेताओं का था।' डॉ॰ फतेह सिंह के शब्दों में–'तथाकथित वैज्ञानिक वेद-व्याख्या गहराई में जाने का कोई प्रयत्न नहीं करती, अपितु शब्दों के हेर-फेर या इधर-उधर की कौड़ी भिड़ाने में ही वैज्ञानिकता को सीमित कर देती है।[२९] पं॰ बलदेव उपाध्याय का यह कथन भी उल्लेखनीय है–'वेदों का आविर्भाव इस आर्यावर्त्त में हुआ। वेदों में निहित बीजों को लेकर ही कालान्तर में प्रणीत इस आर्यावर्त ने अनेक स्मृतियों की रचना देखी, अनेक दर्शनों का प्रादुर्भाव देखा और अनेक धर्मों के उत्थान तथा पतन का अवलोकन किया। अतः

२८. इस सतही अध्ययन में कितना प्रदर्शन, प्रचार पूर्वाग्रह और निरर्थक विवाद उठाया जाता है, उसका ज्वलन्त उदाहरण डॉ॰ एस्टलर का आलोच्य लेख है, जिसमें पाठों की कुछ चर्चा साढ़े चार पृष्ठों से अधिक की नहीं है, जबकि १४ पृष्ठों के लेख में गाली-गलौज, भ्रामक प्रचार विषयान्तर की भरमार है। A comparative and Analytical Study of the Veda में संकलित लेख, पृष्ठ १८६। (डॉ॰ रघुवीर वेदालंकार के द्वारा संपादित तथा नाग-प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित)

२९. वही।

वेद हमारी वस्तु हैं। हमारे ऋषियों ने, आत्म-ज्ञानी विद्वानों ने, तत्त्वों के साक्षात्कर्त्ता महर्षियों ने उनका जिस रूप में दर्शन किया, जिस प्रकार उनके गूढ़ रहस्य को समझा और समझाया, उसी रूप में उन्हें देखना तथा उसी तरह उनको समझना दुरूह श्रुतियों का वास्तविक अनुशीलन कहा जा सकता है। वेदों से भारतीयता निकालकर उन्हें भारतेतर विज्ञान तथा धर्म की सहायता से समझने का दुस्साहस करना 'मूले कुठाराघात:' की लोकोक्ति को चरितार्थ कर रहा है।[३०]

आचार्य जी ने 'शिश्नदेव:' से लिङ्ग-पूजा तथा 'कूर्मपित्तम्' (पारस्करगृह्यसूत्रगत) से 'कछुए' का अर्थ ग्रहण कर पाश्चात्य विद्वानों ने कितना अनर्थ किया है इसे विस्तार से उपपादित किया है। परम्परागत अर्थ ही प्रकृत सन्दर्भों में औचित्य निष्ठ है। तदनुसार उपर्युक्त दोनों शब्दों के अर्थ क्रमश: काम क्रीड़ा में निरत पुरुष तथा 'जलपूर्ण घट' हैं।[३१]

(३) अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् यह पूर्वाग्रह लेकर वेदार्थ में प्रवृत्त हुए हैं कि वेद-मन्त्र प्रकृति के अन्धविश्वासयुक्त तथा अर्ध कवितायुक्त रूपक है अवशिष्ट अंश में उस समय का इतिहास तथा कर्मकाण्ड है।

(४) प्रो॰ घाटे के अनुसार पाश्चात्य विद्वानों ने मनगढ़न्त अर्थ भी किए हैं-'नि:सन्देह बहुत बार ये विद्वान् मनगढ़न्त व्याख्याएँ प्रस्तुत कर देते हैं तथा इनकी प्रवृत्ति ऐसे संशोधन एवं परिवर्धन करने की भी रही है, जो कभी-न-कभी न केवल अनावश्यक होते हैं, प्रत्युत नितान्त अशुद्ध भी होते हैं। ये इस संभावना को लेकर अग्रसर हुए हैं कि भारतीय व्याख्याएं नियमित रूप से अशुद्ध और विवेचना शून्य हैं। तथाकथित समीक्षात्मक एवं ऐतिहासिक समीक्षा-पद्धति को लागू करने के लिए इन विद्वानों में इतनी अधीरता है कि उसके कारण कहीं-कहीं वे विचित्र प्रमाद तक कर बैठते हैं।[३२]

(५) मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स इत्यादि के सन्दर्भ में बहुत-सी ऐसी सामग्री उपलब्ध हुई है, जिससे ज्ञात होता है कि अनेक पाश्चात्य विद्वानों के वेद-व्याख्यान का उद्देश्य ही भारतीय वाङ्मय को दूषित करना, हिन्दू धर्म को प्राकृत और बर्बरतापूर्ण बतलाना तथा भारतीय संस्कृति में अमानवीय स्थितियों की उद्भावना करना था। इन सबके माध्यम से ईसाई धर्म की श्रेष्ठता का परोक्ष प्रतिपादन ही उनका उद्दिष्ट रहा है। ईसाई मिशनरियों के द्वारा किये जा रहे धर्मान्तरण-हेतु इन विद्वानों ने प्रच्छन्न रूप से जमकर कार्य किया।[३३]

३०. आचार्य बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ ८०, पञ्चम संस्करण, १९८०, वाराणसी।

३१. वही।

३२. घाटे, ऋग्वेद पर व्याख्यान (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ ६४, दिल्ली विश्वविद्यालय।

३३. वेदों की व्याख्या के विषय में पाश्चात्य विद्वानों का दृढ़ दुराग्रह यह था कि वेदों की ऐसी व्याख्या कर दी जायें जिसे पढ़कर वेदों से लोगों की श्रद्धा हट जाये और वे ईसाइयत की ओर उन्मुख हो सकें। भारतीय संस्कृति और धर्म पर कुठाराघात करने के लिए इन विद्वानों ने वैदिक साहित्य को निरन्तर निम्न कोटि का सिद्ध करने का प्रयत्न किया। मैक्समूलर ने अपनी पत्नी को लिखे पत्र में अपनी इस भावना को प्रकट किया है-(Life and Letters of MaxMuller, 1866 A.D.) मैक्समूलर के मित्र ई. वी. पुस्से के उनके नाम लिखित पत्र से मैक्समूलर का उद्देश्य स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है-'your work will form a new era in the efforts for the conversion of India.'

(६) पाश्चात्य विद्वानों की वेद-व्याख्या से वेदों में निहित श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों, उदात्त आध्यात्मिक आदर्शों तथा मानवता को आलोकित करने वाली प्रकाशमयी विचारधारा का उद्घाटन नहीं होता। इसके विपरीत इस 'हिस्टॉरिकल मेथड' से वेद किसी अर्द्धसभ्य जाति की प्राथमिक और प्राकृत रचना मात्र रह जाते हैं।

इन्हीं कारणों से तुलनात्मक या ऐतिहासिक पद्धति की ओर से भारतीय विद्वानों का व्यामोह निरन्तर छिन्न-भिन्न होता जा रहा है। सम्प्रति वेदव्याख्या के सन्दर्भ में इसके कुछ गुणों को केवल लिया जा सकता है।

वेद-व्याख्या में इतिहास-पुराण का आधार-ग्रहण–प्राचीन काल से ही वेद-व्याख्या में इतिहास (रामायण, महाभारत तथा शतपथादि में प्राप्त ऐतिहासिक विवरण) तथा पुराणों के आधार-ग्रहण की परम्परा दिखलाई देती है। निरुक्त में 'वृत्र' की व्याख्या नैरुक्त मतानुसार 'मेघ' रूप में तो है ही, साथ ही त्वष्टा के पुत्र असुर रूप में भी 'इति ऐतिहासिका:' कहकर की गई है (निरुक्त २.१६)। पुराणों में इन्द्रवृत्र-युद्ध का प्रचुर विस्तार है (भागवत, अध्याय ११-१२)। इसीलिए इतिहास और पुराणों के आधार पर वेद के उपबृंहण के विषय में महाभारत का यह सुभाषित अत्यन्त प्रचलित है :

इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।

इसके अनुसार इतिहास और पुराणों से वेदों के व्याख्यान में सहायता ली जानी चाहिए। वेद अल्पज्ञ व्यक्तियों से बहुत डरता है। उसे आशंका है कि ये उस पर प्रहार करेंगे।

अनेक बार यह सहायता बड़ी महत्त्वपूर्ण और सत्यार्थ तक पहुँचाने में अतीव उपादेय सिद्ध होती है। इन पंक्तियों के लेखक का भी यह घनीभूत विश्वास है कि अकेले महाभारत के ही वैदिक सन्दर्भों में अनुशीलन से अनेक विवादग्रस्त वैदिक प्रसंगों का समाधान निकल सकता है–लेकिन इसमें बड़ी सावधानी अपेक्षित है, क्योंकि इतिहास-पुराणों की शैली वेदों से बहुत भिन्न है। पुराणों की अतिशयोक्ति, प्रतीकात्मक और काव्यात्मक शैली के आवरण से यथार्थ निकालने के लिए वास्तव में प्रचुर निष्ठा एवं तटस्थता आवश्यक है। लेकिन जब काल-क्रम की उपेक्षा कर और अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं की पुष्टि करने के लिए वैदिक तथ्यों पर पुराण स्थापनाओं का आरोपण होने लगता है, तब वेद-व्याख्या के सन्दर्भ में इतिहास-पुराण के आधार-ग्रहण के औचित्य पर प्रश्न-चिह्न लगने लगते हैं।

स्वामी गंगेश्वरानन्द के वेद-भाष्यों में पुराणों के मोह से इसी प्रकार की गहरी आसक्ति पाई जाती है। शुक्ल यजुर्वेद के उनके 'समन्वय' भाष्य (तृतीय अध्याय) से कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं; मूलमन्त्र है :

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे।। (यजु० ३.२)

इस पर भाष्य है–'सुसमिद्धाय = दैत्यदत्तदुस्सहविविध-प्रह्लादयातनादर्शनसमुत्पन्नकोपाय, शोचिषे = शोचिष्मते जगदन्तकृज्ज्वालाजटिलसंवर्तकप्रलयानलाय, जातवेदसे = सर्वज्ञाय अग्नये

दैत्यदानवदहनायनृसिंहाय तं प्रसादयितुमित्यर्थः, तीव्रम्=अतिमनोहरम्, घृतम्=घृतवत् स्निग्धं मधुरं वचः, जुहोतन=प्रक्षिपत।

कहाँ की ईंट, कहाँ का रोड़ा ! जबर्दस्ती उपर्युक्त मन्त्र को खींच-तान करके हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद एवं नृसिंह की कथा से जोड़ दिया गया, जबकि मूल मन्त्र में इसका दूर-दूर तक कहीं, उल्लेख तो क्या, संकेत भी नहीं है।

इन्हीं स्वामी जी ने 'तत्सवितुवरेण्यं' प्रभृति गायत्री मन्त्र में श्रीकृष्ण, यमुना इत्यादि सबका अस्तित्त्व अपने भाष्य में सिद्ध कर दिखाया है-'(यः) कृष्णः (नः) अस्माकं (धियः) बुद्धीः कुमार्गान्निवृत्य गीतोपदेशेन सन्मार्गे (प्रचोदयात्) प्रेरयति, प्रवर्तयति। तं (धीमहि) ध्यायेमः। कीदृशम्? (सवितुः) सूर्यस्य (वरेण्यम्) कन्यावरत्वेन अंगीकरणीयम्। तपनतनया कालिन्दी कृष्णेन परिणीता इति हि पौराणिकी कथा (भर्गः) भ्राष्ट्रे निक्षिप्तचणकादिवत् परकमुरादिरक्षोवृन्द भर्जकम्।'

स्वामी गंगेश्वरानन्द ने अपने भाष्यों में रासलीला, हनुमान् (वृषाकपि) सभी की सत्ता सिद्ध की है।

निश्चय ही इन व्याख्याओं से वेद का गौरव नहीं बढ़ेगा। हाँ, सन्तुलित दृष्टि से, वेद को समझने में इतिहास-पुराण की उपादेयता असंदिग्ध है।

प्रतीकात्मक एवं आध्यात्मिक व्याख्या–महर्षि दयानन्द सरस्वती, योगी अरविन्द, म०म०पं० मधुसूदन ओझा एवं वासुदेवशरण अग्रवाल इत्यादि मनीषियों के द्वारा स्वीकृत इस व्याख्या-प्रणाली का परिचय भाष्यकारों के प्रसंग में दिया जा चुका है। अन्य पद्धतियों की अपेक्षा, इस पद्धति से वेदों में निहित रहस्यात्मक तथ्यों का उद्घाटन तो होता ही है–वेद का गौरव संवर्धन भी तुलनात्मक दृष्टि से अधिक होता है।

वेद-व्याख्या की सर्वाधिक स्वीकार्य विधि–सम्प्रति प्राचीन भाष्यों एवं तुलनात्मक आधारों के आधार पर तो वेदों में मर्म के उद्घाटन की प्रवृत्ति है ही, स्वयं वेद के आधार पर वेदार्थ करना अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है। अन्तःकरण की शुद्धि करने और सच्चे मन से जिज्ञासु बनने पर वेद की वाणी स्वयं अपने स्वरूप को वैसे ही अनावृत कर देती है, जैसे पत्नी अपने प्रियतम के सम्मुख अपने निरावरण रूप को दिखलाने में संकोच नहीं करती।

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः। (ऋ०सं० १०.७१.४)।

आज ज्ञान की सभी शाखाओं में पारस्परिक सहयोग की प्रवृत्ति (Inter-disciplinary approach) दिखलाई देती है, इसलिए वेद की व्याख्या-पद्धति में उपलब्ध साधनों की सहायता को नकारना बुद्धिमत्ता नहीं होगी लेकिन ध्यान यह रहना चाहिए कि वैदिक साहित्य पर आधुनिक उपस्थापनाएँ आरोपित नहीं होने पायें। हाँ, वेद का यथार्थ अवश्य उद्घाटित हो जाये। मनमाने पाठान्तरों को तो बिल्कुल भी मान्यता नहीं दी जानी चाहिए। इसी प्रकार फ्रायड, युंग और मार्क्स के सिद्धान्तों का वेदों में अन्वेषण भी बहुत उपादेय नहीं है। निश्चित ही वेद की व्याख्या पर विशेष प्रतिबन्ध लगाना ठीक नहीं होगा, लेकिन व्याख्याकारों को इतना ध्यान तो रखना ही होगा कि वे एक विशाल समाज की धार्मिक श्रद्धा और आस्था के केन्द्र बिन्दु हैं और इस हिन्दू समाज की धार्मिक आस्थाओं को जिनसे ठेस पहुँचे, ऐसी अनर्गल व्याख्या करने की छूट किसी को

भी नहीं दी जा सकती। वेद-मन्त्रों के 'एक्सरे' और 'अल्ट्रा साउण्ड' तक तो ठीक हैं, लेकिन 'पोस्ट मार्टम' की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती।

यदि हम सावधानी से दृष्टिपात करें तो वेद-मन्त्र अपने अर्थ को किसी-न-किसी अन्य मन्त्र में अभिव्यक्त कर ही देता है—फिर ब्राह्मण ग्रन्थ, निरुक्त, व्याकरण और कल्प के रूप में वेदार्थ के पहरेदार हमें, निरन्तर सचेत करते रहते हैं। प्रख्यात वेदमनीषी स्व० पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का भी कथन था कि ऋग्वेद को ऋग्वेद से ही समझना चाहिए।

ऋग्वेदः ऋग्वेदेन अधीयीत।

वेदों में विज्ञान

विज्ञान के युग में, वेदों का विभिन्न विज्ञानों की दृष्टि से अनुशीलन स्वाभाविक ही है। इस सन्दर्भ में अब तक जो कार्य हुआ है, वह दो प्रकार का है—(१) आधुनिक वैज्ञानिक अर्हताओं से सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा किया गया कार्य तथा (२) वैदिक विद्वानों द्वारा किया गया कार्य, जो मूलत: वैज्ञानिक तो नहीं थे, लेकिन जिनमें विज्ञान के प्रति आस्था तथा रुचि थी। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में दीक्षित व्यक्ति वैज्ञानिक दृष्टि से निरन्तर वेदानुशीलन में संलग्न हैं। दोनें ही प्रकार के कार्यों का संक्षिप्त आकलन यहाँ प्रस्तुत है।

वैदिक गणित—इसकी चर्चा सुव्यवस्थित रूप से करने का श्रेय गोवर्धन पीठ के शंकराचार्य स्वामी श्री भारती कृष्ण तीर्थ जी को है। उन्होंने अथर्ववेद के परिशिष्ट से १६ सूत्रों तथा १३ उपसूत्रों के आधार पर वैदिक गणित की विशद रूपरेखा अपनी इसी नाम की अंग्रेजी में लिखित पुस्तक[३४] में प्रस्तुत की। अमेरिका और इंग्लैण्ड के अनेक विद्यालयों में, विगत अनेक वर्षों से गणितीय पाठ्यक्रम के अन्तर्गत वैदिक गणित का अध्यापन हो रहा है। सेंट जेम्स स्कूल, लन्दन के गणित विभागाध्यक्ष के अनुसार वैदिक गणित से बालकों के व्यक्तित्त्व का विशेष विकास हो रहा है, क्योंकि यह मानव-मस्तिष्क की कार्य प्रक्रिया के अनुरूप है।[३५] भारत में रुड़की विश्वविद्यालय ने दिसम्बर १९९१ में इस विषय पर एक कार्यशाला का आयोजन किया, जिसमें २३० युवा अभियन्ताओं ने भाग लिया। दूसरी कार्यशाला भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, मुम्बई ने २५ जनवरी १९९२ को आयोजित की, इसमें १८८ शोधछात्रों, प्राध्यापकों और वैज्ञानिकों ने भाग लिया। इसका विषय था वैदिक गणित की प्रासंगिकता।' रुड़की विश्वविद्यालय से वैदिक गणित पर अनेक शोधप्रज्ञ पी-एच० डी० की उपाधि भी प्राप्त कर चुके हैं। मानव संसाधन विकास मन्त्रालय

34. Vedic Mathematics : Swami Bharti Krishna Tirtha, Moti Lal Banarsidass, 13th Edition.
35. The General performance of our students in Maths is excellent and it is helping them in development of thier personality. Because the Vedic methods take proper account of how the human mind works, the calculation is done faster and leaves the mind bright and full of energy. All of us find that effect on the boys is to make them very bright,—quoted by or Narinder Puri—Why Vedic Maths

(भारत सरकार) ने नवम्बर १९८९ में इस पर एक गोल मेज सम्मेलन दिल्ली में किया। इसमें वैदिक गणित के महत्त्व को समझकर राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान प्रशिक्षण परिषद (NCERT) ने कक्षा ८ से १२ तक इसे अनिवार्य करने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी। विभिन्न सरकारों के गणितीय पाठ्यक्रम में इसका समावेश प्रदेश-स्तर पर किया जा रहा है। मद्रास के विख्यात गणितज्ञ प्रो॰ भानुमूर्त्ति तथा रुड़की विश्वविद्यालय के डॉ॰ नरिन्दर पुरी[३६] इस विषय में निरन्तर कार्यरत हैं। वैदिक गणित मूलतः अथर्ववेद के परिशिष्ट रूप में उपलब्ध निम्नलिखित १६ सूत्रों पर आधृत हैं। ये सूत्र इस प्रकार है :

१. एकाधिकेन पूर्वेण।
२. निखिलं नवतश्चरमं वशतः।
३. ऊर्ध्वतिर्यग्भ्याम्।
४. परावर्त्य योजयेत्।
५. शून्यं साम्यसमुच्चये।
६. (आनुरूप्ये) शून्यमन्यत्।
७. संकलन व्यवकलनाभ्याम्।
८. पूरणपूरणाभ्याम्।
९. चलनकलनाभ्याम्।
१०. यावदूनम्।
११. व्यष्टिसमष्टिः।
१२. शेषाङ्केन चरमेण।
१३. सोपानन्त्यद्वयमन्त्यम्।
१४. एकन्यूनेन पूर्वेण।
१५. गुणित्समुच्चयः।
१६. गुणकसमुच्चयः।

संक्षेप में वैदिक गणित की विशेषताएँ इस प्रकार हैं–(१) वैदिक गणित गणित को सरल बना देता है। खेल-खेल में बालक अनेक गणितीय प्रविधियों को इसके माध्यम से जान जाते हैं। यह गणित विषय के उबाऊपन को दूर कर देता है। (२) गणित के १६ वैदिक सूत्रों में केवल १२० शब्द हैं। (३) वैदिक गणित में अंकगणित के साथ बीज गणित, हायर आर्डर इक्वेशन्स, कैलकुलस तथा कोआर्डिनेट ज्यामिति भी सम्मिलित है। (४) छात्रों की सर्जनात्मकता तथा उनकी अन्तःप्रज्ञा (इन्ट्यूशन) का इससे विकास होता है। (५) बायीं ओर से गणना की पद्धति अभियन्त्रण एवं विज्ञान के छात्रों के लिए विशेष उपादेय सिद्ध हुई है। (६) वैदिक गणित से कीपलर का इक्वेशन केवल ९० सेकेण्डों में हल किया जा सकता है। अनावश्यक गणना से समय बचता है। (७) गणित के वर्तमान क्रम में केवल एक ही विधि प्रचलित है–इसे सीखने में तो सुविधा होती है, लेकिन इससे एकरसता बढ़ती है। वैदिक गणित की अनेक विधियों से यह एकरसता दूर होती है। (८) आयुर्विज्ञान के अनुसार मानव-मस्तिष्क का पहला अर्धभाग प्रथम पाँच संख्याओं को संचित कर लेता है। दूसरा अर्धभाग ६ से ९ तक की संख्याओं को संचित करता है। वैदिक गणित के अनुसार सम्पूर्ण गणना प्रथम पाँच संख्याओं (१ से ५) से की जा सकती है–इससे द्वितीय अर्धभाग अन्य कार्यों के लिए उपयोग में आ जाता है। (९) वैदिक गणित 'बिन्दु में सिन्धु' के सिद्धान्त पर आधारित है। (१०) वैदिक गणित में पाजिटिव और निगेटिव संख्याएँ एक साथ

३६. डॉ॰ नरिन्दर पुरी की वैदिक गणित पर हिन्दी तथा अंग्रेजी में अनेक पुस्तकें 'Spiritual Science Series, Roorki' से प्रकाशित हुई है। इस विषय में अन्य उल्लेखनीय पुस्तकें ये हैं—(A.P. Nicholas, J.R. Pickles & K. Williams) के द्वारा लिखित – (क) vertically & crosswise—Urdhva Sutra, (ख) Introductory Lectures on Vedic Maths (London).

'विनकुलम् संख्या' में रह सकती हैं। इस प्रकार वैदिक गणित के अनुसन्धान से गणित के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति-सी उपस्थित हो गई है।

वैदिक सृष्टि उत्पत्ति रहस्य–इस विषय में सर्वाधिक कार्य डॉ॰ विष्णुकान्त वर्मा का है। विलासपुर (म॰प्र॰) के अभियांत्रिक महाविद्यालय के निवृत्त प्राचार्य और गणित विभागाध्यक्ष डॉ॰ वर्मा की दो पुस्तकें (वास्तव में एक ही ग्रन्थ के दो भाग) उपर्युक्त नाम की प्रकाशित हुई हैं।[३७] इसके प्रथम भाग में वैदिक रसायन और नाभिकीय विज्ञान के अन्तर्गत ऋग्वैदिक एवं वैज्ञानिक पदार्थ की अवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन तथा शक्ति संरक्षण सिद्धान्त, मूलतत्त्व का स्वरूप-निर्धारण, वैदिक सोम, परमाणु एवं दृश्य जगत् के सप्तवर्गी सिद्धान्त पर विचार करते हुए पुरूरवा, उर्वशी, वसिष्ठ, अगस्त्य और महावसु जैसे शब्दों में निहित वैज्ञानिक रहस्यों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। द्वितीय भाग में वृत्र, इन्द्र, अग्नि, वज्र, त्वष्टा, शम्बर, हिरण्यगर्भ, भृगु, मातरिश्वा, वैश्वानर, अङ्गिरस्, मरुद्गण, सप्तसिन्धु और ऋभु प्रभृति ऋग्वैदिक नामों के वैज्ञानिक प्रतीकों के आधार पर सृष्टि के आदिकालीन महाविस्फोट (Big Bang theory), बृहदग्निकाण्ड, आपः तत्त्व का विभाजन, नक्षत्र तथा ग्रहों आदि की उत्पत्ति, आकाशीय पिण्डों का गुरुत्त्वाकर्षण, काल, स्थान आदि का विश्लेषण किया है।

तदनुसार अदिति तीन मौलिक तत्त्वों–मित्र, वरुण, अर्यमा के संघात का प्रतीक है। आपः इस तत्त्वत्रयी की उद्वेलित अवस्था है। यही सलिल, माया या असत् है। बृहती आपः इनकी यौगिक अवस्था (Plasma) है। वृत्र क्रियात्मक मूलतत्त्वों की चक्रीय विवर्तनवाली स्थिति (Cyclic reversible reaction) है।

विज्ञान के अनुसार महाविस्फोट के पश्चात् द्रव्य में जो मण्डलाकार (Spherical) प्रसार आदिकाल में प्रारम्भ हुआ, वह आज भी जारी है। इसे हम गैलेक्सियो के प्रसार के रूप में जानते हैं। इस प्रसार के कारण तापमान में गिरावट आती है और कुछ काल बाद परमाणु-रचना प्रारम्भ हो जाती है। ऋग्वेद में इसे 'अर्धगर्भा स्थिति' कहा गया है। वह परमाणु अवस्था नाभिकीय (Nuclear) और अणु (Molecular) अवस्था की मध्यगामिनी है। ऋग्वेद के अनुसार यह सप्तवर्गी अवस्था है। ऋग्वेद में सप्तवर्गी परमाणु अवस्था को 'सप्तसिन्धु' कहा गया है।

'शतपथ ब्राह्मण' गत 'वज्र हि वा आपः' को लेकर डॉ॰ वर्मा ने 'अप्' या 'आपः' को क्रियात्मक मूल तत्त्व (The active fundamental principle from which creation originates) कहा है।

डॉ॰ वर्मा ने ऋचाओं की पृथक्-पृथक् व्याख्या करने का विरोध किया है। उनका कथन है कि किसी सूक्त की ऋचाओं की व्याख्या से एक सहज धारावाही विचारधारा प्रवाहित होती है। इसे उन्होंने 'कम्प्यूटर विज्ञान' माना है।

वेद में कुछ ऐसा भी विज्ञान है, जिसका ज्ञान आधुनिक विज्ञान में नहीं है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार सृष्टि का आरम्भ एक महाविस्फोट से होता है। वैज्ञानिक भाषा में इसे 'बिग बैंग सिद्धान्त' कहते हैं। इस महाविस्फोट का सिद्धान्त वेद में भी है। इस महाविस्फोट के पूर्व की

३७. 'वैदिक सृष्टि-उत्पत्तिरहस्य' के दोनों भागों का प्राप्ति स्थान इन्द्रप्रस्थ, सीपत रोड, सरकंडा, विलासपुर (म॰प्र॰)।

परिस्थितियों का ज्ञान, जिनके कारण महाविस्फोट हुआ था, आधुनिक विज्ञान में नहीं है। किन्तु वेद के अनुसार यह विस्फोट इन्द्र (ईश्वर) के द्वारा वज्र-संचालन के कारण हुआ था। इन्द्र का यह कृत्य ऊर्जाओं के नियोजित संघर्षण का द्योतक है। वेद की यह परिकल्पना आधुनिक विज्ञान में अज्ञात है।

वृत्र मात्र वर्षा का पार्थिव बादल नहीं है। वह आदिसृष्टि-काल की ऊर्जा का बादल है। इस प्रकार वृत्र सृजन-अवरोधक तथा प्राकृतिक व्यवधान है, जिसका उच्छेद कर सृजन को गति देने हेतु प्रारंभिक ऊर्जा प्रदान करना अनिवार्य पग है। इसी को इन्द्र के द्वारा वज्र-संचालन कहा गया है। वसिष्ठ के दो पिता माने गये हैं मित्र और वरुण। वास्तव में इसमें मित्र और वरुण कणों द्वारा उदासीन कण वसिष्ठ (न्यूट्रान) की रचना का विज्ञान निहित है। शम्बर फ्लूइड आपः में स्वनिर्मित चक्रीय विवर्तन रूपी अनेकानेक भँवरों के समग्र रूप का प्रतीक है। त्वष्टा मौलिक किरण-मण्डल का प्रतीक है, जिसमें वज्र बनता है। वज्र फ्लुइड आपः (Plasma) के दो भागों के बीच नियोजित टक्कर (Collision of masses) का प्रतीक है। हिरण्यगर्भ वज्रपात के अनन्तर अग्नितांडव (Big Bang) का प्रतीक है। यही 'मार्तण्ड' भी है। 'उषस्' सृष्टिकाल और 'नक्तम्' प्रलय का प्रतीक है। 'अश्व' ऊर्जा का और 'सोम' विकिरण ऊर्जा (radiant energy) का प्रतीक है। मित्र और वरुण मौलिक कण हैं, जो विपरीत चार्ज वहन करते हैं। यदि वरुण धनात्मक चार्ज कणों का समुच्चय है तो मित्र ऋणात्मक चार्ज कणों का समुच्चय है। ये दोनों मिलकर आधुनिक विज्ञान में द्रव्यभाग बनाते हैं। अर्यमन् प्रकृति का विकिरण अंश है। मित्रवरुण (द्रव्य भाग) और अर्यमन् (विकिरण) मिलकर सम्पूर्ण प्रकृति बनाते हैं मातरिश्वा महाविस्फोट के अनन्तर अग्निविस्फोट के परिणामस्वरूप जो प्रारंभिक संवेग उद्भूत होता है, जिससे समस्त द्रव्य-मण्डल का प्रसार होता है, उसका प्रतीक है। वैश्वानर अग्नि वह भौतिक शक्ति तत्त्व है, जिससे मानव में अन्य प्राणियों से उत्कृष्ट मानसिक विकास सम्भव हुआ। भृगु प्रलयकाल में सुरक्षित ऊर्जा तत्त्व है, जो सृष्टि के आरंभ में गति का तारतम्य (dynamic continuism) बनाये रखता है। अङ्गिरस् या अपस्तमम् क्रियात्मक मूल तत्त्वों की सर्वोत्कृष्ट क्रियात्मक तरल अवस्था है जो विज्ञान प्रोक्त गट्स काल के द्रव्य, क्वार्क सूप आदि की प्रारंभिक तरल अवस्था का द्योतक है।

डॉ० वर्मा की मान्यताएँ ऋचाओं और उनकी शब्दावली की विज्ञानपरक व्याख्या पर आधृत है। कहीं-कहीं इसमें भी खींच-तान झलकती है, क्योंकि डॉ. वर्मा ने विज्ञान की आधुनिक उपलब्धियों को वैदिक विज्ञान पर आरोपित करने की चेष्टा की है।

म० म० पं० मधुसूदन ओझा एवं उनके अनुयायियों की वेद वैज्ञानिक मान्यताएँ

प्राच्य परम्परा में अभिनिविष्ट मनीषी होते हुए भी महामहोपाध्याय पं. मधुसूदन ओझा ने विज्ञान की दृष्टि से वेदों का प्रगाढ़ अनुशीलन उपस्थित किया। उन्होंने लन्दन में 'अति नूत्नम्, नहि, नहि अतिप्रत्नं रहस्यम्' शीर्षक एक व्याख्यान भी इस विषय पर दिया था। उनकी शिष्य-परम्परा ने उनके कार्य को आगे बढ़ाया, विशेष रूप से पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, मोतीलाल शर्मा तथा वासुदेव शरण अग्रवाल इत्यादि ने। अग्रवाल जी उनके प्रत्यक्ष शिष्य तो नहीं थे, लेकिन उन्होंने उनसे दृष्टिबोध तो प्राप्त किया ही। ओझा जी की वैज्ञानिक मान्यताओं को चतुर्वेदी जी तथा शर्माजी

ने सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य बनाया। इन्हीं विद्वानों की कृतियों के अनुसार यहाँ इस परम्परा की वैदिक विज्ञान विषयक मान्यताओं को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

वेद के अनुसार मूल तत्त्व एक है 'रस'–'रसो वै सः' के रूप में श्रुति ने उसी का निरूपण किया है। यह आनन्द रूप है। उस मूल तत्त्व रूप परब्रह्म में ऐसी शक्ति है कि वह प्रपंच (सृष्टि) को रच देती है–

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (श्वेताश्वतरोपनिषद्)।

उस शक्ति का नाम बल है। एक ही तत्त्व बल, शक्ति और क्रिया इन तीनों नामों से कहा जाता है। जब वह सुप्त अवस्था में रहे, तो वह बल है। जब वह कार्य करने को समुद्यत हो, तब उसका नाम शक्ति पड़ जाता है। अन्त में क्रियारूप होकर वह उपशान्त हो जाता है। फिर नया बल जाग्रत हो जाता है। इस प्रकार रस और बल दो होते हुए भी मूलतः एक ही हैं, क्योंकि शक्ति शक्तिमान् से अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखती। मूलतत्त्व एक और विभु (व्यापक) है। उसका किसी देश या काल में अभाव नहीं है। किन्तु, बलरूपा शक्ति परिच्छिन्न परिधि (Limited) में है और संख्या की अनन्तता उसमें है। मूलतत्त्व अविनाशी है, किन्तु यह बल या शक्ति प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। यह शक्ति जब जाग्रत होती है तब प्रथम कार्य यही करती है कि अपरिच्छिन्न 'रस' को अपनी परिमितता से परिच्छिन्न-सा दिखा देती है, जैसे समुद्र के अथाह जल में उठने वाली तरंगें जल को अपने रूप में बँधा हुआ-सा दिखाती हैं अथवा जैसे अनन्त आकाश में अपना मकान बनाने को हम पूर्व और पश्चिम की ओर दो दीवारें खड़ी करते हैं। वे दीवारें अपने घेरे में बाँधकर अनन्त आकाश को भी परिछिन्न-सा दिखा देती हैं। वास्तव में कोई परिच्छेद मूलतत्त्व में नहीं होता । वह सदा अपरिच्छिन्न ही रहता है। किन्तु, शक्ति के परिच्छिन्न होने के कारण पूर्वोक्त प्रकार से उसमें परिच्छेद प्रतीत हो जाता है। इसीलिए, इस शक्ति का नाम शास्त्र में 'माया' है। 'मिति' ('मा' धातु से निष्पन्न) का अर्थ है परिच्छेद या सीमा। शक्ति के द्वारा परिच्छिन्न रूप में दिखाई देने वाले मूलतत्त्व का नाम 'पुरुष' हो जाता है। पुरुष का अर्थ है 'पुर में शयन करने वाला' अर्थात् एक परिधि में परिच्छिन्न दिखाई देने वाला।

उस एक बल पर क्रम से अन्यान्य बल प्रवाह रूप में आते रहते हैं। इसलिए उन बलों का चयन होता है। चयन शब्द का अर्थ है चिनाई। जैसे एक ईंट या पत्थर पर दूसरी ईंट या पत्थर रखकर एक दीवार खड़ी की जाती है उसी प्रकार एक बल पर दूसरे बल का चयन होता रहता है। चयन होते-होते उन बलों में एक-दूसरे के साथ ग्रन्थि भी पड़ती जाती है, इसलिए व्यवहार में तीन प्रकार के पुरुष कहे जाते हैं जहाँ तक केवल परिच्छेद मात्र हुआ हो, चयन नहीं, वह 'उत्तम पुरुष' या 'अव्यय पुरुष' कहलाता है। बलों पर बलों का चयन हो जाने के अनन्तर उसकी 'अक्षरपुरुष' संज्ञा हो जाती है और बलों की ग्रन्थि पड़ जाने के अनन्तर वह 'क्षरपुरुष' कहलाता है। वह क्षरपुरुष ही प्रपंच (सृष्टि) के रूप में परिणत होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच का उपादान कारण क्षरपुरुष, निमित्त कारण अक्षरपुरुष और सबका आलम्बन या अधिष्ठान अव्ययपुरुष है।

इनमें प्रत्येक पुरुष की पाँच-पाँच कलाएँ वेदों में वर्णित हैं। इस प्रकार तीन पुरुषों की पन्द्रह कलाएँ है। सबमें अनुप्रविष्ट रहने वाले विशुद्ध मूलतत्त्व को भी एक कला के रूप में गिन लेने

पर यह षोडशी पुरुष (१६ कलाओं वाला) ही 'प्रजापति' है। मुण्डकोपनिषद् में इसका निर्देश है–

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
भूतानि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये एवं एकीभवन्ति।।

(मुण्डकोपनिषद ३.२.७)।

इसके अनुसार लय के समय पन्द्रह कलाएँ परअव्यय में प्राप्त होकर एक हो जाती हैं।

अव्यय पुरुष की पाँच कलाओं के नाम आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, और वाक् हैं। इनमें शक्ति के द्वारा परिच्छिन्न होने पर सबसे पहले मन का प्रादुर्भाव माना गया है। जिसको हम मन समझते हैं, वह तो बहुत बाद में उत्पन्न होने वाली स्थूल अवस्था है। यहाँ जिसे मन बताया गया है, वह अतिसूक्ष्म सबकी आदिभूत अवस्था है। श्रुतियों में इसे 'श्वावसीयस मन' कहा गया है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सर्वप्रथम मन और उसकी इच्छावृत्ति का उद्भव बतलाया गया है–

'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमंतदासीत्।' मन में रस और बल दोनों तत्त्व हैं।

अव्यय पुरुष की पाँचों कलाओं का निरूपण तैत्तिरीय उपनिषद् में है। वहाँ 'वाक्' का नाम 'अन्न' है। अन्न वास्तव में वाक् की स्थूल अवस्था है।

प्रपंच का यदि हम विश्लेषण करें, तो तीन ही वस्तुएँ हैं–ज्ञान, क्रिया और अर्थ। सम्पूर्ण ज्ञान का मूलतत्त्व मन है, क्रिया का मूलतत्त्व प्राण है और अर्थों का मूलतत्त्व वाक् है। 'वाक्' शब्द व्याकरण के अनुसार 'अवाक्' से, आकार का लोप होकर, निकला है। 'अवाक्' का अर्थ है सबसे निचली श्रेणी की वस्तु। स्थूल रूप में आ जाने के कारण यह मन और प्राण की अपेक्षा छोटी श्रेणी की वस्तु मानी जाती है।

अक्षर पुरुष प्राणप्रधान या क्रियाप्रधान है। इसकी भी पाँच कलाएँ हैं, जिनके नाम हैं–ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम। ये ही पाँचों ईश्वर कहलाते हैं। परिधि के भीतर के तत्त्व को बाहर फेंकने वाली शक्ति का नाम इन्द्र है। बाहर फेंकने से रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए बाहर से तत्त्व लेकर पालन कर देने वाली शक्ति का नाम विष्णु है। वस्तु को एक रूप में दिखाने वाली प्रतिष्ठा शक्ति का नाम ब्रह्मा है। यही सबका उत्पादक है। ये तीनों शक्तियाँ केन्द्र में रहती हैं। वैदिक शब्दावली में इस केन्द्र को 'नाभि' कहा गया है। केन्द्र से फेंके हुए रस का प्रतिष्ठा-प्राण की सहायता से बाहर एक पृष्ठ बन जाता है। उस पृष्ठ पर भी दो तत्त्व रहते हैं। बाहर जाने वाले और बाहर से आकर भीतर केन्द्र की ओर जाने वाले। इनमें से बाहर जाने वाले तत्त्व का नाम अग्नि है और बाहर से वस्तु के केन्द्र की ओर जाने वाले तत्त्व का नाम सोम है। ये दोनों कलाएँ पृष्ठ पर रहने के कारण 'पृष्ठ्य' कहलाती हैं। अग्नि को प्राण और सोम को 'वाक्' नाम भी दिया जा सकता है। इनके साथ इन्द्र के मिलने से उनका महत्त्व बढ़ गया है।

प्रजापति का अर्धभाग तो अमृत रहता है और आधा मर्त्य हो जाता है। अभिप्राय यह कि अक्षर पुरुष अंशतः अपने स्वरूप में रहता है और अंशतः भूतों के रूप में विकसित हो जाता है। यही संसार की उत्पत्ति है। भूतरूप में परिणत क्षर पुरुष ही संसार है। अक्षर की सहायता से क्षरपुरुष की भी पाँच कलाएँ बनती हैं–प्राण, आप, वाक्, अन्नाद और रस। शतपथ ब्राह्मण

के षष्ठ काण्ड में इनकी उत्पत्ति का क्रमिक विवेचन है। आगे इन कलाओं का आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूप में विस्तृत विकास हो जाता है।

अक्षरपुरुष की कलाओं से क्षरपुरुष का विकास होने में, मध्य में एक नया तत्त्व उत्पन्न होने की आवश्यकता होती है। वैदिक शब्दावली में यह 'शुक्र' है। लोक में इसे 'वीर्य' कहा जाता है। जैसे प्रत्येक प्राणिशरीर की उत्पत्ति वीर्य से देखी जाती है, वैसे ही इस सम्पूर्ण प्रपंच की उत्पत्ति जिससे होती है, वह भी वीर्य या शुक्र है। इसकी उत्पत्ति प्रकृति और पुरुष के योग से होती है–इसे 'ब्रह्म' भी कहा गया है-'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।'–(कठोपनिषद्)

इस प्रकार, वैदिक विज्ञान की इस चिन्ताधारा के अनुसार वेदों में सृष्टि विद्या ही प्रमुखतया प्रतिपादित है।[३७]

अथर्ववेदीय चिकित्सा-विज्ञान

भारत में चिकित्सा-विज्ञान का श्रीगणेश भी, अन्य विज्ञानों के समान ऋग्वेद-युग में ही हो गया था। पूर्व वैदिक युग में यद्यपि कुछ शारीरिक व्याधियों और औषधियों का संकेत मात्र ही मिलता है, किन्तु अथर्ववेद तक आते-आते भैषज्य विज्ञान का विशद प्रसार हो गया था[३८]। शरीर-रचना और क्रिया विज्ञान के साथ-साथ अनेक प्रकार के रोगों को दूर करने के उपायों, औषधियों और उनके रंग-रूपों, चिकित्सा-पद्धतियों, क्रिमियों तथा उनकी रोग कारकता का उस सुदूर प्राचीन युग में इतना सूक्ष्म विवरण हमें विस्मय-विस्फारित कर देता है।

मानव-शरीर पर प्राकृतिक तत्त्वों के बाह्य तथा आन्तरिक प्रभाव पर्याप्त रूप में पड़ते ही हैं। विभिन्न प्राकृतिक शक्तियाँ पाँच भौतिक शरीर के साथ न्यूनाधिक मात्रा में प्रविष्ट होती हुई विभिन्न रोगों का रूप धारण कर लेती हैं। 'रोग' शब्द 'रुज्' धातु से निष्पन्न है। इसका तात्पर्य है पीड़ा। सहस्त्रों वर्षों पूर्व वैदिक युग में हमारे पूर्वज किन-किन व्याधियों से पीड़ित होते थे, उनका उपचार किस प्रकार से होता था, इसके ज्ञान के लिए हमें अथर्ववेद के उन मन्त्रों पर दृष्टिपात करना होगा, जिनमें औषधियों, रोगों, रोग-क्रिमियों और तत्कालीन उपचार-पद्धतियों पर विचार किया गया है।

अथर्ववेद के विभिन्न मन्त्रों में शरीर के प्रत्येक अंग में होने वाले नाना रोगों का उल्लेख और इन्हें दूर करने की प्रार्थना औषधियों को सम्बोधित करके की गई है। रोग-क्रिमियों का विस्तृत वर्णन इसी प्रसंग में है। स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीन काल में भी रोग-कीटाणुओं की कल्पना प्रचलित थी।

३७. जिन्हें इस विषय में विशेष जिज्ञासा हो, वे म०म०पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के द्वारा रचित 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' (राष्ट्रभाषा परिषद, पटना से प्रकाशित) शीर्षक ग्रन्थ का अवलोकन कर सकते हैं। स्व०म०म० मधुसूदन ओझाजी ने इस विषय में अनेक ग्रन्थ रचे थे–उनमें से भी 'दशवाद' प्रभृति कुछ ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है।

३८. (क) इस आलेख में श्रीमती डॉ० पद्मिनी नाटू से जो सहायता प्राप्त हुई तदर्थ लेखक उनके प्रति आभारी है।
(ख) अथर्ववेद में आयुर्विज्ञान विषयक सामग्री को मनीषियों ने 'भैषज्याणि' के अन्तर्गत वर्गीकृत किया है।

भोजन और जल के माध्यम से अनेक हानिकारक क्रिमि मनुष्य के आमाशय में प्रवेश कर जाते हैं और शरीर के विभिन्न अंगों को रोगग्रस्त करते हैं, यह अथर्ववेद के मन्त्रों से सुस्पष्ट है। इस श्रेणी का ही निम्नलिखित मन्त्र है :

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यमथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि।।

(अथर्व. २/३९/८)

मन्त्र से स्पष्ट है कि क्रिमियों की दो जातियाँ होती हैं :

१. अवस्कव तथा २. व्यध्वर।

रोग-कीटों के दृश्य-अदृश्य दो प्रकार के अतिरिक्त क्रिमियों का वर्गीकरण–वर्णभेद, आकृति भेद व अधिष्ठान-भेद से किया गया है। रोग क्रिमियों के लिए अथर्ववेद में राक्षस, पिशाच, क्रव्याद, ग्राही, निर्ऋति आदि शब्द प्रयुक्त हैं–जो कि यमदूतों के लिए प्रसिद्ध हैं (अ० वे० ८/२/१२) सूर्य किरणों को सभी प्रकार के क्रिमियों का नाशक कहा गया है :

उतपुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्ट हा।
दृष्टीश्चध्ननदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन क्रिमीन्।।

बालकों में क्रिमि रोग की विशेष चर्चा की गई है :

कुमारस्य क्रिमीन् धनपते जहि (अ० वे० ५/२३/२)

अथर्ववेद में व्याधियों का वर्गीकरण दो भागों में मिलता है–शपथ्य तथा वरुण्य। शपथ्य व्याधि आहारादि निमित्त से होती है। इसका अभिप्राय कुपथ्य से है।

दूसरे प्रकार की व्याधि शापादि जन्य है, यह जन्मान्तर में किये गये पापों के फलस्वरूप होती है। स्वतः उत्पन्न होने वाली और बाह्य कारणों से उत्पन्न होने वाली व्याधियों को क्रमशः 'रोग' और 'आस्राव' कहा गया है। रोग-दोष प्रकोप जन्य विकार हैं और आस्राव (रक्त स्राव आदि) चोट लगने से उत्पन्न व्याधि है। चोट लगने पर पहले पीड़ा होती है, फिर रक्त स्राव होने लगता है।

वेदकालीन लोग व्याधियों को जिस दृष्टिकोण से देखते थे, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने व्याधियों को सदैव लक्षणों के आधार पर पहचाना था–जैसे ज्वर वह था, जो कंपन, सर्दी, दाह तथा वेदना उत्पन्न करता था। रोग-परीक्षा मुख्यतः लक्षणों पर आधृत थी। मन्त्रों, रक्षा कवचों और आन्तरिक रूप से ली जाने वाली औषधियों के अतिरिक्त जल को महान् चिकित्साकारक व जीवनप्रद गुणों से युक्त माना जाता था :

अप्सु अन्तर मृतमप्सु भेषजम् (अ० वे० १/४/४)

वनस्पतियों में चिकित्साकारक गुणों का होना प्रायः उनके सारभूत जल के कारण माना जाता था। सर्प-विषों के लिए मन्त्र और विषोपशामक मानी जाने वाली वनस्पतियों का प्रचलन था।

औषधि-चिकित्सा के अतिरिक्त दीर्घायुष्य की प्राप्ति, पुंस्त्व-प्राप्ति आदि के लिए मन्त्र, रक्षा

कवच, मणियों और विशिष्ट औषधियों की चिकित्सा भी थी, जिसका विस्तृत वर्णन चरक आदि चिकित्सा-सम्बन्धी ग्रन्थों में रसायन, वाजीकरण अध्यायों के अन्तर्गत प्राप्त होता है।

व्याधियों के तीन कारण महत्त्वपूर्ण माने जाते थे :

१. अशुभ कर्म,

२. शत्रुओं की मान्त्रिकता तथा

३. दुष्ट प्रेतात्माओं के वशीभूत होना या देवताओं का प्रकोप।

अथर्ववेद में रोग के तीन कारण विशेषरूप से उल्लिखित हैं :

१. शरीरान्तर्गत विष, जिसके लिए 'यक्ष्म' शब्द आया है :

'यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहम्'

२. क्रिमि, जो अन्न जलादि के माध्यम से शरीर में प्रविष्ट होकर पुरुष को रोगी बना देते हैं। (अथर्ववेद ५/२९/६-६)

३. रोगों का तीसरा कारण है–त्रिदोष (वात-पित्त-कफजन्य हेतु)।

अथर्ववेद के काल में प्रयुक्त होने वाली उपचार-पद्धतियों पर यदि हम दृष्टिपात करें, तो ज्ञात होता है कि उस समय प्राकृतिक पदार्थों के द्वारा चिकित्सा-कार्य पर अधिक बल दिया जाता था। अधिकांशतया पृथ्वी (मिट्टी) पर्वत-जल, नदी, स्रोत, मेघ-वृष्टि-अग्नि, विद्युत्, वायु, सूर्य, चन्द्रादि प्राकृतिक पदार्थों से चिकित्सा का विधान है। उदाहरणार्थ–मूत्ररोग की चिकित्सा सूर्यरश्मि, जल और मानसिक शक्ति द्वारा बतायी गई है। प्रातःकाल जब मूल नक्षत्र का उदय होता है तब उस समय स्नान करने से शरीर के कुष्ठ आदि रोग दूर हो जाते हैं। क्षेत्रीय रोग दूर करने में तो जल अधिक उपकारक है। (अ॰ वे॰ ३/७/५)

अथर्ववेद के अनुसार प्रमुख रूप से तीन माध्यम रोग-निवारणार्थ प्रयोग में लाये जाते थे :

१. औषधि (वनस्पति), २. जल तथा ३. मन्त्रोच्चार।

अथर्ववेद में अनेक प्राकृतिक पदार्थ रोग निवारक कहे गये हैं, जिसका अति संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

पृथ्वी–अर्थात् मिट्टी सर्पविष को खींच लेती है। उपजीव्योद्भृत (बाँबी की मिट्टी) में नासूर का घाव भरने, स्थावर विष को दूर करने, मूर्च्छा, भय और सर्पविष को दूर करने का गुण रहता है। अथर्ववेद के अनुसार बाँबी की मिट्टी 'आस्राव भेषज' है। (अ॰ वे॰ २/३/४)

जल–जल की अथर्ववेद में नाना प्रकार से स्तुति की गई हैं। तुरन्त घाव भरने, निद्राक्षय, स्वप्न दोष और वंशानुगत रोगों को दूर करने का अनुपम गुण जल में विद्यमान हैं। क्षेत्रीय रोग दूर करने के लिए जल का प्रयोग अथर्ववेद के एक मन्त्र में बताया गया है (अ॰ वे॰ ३/६/५)। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद के कई सूक्त जल के लिए समर्पित हैं।

अग्नि–को प्रमुख रूप से शीतरोग शामक कहा गया है। यह सर्पविष नाशक, क्रिमिनाशक, मूत्रावरोध की चिकित्सा करने वाला और दूषित आहार का शुद्धिकारक है। गर्भवती के लिए सुखकारक है। इसमें रासायनिक गुण रहते हैं। अथर्ववेद के कई सूक्तों में अग्नि का वर्णन है, कहीं देवता रूप में, कहीं सामान्य अग्नि और कहीं हवन की अग्नि के रूप में उसकी स्तुति करते हुए उससे रोगनाश की प्रार्थना की गई है (अ॰ वे॰ ६/१०६/३, ५/२२/१)।

वायु–एक स्वास्थ्यप्रद रसायन है, जो शरीर के अन्दर रक्त शुद्ध करता है। सुख-प्रसव, मूत्र-निस्सारण के साथ-साथ रोगनाशक भी कहा गया है। अथर्ववेद के अनेक सूक्तों में रोग-विनाश की प्रार्थना वायु से करते हुए उसे 'विश्व भेषज' कहा गया है। (अ॰ वे॰ ४/१३–४/२७/३)।

सूर्य–हृदय रोग, हलीमक, कामला, अपची (गण्डमाला) और शिरोरोग की चिकित्सा में महत्त्वपूर्ण है। सूर्य मनुष्य के लिए जीवनदाता है। सूर्य की किरणें रोगों के विष को शरीर के बाहर खींच लेती हैं। अथर्ववेदीय चिकित्सा-पद्धति में कुछ रोगों के निवारण के लिए तो सूर्य-किरणों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्रिमि रोग, बालरोग, पुरुष रोग (नपुंसकता-निवारण) विष-चिकित्सा, हृदय रोग, पाण्डु, कामला, मूत्रावरोध तथा क्षेत्रीय रोगों में सूर्य किरणें विशेष लाभप्रद हैं। प्राचीन काल में लोग प्राय: वायु, जल और सूर्य किरणों का सेवन किया करते थे। अथर्ववेद में 'उद्यन' और 'निम्नोचन' सूर्य-रश्मियों का उल्लेख विशेष रूप से है कि उदित होती हुई और अस्त होती हुई सूर्य किरणों में एक विशेष घातक गुण होता है, जिससे छोटे-छोटे जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। ठीक सामने से दिखाई पड़ने वाला सूर्य अदृश्यमान रोगाणुओं को भी अपनी तीक्ष्ण किरणों के माध्यम से नष्ट कर देता है (अ॰ वे॰ ५/२३/७)।

सूर्योपासना, सूर्यस्नान और सूर्य नमस्कार (व्यायाम) से क्षेत्रीय रोग और अन्यानेक रोग दूर होते बताए गये हैं। रोगों को दूर करने के लिए देवताओं की स्तुति, प्रशंसापूर्ण मन्त्रोच्चार, प्राकृतिक पदार्थों का सेवन और उपचारार्थ नाना द्रव्यों का सेवन इत्यादि मध्यम दृष्टि में आते हैं। सूर्यादि प्राकृतिक पदार्थों, वनस्पतियों, द्रव्यों, देवताओं और जड़ी-बूटियों आदि को यत्र-तत्र सम्बोधित करके कहा गया है कि हमारी अमुक व्याधि को तुम दूर कर दो या अमुक व्यक्ति का रोग दूर देश को चला जाये। हमें आरोग्य और सुख-समृद्धि प्रदान करो।

विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियाँ–अथर्ववेद में रोगों के निवारणार्थ भिन्न-भिन्न चिकित्सा-पद्धतियों का विधान है जिनका व्यवस्थित विकास बाद के आयुर्वेदीय ग्रन्थों में है। अथर्ववेदीय उपचार पद्धति के कुछ प्रकार संक्षेप में इस प्रकार हैं :

आश्वासन-चिकित्सा–अथर्ववेद की अधिकांश उपचारात्मक पद्धतियाँ सहानुभूतिपूर्ण अभिचार की उदाहरण हैं जैसे–पाण्डुरोग से उत्पन्न पीलेपन को पीतवर्ण पक्षियों पर स्थानान्तरित हो जाने के लिए प्रार्थना की गई है। ज्वर को मेढक के माध्यम से दूर करने का उल्लेख (जल के साथ सम्बन्ध के कारण) है। जल अग्नि को ठण्डा करने का एक समर्थ माध्यम माना गया है। जल में रहने के कारण मेढक ज्वराग्नि दूर करने वाला कहा गया है।

आश्वासन-चिकित्सा में सर्वप्रथम आरोग्य प्राप्ति और जीवन का पूर्ण आश्वासन दिया जाता था। आत्मविश्वास का तत्कालीन चिकित्सा में महत्त्वपूर्ण स्थान था। धैर्य, सान्त्वना आदि के द्वारा रोगी के मनोबल को सुदृढ़ करते थे, जिससे रोग-निवारण में सहायता मिलती थी–इस सम्बन्ध में अथर्ववेद के अनेक मन्त्र (५/३०/८, २०/९६/७, और ८/२/२४) विशेष उल्लेखनीय हैं।

न विभेर्नमरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमित्वा।'

पंचम काण्ड का सम्पूर्ण तीसवाँ सूक्त तो आश्वासन-चिकित्सा का उत्कृष्ट उदाहरण ही है। इस सूक्त में प्रत्येक अङ्ग में व्याप्त ज्वर, हृदय रोग, तथा यक्ष्मादि रोग भी मन्त्र की वाणी से दूर होते बताये गये हैं।

पुरुषरोग (नपुंसकता आदि) स्त्री रोग (गर्भ सम्बन्धी व्याधियाँ) एवं बालरोग इत्यादि लगभग सभी में इस पद्धति का कुछ सीमा तक आश्रय लिया गया है। प्रायः सर्वत्र वैद्य के द्वारा रोगी को स्वस्थ करके शतायु होने की सान्त्वना दृष्टिगोचर होती है।

उपचार चिकित्सा–रोगी के पास कैसे परिचारक हों ? उससे किस प्रकार की बातें और व्यवहार किया जाये। इस सन्दर्भ में चार बातें कही गई हैं :

१. रोगी के उपचार में उसके शुभचिन्तक और आत्मीय जन ही पास रहें।
२. वर्तमान सम्बन्धियों में रोगी के हृदय में प्रेम उत्पन्न करना और दिवंगत सम्बन्धियों का स्मरण न करने देना।
३. औषधि को रोगी के माता-पिता अथवा भाई-बहन तैयार करें।
४. सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है–'प्रत्यक् सेवस्व भेषजम्' औषधि या भेषज को आत्मभाव से अपना कर उसका सेवन करना चाहिए।

वेदों में त्रिधातुवाद की मान्यता–वात, पित्त और कफ इन तीन धातुओं की विषमता से रोग होते हैं इसका प्रमाण ऋग्वेद भी देता है–(ऋग्वेद १/३४/६)।

अथर्ववेद में भी अभुज, वातज और शुष्मज तीन प्रकार के रोगों का उल्लेख है (अ० वे० १/१२)। चरक में भी तीन प्रकार के रोगों का उल्लेख है :

अतस्त्रिविधा व्याधयः प्रादुर्भवन्ति।
आग्नेयाः सौम्या वायव्याश्च।। (चरक संहिता, अ. १.४)

जब तक ये सांख्य दर्शन की त्रिगुणात्मिका प्रकृति के सदृश तीनों अपने अनुपात में रहते हैं, व्याधियाँ उत्पन्न नहीं करते, किन्तु जब ये अपने निश्चित अनुपात से न्यूनाधिक होते हैं तब नाना व्याधियाँ उत्पन्न करते हैं। वात, पित्त और कफ इन तीनों की विषमता के कारण, उत्पन्न रोगों का उल्लेख और चिकित्सा का वर्णन अथर्ववेद में मिलता है। वात-पित्त-कफ तीनों की सम-विषम स्थिति को देखकर ही फिर उसका उपचार किया जाता था।

मणि बन्धनादि युक्त उपचार–समस्त कर्मज व्याधियों और दोष जनित अरिष्टों से संरक्षण करने में समर्थ मणि बन्धन जिसका औषधि वनस्पति के प्रसंग में वर्णन आता है, उल्लेखनीय है। अथर्ववेदोल्लिखित मणियाँ मात्र रत्नमयी ही नहीं अपितु औषधि-वनस्पति से निर्मित, औषधियों के रस से सम्पुटित होती थीं। औषधि-वनस्पति से निर्मित 'मणि' के गुण के विषय में अथर्ववेद में कहा गया है कि औषधि-लताओं के रस से बनाया, नाना प्रकार की गन्ध से युक्त मणि अथवा रोग-स्तंभन-गुटिका रक्षक होते हुए निन्दनीय और पापमय रोगों से रक्षा करने वाली होती हैं। जीवन के विघ्नकारी रोगादि पीड़ादायक कारणों को दूर करने की प्रार्थना वैयाघ्र मणि से की गई है (अ० वे० ८/६/१८)। अथर्ववेद में जंगिड मणि से लेकर पलाशमणि तक लगभग बाईस मणियों का उल्लेख है, जिनका प्रयोग अनेक प्रकार की व्याधियों के निवारणार्थ किया जाता था।

व्याधि-निवारण का दूसरा प्रकार औषधि-चिकित्सा के अन्तर्गत आता है। अथर्ववेद में लगभग २८९ औषधियाँ उल्लिखित हैं उनमें से प्रमुख ९४ औषधियाँ प्रसिद्ध हैं। इन औषधियों का प्रयोग मिश्रित रूप में न होकर स्वतन्त्र रूप में होता था।

रोगोपचार की दृष्टि से जल-चिकित्सा का विशेष वर्णन है :

उपजीवाउद्भरन्ति समुद्रादधिभेषजम्।
तदास्रावस्य भेषजम्, तदुरोगमशीशमत्।। (अ० वे० ३/३/४)

तृतीय काण्ड का सम्पूर्ण तृतीय सूक्त इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है। आस्राव रोग के अतिरिक्त विष-निवारण, हृदयरोग, व्रण, क्षेत्रीय रोग इत्यादि अनेक रोगों में जलचिकित्सा महत्त्वपूर्ण है। एक अन्य सूक्त में जल को 'सुभिषक्तमा:' कहा गया है।

व्रण की चिकित्सा में जल-सिञ्चन का स्पष्ट उपदेश है। जल बाण लगे हुए घायल स्थान के व्रण की उत्कृष्ट औषधि है-'जालाषेण अभिसिञ्चत'।

क्षेत्रीय–रोगों के निवारण में भी (६/५६/२) जल-चिकित्सा द्वारा परम्परा प्राप्त पैतृक रोग भी दूर होते बताये गये हैं, ऋग्वेद (१०/१३७/६) में भी यही मन्त्र दृष्टिगोर होता है, जो अथर्ववेद से भी प्राचीन काल में जल-चिकित्सा के महत्त्व का परिचायक है। जल-चिकित्सा का विस्तृत रहस्य अंग विद्या आयुर्वेद में है। जल के द्वारा बस्तिक्रिया, धारा स्नान, मार्जन, तर्पण, स्वेदन आदि विविध उपचारों से कुष्ठ और त्वचा के अन्य समस्त रोग, ज्वर, रक्त विकास, हृदयरोग, मस्तिष्क ज्वर और वीर्यदोष को दूर किया जाता था। अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के पाँचवें सूक्त और सप्तम काण्ड के चौंसठवें सूक्त में अपशकुन सूचक घटना जैसे-कौए का किसी मनुष्य के अङ्ग को छूना इत्यादि दोषों को दूर करने के लिए अभिमन्त्रित जल का प्रयोग निर्दिष्ट है। गर्भरक्षक औषधियों की वृद्धि और पोषण करने वाला भी जल ही है।

सोम या साम्य चिकित्सा–अथर्ववेद में अन्य चिकित्सा-पद्धतियों के साथ-साथ हमें कहीं-कहीं सोम चिकित्सा (होमियोपैथी) का भी संकेत मिलता है। जो भी रोगकीट या विषाणु रोगी को पीड़ित करता है, उसी के समजाति वाले रोगाणु के अंश से रोगकारी कीटाणु का विनष्ट होना सोम चिकित्सा है। अथर्ववेद (५/२९/९) में सोम चिकित्सा का उपदेश है। सर्प विष चिकित्सा के सन्दर्भ में भी एक मन्त्र में विषधरों के विष की चिकित्सा उन्हीं के विषों से होने का उल्लेख है।

तस्तुवं न तस्तुवं न चेत् त्वमसि तस्तुवं।
तस्तुवेनारसं विषं।।

'तस्तुव नामक सर्प का विष भी तस्तुव नामक औषधि से ही निर्बल किया जा सकता है' ऐसा उल्लेख अथर्ववेद के विष-चिकित्सा के प्रसंग में आया है।

इसके अतिरिक्त चिकित्सा पद्धति का षष्ठ प्रकार हवन और अग्नि चिकित्सा का है। अग्नि में होम करना अग्नि और वायु की संयुक्त चिकित्सा या होम चिकित्सा के अन्तर्गत है। अग्नि में गुग्गुल या अन्य रोगनाशक औषधियों का हवन करने से व्याधियाँ अति शीघ्र पलायन कर जाती हैं।

अग्नि चिकित्सा–अग्नि चिकित्सा का भी उल्लेख अथर्ववेद में है, जिसके अनुसार अग्नि प्रमुख रूप से शीत की औषधि है। अग्नि से सेंकना, रुग्ण अंगों को गर्म रखना, अग्नि में आरोग्य

चिकित्सा है। वाजीकरण, स्त्रीरोग, क्रिमिरोग इत्यादि में बलवती औषधियों के ईंधन से अग्नि-चिकित्सा उपादेय है।

शल्य चिकित्सा–अथर्ववेद कालीन चिकित्सा पद्धतियों पर ध्यान दिया जाये तो ज्ञात होता है कि रोगों का उपचार प्रमुख रूपेण जल, औषधि, वनस्पति और मन्त्रोच्चार से ही किया जाता था। इन सबकी तुलना में शल्य-चिकित्सा के प्रयोग सम्भवतः बहुत कम होते थे, जैसा कि इसके उल्लेख से ज्ञात होता है। फिर भी कुछ विशेष परिस्थितियों में शल्यचिकित्सा के उदाहरण मिलते हैं जैसे–मूत्रनिस्सारण, सुख-प्रसव के लिए योनि-भेदन, जलधावन के द्वारा व्रण-उपचार, रक्तस्राव निवृत्त्यर्थ धमनी-भेदन इत्यादि। वैसे संक्षिप्त ही क्यों न हो, किन्तु रोग प्रतिकार के सन्दर्भ में आधुनिक प्रणाली की शल्य-चिकित्सा का निर्देश अतीव विस्मयकारी प्रतीत होता है। विष-निवारण के प्रसंग में भी शल्य-चिकित्सा द्वारा विष-निवारण के कुछ प्रमाण अथर्ववेद के मन्त्रों में मिलते हैं। मूत्रावरोध, सुख-प्रसव के लिए गर्भाशयभेदन इत्यादि के लिए प्रथम काण्ड का तृतीय सूक्त, सुख प्रसवार्थ प्रथम काण्ड का ग्यारहवाँ सूक्त तथा अपचीवेधन के सन्दर्भ में सातवें काण्ड का चौहत्तरवां सूक्त द्रष्टव्य है। अश्मरी तथा गूढ़ गर्भ की चिकित्सा विधियाँ इतने प्राचीन काल में बहुत आश्चर्यजनक प्रतीत होती हैं। शल्य-क्रिया का एक उत्कृष्ट उदाहरण यह है–'वि ते भिनद्मि मेहनम्' (१.१)–इस मन्त्र में प्रजनन-प्रक्रिया में विद्यमान रोग का निराकरण शल्यकर्म से करने का उल्लेख है।

अथर्ववेद में निर्धारित औषधियाँ–अथर्ववेद के काल में भिषजों (वैद्यों) के द्वारा औषधि चिकित्सा-कर्म का प्रारम्भ हो चुका था, जैसा कि अथर्ववेद के षष्ठ काण्ड के 'शतं हिमस्यभिषजः' और 'सहस्रमुत वीरुधः' से स्पष्ट होता है। वस्तुतः वैदिक काल में लोगों का जीवन वनस्पतियों पर आश्रृत था। दैनिक व्यवहार के अतिरिक्त यज्ञों में भी वनस्पतियों का प्रयोग किया जाता था। 'सोम' ज्ञा का एक प्रमुख और महत्त्वपूर्ण पदार्थ था, जिसे 'औषधिराज' कहा गया। औषधियों (वनस्पतियों) की स्तुति में, वेदों में अनेक मन्त्र समर्पित हैं।

वैदिक काल में प्रयोग की जाने वाली औषधियों पर यदि हम दृष्टि डालें, तो उनके कई प्रकार ज्ञात होते है, जैसे-प्राकृतिक, खनिज, समुद्रज और उद्भिज् द्रव्यों का औषधियों के रूप में प्रयोग किया जाता था। रोग निवारक प्राकृतिक पदार्थों में सूर्य, चन्द्र (६/८३/१), अग्नि मरुत्, जल, खनिज द्रव्यों में अंजन (४/९/९), सीसा, समुद्रज में शंख (१/१६/४, ४/१०/४) प्राणियों में मृग शृंग (३/७/१) और उद्भिजों में अनेक वीरुधों का उल्लेख मिलता है। औषधियाँ जीवनदायिनी और अंग-अंग से रोगनाश करने वाली कही गई है। अथर्ववेद के अनुसार सुचारू रूप से प्रयुक्त औषधि सब प्रकार के रोगों और क्रिमियों का प्रभाव दूर करके मनुष्य को दीर्घायु प्रदान करती है :

अमीबाः सर्वारक्षांस्यापहन्तु,
यथा सञ्छत-हायनः।

किस रोग में कौन-सी औषधि लाभप्रद है, इसका ज्ञान परम्परा से होता था जैसाकि 'ये त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाकवः' से ज्ञात होता है (१९/३९/९)।

अथर्ववेद के कुछ सूक्तों में ऐसी औषधियों के नाम हैं, जिनके द्वारा उनके गुणों का भी ज्ञान

होता है जैसे–अंशुमती (दीप्ति वाली) अग्रं आप: (जल ही जिनका जीवन है) अपां गर्भ: (जल को गर्भ में धारण करने वाली (अथर्व० ८/६/४)।

अथर्ववेद में जिन औषधि-वनस्पतियों का उल्लेख है उनमें से कुछ तो स्पष्ट हैं और कुछ अनिर्णीत भी हैं। प्राय: वनस्पतियों का उपयोग स्वतन्त्र रूप में ही ज्ञात होता है, मिश्रित रूप में नहीं। दो या दो से अधिक औषधियों को मिलाकर देने की प्रथा परवर्ती है।

सामान्य लता गुल्मों से अलग करने के लिए बड़े वृक्षों को 'वनस्पति' और छोटे पौधों को 'औषधि' कहते थे। औषधियों के चार वर्ग अथर्ववेद में मिलते है :

१. वनस्पति २. वानस्पत्य ३. वीरुध ४. औषधि ।

अथर्ववेद के अष्टम काण्ड में औषधियों के अंगप्रत्यंगों का अत्यन्त सुन्दर विवेचन मिलता है। अन्तरिक्ष, पृथ्वी और समुद्र में फैलने वाली औषधियों के सन्दर्भ में पृथ्वी पर उत्पन्न औषधियों के दो वर्ग ज्ञात होते हैं : १. पर्वतीय तथा २. समतलदेशीय।

औषधियों के अन्य भी चार वर्ग थे। शान्ति पौष्टिक कर्म में प्रयोग की जाने वाली औषधियाँ आथर्वणी, मारण-उच्चाटन में आङ्गिरसी और अन्य औषधियाँ मनुष्यजा कहलाती थीं। अथर्ववेद में २८९ औषधियों के नाम प्राप्त होते हैं।

अथर्ववेदीय औषधियों पर दृष्टि डालने के प्रसंग में, इस वेद में उल्लिखित औषधियों के विविध प्रकार, जातिभेद, वर्गभेद, स्वरूप आदि का वर्गीकरण सामने आता है।

रंगभेद के आधार पर औषधियों के प्रकार अथर्ववेद में उल्लिखित हैं। जैसे–भूरे रंग वाली, शुभ्र श्वेत रंगवाली, लाल, चितकबरी, नीली और कृष्णवर्णा जो कि पुष्टिकारक, वीर्य वर्धक, क्षत को भरने वाली, रस पोषण करने वाली भिन्न रंगों वाली हैं जैसाकि–'या बभ्रवोयाश्च शुक्रा: (७/१) प्रभृति मन्त्र से ज्ञात होता है।

औषधियों के भिन्न-भिन्न रूप भी थे जैसे अलग-अलग शाखाओं में फैलने वाली अनार मेंहदी आदि औषधियाँ; एक मूल वाली मदार आदि औषधियाँ, फैले हुए मूल वाली ब्राह्मी औषधि। सूक्ष्म अवयवों वाली, बहुत कोंपलों वाली, सोम के गुणों वाली, शाखारहित जैसे–नारियल, सुपाड़ी, खजूर, ताड़ आदि औषधि वृक्ष। (८/७/४) ये औषधियाँ अपना प्रभाव डालने में तीव्र और जीवनदायिनी कही गई हैं। इनके पुष्टिकारक रस से पुरुष को यक्ष्मादि रोगों से मुक्त करने की प्रार्थना औषधियों से की गई है :

'तेनेममस्माद् यक्ष्माद् पुरुषं मुञ्चतोषधीरथो कृणोमि भेषजम्'

औषधियों के गुण भी अलग-अलग हैं जैसे-जीवला (जीवनदायिनी) औषधियाँ रोगी की दशा में सुधार करके उसे उत्तम रूप में लाने वाली हैं। अरुन्धती आदि औषधियाँ इसी श्रेणी की हैं।

स्नेहन वर्ग की औषधियाँ–अथर्ववेद के अनुसार चेतना प्रदान करने वाली तथा शुद्धता और स्निग्धता प्रदान करने वाली औषधियाँ इसके अन्तर्गत आती हैं।

उपयोग-भेद–अथर्ववेद के अनुसार सहस्रनाम्नी रोगहारी औषधियाँ रोग-भेद के अनुसार उपयोग में लाई जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त जलीय औषधियों की भी उत्पत्ति भेद से प्रकारों में भिन्नता हो जाती है। कुछ ऐसी औषधियाँ हैं जिनकी जड़, कोंपल, फूल, पत्ते सभी मधुमत हैं, अमृतसिञ्चित हैं। ये औषधियाँ दीर्घायु प्रदान करने वाली हैं।

महौषधि वर्ग की औषधियाँ–वृक्षों में अश्वत्थ (पीपल) तृणों में दर्भ (दाभ, कुश), लताओं में औषधिराज सोम (लता) प्राकृतिक द्रव पदार्थों में जल (अमृत), घृत सेवन, घृत-हवन, अन्न में जौ और चावल, आकाशीय भेषज रूपों में सूर्य और चन्द्र महौषधियाँ हैं जिनका उल्लेख अथर्ववेद के आठवें काण्ड के सातवें सूक्त में है।

अथर्ववेदोल्लिखित औषधि-वनस्पतियों में कुछ तो मात्र नामोल्लिखित हैं, कुछ स्पष्ट हैं तो कुछ अनिर्णीत भी हैं।

अथर्ववेद में जिन औषधियों का उल्लेख है, उनमें से कुछ ये हैं-अजश्रृंगी (अराटकी, विषाणिन्) अपामार्ग, आबयु (सर्षय), असिक्नि (श्वेत कुष्ठ में उपयोगी) अरुन्धती (आकाशबेल), आसुरी (नीली पौधा) कुष्ठ, खादिर, गुग्गुल, चोपुद्रु, जङ्गिड, दर्भ, तलाशा, मधुला, नितत्नी (केशवर्धिनी), पिप्पली, वरणावती, सोम, हरिद्रा, सदापुष्पा, शंखपुष्पिका इत्यादि।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भैषज्यविज्ञान के क्षेत्र में अथर्ववेद का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ज्ञात होता है कि औषधियों के गुण-अवगुण के परीक्षण के लिए कोई रासायनिक विश्लेषण की विधि भी उस युग में प्रचलित थी।

खण्ड–2

द्वितीय अध्याय

वैदिक मन्त्र-संहिताएँ

इस विषय में सभी एकमत हैं कि प्रारम्भ में समस्त वेद-मन्त्र एक साथ थे–जरमन भाषा में इसके लिए 'UR-VEDA' (मूल वेद) शब्द प्रचलित है। कहा गया है–'Ur-Veda was a floating mass of the mantras' आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने मूलवेद के मूलस्थान (UR-HEIMAT) के रूप में रूस के उत्तरी क्षेत्र (Pripet) को मान्यता दी है। आर्यगण भौगोलिक कारणों से जब दक्षिण-पश्चिम की ओर गये, बाल्ख पहुँचे, रूस के दक्षिणी भाग में रहे–तब तक मूलवेद एक ही रहा। यदि आर्यों के इस मूल स्थान की मान्यता को अस्वीकार भी कर दिया जाये, तब भी सम्पूर्ण वेद के एक ही साथ होने पर कोई आँच नहीं आती। दुर्गाचार्य ने निरुक्त-वृत्ति में कहा है कि वेदव्यास ने एकस्थ वेद को अध्ययन की दृष्टि से कठिन समझकर उसे पृथक्-पृथक् संहिताओं में संकलित कर दिया :

'वेदं तावदेकं सन्तम् अतिमहत्त्वाद दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषुः' तथा–'सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्तः' (निरुक्त -वृत्ति, १.२०)।

इस संहिताकरण में ऋषि, देवता, विनियोग प्रभृति विभिन्न तत्त्वों की नियामकता रही है, लेकिन यागात्मक प्रयोजन सर्वोपरि रहा है।

ऋग्वेद संहिता

वैदिक वाङ्मय में ऋक्संहिता का पाठ-प्राथम्य विहित है, जैसाकि छान्दोग्य उपनिषद् में वचन है–'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्' (१.१.५)। तैत्तिरीय संहिता में तो यहाँ तक कहा गया है कि यज्ञ में जो कुछ यजुष् और सामों से किया जाता है, वह शिथिल है, किन्तु जो ऋचा के द्वारा किया जाता है, वह सुदृढ़ है–'यद् वैयज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्, यद् ऋचा तद् दृढम्'–(तै०सं० ६.५.१०.३)। ऋग्वेद के अध्ययन से प्रो० घाटे के अनुसार, आचार-व्यवहार, चिन्तन-प्रक्रिया, उच्चारण और धार्मिक विश्वासों का साक्षात्कार कर लेते हैं।[१]

१. In the Rigveda, we are face to face with our ancestors, we see how they lived, how they spoke how they thought, what religion and faith they professed how they worshipped their gods, and what their ideals were.

GHATE'S Lectures on Rigveda, pp. 1926, Poona.

ऋग्वेद की शाखाएँ–अध्ययन-प्रसार के कारण कालान्तर से एक ही मन्त्र-संहिता की अनेक शाखाएँ हो गईं। एक वेद की सभी शाखाओं में वस्तुतः मूल संहिता अभिन्न ही थी। इनमें कुछ मन्त्रों का न्यूनाधिक्य, पौर्वापर्य, पाठ-व्यतिक्रम, उच्चारण भेद और अनुष्ठान-विधि का पार्थक्य ही प्रायः रहता था, जैसाकि पं० सत्यव्रत सामश्रमी का कथन है 'वेदशाखाभेदो न मन्वाद्यध्यायभेदतुल्यः, प्रत्युत भिन्नकाललिखितानां भिन्नदेशीयानामेकग्रन्थानामपि बहुतरादर्शपुस्तकानां यथाभवत्येव पाठादिभेदः प्रायस्तथैव (वेदत्रयी परिचय, पृष्ठ ४२)।

पतञ्जलि के व्याकरण महाभाष्यगत कथनानुसार ऋग्वेद की कदाचित् २१ शाखाएँ थीं 'एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् (पस्पंश)।' इनमें से 'चरणव्यूह' में उल्लिखित ये पाँच शाखाएँ प्रमुख मानी जाती हैं–शाकल, बाष्कल, आश्वलायनी, शांखायनी और माण्डूकायनी।

सम्प्रति ऋग्वेद की शाकल शाखा ही उपलब्ध है। ऐसी मान्यता है कि इसमें अन्य शाखाओं में जो अधिक मन्त्र थे, विशेष रूप से बाष्कल शाखा में, वे भी सम्मिलित हैं। ऐसे बहुत-से मन्त्र अष्टम मण्डल में हैं और जो उसमें समाविष्ट नहीं हो सके, वे खिलों के अन्तर्गत हैं।[२]

भागवत के अनुसार ऋग्वेद संहिता का अध्यापन पहली बार वेदव्यास ने अपने शिष्य पैल के सम्मुख किया था : 'तत्रर्ग्वेद धरः पैलः।'

ऋग्वेद की व्यवस्था और विषय विन्यास (Arrangement)–ऋग्वेद का अभिप्राय है, वह वेद, जिसमें ऋचाओं की प्रधानता हो। ऋचा का तात्पर्य है पद्यात्मक मन्त्र–'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पाद-व्यवस्था।' इस प्रकार ऋग्वेद संहिता ऋचाओं की संकलित निधि है। इसका विभाजन अष्टक और मण्डल क्रम से क्रमशः दो प्रकार से दिखलाई देता है। अष्टक क्रम के अवान्तर विभाजन हैं अध्याय और वर्ग। सम्पूर्ण ऋग्वेद में आठ अष्टक हैं, प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में कुछ वर्ग हैं। हर वर्ग में पाँच ऋचाओं का अनुपात है। कुल अध्यायों की संख्या ६४ है और वर्गों की २००६ (दो हजार छह)।

मण्डल क्रम के अवान्तर विभाजन अनुवाक् और सूक्त हैं। सम्पूर्ण ऋग्वेद में १० मण्डल हैं मण्डलों की इस संख्या के कारण ही ऋग्वेद को 'दाशतयी' भी कहा जाता है। प्रत्येक मण्डल कुछ अनुवाकों में विभक्त हैं। हर अनुवाक् के अन्तर्गत कुछ सूक्त हैं और प्रत्येक सूक्त में अनुपाततः १० ऋचाएँ हैं। ऋक्संहिता में कुल ८५ अनुवाक् और एक हजार सत्रह सूक्त हैं। अपने ऐतिहासिक आधार के कारण, आधुनिक विद्वानों में, मण्डल-क्रम विशेष लोकप्रिय है। शौनक-कृत अनुक्रमणी के अनुसार ऋचाओं की पूर्ण-संख्या १०५८०-१/४ है :

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च।
ऋचामशीतिः पादश्च पारणं संप्रकीर्तितम्।।

आधुनिक गणना के कारण ऋग्वेद में कुल १०४१७ ऋचाएँ हैं। इसमें वालखिल्य सूक्त भी सम्मिलित हैं प्रक्षेप को बचाने के लिए अनुक्रमणीकारों ने ऋक्संहिता की शब्द संख्या की भी

२. परिच्छेद के अन्त में वैदिक संहिताओं में उपलब्ध खिल भाग पर विशद विचार किया गया है।

गणना कर रखी है। तदनुसार ऋचाओं में एक लाख तिरपन हजार आठ सौ छब्बीस शब्द आये हैं।[3]

ऋग्वेद के गोत्र अथवा वंश-मण्डल–द्वितीय मण्डल से लेकर सप्तम मण्डल तक गोत्र या वंश मण्डल (Family Books) कहलाते हैं, क्योंकि इनमें समाविष्ट मन्त्रों का साक्षात्कार किसी एक ऋषि अथवा उसके वंशजों ने ही किया है। तदनुसार द्वितीय मण्डल के द्रष्टा ऋषि गृत्समद, तृतीय के विश्वामित्र, चतुर्थ के वामदेव, पञ्चम के अत्रि, षष्ठ के भारद्वाज और सप्तम के वसिष्ठ अथवा उनके सगोत्रीय जन हैं। इन मण्डलों को अन्यों की अपेक्षा प्राचीन माना जाता है। यद्यपि अनेक विद्वानों ने इन भिन्नताओं को स्वीकार नहीं किया है।

अन्य मण्डल–प्रथम और दशम मण्डल आपेक्षिक दृष्टि से अर्वाचीन माने जाते हैं यह भी उल्लेखनीय है कि दोनों मण्डलों में सूक्त-संख्या १९१ ही है। प्रथम मण्डल के ऋषियों को कात्यायन ने 'शतर्चिन:' (१०० ऋचाओं वाले) कहा है। इस मण्डल के प्रथम ऋषि विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दा हैं। दशम मण्डल में विषय की दृष्टि से कुछ भिन्नता है। भाषा की दृष्टि से भी कुछ विकासगत भिन्नता है। अष्टम मण्डल के ऋषिकण्व तथा अंगिरा वंश के हैं। नवम् मण्डल में सोमविषयक समस्त मन्त्रों को संगृहीत कर दिया गया है। इसीलिए उसे 'पवमान' (सोम) मण्डल भी कहा जाता है। ऋषियों की दृष्टि से इस मण्डल में विभिन्न ऋषियों के सूक्त हैं।

ऋग्वेद और हौत्र कर्म–सोम एवं अन्य श्रौतयागों में ऋग्वेदीय मन्त्रों के आधार पर होतृ नामक ऋत्विक् हौत्र कर्म का सम्पादन करता है। यज्ञों में ऋङ्मन्त्रों का प्रयोग शस्त्रों के रूप में होता है। 'शस्त्र' का लक्षण है–'अप्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुति: शस्त्रम्' अर्थात् बिना गाये गये मन्त्रों से की गई स्तुति 'शस्त्र' है। ऋग्वेदीय मन्त्रों का 'याज्या' (यागगत होम के समय पढ़ी जाने वाली ऋचाएँ) और 'पुरोनुवाक्या' रूप में प्रयोग विहित है।

ऋक्संहिता का वर्ण्य विषय–ऋग्वेद में आर्यों की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्था तथा संस्थाओं का विवरण तो है ही, उनके दार्शनिक, आध्यात्मिक, कलात्मक तथा वैचारिक पक्षों से सम्बद्ध सामग्री भी प्रचुर है। वेदकालीन ऋषियों के जीवन में देवताओं को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था, इसलिए देव-स्तुतियों का बाहुल्य स्वाभाविक है। परवर्ती अनुक्रमणीकारों एवं वेद-विचारकों ने किसी-न-किसी देवता से प्रत्येक ऋग्वैदिक मन्त्र को सम्बद्ध कर दिया है। यथार्थ में देखा जाये, तो यहां वर्ण्य विषय का नाम ही देवता है। अन्यथा छुरा और उलूखल जैसी वस्तुओं को देवता न कहा जाता। ऋग्वेद में एक सुविकसित समाज का सुस्पष्ट चित्र है। युद्ध, शस्त्रास्त्र, तथा मनोरंजन सभी कुछ न्यूनाधिक रूप में उल्लिखित हैं। आर्य-व्यक्तित्व की महानता और दुर्बलता की ओर भी इंगित किया गया है। द्यूत-क्रीड़ा में सर्वथा पराजित एक मनुष्य का पश्चात्ताप जहाँ इस सामाजिक बुराई को समाप्त करने की दिशा में हमारी बुद्धि को विचार की सामग्री देता है, वहीं वैवाहिक जीवन के सुख और माधुर्य से संवलित मन्त्र गृहस्थ जीवन की गरिमा को उजागर कर देते हैं। हिरण्यगर्भ, पुरुष और नासदीय सदृश दार्शनिक तथा सृष्टि विषयक सूक्त

३. शाकल्यदृष्टे : पदलक्षमेकं सार्धं च वेदे त्रिरा सहस्रयुक्तम्।
शतानि चाष्टौ दशकेद्वयं च पदानि षट् चेति हि चर्चितानि।।

आत्मविश्लेषण के लिए प्रेरित करते हैं। पुरुरवा और उर्वशी के प्रणय की त्रासदी को चित्रित करता हुआ यह सूक्त प्रणय-प्रसंग में नायक की संवेदनाओं को झकझोर देता है। सरमा-पणि-संवाद सूक्त में दस्युओं की समाजविरोधी गतिविधयां जहां आतंकित करती हैं, वहीं इन्द्र के प्रबल पराक्रम सम्भूय-समुत्थान के सिद्धान्त की स्थापना भी करते हैं। पणियों की स्वार्थ-साधना, आर्थिक संसाधनों पर एकाधिपत्य और संग्रह की दुष्प्रवृत्ति जहां हमारी घृणा को जगाती है, वहीं दानस्तुतियों में दिखाई देने वाला औदार्य सामाजिक साम्य का पथ भी प्रशस्त करता है।

कुछ प्रमुख सूक्तों का परिचय

ऋग्वेद के विभिन्न सूक्तों में, निम्नलिखित सूक्त अथवा सूक्त समूह विशेष महत्त्वपूर्ण हैं :

संवाद सूक्त–वैदिक साहित्य के साथ ही परवर्ती संस्कृत-साहित्य के काव्यों और नाटकों पर विचार करते समय भी विद्वानों के मध्य ये सूक्त बहुचर्चित रहे हैं। इनमें से तीन संवाद-सूक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं : १. पुरुरवा-उर्वशी संवाद (१०.८५); २. यम-यमी संवाद (१०.१०); ३. सरमापणि संवाद (१०.१३०)। ये सभी दशम मण्डल के हैं। प्रो॰ ओल्डेनबर्ग, विण्डिश और पिशेल ने इन्हें पूर्णत: नाटकीय और प्राचीन आख्यानों का अवशिष्ट रूप माना है। प्रो. विण्टरनित्स के अनुसार ऋग्वैदिक संवाद सूक्त प्राचीन लोकगीत काव्य (बैलेड) के प्रतीक हैं। ये अर्धकथात्मक तथा अर्धरूपकात्मक होने के कारण कथानक तथा नाटक के सम्मिश्रण हैं। कालान्तर में इन्हीं से नाटकों का उद्‌भव हुआ।

पुरुरवा और उर्वशी की प्रणय-कथा सनातन नर और सनातन नारी की गाथा है। १८मंत्रों के इस सूक्त में पुरुरवा और उर्वशी के अकुण्ठित प्रणय के दुर्दम्य वेग और अन्त में उर्वशी की निर्ममता का हृदयद्रावक चित्र अङ्कित है।[४] सुदीर्घकाल तक पुरुरवा के जीवन को उच्छवासित आनन्द से उल्लसित कर उर्वशी जब जाना चाहती है तो पुरुरवा उसे रोकता है, किन्तु उर्वशी लौटना नहीं चाहती, वह कहती है–'पुरुरवा! तुम मरो नहीं, तुम गिरो नहीं, अकल्याणकारी भेड़िए तुम्हें न खायें। स्त्रियाँ कभी किसी की मित्र नहीं होतीं, उनके हृदय जंगली कुत्तों और भेड़ियों के समान होते हैं।' शतपथ ब्राह्मण, कालिदास और अन्य अनेक कवियों ने इस आख्यान की मार्मिकता को पहचानकर इसे अपने काव्य का विषय बनाया है।

यम-यमी संवाद मानवीय चरित्र की उत्कट उज्ज्वलता का प्रतीक है। वासना-विह्वल यमी अपने भाई यम पर आसक्त होकर उससे समागम की प्रार्थना करती है किन्तु दृढ़ चरित्र यम उसे, बहन-भाई का सम्बन्ध अनुचित बतलाकर अन्य पुरुष को वरने का परामर्श देता है।

स्वार्थी व्यापारी पणियों ने देवताओं की गायों को चुरा लिया। ये गायें वैध और चलसम्पत्ति

४. ऋग्वेद के व्याख्याकारों ने इस सूक्त की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। गेल्डनर, रॉथ, गोल्डस्टकर, म्योर और मैक्समूलर इत्यादि मनीषियों का अभिमत है कि पुरुरवा सूर्य है और उर्वशी उषस् है जो उसकी प्रेयसी है। पुरुरवा (सूर्य) के सामने आते ही उषस् (उर्वशी) विलुप्त हो जाती है। ग्रिफिथ ने ऋग्वेद के अपने अंग्रेजी अनुवाद में इन विभिन्न व्याख्याओं का उल्लेख किया है।

की प्रतीक हैं। इस पर इन्द्र ने अपनी शुची सरमा को दौत्य में नियोजित कर पणियों को समझाने के लिए भेजा। देवताओं की संपदा को वापस करने के लिए सरमा और पणि का संवाद ही इस सूक्त का विषय है।

दार्शनिक सूक्त–पुरुष सूक्त, नासदीय सूक्त और हिरण्यगर्भ आदि अनेक ऋग्वैदिक सूक्तों में परवर्ती दार्शनिक विचारधाराओं के विकास-बीज सन्निहित हैं। दशम मण्डल के पाँचवें तथा सत्ताइसवें सूक्त में सत् और असत् द्वारा सृष्टि-विधान की भावनाओं का निरूपण किया गया है। नासदीय सूक्त में मूल सत्ता सत् और असत् दोनों से परे मानी गई है; विधाता की ज्ञानयुक्त प्रक्रिया के विषय में भी सन्देह उपस्थित किया गया है। इन सूक्तों में सृष्टि-मीमांसा, परलोक-पुनर्जन्म, मनोविज्ञान, परतत्त्वविज्ञान, नीतिशास्त्र, रहस्यवाद और परवर्ती दर्शनों के मूल तत्त्वों का सरलता से अनुसंधान किया जा सकता है। इस विषय में स्व. प्रो. रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे का कथन उल्लेख्य है–'ऋग्वेद के युग में उस दार्शनिक भावना का उदय हो चुका था, जो ब्राह्मणयुग में होकर उपनिषदीय युग के आदि में समुचित शक्ति संगठित कर लेती है।'[५]

अक्ष सूक्त–दशम मण्डल का चौंतीसवाँ सूक्त अक्ष सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें द्यूतपट्ट पर फेंके गये पासों को देखकर उन्मत्त हो जाने वाले एक पराजित जुआरी का अनुताप मार्मिक शब्दों में मुखरित हुआ है। वह कहता है–मुझ जुआरी से सास द्वेष करती है; पत्नी मेरे विरुद्ध है। प्रार्थना करने पर भी मैं सुख देने वाले को नहीं प्राप्त कर पाता :

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणाद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।

पासों के विषय में उसका मत है–ये पासे अंकुश के समान चुभते हैं, व्यक्ति को बर्बाद कर देते हैं, जुआरी और उसके सम्पूर्ण परिवार को सन्ताप पहुंचाते हैं। पहले धन, पुत्र आदि विजय में प्रदान कर बाद में सब कुछ हर लेते हैं। मधुसिक्त पासे जुआरी का सब कुछ छीन लेते हैं:

अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तपयिष्णवः।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा सम्पृक्ताः कितवस्य बर्हणा।।

किन्तु इस अल्पकालिक श्मशान वैराग्य के अनन्तर पासे फिर उसे अपनी ओर खींच लेते हैं। अन्त में द्यूतकर (जुआरी) को उपदेश दिया गया है :

अक्षैर्मादीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्तेरमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः।।

–द्यूतकर ! तुम पासों से मत खेलो, खेती करो। कृषि से प्राप्त धन को बहुत समझते हुए उसी में सानन्द रहो। उसी से तुम्हें पशु प्रभृति सम्पदा प्राप्त होगी और दाम्पत्य-सुख मिलेगा। यह उपदेश मुझे सवितृदेव ने दिया है।

५. Ranaday, *A Constructive Survey of Upnisadic Philosophy* (हिन्दी रूपा०–रामानन्द तिवारी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर)।

दानस्तुतियाँ–कात्यायन ने अपनी ऋक्सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के २२ सूक्तों को दानस्तुतियों के रूप में उल्लिखित किया है।[६] इनमें से सर्वाधिक दान स्तुतियां अष्टम मण्डल में हैं। पाश्चात्य तथा कतिपय एतद्देशीय विद्वान इन मन्त्रों में तत्तद राजा के द्वारा प्रदत्त दान का वर्णन मानते हैं। वेद में इतिहास न मानने वाले विद्वान् इनमें किसी व्यक्ति विशेष के दान की स्तुति नहीं मानते। उन्होंने इनमें आये अभ्यावर्ती, प्रस्तोक, सुदास, चायमान आदि पदों की यौगिक व्याख्या की है। सावर्णि, प्रस्कण्व, विभिन्दु आदि भी रूढ़ पद नहीं हैं इनकी दृष्टि में। आख्यानों के सन्दर्भ में मीमांसा सूत्रों के भाष्यकार शबरस्वामी की टिप्पणी (असद्वृत्तान्तान्वाख्यानं स्तुत्यर्थेन प्रशंसाया गम्यमानत्वात्) के अनुरूप इन दान स्तुतियों का प्रयोजन दान देने में प्रीत्युत्पादन मात्र बतलाया गया है। तदनुसार आख्यानों की कल्पना तो बाद में की गई।

आधुनिक विद्वानों ने दानस्तुतिपरक सूक्तों की कुल संख्या ६८ मानी है। इनमें से दशम मण्डल में विद्यमान एक सूक्त (१०.११७) में मनुष्य की दान-वृत्ति का गौरव बड़े ओजस्वी शब्दों में वर्णित है। तदनुसार जो मनुष्य दान न देकर धन को केवल अपने स्वार्थ के लिए ही व्यय करता है, वह पाप को खाता है :

मोधमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।।–(षष्ठ मन्त्र)।

एक अन्य मन्त्र के अनुसार जो मनुष्य पर्याप्त मात्रा में अन्न का स्वामी होने पर भी, अन्न की अभिलाषा रखते हुए, क्षुधा से व्याकुल और समीप आकर याचना करने वाले भिखारी के विरुद्ध पत्थर दिल बन जाता है, वह पहले वैभव-दशा में चाहे अन्न का सेवन करता हो, तो भी उसे आपत्ति के समय दया दिखाने वाला मनुष्य नहीं मिलता है :

यं आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दति।।–(द्वितीय मन्त्र)।

मण्डूक सूक्त–वस्तुतः मण्डूक देवताक यह पर्जन्य सूक्त है। मण्डूक वर्षा के अग्रदूत हैं। देवों के द्वारा निर्धारित समय पर आनन्द एवं सोत्साह उपस्थित होकर ये मण्डूक अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं और अपने साथ ही सबकी आयुष्य-वृद्धि में सहायक होते हैं। प्रस्तुत सूक्त की विशेषता वर्षागम के समय यज्ञ-सम्पादनादिरूप अपने कार्यों को पुनः प्रारम्भ करने वाले ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों का संस्तवन है और दूसरी ओर मण्डूकों के गुणों को उपमाओं और रूपकों के माध्यम से प्रस्तुत करने वाली रमणीय कविता के भी दर्शन होते हैं। मैक्समूलर, गेल्डनर आदि ने इस सूक्त में वेदपाठी ब्राह्मणों के प्रति काव्यपूर्ण उपहास का अस्तित्व माना है, किन्तु मैक्डॉनेल पाल थीमे, आल्डेनबर्ग तथा वेलणकर प्रभृति इससे असहमत हैं। वर्षा के आगमन के अनन्तर मण्डूक

६. प्रायेणैन्द्रे मरुतः, राज्ञां च दानस्तुतयः–२.२२.२३। षड्गुरुशिष्य, जिन्होंने, ऋक्सर्वानुक्रमणी की व्याख्या की है, भी 'राज्ञां च दानस्तुतयः' कहते हैं। आगे 'अन्त्याः कौरयाणस्य पाकस्थाम्नो दानस्तुतिः' रूप में उल्लेख है। युधिष्ठिर मीमांसक का लेख : ऋग्वेद की कतिपय दान स्तुतियों पर विचार' (*A comparative and Analytical study of the Veda* में संकलित) द्रष्टव्य है।

उसी प्रकार बोलने लगते हैं जैसे उपाकर्म के अनन्तर वेदपाठी ब्राह्मण मन्त्रोच्चारण करने लगते हैं। इस सूक्त का एक मन्त्र यों हैं :

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु।। (ऋ. सं. ७.१०३.५)

–जैसे शिष्य अपने शिक्षक की बात को दोहराता है, वैसे ही उन मेढकों में से एक-दूसरे की बात को दोहराता है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे एक दिन का पाठ (आह्निक) पूर्ण हुआ हो–अथवा सभी ओर से समृद्ध होने के कारण कोई यज्ञ-कर्म। हे मण्डूको ! जब तुम जल के अन्दर बोलते हो, तुम्हारी वाणी सुरम्य प्रतीत होती है।

पुरुष सूक्त–जगत् की उत्पत्ति के विषय में ऋग्वेद में जो सूक्त प्राप्त होते हैं, उनमें यह अन्यतम है। विराट् पुरुष से इसमें सृष्टि-प्रक्रिया, चारों वेदों के अविर्भाव, ग्राम्य तथा आरण्यक पशुओं की उत्पत्ति, सूर्यादि ग्रहों के प्राकट्य तथा सामाजिक व्यवस्था की उत्पत्ति बतलाई गई है। व्यष्टि और समष्टि के पारस्परिक तादात्म्य का इस सूक्त में गम्भीरता से पल्लवन हुआ है। वर्ण-व्यवस्था का क्रमबद्ध स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम इसी सूक्त में है। मैक्डॉनेल तथा वालिस का मत है कि इसमें सर्वेश्वरवाद (Pantheism) के मूल बीज सन्निहित हैं। ग्रिस्वाल्ड ने यह अभिमत प्रकट किया है कि परवर्ती एकेश्वरवाद-सिद्धान्त का, जिसका अद्वैतवेदान्त के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि के रूप में विकास हुआ, मूल स्रोत इसी सूक्त में है। 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' के रूप में प्रथम बार सामाजिक और धार्मिक सुव्यवस्था के लिए रचे गये नियमों का उल्लेख भी इसी सूक्त में है। संभवतः हर्बर्ट स्पेंसर ने इसी सूक्त से प्रेरणा पाकर अपने आंगिक (Organic Theory) सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत की। स्व॰ पं॰ दीनदयाल उपाध्याय ने राजनीतिक-आर्थिक क्षेत्र में, इसी सूक्त से प्रेरणा लेकर 'एकात्म मानवबाद' का वैचारिक दर्शन प्रस्तुत किया है।

सामाजिक सद्भाव के उत्प्रेरक कुछ विशिष्ट सूक्त–इस दृष्टि से दो सूक्त विशेष उल्लेखनीय हैं–संज्ञान सूक्त (ऋ॰ सं॰ १०. १९१) तथा श्रद्धा सूक्त। संज्ञान मानव समुदाय की सुचारु गतिमयता के लिए पारस्परिक समझ का प्रतीक है। एक मन्त्र में कहा गया है कि तुम सभी एक मत से संचार करो और एकमत से बोलो। जिस प्रकार प्राचीन काल में देवताओं ने हृदय से एकमत होकर अपने-अपने हविष्यान्न को (बिना कलह किये) स्वीकार कर लिया, उसी प्रकार तुम्हारे मन भी एक हो जायें :

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।। (द्वितीय मन्त्र)।

एक दूसरे मंत्र का अभिप्राय है कि तुम सभी का मन्त्र एक हो, तुम्हारी सभा एक हो, मन एक हो, चित्त एक हो। तुम सभी के एक ही मन्त्र का अभिमन्त्रण करके में एक ही आहुति से होम करता हूं :

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।। (तृतीय मन्त्र)

श्रद्धा वही कामायनी है, जिसको नायिका बनाकर हिन्दी के श्रेष्ठ कवि जयशंकर प्रसाद ने अपने इसी नाम के महाकाव्य की रचना की।

श्रद्धा हमारे जीवन का अत्यन्त मूल्यवान महा भाव है–इसका अर्थ है 'सत्य को धारण करना' इसी की प्ररोचना आलोच्य सूक्त में है। एक मन्त्र के अनुसार वायु से संरक्षित देवताओं ने यज्ञ करते समय श्रद्धा की उपासना की। हृदय से निकले हुए आकर्षण से ही मनुष्य श्रद्धा प्राप्त कर लेता है और श्रद्धा से ही धन का अर्जन भी कर लेता है :

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।।' (ऋ.सं. १०.१५१.४)

अन्य महत्त्वपूर्ण सूक्त–वाक् सूक्त (ऋ० सं० १०.१२५) भाषा शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय है। औषधि सूक्त (१०.९७) में रोग-निवारणकारिणी वनस्पतियों की स्तुति है। सूर्या सूक्त (१०.८५) में सत्य की महिमा और दाम्पत्य जीवन में प्रविष्ट हो रही वधू के लिए शुभकामनाएँ निरूपित हैं। यम, पितृ और मृत्यु सूक्तों में पारलौकिक जीवन के विषय में विविध विचार प्रतिपादित हैं। मृत्यु सूक्त (१०.१८) के एक मन्त्र में एक विधवा स्त्री को, जिसके पति की शीघ्र ही मृत्यु हुई है शोक का त्याग करके नये सिरे से, नया जीवन प्रारम्भ करने की प्रेरणा दी गई है :

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।

इस प्रकार सम्पूर्ण ऋग्वेद उस वेदकालीन संस्कृति का वैविध्यपूर्ण आलेख है, जो आज के वैज्ञानिक समाज में भी बहुत प्रासंगिक प्रतीत होती है।

वैदिक खिल सूक्तों का स्वरूप

वैदिक वाङ्मय में सुदीर्घकाल से खिल सूक्तों का स्वरूप अत्यन्त जटिल रहा है। पदपाठ तथा सायण-भाष्य के अभाव में इनके स्वरूप का निर्विवाद विश्लेषण नहीं हो सका। वस्तुतः ये वे मन्त्र हैं जिनका चयन याज्ञिकों ने विभिन्न वैदिक मन्त्र-संहिताओं से, यागमूलक दृष्टिकोण से किया था। परम्परानुमोदित होने पर भी शाखान्तरीयता के कारण इन्हें ऋग्वेद की शाकलशाखीय संहिता में सम्मिलित नहीं किया गया। वालखिल्य प्रभृति खिल सूक्त यद्यपि शाकलशाखा के मध्य में हैं, किन्तु वहाँ पर भी उनका वैशिष्ट्य अलग से ही पहचान में आ जाता है।

खिलों की आधार-सामग्री–खिलों का मूल प्रामाणिक स्रोत ऋग्वेद की एक कश्मीरी पाण्डुलिपि है, जो प्रो. जी. बुहलर (G. Bühler) को प्राप्त हुई थी। यह शारदा लिपि में है। इसमें, दशम मण्डल के अन्त में पत्र संख्या १७६ से १८९ तक सभी खिल सूक्त क्रम से संगृहीत थे। इस हस्तलेख की प्रतिलिपि डॉ. एच. वेन्त्सेल (H. Wenzel) ने की, जिसकी परीक्षा यूरोप

में प्रो. मॅक्समुल्लर, मैक्डॉनेल एवं कुछ अन्य प्राच्यविद्याविपश्चितों ने की। मैक्डॉनेल ने अपने 'बृहद्देवता' के संस्करण में इसका उपयोग भी किया।[७]

खिलों की व्यवस्था और विन्यास–कश्मीर पाण्डुलिपि में खिलों की व्यवस्था और विन्यास ऋग्वेद से भिन्न है। यहाँ ऋग्वेदीय अष्टक और अध्याय तथा मण्डल और अनुवाक् दोनों ही क्रम मूल रूप से अनुपस्थित हैं। खिलों की व्यवस्था यजुर्वेद से मिलती है–यहाँ भी अध्याय-क्रम अपनाया गया है। समस्त खिल पाँच अध्यायों में विभक्त हैं। यजुर्वेद के साथ खिलों की व्यवस्था के सादृश्य का कारण यह प्रतीत होता है कि जैसे यजुर्वेद का सङ्कलन याज्ञिक प्रयोजनवश हुआ था–'यज्ञानुष्ठानार्थत्वात् तु यजुर्वेदस्यैव प्रधानत्वात्', उसी प्रकार खिल-संग्रह का सम्पादन भी उपर्युक्त दृष्टिकोण से हुआ। प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में ऋषि, देवता और छन्दों की सूचक अनुक्रमणी भी दी हुई है; सूक्तान्त में ऋङ्मन्त्र का प्रतीक भी दिया गया है, जो सम्भवत: इस बात का द्योतक है कि सम्प्रति ऋग्वेद में उस सूक्त का निवेश कहाँ करना चाहिए अथवा जिस शाखा में खिल थे, उसमें उनका स्थान कहाँ था।

ऋग्वेद के विभिन्न प्रकाशित संस्करणों में खिलों की संख्या–मैक्समुल्लर के संस्करण में ३२, आदफ्रेख्ट के संस्करण में २५ खिल सूक्त हैं। म.म. राजारामशास्त्री और गोरे के सभाष्य संस्करण (बम्बई) में प्रैष, पुरोरुक् और कुन्तापो को भी स्थान मिला। निर्णयसागर के द्वारा प्रकाशित ऋक्संहिता में भी खिलों का समावेश है। पं. सातवळेकर के औन्ध संस्करण में ३६ खिल सूक्त हैं, जिनमें से कतिपय ऐसे हैं, जो पूर्ववर्ती संस्करणों में सम्मिलित नहीं थे।

शेफ्टेलोवित्झ का कार्य–सन् १९०६ में ब्रेस्लाड (जर्मनी) में अपने गुरु प्रो. रडल्फ रॉट की प्रेरणा से डॉ. शेफ्टेलोवित्झ ने 'अपोक्रायफेन देज ऋग्वेद' (खिलों के अप्रामाणिक सूक्त) के नाम से सभी खिल सूक्तों का सम्पादन कश्मीर हस्तलेख के आधार पर किया। इसके प्रारम्भ में, ३२ पृष्ठों की भूमिका में खिलों की प्राचीनता पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न है।

श्री काशीकर का कार्य–शेफ्टेलोवित्झ के कार्य के लगभग तीन दशकों के अनन्तर श्री चिन्तामणिगणेश काशीकर ने खिलों का पुन: सम्पादन किया। वैदिक संशोधन मण्डल पुणे से सायण-भाष्यसहित ऋग्वेद के सर्वाङ्गशुद्ध संस्करण का जब प्रकाशन हुआ, तो उसके चतुर्थ भाग के अन्त में श्री काशीकर द्वारा सम्पादित 'खिलनि' भी दिये गये। वह खिलों के अद्यावधि प्रकाशित संस्करणों में, नि:सन्देह सर्वश्रेष्ठ है। खिलों के पाठ निर्णय और अन्य दृष्टियों से इसमें उन ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया है, जो शेफ्टेलोवित्झ के लिए अलभ्य थे अथवा उन्होंने जिनके उपयोग की आवश्यकता नहीं समझी थी। कर्मकाण्ड की सूत्रोत्तर सामग्री के उपयोग के कारण, जिनमें से अधिकांश में मन्त्र-संग्रह हैं, काशीकर के संस्करण की निश्चय ही अधिक उपयोगिता हो गई है। व्यवस्था की दृष्टि से काशीकर ने, शेफ्टेलोवित्झ के विपरीत, वर्गगत विभाजन को छोड़ दिया है।

७. There seems reason to believe that a satisfactory edition of the text of these Khilas could be produced from the Kashmir manuscript—Macdonell, A. A., Brihaddevata, p. 23.

खिल सूक्तों की संख्या–श्री काशीकर के संस्करण के आधार पर कहा जा सकता है कि कुल सूक्तों की संख्या-८६ है, जिनका अध्याय-क्रम से विवरण इस प्रकार है–प्रथम अध्याय-१२ सूक्त; द्वितीय अध्याय-१६ सूक्त; तृतीय अध्याय-२२ सूक्त; चतुर्थ अध्याय-१४ सूक्त; पञ्चम अध्याय-२२ सूक्त।

सूक्तगत मन्त्रों की संख्या–सूक्तगत मन्त्रों की संख्या में बड़ी भिन्नता है। प्रथम अध्याय में कुल मन्त्र हैं ८७। द्वितीय अध्याय में ६६ मूल मन्त्र हैं और ७० अतिरिक्त मन्त्र। तृतीय अध्याय में १३७ मूलमन्त्र हैं और २५ अतिरिक्त मन्त्र हैं। चतुर्थ अध्याय में मूलमन्त्र हैं १०५ और अतिरिक्त मन्त्र हैं ६०। सर्वाधिक मन्त्र हैं पञ्चम अध्याय में, जिसमें ३७० मूल मन्त्र हैं और ९ अतिरिक्त मन्त्र।

बड़े सूक्त-समूह और उनकी मन्त्र-संख्या–खिल संग्रह में कुछ बड़े सूक्त-समूह भी हैं–यथा, सौपर्ण, सूक्त, वालखिल्य सूक्त, निविदध्याय, प्रैषाध्याय और कुन्तापाध्याय। इनमें प्रथम अध्यायगत ११ सूक्त (खिलानि १.२ १२ तक) सौपर्ण संज्ञक हैं, जिनकी कुल मन्त्र-संख्या है ८४। तृतीय अध्याय के प्रथम आठ सूक्त 'वालखिल्य' सांज्ञक हैं-अन्यत्र भी ये हैं। इनकी कुल मन्त्र-संख्या ८० है। पूरा निविदध्याय छोटे-छोटे ११ मन्त्र-समूहों में विभक्त हैं। कुल मन्त्र-संख्या है १९३, जो हमारी गणनानुसार है। डॉ. नियोगी ने १७५ संख्या दी है,[८] जो सही नहीं प्रतीत होती। मुम्बई संस्करण में १३९ संख्या ही दी गई है, वह भी सत्य नहीं है। समग्र प्रैषाध्याय पाँच खण्डों में विभक्त है, जिनमें कुल मन्त्र ६४ हैं। कुन्तापाध्याय में १५ सूक्त हैं, जिनकी सम्पूर्ण मन्त्र-संख्या ८० होती है। कुछ खिल सूक्त खिल-संग्रह के साथ ही प्रचलित मन्त्र-संहिताओं में भी हैं; उदाहरण के लिए वालखिल्य सूक्त ऋग्वेद की शाकल संहिता में भी हैं। इसी प्रकार कुन्ताप सूक्त भी खिल-संग्रह के साथ ही अथर्ववेद के २०वें काण्ड में हैं, किन्तु दोनों स्थानों पर व्यवस्था और विन्यास में प्रचुर अन्तर है, जिसे इंगित करना आवश्यक है।

वालखिल्य सूक्तों की व्यवस्था में अन्तर–ऋग्वेद में वालखिल्य सूक्त मूलत: अष्टम मण्डल में भी ४९वें सूक्त से ५९वें सूक्त तक निविष्ट हैं, किन्तु खिल संग्रह में ये कुछ भिन्न क्रम से मिलते हैं। तृतीय अध्याय के १ से ८ तक के सूक्त अष्टम मण्डलस्थ ४९ से ५९ तक के सूक्त ही हैं। शेष ५७ से ५९ तक के तीन सूक्त खिल-संग्रह में एकत्र नहीं है–बिखरे हुए हैं। इनमें ५७वें सूक्त (युवं देवं क्रतुना) के सभी मन्त्र खिल १.४ में मिलते हैं। ५८वें सूक्त (यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्त:) के प्रथम दो मन्त्र खिल-संग्रह ३.८ में हैं। यह दो मन्त्रों का स्वतन्त्र सूक्त ही सम्पन्न हो गया है। इस सूक्त का अन्तिम मन्त्र (ज्योतिष्मन्तं केतुमन्तम्.....) खिल १.४ का प्रथम मन्त्र है। ऋग्वेद ८.५९ खिल-संग्रह में १.६ के रूप में पठित है। हमारे विचार से इस क्रम विपर्यास का मूल कारण विनियोग और देवता से सम्बद्ध है। वस्तुत: एक ही क्रम में आने वाले सभी सूक्तों के देवता इन्द्र हैं–स्पष्टतया, जबकि अन्य सूक्तों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। खिल १.४ (ऋ० सं० ८.५७) के सभी मन्त्रों में अश्विनदेवयुग्म की स्तुति है और उन्हें स्वाभाविक रूप से अश्विनसूक्तों के साथ रख दिया गया है। अथर्ववेद के २० वें काण्ड में प्राप्य कुन्ताप

८. *A Critical Study of the Nivids* : Niyogi S.P., p. 3 (Intro.) Calcutta.

सूक्तों और खिलान्तर्गत कुन्तापाध्याय की व्यवस्था में भी पर्याप्त अन्तर है, जिसे इस प्रकार निर्दिष्ट किया जा सकता है—चार खिलसूक्तों (५.८; ८;१० और ११) को मिलाकर अथर्ववेद का प्रथम कुन्तापसूक्त (२०.१२७) सम्पन्न होता है। तीन खिल सूक्तों (५.१२;१३ और १४) को मिलाने पर अथर्ववेद का दूसरा कुन्तापसूक्त (अथर्व० सं० २०.१२९) निष्पन्न होता है। इसी प्रकार अथर्ववेद का एक पूरा सूक्त (२०.१३१) और दूसरे सूक्त (२०.१३२) के प्रारम्भिक १२ मन्त्रों को मिलाकर खिल-संग्रह का एक कुन्तापसूक्त (५.१५) पूर्ण होता है। अथर्ववेद के २०.१३२ वें सूक्त में चार मन्त्र अधिक हैं, जो खिलों में नहीं मिलते।

शौनकीय अथर्ववेद के २०.१३५वें सूक्त के प्रथम मन्त्र के उत्तरार्द्धसहित ५ मन्त्र खिलों में नहीं मिलते। फलस्वरूप खिल ५.१० में केवल पांच मन्त्र ही हैं, जबकि अथर्ववेद के उक्त सूक्त में १३ मन्त्र हैं। इनमें से प्रथम मन्त्र को प्रथम सूक्त के रूप में खिल संग्रह (५.१९) में स्थान दिया गया है। अथर्ववेद (२०.१३५) के अन्तिम तीन मन्त्र खिल-संग्रह में ५.२१ के रूप में मिलते हैं। अथर्ववेद (२०.१३६) के तीन मन्त्र (१२.१४) खिल-संग्रह में नहीं मिलते। खिल (५.२२) के तीन मन्त्र (११.१३) अथर्ववेद (२०.१३७) में मिलते हैं।

इस प्रकार का कारण विनियोगजन्य प्रतीत होता है। अथर्ववेदसंहिता का संकलन यज्ञ की दृष्टि से नहीं हुआ था, जबकि खिल-संग्रह के सम्पादन में याज्ञिक आवश्यकता को विशेष रूप से ध्यान में रखा गया है।

संज्ञानसूक्त की मन्त्रगणना में महिदास की भूल—संज्ञान सूक्त में केवल पाँच मन्त्र हैं, किन्तु 'चरणव्यूह' के भाष्यकार महिदास ने इस सूक्त के अन्तर्गत १५ मन्त्र बतलाये हैं, जो ठीक नहीं है। भ्रमवश महिदास खिल-संग्रह के दो और सूक्तों (५.२ तथा ३) को भी 'संज्ञान' के साथ ही जोड़ गये। बृहद्देवता, ऋग्विधान और खिलानुक्रमणी में इन तीनों को परस्पर पृथक् माना गया है। सम्भवतः महिदास के भ्रम का कारण है 'तच्छंयोरावृणीमहे' मन्त्र, जो 'संज्ञान' के साथ ही तीसरे सूक्त (खिल ५.३) के अन्त में भी आता है।

खिल सूक्तों की प्राचीनता और उनका स्वरूप

वैदिक वाङ्मय में 'खिल' शब्द 'खिल' और 'खिल्य' दोनों रूपों में उपलब्ध होता है।

मन्त्र-संहिताओं में 'खिल' शब्द—ऋग्वेद में यह दो बार आया है।[९] अथर्ववेद[१०] तथा शतपथ ब्राह्मण[११] में भी यह प्राप्त होता है। प्रो. रॉट[१२] के अनुसार यह शब्द कृषित भूमि के बीच में पड़ी अनुर्वर भूमि का द्योतक है। प्रो. पिशेल[१३] तथा ओल्डेन[१४] बर्ग भी उपर्युक्त स्थलों पर कुछ इसी

९. ऋ० सं० ६.२८.२; १०.१४२.३।
१०. अथर्व संहिता ७.११.४।
११. यद्वा अर्वरयोरसंभिन्नं भवति खिलम्–शत० ब्र० ८.३.४.१ तथा कौषीतकि ब्राह्मण ३८।
१२. Wörturbuch Zum Rigveda.
१३. Vedische Studien 2.205.
१४. Rigveda Noten 1.385-386.

प्रकार के अर्थ से सहमत हैं। तात्पर्य यह है कि मन्त्र-संहिताओं में 'खिल' शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में ही हुआ है; वहाँ यह शब्द किसी पारिभाषिक अथवा विशिष्ट अर्थ का व्यञ्जक नहीं है।

'खिल' का पारिभाषिक प्रयोग

प्रो. मैक्डॉनेल तथा कीथ ने यह विचार व्यक्त किया है कि 'खिल' का पारिभाषिक अथवा संज्ञा रूप में प्रयोग सूत्रकाल से प्रारम्भ हुआ, किन्तु यह धारणा भ्रान्त प्रतीत होती है क्योंकि आश्वलायन और शाङ्खायन सदृश ऋग्वेद के प्रमुख सूत्रकार इस शब्द से परिचित नहीं हैं।[१५]

संज्ञा रूप में 'खिल' शब्द सर्वप्रथम शौनक की 'अनुवाकानुक्रमणी'[१६] और 'आर्षानुक्रमणी' में प्रयुक्त दिखायी देता है। कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' में प्रयुक्त दिखायी देता है। कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी'[१७] में भी यह शब्द इसी प्रकार से उल्लिखित है।

'खिल' शब्द का अपने संज्ञारूप में अर्थ जो वेद-वाङ्मय के अन्तर्गत एक विशिष्ट अंश का सूचक है वस्तुतः उपर्युक्त (कृषित भूमि के बीच में पड़ी अनुर्वर भूमि परक) अर्थ का ही लाक्षणिक प्रयोग है, जैसाकि सुप्रसिद्ध संस्कृत-कोश 'वाचस्पत्यम्' में कहा गया है।[१८] प्रो. विण्टरनित्स ने 'पूरक' अर्थ किया है[१९] और 'प्रयोगरत्न'[२०] सदृश मीमांसा के आधुनिक ग्रन्थों में इसके लिए 'परिशिष्ट' शब्द का प्रयोग हुआ है।

'महाभारत' के यशस्वी टीकाकार नीलकण्ठ ने 'खिल' शब्द की विवेचना करते हुए कहा है कि एक ही वेद ग्रन्थ की परशाखा से किसी अपेक्षा को लेकर जो अंश ग्रहण किया जाता है, वह 'खिल' कहलाता है :

एवमस्मिन्नितिहासे यत्पुराणान्तरस्थमाकांक्षावशात् पठ्यते तत्खिलं हरिवंशाख्यमित्याह।[२१]

यह व्याख्या अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होती है। 'खिल' वस्तुतः वे परशाखीय मन्त्र हैं, जो अपेक्षावशात् यहां एक साथ संगृहीत कर दिये गये हैं। निश्चय ही यहाँ 'अपेक्षा' का तात्पर्य याज्ञिक प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता। अभिप्राय यह कि खिल रूप में उपलब्ध मन्त्र तथा सूक्त सर्वत्र 'खिल' नहीं थे। जिस शाखा में वे मूल रूप से पठित थे, वहां वे भी 'अखिल' के अंग थे। उनका यह नाम तो मूलेतर शाखा में ही सार्थक प्रतीत होता है, जहां वे अपने मूल स्थान से विशिष्ट उद्देश्यवश अवतरित किये गये।

१५. *Vedic Index* (हिन्दी अनुवादक डॉ॰ राय), पृष्ठ २४९१.
१६. सहस्रमेतत्सूक्तानां निश्चितं खैलिकैर्विना–अनुवाकानुक्रमणी।
१७. माध्यन्दिनीये वाजसनेयके यजुर्वेदाम्नाये सर्वे सखिले सशुक्रिये–सर्वानुक्रमणी।
१८. हलादिना अकृष्टे क्षेत्रादौ, सारतः संक्षिप्ते पूर्वत्रानुक्त परिशिष्टे यथा ऋग्वेद श्रीसूक्तादिः यजुर्वेदे शिवसङ्कल्पादिः, महाभारते हरिवंशः–वाचस्पत्यम्।
१९. *History of Indian Literature*, p. 59-60.
२०. प्रयोगरत्न (अमीरुद्दौला लाइब्रेरी, लखनऊ में संगृहीत पाण्डुलिपि)
२१. महाभारत, आदिपर्व, २.८२ पर टीका।

वैदिक वाङ्मय में 'खिल' नाम से अभिहित अंश—यजुर्वेद के उव्वट और महीधर इन दोनों प्रमुख भाष्यकारों ने इस वेद की संहिता में २५ अध्यायों को ही, जहां किसी-न-किसी यज्ञ-विधानगत मन्त्र हैं, मूल माना है। उनके अनुसार शेषांश 'खिल' है। इस खिल-भाग में यज्ञों से सम्बद्ध अन्य तथ्य तथा यज्ञेतर शिक्षाएँ हैं। यजुर्वेद का यज्ञ से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए इसमें खिलांश का अस्तित्व स्वाभाविक ही है।

मैत्रायणी संहिता के चतुर्थ काण्ड को भी 'खिल' कहा जाता है।[२२] बृहदारण्यक (-शतपथ ब्राह्मणगत-) के पञ्चम और षष्ठ अध्याय भी परम्परानुसार 'खिल' कहलाते हैं।[२३-२४] तैत्तिरीय आरण्यक के दशम प्रपाठक को सायणाचार्य ने ही अपने भाष्य के आरम्भ में 'खिल काण्ड' कहा है।[२५]

चरणव्यूह के अनुसार सामवेद में भी 'खिल' हैं।[२६]

प्रो. शेफ्टेलोवित्झ की अवधारणा-खिलों के आद्यसम्पादक—प्रो. शेफ्टेलोवित्झ के अनुसार ये वे सूक्त या मन्त्र हैं, जो ऋग्वेद की शाकल शाखीय संहिता और पदपाठ में सम्मिलित नहीं हैं—इन्हें सर्वानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, आर्षेयौनुक्रमणी और छन्दोऽनुक्रमणी से लिया गया है, जहाँ उनकी स्थिति ऋग्वेद के मान्य सूक्त के साथ या उनके बिना ही परम्परा से स्थित है।[२७] शेफ्टेलोवित्झ के अतिरिक्त मैक्समूलर,[२८] मैक्डॉनेल और कीथ[२९] की भी यही धारणा है कि खिल की परिधि में केवल ऋग्वेदीय मन्त्र ही आते हैं। हमारा विचार है कि यह मत आंशिक रूप से ही सही हैं। ऊपर हमने यजुर्वेद प्रभृति अन्य वेदों से सम्बद्ध मन्त्रों के खिलत्व का निर्णय किया ही है।

किसी ऐसे काल में, जिसके विषय में हमें पूर्ण ज्ञान नहीं है, हो सकता है, कभी ये सभी मन्त्र किसी एक मन्त्र-संहिता में ही सङ्कलित रहे हों, उस समय तक अन्य संहिताओं का पृथक्-पृथक् सङ्कलन ही न हो पाया हो (-जैसाकि भारतीय परम्परा मानती है कि एक ही वेद का व्यास ने विभिन्न कालों में चतुर्धा विभाग किया) तो उसकी बात भिन्न है, किन्तु यह स्थिति बहुत प्राचीन है। कुछ आगे बढ़ने पर, जब ऋग्वेद में ही सभी मन्त्र आ गए हों—इसकी प्रचुर

२२. वाजसनेयि संहिता २६वें अध्याय का उपोद्घात।

२३. हरिवंश पुराण, ३४वाँ अध्याय (गीता प्रेस-संस्करण)

२४. भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ० ८७ तथा २२८-२३०, दिल्ली।

२५. यथा नृहदारण्यके सप्तभाश्टमाध्यायौ (सम्प्रति पञ्चम और षष्ठ अध्याय)
खिलकाण्डत्वेनाचार्यै-रुदाहृतौ-तैत्तिरीयारण्यकगत् सायण-भाषण।

२६. अष्टौ सामसहस्राणि सामनि च चतुर्दश।
अष्टौ शतानि नवति दशतिर्वालखिल्यकम्।
सह रहस्यं ससुपर्णं प्रेक्ष्यास्तत्र वालखिल्यकाः।
सारण्यकानि सौर्याणि ह्येतत्सामगणं स्मृतम्-चरणव्यूह

२७. Seheftelowitz : *A Pocryophen des Rigveda.*

२८. *History of Ancient Sans. Literature* p. 194, 197, 201, 320, 322.

२९. *Vedic Index* (भाग-१), पृष्ठ २४१ (हिन्दी)

सम्भावना है। तथापि केवल इसी आधार पर समस्त खिलों को ऋग्वेदीय मान लेना समीचीन नहीं है। उदाहरण के लिए कुन्ताप सूक्तों को ही लें। बहुत सम्भव है, ये ऋग्वेद की बाष्कल शाखा में रहे हों, किन्तु सम्प्रति इन्हें इनके आथर्वण-स्वरूप से विरत नहीं किया जा सकता। फिर ये 'तेषामृक्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' (जैमिनीय मीमांसा सूत्र) के अन्तर्गत भी तो नहीं आते। प्रैषाध्याय एवं निविदध्याय को ऋग्वेदीय संरचना में किस प्रकार ढाला जा सकता है? इन्हें इनके याजुष स्वरूप से कैसे विरत किया जा सकता है?

'खिल' ऋग्वेद की किस शाखा में थे?—खिलों की शाखान्तरीयता का सम्यक् विवेचन न हो पाया कि खिल किस शाखा में थे? भागवत महापुराण के अनुसार[३०] व्यास के शिष्य पैल ने ऋग्वेद के दो विभाग किये, जिनमें से एक शाखा शाकतय की परम्परा में विकसित हुई और दूसरी परम्परा बाष्कल ने प्रवर्तित की—इसी बाष्कल शाखा में वालखिल्य सूक्त थे, जिन्हें कहीं-कहीं 'वालखिल्य' नाम्नी संहिता (शाखा) में सङ्कलित बतलाया गया है। विष्णुपुराण[३१] से भी इसका समर्थन होता है। 'चरणव्यूह' के भाष्यकार महिदास ने इसी प्रकार का कथन किया है :

पूर्वोक्तबाष्कलपुत्रो बाष्कलि: पूर्वोक्त सर्वशाखाभ्य उद्धृत वालाखिल्याख्यां संहिता चक्रे। तां वालखिल्य संहितां वालायनिप्रभृतयोऽधीतवन्त:।[३२]

यह 'वालखिल्यसंहिता' ऋगादि के सदृश स्वतंत्र और बृहदाकार संहिता भले ही न रही हो, किन्तु इतना निश्चित है कि यह मन्त्रों का ऐसा संग्रह अवश्य था, जिसका सङ्कलन किसी विशिष्ट प्रयोजनवश किया गया था।

प्रो. कीथ[३३] ने खिलों का अस्तित्व माण्डूकेय शाखा में होने की संभावना व्यक्त की है, किन्तु इसमें सत्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यह शाखा वस्तुत: बहुत पहले लुप्त हो चुकी थी।

अधिसंख्य खिलों की 'बाष्कल' शाखीयता—बहुसंख्यक खिल मन्त्र बाष्कल शाखा मे थे—इसके समर्थन में कुछ अन्य साक्ष्य भी सुलभ हैं। वैदिकों में एक प्रवाद यह प्रचलित है कि जो व्यक्ति किसी कार्य को अस्त-व्यस्त रूप से करता है, उसकी संज्ञा 'बाष्कल' पड़ जाती है।[३४] इससे विदित होता है कि यह शाखा भी अस्त-व्यस्त तो नहीं, हां, व्यवस्था और विन्यास की दृष्टि से अन्य शाखाओं से बहुत भिन्न अवश्य रही होगी। तभी तो बाष्कल के लिए सभी शाखाओं से मन्त्र उद्धृत कर 'वालखिल्य संहिता' का सम्पादन करना सुकर हुआ होगा। षड्गुरुशिष्य ने भी बाष्कल शाखा में खिलों के अस्तित्व का समर्थन किया है—'बाष्कल के संहितापाठे अत: शाकलात् अधिकान्यष्टौ सूक्तानि।[३५]'

३०. श्रीभागवतपुराण १२.६.५४-५९, (गीताप्रेस-संस्करण)।
३१. विष्णुपुराण, गीताप्रेस-संस्करण।
३२. चरणव्यूह, ९; चौखम्बा।
३३. *Journal of Royal Asiatic Society* 1907, pp. 224-29
३४. वैदिक साहित्य और संस्कृति, उपाध्याय, बलदेव, पृष्ठ १२८, तृतीय संस्करण, काशी।
३५. पं० भगवद्दत्त के द्वारा 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास'।

आश्वलायनीया आदि अन्य शाखाओं में भी खिलों के अस्तित्व के कुछ उल्लेख 'चरणव्यूह' प्रभृति ग्रन्थों में हैं, जिनका अपलाप नहीं किया जा सकता।

'चरणव्यूह' और उसके भाष्यकार महिदास के कथनों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि बाष्कल शाखा में वालखिल्यों को मिलाकर कुल १०२५ सूक्त थे।

खिलों के पदपाठ का प्रश्न–कुछ विद्वानों का विचार है कि जिन मन्त्रों का पदपाठ नहीं मिलता, उन्हें 'खिल' मान लेना चाहिए।[३६] इसे आंशिक सत्य ही मानना चाहिए। कारण यह कि सभी खिलों के पदपाठ का अभाव नहीं है। वालखिल्य मन्त्रों का पदपाठ सर्वत्र पढ़ा-पढ़ाया जाता है। यद्यपि शाकल्य के विषय में यह कहा जाता है कि उन्होंने खिलों का पदपाठ नहीं प्रस्तुत किया।[३७] किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि शाकल्य के काल में 'खिल' नहीं थे। इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व यह निर्णय कर लेना आवश्यक है कि शाकल्य का काल क्या है?

गेल्डनर (Geldner) के अनुसार[३८] शाकल्य का काल परवर्ती वाजसनेयकाल है। वे ब्राह्मणों में उल्लिखित आरुणि के समकालीन हैं। ओल्डेनबर्ग[३९] भी इसी तर्क के बल पर शाकल्य की स्थिति ब्राह्मणकाल की समाप्ति के समय मानते हैं। कीथ[४०] इससे असहमत हैं। ओल्डेनबर्ग के तर्कों को अपुष्ट मानते हुए उनका कथन है कि ब्राह्मणग्रन्थों में स्वीकृत सन्धि-नियम और परवर्ती पदपाठ परस्पर मेल नहीं खाते। डॉ. मोतीलाल रस्तोगी ने[४१] शाकल्य को ईसापूर्व ८वीं शताब्दी में रखा है। उन्होंने शाकल्य को यास्क, पाणिनि, आश्वलायन, शाङ्खायन और शौनक से प्राचीन माना है। इसके विपरीत 'चरणव्यूह' के भाष्यकार महिदास ने शाकल को शौनक के भी बाद में रखा है :

> **कृष्णाद्वैपायनं वन्दे गुरुं वेदमहानिधिम्।**
> **तच्छिष्यं शौनकगुरुं वेदज्ञं लोकविश्रुतम्।।**
> **नत्वा तु शाकलाचार्यं तथैव चाश्वलायनम्।**
> **एवं परम्पराप्राप्तम् ....।।**

तात्पर्य यह कि उपर्युक्त किसी भी दृष्टिकोण से शाकल्य को इतना प्राचीन नहीं माना जा सकता कि उन्हें मन्त्र-काल में रखा जा सके। जबकि अधिकांश खिल मन्त्रकालीन हैं। अतः शाकल्य

३६. 'यस्य मन्त्रस्य पदाभावस्तस्य खैलिकत्वं सिद्धम्'–'चरणव्यूह' के ऋग्वेद खण्ड, ११वें सूत्र पर महिदास–भाष्य।

३७. The really significant fact is that shaklya did not deal with `Khilas' in the Padapatha. It is most probable therefore, that the 1`Khilas' are some what later in date than the Rigveda Samhita.
—Keith, A.B.; Journal of Royal Asiatic Society 1907, p. 22-29.

३८. *Vedischt Studien*, III, p. 44.

३९. *Nymnen des Rigveda*, p. 380--81.

४०. JRAS, p. 226.

४१. *Padapath of the Rigveda*, Rastogi, M.L. (Thesis, Lucknow)

चाहे जब हुए हों, उनके समय में निर्विवाद रूप से खिलों की सत्ता थी। फिर ऐसा कौन-सा कारण हो सकता है जो शाकल्य ने खिलों पर अपना पदपाठ नहीं रचा। जिन ऋङ्मन्त्रों पर भी शाकल्य का पदपाठ नहीं मिलता वे ये हैं ऋ० सं० ७.५९.१२; १०.२०.१; १२१.१०; १९०.३। डॉ. रस्तोगी ने इसका यह कारण बतलाया है कि शाकल्य उन्हें अप्रामाणिक समझते थे। खिलों को भी उसी सीमा में रखते हुए डॉ. रस्तोगी ने उन्हें 'नये परिशिष्ट' कहा है,[४२] किन्तु वस्तुतः डॉ० रस्तोगी का कथन तथ्यपूर्ण नहीं है। यह विचार भी सर्वथा असंगत है कि शाकल्य ने उन पर इसलिए पदपाठ नहीं रचा, क्योंकि वे उन्हें नये परिशिष्ट अथवा अप्रामाणिक मन्त्र समझते थे।

इन मन्त्रों पर शाकल्यकृत पदपाठ के अभाव का केवल एक ही उपयुक्त कारण प्रतीत होता है। वह यह कि शाकल्य ने वस्तुतः जिस शाखा को आधार मान कर पदपाठ रचा, उसमें 'खिल' नहीं थे। 'खिल' शाकल्य के लिए शाखान्तरीय थे। वास्तव में अनेक खिल तो उन मन्त्रों से भी प्राचीनतर हैं जिन पर शाकल्य ने पदपाठ रचा।[४३] जहां तक वालखिल्यसूक्तों का प्रश्न है, उन पर प्राप्त पदपाठ की रचना का श्रेय शाकल्य को ही दिया जाना चाहिए, क्योंकि वे शाकलशाखा में भी सुदीर्घकाल से रहे हैं। इनके अतिरिक्त वालखिल्य मन्त्रों के पदपाठ की पद्धति अन्य मन्त्रों से भिन्न नहीं प्रतीत होती।

प्रमुख 'खिलसूक्त'–समूहों का विवरण

सौपर्णसूक्त–(खिल १.२-१२) तार्क्ष्य सुपर्ण इनके ऋषि हैं। यही इन सूक्तों के नामकरण का हेतु है।[४४] ताण्ड्य ब्राह्मण[४५] के अनुसार यज्ञ के चले जाने पर देवों ने उसे इन सूक्तों के द्वारा प्राप्त किया। बृहद्देवता[४६], ऋग्विधान[४७] और विभिन्न पुराणों[४८] में विविध कृत्यों के अन्तर्गत ये विनियुक्त हैं। सुपर्णाध्याय' के रूप में भी इनकी मान्यता रही है–उसके दो कारण प्रतीत होते हैं–(१) सुपर्ण ऋषि के द्वारा दृष्ट सभी सूक्तों की एकत्र प्रस्तुति, (२) अश्विनौ से सम्बद्ध मन्त्रों का एकत्र संकलन–क्योंकि ११ सोपर्ण सूक्तों में से १० में अश्विनौ की स्तुति है।[४९]

श्रीसूक्त (२.६)–आश्वलायन और शांखायन श्रौतसूत्रों,[५०] बृहद्देवता[५१], ऋग्विधान[५२]

४२. चरणव्यूह-भाष्य, मंगलाचरण।
४३. *Padapatha of the Rigveda*, p. 251 (Thesis, Lucknow Uni.)
४४. Scheftelowitz : *Apocyphen des Rigveda*, p. 2-3.
४५. Die Suparna Sage, J. Carpentier, p. 207, 1920.
४६. ता० ब्रा० १४.३.१०।
४७. बृ० दे० ३.११८.१९।
४८. ऋग्विधान १.१०८।
४९. अग्निपुराण ५८.२९। ब्रह्मपुराण २०२।
५०. प्रो० खोण्डा ने भी इनके विषय में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं– *Rigvidhan*, J. Gonda, p. २, ६.
५१. शांखायन श्रौतसूत्र ४.१७.१२।
५२. ऋग्विधान २.१८-१९।

अग्निपुराण[५३], मनुस्मृति के मेधातिथि-भाष्य[५४] में यह विनियुक्त है। 'लक्ष्मीतन्त्रम्'[५५] में इसका विशद विवेचन हुआ है। इस पर विद्यारण्य स्वामी का भाष्य प्राप्त होता है। लक्ष्मी-पूजा के प्रसंग में कर्मकाण्ड के वैदिकोत्तर साहित्य में इसका बहुधा विधान है।

वालखिल्य सूक्त (३.१-८)–ब्राह्मण ग्रन्थों में[५६] 'वालखिल्य' शब्द की बहुविध निरुक्तियां प्राप्त होती हैं। कहीं प्राणों को 'वालखिल्य' कहा है और कहीं पशुओं को। सायण ने ऐतरेय ब्राह्मण में वालखिल्य मन्त्रों का जितने प्रकार से पाठ प्रचलित था, उन सबका विवरण दिया है। वालखिल्य सूक्तों में बहुधा इन्द्र की स्तुति है, इसे आधार मानकर 'ऐन्द्रयो वालखिल्या:' कहा गया है। श्येनचित याग, जिसकी वेदि श्येन के पंखसदृश होती है, के निमित्त वेदि में ऊपर-नीचे चुनी जाने वाली इष्टकायें भी 'वालखिल्य' नाम से व्यवहृत होती हैं। तैत्तिरीयारण्यक में उल्लेख है कि प्रजापति के बालों (केशों) से वालखिल्य ऋषि उत्पन्न हुए–'स तपोऽतप्यत्। स तपस्तप्त्वा शरीरमधूनुत। ये नरवास्ते वैरवानसा: ये वालास्ते वालखिल्या:।[५७]

एक ऋङ्मन्त्र[५८] की व्याख्या करते हुए सायण ने भी प्रजापति की देह के उत्तर भाग से इन ऋषियों की उत्पत्ति बतलाई है–'अष्टसंख्याका: प्रसिद्धा: वालखिल्यादय: उत्तरात्काय प्रदेशात्।' रामायण[५९], महाभारत[६०] और पुराणों[६१] में वालखिल्य ऋषियों के सन्दर्भ में बहुविध आख्यान सुलभ हैं। महाभारत में इन्हें 'अंगुष्ठप्रमाण' बतलाया गया है। इसी आधार पर ग्रिफिथ ने इन्हें 'बौनों की एक जाति (a race of pigmies) कहा है–जो उचित नहीं प्रतीत होता। 'अङ्गुष्ठमात्र: पुरुषोऽन्तरात्मा' आदि के आधार पर कहा जा सकता है कि यह परिमाण इन ऋषियों की उच्च आध्यात्मिक स्थिति का भी द्योतक हो सकता है।

वालखिल्य सूक्तों से वालखिल्य ऋषियों का क्या सम्बन्ध है, यह स्पष्ट नहीं है। सायण ने यद्यपि इन सूक्तों से वालखिल्य ऋषियों का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है–'वालखिल्य नामका: केचन महर्षयस्तासां सम्बन्धीन्यष्टौसूक्तानि विद्यन्ते, ते वालखिल्यनामके ग्रन्थे समाम्नायन्ते।[६२]

सामान्यत: वालखिल्य ऋषि इन सूक्तों के द्रष्टा नहीं हैं। इनके ऋषि वस्तुत: कण्ववंशीय हैं–प्रस्कण्व, पुष्टिगु, श्रुष्टिगु, आयु, मेधा, मातरिश्वा काण्व प्रभृति। दूसरी बात यह कि इन मन्त्रों में स्वयं कहीं 'वालखिल्य' शब्द का उल्लेख नहीं है।

५३. अग्निपुराण ४१.८।
५४. मनुस्मृति ३.२७२ पर मेधातिथि-भाष्य।
५५. लक्ष्मीतन्त्रम्–५०वां अध्याय।
५६. ऐत० ब्रा० ६.२६; कौषी० ब्रा० ३०.८; तां० ब्रा० २०.९.२।
शतपथ ब्राह्मण ८.३.४१।
५७. तैत्तिरीयारण्यक १.२३.३।
५८. ऋ० सं० १०.२७.२५ (मन्त्र में "वालखिल्य' शब्द नहीं आया है।
५९. वाल्मीकीय रामायण ३.६१-६२; ३.३५.१४।
६०. महाभारत, आदिपर्व, २६वां अध्याय।
६१. ब्रह्मपुराण १००वां अध्याय।
६२. ऐत० ब्रा० २९.८ पर सायण-भाष्य।

ऋक् प्रातिशाख्य और बृहद्देवता में वालखिल्यसूक्तों का अनेकधा विचार किया गया है। ऋक्प्रातिशाख्य के एक सूत्र[६३] में वालखिल्य सूक्त का उदाहरण दिया गया है। इसमें आया 'हेतय:' शब्द ऋग्वेद के अष्टम मण्डलस्थ एक सूक्त (ऋ० सं०. ८.५०.२) से उद्धृत है, जो वालखिल्यसूक्तों में से एक है। इसमें प्रातिशाख्यकार का मुख्य उद्देश्य संहितापाठ से पदपाठ करते समय होने वाले परिवर्तनों को बतलाना है। यह इस तथ्य का स्पष्ट द्योतक है कि शौनक जिस समय इन परिवर्तनों का विश्लेषण कर रहे थे, उस समय ऋग्वेद की जिस शाखा का प्रयोग किया गया, उसमें उक्त वालखिल्य सूक्त था।

'बृहद्देवता'[६४] में 'वालखिल्य' सूक्तों के ऋषियों को तिग्म तेजस्वी कहा गया है।

ऊपर 'वालखिल्य' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया गया है। सम्भव है, कभी वह याज्ञिक दृष्टि से सङ्कलित किया गया हो[६५] यद्यपि आज वह नहीं प्राप्य है। प्रो. पोतदार भी कुछ इसी मत के हैं[६६] कि वालखिल्यों ने प्रचुर याज्ञिक महत्ता अर्जित कर ली होगी और सम्भवत: इसी कारण ऐसे सङ्कलन की आवश्यकता अनुभव हुई होगी।

वालखिल्य सूक्तों पर सायण-भाष्य नहीं मिलता। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि ऋग्वेद की जिस शाखा को आधार मानकर सायण ने अपने भाष्य की रचना की, उसमें वालखिल्य सूक्त नहीं थे।

ऋग्वेद में अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती सूक्तों के साथ वालखिल्य सूक्तों की परम्परा अविच्छिन्न है क्योंकि अष्टम मण्डल के ४८वें सूक्त का ऋषि कण्ववंशीय प्रगाथ घोर है तथा ६०वें सूक्त का प्रगाथ पुत्र भर्ग।

मैक्समूलर ने वालखिल्य सूक्तों का उद्भव कुछ अर्वाचीन माना है[६७] किन्तु सुप्रसिद्ध महाराष्ट्रीय वेदज्ञ पं० सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि 'इन सूक्तों' में पाठभेद लेशमात्र भी न होने के कारण संहिता के समान ही पदपाठ है। स्वरादि भी बिल्कुल व्यवस्थित होने के कारण इनकी गणना संहिता भाग में ही की जाती है।[६८] शास्त्रीजी की धारणा उचित प्रतीत होती है।

पावमानी (३.१०)–ये सोम से सम्बद्ध मन्त्र हैं, पूरा नाम है–'पावमानी सौमी।' यास्क ने इन्हें 'निगम; (वेदसमाम्नाय) का अंग ही माना है–'पवित्रं पुनातेर्मन्त्र: पवित्रमुच्यते। येन देवा:

६३. अन्त:पाद च वयो अन्तरिक्षे वयो अस्याश्रययो इतेयस्त्रय : – ऋकप्रातिशाख्य २.५०।

६४. पराण्यष्टौ तु सूक्तानि ऋषीणां तिग्मतेजसाम्।–ब्रहद्देवता ६.८४–८६।

६५. Prof. H.D. Velankar's article, *Journal of Bombay University*, 1946, p. II.

६६. Prof Potdar, K.R. *Sacrifice in the Rigveda*, p. 234.

६७. That these hymns had something peculiar in the eyes of the native scholars is clear enough that they may for a time have formed a rebarate collection, they may have been considered of more modern origin—History of Ancient Sans, Literature, p. 220.

६८ ऋग्वेद भाषान्तर, लोकसंग्रह छापाखाना, ८वें मण्डल की भूमिका।

पवित्रेणात्मानं पुनते सदा, इत्यपि निगमो भवति।[६९]' स्मृतियों[७०] में ये सन्ध्या सदृश पवित्र कर्म से सम्बद्ध हैं।

'सस्रुषी सूक्त (३.१३)—यह एकर्च सूक्त अथर्ववेद[७१] में भी हैं। ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध भाष्यकार उद्गीथ ने इस मन्त्र को 'खैलिक्या सह दशर्चम्' कहकर इसे उद्धृत किया है।[७२]

हृद्यसूक्त (३.१७)—गृह्यसूत्रों में इसके मंत्र विविध कृत्यों में विनियुक्त हैं ऋग्विधान[७३] और बृहद्देवता में भी उद्धृत है।

ध्रुवादिसूक्त (३.१७)—किञ्चत्पाठ-भेद के साथ यह अथर्ववेद[७४] में भी है।

एकादिसूक्त (३.१८)—शांखायन श्रौतसूत्र में ये तीनों मन्त्र मिलते हैं:

ब्रह्मसूक्त (३.२२)—निरुक्त में यह उद्धृत है। यास्क ने इसे निगम ही माना है।[७] ऋक्प्रातिशाख्य[७६] और बृहद्देवता[७७] में भी यह उल्लिखित है। यह सम्पूर्ण सूक्त बहुत प्राचीन, ऋग्वेदकालिक है।

रात्रिसूक्त (४.२)—प्रकृत रात्रिसूक्त के अतिरिक्त ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी रात्रिसूक्त हैं। इन तीनों में परस्पर सादृश्य भी है। बृहद्देवता, ऋग्विधान[७८] और पुराणों[७९] में यह बहुधा उल्लिखित है।

कृत्यासूक्त—अथर्ववेदीय कृत्यासूक्त (अथ० स० १.१३) से इसका बहुत सादृश्य है। बहुविध नाभिचारिक कृत्यों से सम्बद्ध रहा है। ऋग्विधान[८०(अ)] में यह उल्लिखित है।

आयुष्यसूक्त (४.६)—ऋग्विधान[८०(आ)] बृहद्देवता[८१], कृत्यकल्पतरु[८२] में यह उल्लिखित है।

लाक्षा (४.७), मेधा (४.८), सौभेषज (४.९) और वैन्यसूक्त (४.१०)—बृहद्देवता[८३]

६९. निरुक्त ५.६।
७०. शङ्खस्मृति ११.१, ५; बौधायन स्मृति २.४.२।
७१. अर्थसंहिता ६.२३.१।
७२. ऋ० सं० १०.९ पर उद्गीथ-भाष्य।
७३. ऋग्विधान ३.२१.२-३।
७४. (अ) बृहद्देवता ७.१७१।
(आ) अथर्वसंहिता १४. १.५२।
७५. निरुक्त १.३. २
७६. ऋक्प्राति० १७.४५।
७७. बृहद्देवता ८.१४-१६
७८. ऋग्विधान ४.२८
७९. मत्स्यपुराण ३.१२९.१३२, लिङ्गपुराण १.२७.४९।
८०. (अ) ऋग्विधान ४.३०
(आ) वही ४.४३
८१. बृहद्देवता ८.४५
८२. कृत्यकल्पतरु, पृष्ठ ७।
८३. बृहद्देवता ८.४.५

ऋग्विधान और गोपथ ब्राह्मण[८४] में ये सूक्त उल्लिखित हैं। शाङ्खायन श्रौतसूत्र[८५] और कौशिक सूत्र[८६] में इसका विनियोग विभिन्न कर्मों में हुआ है।

शिवसङ्कल्पसूक्त (४.११)—वाजसनेयि संहिता[८७] में इसके प्रारम्भिक छह मन्त्र मिलते हैं। बृहद्देवता[८८] ऋग्विधान,[८९] मनुस्मृति[९०] और विभिन्न पुराणों[९१] में इस सूक्त का उल्लेख है।

नेजमेषसूक्त (४.१३)—गर्भ-सुरक्षा और गर्भाधान से सम्बद्ध इस सूक्त का उल्लेख आश्वलायन[९२] तथा शाङ्खायन[९३] गृह्यसूत्रों, ऋग्विधान[९४] और बृहद्देवता[९५] में है।

संज्ञानसूक्त (५.१)—तैत्तिरीय संहिता[९६], अथर्ववेद[९७], तैत्तिरीय ब्राह्मण[९८] तथा तैत्तिरीयारण्यक[९९] में यह सूक्त ऋग्रप में पठित है। शांखायन श्रौतसूत्र[१००] तथा निरुक्त[१०१] में भी इसका उल्लेख है।

महानाम्नीसूक्त (खिल ५.४)—ऐतिहासिक दृष्टि से महानाम्नी मन्त्रों का महत्त्व असन्दिग्ध है। वृत्र-वध की घटना से इन मन्त्रों का घनिष्ठ सम्बन्ध निरूपित है। आश्वलायन श्रौतसूत्र,[१०२] बृहद्देवता और ऋग्निविधान[१०३] में 'महानाम्नी' संज्ञक मन्त्रों का उल्लेख है। सायण का कथन है कि महानाम्न्याख्य मन्त्रों का वर्णन तो सभी उपनिषदों में है—'कथितोपनिषत्सर्वा महानाम्न्याख्य मन्त्रका:।[१०४] इन ऋचाओं के सब्रह्मचर्य अध्येता को 'महानाम्निक' कहा जाता था।[१०५] इस व्रत

८४. गोपथब्राह्मण ५.२३
८५. शाङ्खायन श्रौतसूत्र १५.३
८६. कौशिकसूत्र ३७.३
८७. वाज० सं० ३४.१–६
८८. बृहद्देवता १०.१६६
८९. ऋग्विधान ४.१०४–१.५
९०. मनुस्मृति ११.२५१।
९१. अग्निपुराण २६०.७४; २५९.८३ तथा लिङ्गपुराण १.२७.४५।
९२. आ० गृ० सू० १३४३।
९३. शां०गृ०सू० १.२२।
९४. ऋग्विधान ४.११
९५. बृहद्देवता
९६. तैत्तिरीय संहिता २.४.४६।
९७. अथर्वसंहिता ८.४२.१; ३.८.६।
९८. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१५.११.१
९९. तैत्तिरीयारण्यक १.९.७।
१००. शांखायन श्रौतसूत्र २.६.३।
१०१. निरुक्त ४.३.५।
१०२. आश्वलायन श्रौतसूत्र ७.१२.१०।
१०३. ऋग्विधान ४.१२७.१२८।
१०४. ऐत० आरण्यक ४.१.१ पर सायण-भाष्य।
१०५. व्याकरण वार्तिक १.२ (कात्यायन)

को 'शाक्वरी व्रत' भी कहते थे। गोभिल गृह्यसूत्र[१०६] तथा व्याकरण महाभाष्य[१०७] से ज्ञात होता है कि माताएँ बच्चों को दूध पिलाते समय लोरी गाती हुई कहा करती थीं कि तुम 'शाक्वरी' व्रत के पारगामी बनो–'अथहरौरुकि ब्राह्मणं भवति कुमारान् ह वै मातरः पाययमाना आहुः शाक्वरीणां व्रतं पारयिष्णवः भवतेति।'

निविदध्याय (५.५)–इस शब्द का निर्वचन 'नि' उपसर्गपूर्वक 'विद् (ज्ञाने)' धातु से किया जाता है। निघण्टु के अनुसार यह वाक् का पर्याय है[१०८] देवराज यज्वा ने इसका अर्थ किया है–अपने कथ्य को बहुत स्पष्टता से व्यक्त करने वाली वाणी–'नितरां वेदयति ज्ञापयति स्वमभिधेयम्।' यास्क 'निविद' के पारिभाषिक अर्थ 'मन्त्रविशेष' से भी परिचित हैं–'यथो एतत् निवित् सौर्यवैश्वानरी भवति।'[१०९]

यज्ञ की पारिभाषिक शब्दावली में 'निविद्' का अभिप्राय उन संक्षिप्त वाक्यों से है, जिनमें देवों के नाम होते हैं, उनकी विशेषताएँ बतलाई जाती हैं। सोमयाग के सवनों से सम्बद्ध ये मन्त्र निविदध्याय के अन्तर्गत प्राप्त होते हैं। मैक्डॉनल और कीथ का मत है कि निविद् ईश्वर के सम्मान में की गई सामाजिक प्रार्थना में आमंत्रित देवता के संक्षिप्त स्तोत्र हैं।[११०] मार्टिन हाग का कथन है कि निविद् या तो एक देवता या देवताओं के समूह को सोमयाग में आने के लिए, जहाँ उनके लिए सोमभिषवन हो चुका है, किया गया सम्बोधन है। इनका स्थान प्रमुख रूप से माध्यन्दिन और सायं सवनों में है।[१११]

संहिताओं में 'निविद्' शब्द–सम्पूर्ण ऋक्संहिता में यह शब्द अनेक बाद आया है।[११२] उन सभी स्थलों के, जहां इसका प्रयोग हुआ है, पर्यालोचन से यह सुव्यक्त है कि ऋग्वेद के ऋषि 'निविद्' के सामान्य और विशेष दोनों ही अर्थों से भलीभांति परिचित थे।[११३] एक ऋचा 'स पूर्वया निविदा कव्यता'[११४] में प्राचीन निवित्; की चर्चा है।

वाजसनेयि संहिता[११५] और अथर्ववेद[११६] में भी यह शब्द आया है। वाजसनेयि संहिता के एक मन्त्र में तो 'निविद्' मन्त्रों के स्वरूप का प्रतिपादन भी हुआ है।[११७]

१०६. गोभिल गृह्यसूत्र ३.२.३–९।
१०७. व्याकरण महाभाष्य ५.१.९४।
१०८. निघण्टु, प्रथम अध्याय।
१०९. निरुक्त ७.२४।
११०. *Vedic Index.*
१११. ऐतरेय ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद पृष्ठ १४२।
११२. ऋ० सं० १.८९.३; १.९६.२; इत्यादि।
११३. *Weber, Indische Studien*, pp. 9, 265.
११४. ऋ० सं० १.९६.२।
११५. वाज० सं० २५.१६; १९.२५।
११६. अथर्वसंहिता ५.२६.४।
११७. वाज० सं० २५.१६; १९.२५।

अवेस्ता में 'निविद्' शब्द–निविदों की प्राचीनता का एक प्रमाण यह कि वे अवेस्ता में भी प्राप्त होते हैं। वहाँ यह शब्द 'निवेदयेमि' (Nivaedaimi) के रूप में मिलता है जिसका अर्थ है–'मैं अपनी प्रार्थना उन्हें सम्बोधित करता हूं, जिनका वहां उल्लेख है।'

ब्राह्मण ग्रन्थों में 'निविद' शब्द–ऐतरेय,[११८] शतपथ,[११९] कौषीतकि[१२०] और तैत्तिरीय[१२१] आदि ब्राह्मणों में भी 'निविद्' शब्द का उल्लेख प्रचुरता से हुआ है। वहां भी निविद् संज्ञक मन्त्र ही उद्दिष्ट है। इसलिए कीथ और मैक्डॉनेल का यह कथन विशेष महत्त्व नहीं रखता कि निविद् मन्त्र भी प्राचीन नहीं है।[१२२] हाग ने इनकी प्राचीनता का विस्तार से उपपादन किया है।[१२३]

निविदों (१७५ पद-समूहों से युक्त याज्ञिक वाक्यों) की सुरक्षा जिस विशिष्टता से की गई, वही इनके सम्बन्ध में उठी समस्त शङ्काओं का निराकरण कर देती है। 'निविदध्याय' गत 'अध्याय' शब्द इस तथ्य का स्पष्ट परिलक्षक है कि यह अंश दैनिक स्वाध्याय का अपरिहार्य अंश रहा होगा। निविद् मंत्र अनेक ऋग्वैदिक मन्त्रों के प्रारूप (पूर्वरूप) से प्रतीत होते हैं। निविदध्याय का सङ्कलन याज्ञिक दृष्टि से हुआ होगा। साथ ही, ऋग्वेद के साथ उनका चिरन्तन सम्बन्ध अविच्छिन्न रखने के लिए ऋग्वेद के परिशिष्ट में भी उन्हें स्थान दे दिया गया।

वस्तुतः 'निविद' मन्त्र भारतीय गद्य के सर्वप्राचीन अवशेष हैं।[१२४] ये याज्ञिक वाक्यों के प्राचीनतम उदाहरण हैं। ये उस काल के संस्मारक हैं, जब देव-पूजा का स्वरूप अत्यन्त सरल और आडम्बरहीन था। उस समय तक सम्भवतः ऋग्वेद का ही अधिकांश भाग नहीं रचा गया था।

पुरोरुक (खिल ५.६)–ये मन्त्र भी मूलतः यज्ञ से सम्बद्ध हैं। आकार-प्रकार में ऋग्रूप होकर भी ये अपने वाजसनेयी स्वरूप की पहचान कराते हैं। ब्राह्मणगत निरुक्ति के अनुसार यज्ञ को चमकाने के कारण इनका नाम 'पुरोरुक्' पड़ा।[१२५] शाङ्खायन ब्राह्मण[१२६] एवं आश्वलायन[१२७] तथा शांखायन श्रौतसूत्र[१२८] में भी ये प्राप्य हैं। प्राचीनता की दृष्टि से ये निविदों के समकक्ष ही हैं।

प्रैषाध्याय (खिल ५.७)–'प्रैष' शब्द अपने मूल रूप में अथर्ववेद[१२९] तैत्तिरीय संहिता[१३०]

११८. ऐत॰ ब्रा॰ ३.९।
११९. शतपथ ब्रा॰ ३.९.३.२८।
१२०. कौषी॰ ब्रा॰ १४.१।
१२१. तैत्तिरीय ब्राह्मण २.२.८.५।
१२२. *Vedic Index*, Macdonell and Keith,
१२३. *Aitareya Brahmana*, Eng. Trans, p. 32-33.
१२४. *A Critical Study of the Nivids*, Niyogi, p. 25, 1961, Calcutta.
१२५. ऐत॰ ब्रा॰ ३.९।
१२६. शांखा॰ ब्रा॰ १४.५।
१२७. आश्वलायन श्रौतसूत्र २.१, ५-१०।
१२८. शांखायन श्रौतसूत्र ७.१०.९-१६।
१२९. अथर्व संहिता ५.२६.४, ११.७.१८; १६.७.२।
१३०. तैत्तिरीय संहिता ७.३.११.२।

और वाजसनेयि संहिता में सर्वप्रथम मिलता है। ब्राह्मणों में ऐतरेय,[१३१] शतपथ[१३२] और कौषीतकि ब्राह्मण[१३३] इस दृष्टि से उल्लेख्य है। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि यज्ञ देवों के पास से चला गया। उसे उन्होंने प्रैष मन्त्रों के द्वारा खोजना चाहा, यही उनका प्रैषत्व है।[१३४] तैत्तिरीय[१३५] और शतपथ ने इसका समर्थन किया है। यह शब्द सामान्यत: 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'इष्' धातु से निष्पन्न माना जाता है।

मैक्डॉनेल और कीथ के अनुसार यह एक सामाजिक प्रार्थना विषयक शब्द है, जिसका अर्थ निर्देशन अथवा निमन्त्रण है।

प्रतीत होता है कि कदाचित् प्रैष मन्त्र विवादास्पद बन गये थे। इन्हें 'पाद' ही नहीं माना जाता था, फिर ऋङ्मन्त्र कैसे माना जाता ? ऋक् प्रातिशाख्यकार ने ऐसी स्थिति में इन्हें 'पाद' की मान्यता दी है।[१३६]

प्रैषों और आप्रीसूक्तों का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

कुन्ताप सूक्त (खिल ५.८.२२)—ऐतरेय ब्राह्मण[१३७] के अनुसार कुन्ताप सूक्त-समूह में केवल ३० ऋचाओ का समावेश है। इनमें ६ नाराशंसी, ३ रैभी, ४ पारक्षित, ४ काव्य, ५ दिशां क्लृप्ति, ६ जनकल्प और ५ इन्द्रगाथाएं हैं। इसके अनन्तर ७० पद ऐतश प्रलाप' कहे जाते हैं—जिन्हें अथर्ववेदी योग-विभागरीत्या ७६ पद बनाकर पढ़ते हैं। तत्पश्चात् ६ प्रवल्हिकायें, ६ आजिज्ञासेन्याएँ, ३ प्रतिराध, १ अतिवाद, २ देवनीथ, ३ भूतेच्छद और १६ आहनस्या ऋचाएँ हैं। अथर्ववेदी इन सभी को साहचर्यवश कुन्ताप सूक्त ही कहते हैं। कौषीतकि ब्राह्मण,[१३८] गोपथ ब्राह्मण[१३९] और आश्वलायन श्रौतसूत्र[१४०] भी 'कुन्ताप' नाम का ही प्रयोग करते हैं।

इन सूक्तों का स्वरूप वास्तव में बहुत जटिल है। ब्राह्मणों में 'कुन्ताप' शब्द के जो निर्वचन हैं,[१४१] उनसे भी हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाते। गोपथ के अनुसार कुय नामक किसी कुत्सित वस्तु को तपाने के कारण ये कुन्ताप कहलाये।[१४२] ग्रिफिथ के अनुसार कुन्ताप कुछ निश्चित अंगों या ग्रन्थियों का नाम है।[१४३]

१३१. ऐतरेय ब्राह्मण २.१३; ३.९; ५.९।
१३२. शतपथ ब्राह्मण २.१३; ३.९; ५.९।
१३३. कौषीतकि ब्राह्मण २८.१।
१३४. यज्ञो वै देवभ्य उदक्रमत्तं प्रैषै : ऐच्छन् तत्प्रैषाणां प्रैषत्वम्—ऐतरेय ब्राह्मण ३.९।
१३५. *Vedic Index.*
१३६. ऋक् प्रतिशाख्य १.५७।
१३७. ऐत० ब्रा० ६.३२.१; ३१.१।
१३८. कौषीतकि ब्राह्मण ३०.५।
१३९. गोपथ ब्राह्मण—'अर्थ कुन्तापं शंसति।'
१४०. आश्वलायन श्रौतसूत्र ८.३.7।
१४१. कुयँह वै नाम कुत्सितं भवति तद्यत् तपति तस्मात् कुन्तापा:
१४२. —गोपथ ब्राह्मण २.६.१२
१४३. *Atharvaveda*, Eng. Trans; Griffith, R.T.H.

सम्प्रति कुन्तापसूक्त पूर्णरूप से अथर्ववेद में मिलते हैं। विषय-वस्तु भी इनके आथर्वण स्वरूप की ही ओर इंगित करती है। यद्यपि इनका पदपाठ उपलब्ध नहीं है; अथर्ववेद की ही एक अन्य शाखा पैपलाद में भी ये नहीं मिलते हैं।

खिलों और अथर्ववेद के अतिरिक्त केवल शांखायन श्रौतसूत्र में ही सम्पूर्ण कुन्तापों की अविकल प्रस्तुति हैं।[१४४] अथर्ववेद ने इन सूक्तों के वर्गीकरण में विषय-क्रम की दृष्टि नहीं अपनाई। विषयानुसार सूक्त-विभाजन ब्राह्मणों में हुआ। यागीय आवश्यकता के अनुसार इनका ब्राह्मणकारों ने पुनः सम्पादन किया। इस सन्दर्भ में पूर्वापर क्रम तो संहिता के अनुसार ही रखा गया, किन्तु किस सूक्त में कितने मन्त्र रखे जायें, इसका निर्णय ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर किया गया। फलस्वरूप कुन्तापसूक्तों के इस नये संकलन का नाम निविदध्याय और प्रैषाध्याय की ही भाँति कुन्तापाध्याय रखा गया। यह संभावना छोड़ी नहीं जा सकती कि ऋग्वेद की किसी लुप्तशाखा में कुन्ताप सूक्त थे। कहा जाता है कि २०वां काण्ड या उसका अधिकांश ऋगवेद से ही अथर्ववेद में लिया गया। प्रो० वटकृष्ण घोष और कीथ के अनुसार तो प्रथम १९ काण्डों का ही १/७ वां भाग ऋग्वेद से गृहीत है।[१४५] उनकी तो यहां तक मान्यता है कि ऋग्वेद के उस अंश में जो ्हां से अथर्ववेद में लिया गया, वालखिल्य सूक्त भी सम्मिलित हैं–केवल इतना ही नहीं, कुन्तापसूक्त भ. वालखिल्यों में ही थे।[१४६]

सत्य यह है कि विद्वानों के प्रयत्नों की निरन्तरता बनी रहने पर भी कुन्तापसूक्तों का स्वरूप अद्यावधि अस्पष्ट ही है।

निष्कर्ष

खिलों के स्वरूप के विषय में उपर्युक्त आकलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे ऋग्वेद की जब वह अपने प्राचीनतम रूप में था और तब तक अन्य वैदिक संहिताओं का सम्पादन नहीं हुआ था किसी अन्य लुप्त शाखा में थे। शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और माण्डूकायन शाखाएँ परस्पर कुछ ही अंशों में भिन्न थीं–यह अन्तर कुछ सूक्तों के न्यूनाधिक्य पर निर्भर था, कहीं-कहीं क्रम-भिन्नता भी थी, जिसके साक्ष्य संजोने की चेष्टा चरणव्यूहादि ग्रन्थों में हुई है।

यह पहले कहा ही जा चुका है कि खिलों की बाष्कल शाखा में होने की सम्भावना अधिक है। इस सम्बन्ध में एक तथ्य और है–बृहद्देवता[१४७] से सूचना मिलती है कि 'नेजमेष' सूक्त के द्वितीय मन्त्रगत 'आदधे' को बाष्कलशाखाध्यायी तिङन्त, प्रथम पुरुष और भूतकालिक रूप मानते हैं। यह 'नेजमेष' सूक्त सम्प्रति खिल ही है।

खिल मन्त्र जिन शाखाओं में थे, किसी कारणवश जब वे लुप्त होने लगीं और उनके अध्येता

१४४. *Ibid.*

१४५. *Vedic Age*, p. 406 (Religion and Philosophy of the Vedas and Upanisads.)

१४६. वही।

१४७. आख्याते भूतकरणं बाष्कला आव्ययोरिति, बृहद्देवता ८.२५।

सम्प्रदाय न रहे तब इन्हें वर्तमान शाकल शाखा के अन्त में रख दिया गया। मध्य में रखा भी कैसे जा सकता था? किन्तु सभी खिलों की स्थिति ऐसी नहीं है। कुछ मन्त्र लुप्त शाखाओं के साथ ही प्रचलित शाखा में भी थे। अत: अष्टम मण्डल में जहां वे थे, उन्हें वहीं रहने दिया गया। यह दूसरी बात है कि लुप्त शाखा में वे कुछ भिन्न स्थान पर थे, जैसाकि वालखिल्यों के विवेचन के समय स्पष्ट किया गया।

यह सन्देह से परे है कि अधिकांश खिल मन्त्रकालीन हैं। मन्त्र-संहिताओं में प्राप्य और ब्राह्मणों में उद्धृत खिल अपने मूलरूप और विनियोग के प्राचीनतम प्रमाण हैं। ब्राह्मणों में कहीं-कहीं नकुल, कुन्ताप और वालखिल्य सदृश खिल ऐसे अनुष्ठानों में विहित हैं, जहां वे अनुक्रम और मूल उद्देश्य की दृष्टि से संगत नहीं हैं। यह तथ्य उस पवित्रता और गरिमा का द्योतक है जो खिलों ने ब्राह्मणकाल से पहले अर्जित कर ली थी।

पुरोरुक् निविद् और प्रैष प्रभृति कुछ 'खिल' मन्त्रकाल से भी पूर्ववर्ती हैं–उन्हें प्राचीनतम ऋग्वेद-काल में रखा जा सकता है। निविदों को डॉ॰ नियोगी ने पूर्वऋग्वेदकालीन प्रमाणित किया है।[१४९]

कुछ खिल यजुर्वेद-काल से पहले के हैं; कुछ परवर्ती वैदिकांश हैं और बहुत से 'सुभेषज' आदि यजुर्वेदीय सूक्तों के पूर्वकल्पित रूप हैं।

सामान्य निष्कर्ष यह है कि खिलानुक्रमणी में पठित सभी खिल वैदिक काल के हैं, जब यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद की संहिताओं का संकलन हो रहा था तथा ये उस रूप को प्राप्त कर चुकी थीं जिसमें आज मिलती हैं।

शेफ्टेलोवित्झ ने कुछ खिलों को परवर्ती ब्राह्मणकालीन बतलाया है। अधिकांश खिल ब्राह्मणग्रन्थों की साहित्यिक मान्यताएँ स्थापित होने से पूर्व ही रचे जा चुके थे और तभी वे अपने उन विशिष्ट अनुष्ठानों में, बिना विपुल मान्यता पाये ही विनियुक्त हो चुके थे, जिनमें वे आज हैं। वस्तुत: शेफ्टेलोवित्झ के कथन में इसलिए भ्रान्ति आ गई है कि उन्होंने मन्त्र-काल और मन्त्रों के यज्ञादि में व्यवहार-काल, दोनों को एक में मिला दिया। कहना चाहिए कि दोनों कार्यों अर्थात् मन्त्रों की रचना और उनके प्रयोग-विनिमय के मध्य एक दीर्घकालावधि है।

तात्पर्य यह कि कुछ भी हो, सभी खिल सामान्यत: मन्त्रकालीन ही हैं। खिलों का संग्रह अवश्य बहुत परवर्ती काल में हुआ। यह संभवत: वह काल है, जब अनुक्रमणियों की रचना हुई। पृथक् संगृहीत होने के अनन्तर ही वे 'खिल' कहलाए।

ऋषियों की एकता खिलों की वैदिकता और परम्परा को प्रमाणित करने वाली अत्यन्त सुदृढ़ कड़ी है। ऐसे ऋषियों की तालिका बड़ी लम्बी है, जो ऋग्वेद और खिल-संग्रह में समान रूप से आते हैं। इन ऋषियों ने ऋग्वेदीय मन्त्रों के साथ ही खिलों का भी साक्षात्कार किया है। इन ऋषियों में प्रस्कण्व काण्व, तार्क्ष्यपुत्र सुपर्ण, ऋजिश्वा भारद्वाज, गौरीवीति (शक्ति के पुत्र), मेध्य काण्व, सोभारि पुत्र कुशिक प्रभृति है। इस प्रकार ऋषियों की अभिन्नता खिलों को मूल वैदिक मन्त्र-संहिताओं से अभिन्न सिद्ध करती है।

१४८. The 'Nivids' are mantras of the old Rigvedic period well known to the inspired sages of high antiquity. —A Critical Study of the Nivids, p. 2.

यजुर्वेद संहिता

'यजुष्' शब्द की निरुक्ति यास्क ने 'यज्' धातु से बतलाई है–'यजुर्यजते:' (निरुक्त ७.१२)। तदनुसार इस संहिता का यज्ञ से सन्निकट का सम्बन्ध है। इसे 'अध्वर्युवेद' भी कहा जाता है, क्योंकि इन मन्त्रों के द्वारा अध्वर्यु नामक ऋत्विक् यज्ञ के शरीर का संपादन करता है :

'अध्वर्युनामक एक ऋत्विक् यज्ञस्यस्वरूपं विशेषेण निष्पादयति। 'अध्वर्युः' इत्यत्र छान्दस्या प्रक्रियया लुप्तमकारं पुनः प्रक्षिप्य 'अध्वरयुः' इति नाम संपादनीयम्। अध्वरं युनक्ति इति अवयवार्थः। अध्वरस्य नेता इति तात्पर्यार्थः'–(ऋग्भाष्यभूमिका)।

सायण ने तैत्तिरीय-भाष्य की भूमिका में यजुर्वेद को भित्तिरूप और अन्य दो वेदों को चित्र स्थानीय बतलाया है–'भित्तिस्थानीयो यजुर्वेदश्चित्रस्थानीयावितरौ। तस्मात्कर्मसु यजुर्वेदस्यैव प्राधान्यम्।'

'यजुष्' का एक अन्य अर्थ भी है–तदनुसार 'यजुष्' गद्यात्मक मन्त्र हैं–'अनियताक्षरावसानो यजुः।' इन्हीं गद्यात्मक मन्त्रों का इस वेद में बाहुल्य है, यद्यपि कहीं-कहीं ऋचाएँ भी हैं।

यजुर्वेद की शाखाएँ एवं विस्तार–ऐतिहासिक दृष्टि से वेदव्यास से यह संहिता उनके शिष्य वैशम्पायन को प्राप्त हुई। वैशम्पायन का ही दूसरा नाम चरकाचार्य भी था। उसी परम्परा से उनके शिष्य भी चरक ही कहलाये, जैसाकि श्रीमद्भागवत (१२.६.६१) में कहा गया है–'वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्वर्यवोऽभवन्।' इन अन्तेवासियों की संख्या नौ थी। क्रमशः उनके नाम ये हैं–आलम्बि, कालिङ्ग (महाभाष्य में 'पलंग' नाम भी है), कमल, ऋचाभ, आरुणि, ताण्ड्य, श्यामायन, कठ और कलापी। इनमें से, पातञ्जल महाभाष्य के अनुसार प्रथम तीन प्राच्यदेशवर्ती हैं, मध्यवर्ती तीन का सम्बन्ध उदीच्यभाग से है और अन्तिम तीन मध्यभाग के हैं। इन्हीं से यजुर्वेद की २७ शाखाओं का विस्तार हुआ।

सम्प्रति यजुर्वेद की दो प्रमुख शाखाएँ हैं कृष्ण यजुर्वेद और शुक्लयजुर्वेद। इनकी भी अवान्तर अनेक शाखाएँ हैं। कृष्णयजुर्वेद ब्रह्म सम्प्रदायान्तर्गत है और शुक्ल यजुर्वेद आदित्य सम्प्रदाय से सम्बद्ध। वास्तव में इनके शुक्लत्व और कृष्णत्व का स्वरूपगत कारण यह है कि शुक्लयजुर्वेद में केवल मन्त्र संकलित हैं, जबकि कृष्णयजुर्वेद में मन्त्रों के साथ ब्राह्मणभाग भी सम्मिश्रित है। यों एक आख्यायिका भी इस सन्दर्भ में प्रचलित है। तदनुसार वैशम्पायन कदाचित् अपने शिष्य योगी याज्ञवल्क्य से रुष्ट हो गये और अपने द्वारा प्रदत्त मन्त्रराशि को लौटाने का आग्रह किया। याज्ञवल्क्य ने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर वमन-प्रक्रिया से स्वाधीत यजुषों को निस्सारित कर दिया, जिन्हें वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने तित्तिरि रूप में धारण कर लिया। आगे चलकर याज्ञवल्क्य ने सूर्य की उपासना की और उनके अनुग्रह से शुक्ल यजुर्वेद की शाखा का प्रवर्तन किया।[१४९]

१४९. आदित्याल्लब्धवान्यस्तु शाखाः पञ्चदशापराः।
तं याज्ञवल्क्यं वन्देऽहं मन्त्र-भाष्यप्रसिद्धये।।

–उव्वट, यजुर्वेद-भाष्योपक्रमणिका।

शुक्ल यजुर्वेद

वाजसनेयि संहिता इस वेद की है। इसकी दो शाखाएं हैं माध्यन्दिनीया और काण्व शाखा। वाजसनेय याज्ञवल्क्य का ही पितृ-परम्परागत नामान्तर है। वाजसनि नाम था उनके पिता का। पुराणों में कहीं-कहीं याज्ञवल्क्य के पिता का नाम देवरात कहा गया है। संभवत: अन्नदान के कारण 'वाजसनि' उनकी उपाधि थी।[१५०] याज्ञवल्क्य का आश्रम आबू पर्वत के पास वृद्धनगर (वडनगर) में बतलाया गया है–इसी वृद्ध नगर के अन्य नाम ये हैं–चमत्कारपुर, आनन्दपुर, आनर्तपुर, वर्धमानपुर। मिथिला नरेश जनक के आमन्त्रण पर याज्ञवल्क्य मिथिला में जाकर रहे थे।[१५१]

माध्यन्दिनीया शाखा का प्रचार सरयू तटवर्ती क्षेत्रों–काशी, कोसल, लखनऊ के आस-पास माना जाता है।

माध्यन्दिन संहिता की व्यवस्था एवं विषय-वस्तु–इसमें १९७५ मन्त्र तथा ४० अध्याय हैं, जिनमें १५ खिल माने जाते हैं। ४०वां अध्याय ईशावास्योपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध है। अन्य अध्यायों में निरूपित विषयवस्तु का विवरण इस प्रकार है :

प्रथम दो अध्याय-दर्शपूर्णमास इष्टियों के मन्त्र; तृतीय अध्याय-अग्न्याधान के उपस्थान और चातुर्मास्य से सम्बद्ध मन्त्र। चतुर्थ से अष्टम अध्याय तक–अग्निष्टोम के मन्त्र। नवम तथा दशम अध्यायों में वाजपेय और राजसूय यागों के मन्त्र। ११-१२ अध्यायों में उरवा-सम्भरण और धारण के मन्त्र। १३वें से १८वें तक अग्निचयन से सम्बद्ध मन्त्र हैं। यज्ञ-वेदी की रचना विशिष्ट स्थानों से समानीत १०८०० ईंटों से होती है। १६वें अध्याय में शतरुद्रिय होम का विवरण है। वेदपाठियों में इसे रुद्राध्याय या संक्षेप में 'रुद्री' कहा जाता है–जिसकी लोक में भी अनेक अरिष्टों के निवारणार्थ मान्यता है। १८वें अध्याय में वसोर्धारा विषयक मन्त्र हैं। वसोर्धारा का अभिप्राय घृत की वह अविच्छिन्न धारा है, जिससे यजमान होम करता है। इसमें उदुम्बर के स्रुवा का प्रयोग किया जाता है। १९ से २१ अध्यायों में सौत्रामणी संज्ञक याग से सम्बद्ध मन्त्र हैं। सौत्रामणी याग का अनुष्ठान राज्यच्युत राजा अपने राज्य को पुन: पाने के लिए करता है। उव्वट-भाष्य के अनुसार इन्द्र की चिकित्सा के लिए अश्विनदेवयुग्म और सरस्वती ने इस याग का साक्षात्कार किया था। यही एक ऐसा श्रौतयाग है, जिसमें सुरा-पान विहित है-'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्।' २२वें से २९वें अध्याय तक अश्वमेध याग के विभिन्न कृत्यों के मन्त्र संकलित हैं। इस याग का अनुष्ठान वे सम्राट् करते रहे हैं, जो सार्वभौम साम्राज्य की उपलब्धि के लिए महत्त्वाकांक्षी रहे हैं। ३०वें अध्याय में पुरुषमेध के मन्त्र हैं। इस अध्याय में १८४ व्यवसायों में निरत लोगों का उल्लेख है। इन्हें यज्ञ-यूप में स्पर्श कराकर छोड़ दिया जाता है। यह एक प्रतीकात्मक याग है। वैदिक काल में कितने शिल्प

१५०. वाज इत्यन्नस्य नामधेयम्, अन्नम् वै वाज इति श्रुते:। वाजस्य सनिर्दानं यस्य महर्षेरस्ति सोऽयं वाजसनिस्तस्य पुत्रो वाजसनेय इति याज्ञवल्क्यस्य नामधेयम्।
–सायणाचार्य, काण्वसंहिता भाष्योपक्रमणिका।

१५१. ब्राह्मणे यज्ञवल्क्यस्तु विज्ञातो येन केन तु।
विदेहेन तत: प्राप्त: श्रवणार्थं नराधिप:।।

–स्कन्दपुराण, नागरखण्ड।

और व्यवसाय प्रचलित थे, इसकी अच्छी जानकारी इस अध्याय से मिल जाती है। उदाहरण के लिए इस प्रसंग में सूत, शैलूष, सभाचर, भीमल (भयोत्पादन का अभिनय करने वाले), रेभ (विभिन्न बोलियाँ बोलने वाले), काटि (विशिष्ट औजारों वाले शिल्पी), रथकार, तक्षा, कौलाल, कर्मार, लोहार, मणिकार (जौहरी), इषुकार (बाण निर्माता), धनुष्कार (धनुष निर्माता), मृगयु (आखेटक) इत्यादि। ३१वें अध्याय (१६ मन्त्रों तक) में सुप्रसिद्ध पुरुषसूक्त हैं। इस अध्याय के अन्तिम छह मन्त्र आदित्योपस्थानपरक हैं। ३२वें और ३३वें अध्यायों में सर्वमेधपरक मन्त्र और पुरोरुक् हैं। ३४वें अध्याय में, अपनी उदात्त भावनाओं और मनोविज्ञान के कारण सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में विख्यात 'शिवसंकल्प मन्त्र' संगृहीत हैं। इन छह मन्त्रों को उपनिषद् की मान्यता प्राप्त है। अन्य मन्त्र अग्नि और सवितृपरक हैं। ३५वें अध्याय में पितृमेध के मन्त्र हैं। पितृमेध वास्तव में मृतक के वार्षिक स्मरण (वर्षी) का नाम है। ३६वें से ३९वें तक के अध्यायों में प्रवर्ग्येष्टि से सम्बद्ध मन्त्र हैं। महावीर संज्ञक पात्र में गर्म दूध में गर्म घी को मिलाकर उससे जो होम होता है, वह प्रवर्ग्य कहलाता है।

वाजसनेयी संहिता के कुछ उत्कृष्ट मन्त्र—उपर्युक्त विवरण पर आपात् दृष्टि-निक्षेप करने पर यही प्रतीत होता है कि इस संहिता में केवल श्रौत यागों के नीरस मन्त्र संकलित हैं—किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। इसमें अनेक स्थलों पर आकर्षक भाव-भंगिमाओं और अन्तःकरण को उत्प्रेरित करने वाले सुन्दर मन्त्र संगृहीत हैं। शिव संकल्प सूक्त के ये मन्त्र द्रष्टव्य हैं :

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।

मेरा जो मन जाग्रत अवस्था के ही समान सुप्तावस्था में भी दूर चला जाता है, वह परम दूरगामी, ज्योतिर्मय पिण्डों को भी प्रकाशित करने वाला मन शिवसंकल्प से युक्त हो जाये।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।

—जैसे श्रेष्ठ सारथी वल्गाओं से नियमित करते हुए वेगवान अश्वों को सन्मार्ग पर चलने के लिए बारंबार प्रेरित करता है, उसी प्रकार मन भी मनुष्यों को सत्कार्य की दिशा में उन्मुख करता है। वह हृदय में स्थित, सतत युवा और सर्वाधिक वेगशाली हमारा मन कल्याणमय संकल्प से संयुक्त हो जाये।

३१वें अध्याय के एक मन्त्र में कहा गया है कि परमात्मज्ञान के बिना मृत्यु से छुटकारा पाने का अन्य कोई मार्ग नहीं है :

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात।
तमेव विदित्त्वा ऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्येतऽयनाय।।

इस संहिता के अन्तिम अध्याय की मान्यता 'ईशावास्योपनिषद्' के रूप में है—यह कहा ही जा चुका है। ईशोपनिषद् में कर्म करते हुए और त्यागमय जीवन जीते हुए १०० वर्षों तक मनुष्य

के जीवित रहने की कामना की गई है। इस उपनिषद् का वैशिष्ट्य उपनिषदों के अध्याय में प्रदर्शित है।

काण्वसंहिता

इस संहिता का सम्बन्ध महर्षि कण्व से माना जाता है। ऋग्वेद के प्रथम, अष्टम और नवम मण्डलों में कण्ववंशीय ऋषियों के मन्त्र प्राचुर्येण उपलब्ध हैं। ऋग्वेद के विभिन्न मन्त्रों में काण्वों की सभा, उनके सोमसवन, यज्ञों के अनुष्ठान, स्तुति-वाचन, दान प्रभृति का वर्णन है। इनके निवास-स्थान के रूप में कुरु-पाञ्चाल का उल्लेख स्वयं काण्व संहिता में ही है–'एष वः कुरवो राजा, एष वः पाञ्चालो राजा' (११.११) आगे इस शाखा का प्रचार कृष्णवेणा प्रदेश (महाराष्ट्र) में भी हुआ। आदित्यपुराण के अनुसार शाखा प्रवर्तक कण्व बौधायन के पुत्र और याज्ञवल्क्य के शिष्य थे :

बोधायन पितृत्वाच्च प्रशिष्यत्वाद बृहस्पतेः।
शिष्यत्वाद याज्ञवल्क्यस्य कण्वोऽभून्महतो महान्।।

काण्वशाखाध्यायी मन्त्रों का उच्चारण ऋग्वेदीय मन्त्रों के समान करते हैं, जैस 'पुरुषाः' का 'पुरुषाः' रूप में उच्चारण, जबकि माध्यन्दिनीय 'पुरुरवाः' रूप में। इसी प्रकार के कुछ अन्य भेद भी हैं।

वाजसनेयी संहिता के सदृश इसमें भी ४० अध्याय हैं ३२८ अनुवाक् और २०८६ मन्त्र हैं। शंकराचार्य ने इसी शाखा के अन्तर्गत आने वाली ईशोपनिषद् को मान्यता दी है। मन्त्रों के क्रम की दृष्टि से वाजसनेयी संहिता और काण्व संहिता में बहुत भिन्नता है। उदाहरण के लिए 'अग्निं दूतं पुरोदधे' मन्त्र वाजसनेयी में २२वें अध्याय (-१७वां मन्त्र-) में आता है, जबकि काण्व में २४वें अध्याय के अन्तर्गत है। पं॰ सातवलेकर ने काण्व संहिता के अपने संस्करण में इन भिन्नताओं को अन्त में पूर्णतया प्रदर्शित कर दिया है। ऋग्वेद के भी जो मन्त्र शुक्ल यजुर्वेद की दोनों संहिताओं में आये हैं, उन्हें उन्होंने मण्डलानुक्रम से दिखा दिया है। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि माध्यान्दिन संहिता से इसमें १११ मन्त्र अधिक हैं।[१५२]

कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताएँ

'चरणव्यूह' के अनुसार कृष्णयजुर्वेद की कुल ८५ शाखाएँ होनी चाहिए, किन्तु सम्प्रति चार शाखाएँ उपलब्ध हैं–तैत्तिरीय, मैत्रायणी, कठ एवं कपिष्ठल-कठ संहिता। इनका विवरण इस प्रकार है:

(१) **तैत्तिरीय संहिता**–वैशम्पायन के शिष्यों के द्वारा तित्तिरिरूप में ग्रहण करने से ही कृष्ण

१५२. श्रीधर अण्णाशास्त्री वारे, चिदम्बर शर्मा प्रभृति वेदज्ञों की सहायता से स्व॰ पं॰ सातवलेकर ने 'काण्व संहिता' का सुन्दर संस्करण संपादित कर प्रकाशित किया है। सायण-भाष्य सहित काण्वसंहिता संपूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय वाराणसी तथा वैदिक संशोधन मण्डल, पुणे से भी प्रकाशित हैं। पुणे-संस्करण का संपादन प्रो॰ बेल्लिकोतु रामचन्द्र शर्मा ने किया है।

यजुर्वेद का प्रचलन हुआ–यदि इस आख्यायिका पर विश्वास किया जाये, तो कृष्ण यजुर्वेद की प्रतिनिधि संहिता यही होनी चाहिए और इस शाखा से सम्बद्ध समग्र ग्रन्थों के उपलब्ध होने से इस तथ्य की पुष्टि भी होती है। अभिप्राय यह कि तैत्तिरीय शाखा में संहिता के अतिरिक्त ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र सभी ग्रन्थ प्राप्त हैं। सायणाचार्य की अपनी शाखा यही थी, इसलिए उन्होंने इस पर बड़े विस्तार से भाष्य-प्रणयन किया है।

तैत्तिरीय संहिता में सात काण्ड, ४४ प्रपाठक तथा ६३१ अनुवाक हैं। विषय-वस्तु में शुक्ल यजुर्वेद से पर्याप्त समानता होते हुए भी कुछ भिन्नता है। तैत्तिरीय संहिता में प्रथम अनुवाक 'वत्सापाकरण' में विनियुक्त है। वत्सापाकरण में बछड़े अपनी माता गायों से दोहन के लिए पृथक् कर दिये जाते हैं यह कार्य पलाश की सद्यश्छिन्न शाखा से किया जाता है। सायणाचार्य के अनुसार इस वेद में समाम्नात दर्शपूर्णमासेष्टि के मन्त्रत्रिविध हैं–आध्वर्यव, याजमान और हौत्र। इनमें १३ अनुवाकों में आध्वर्यव मन्त्र ही विहित हैं, जिनमें से प्रथम का उल्लेख हो ही चुका है। द्वितीय में बर्हिसंपादनार्थक, तीसरे में दोहनार्थक, चौथे में हविषनिर्वापार्थक, पञ्चम में व्रीहि-अवघात हेतु षष्ठ में तण्डुल पीसने से सम्बद्ध, सप्तम नें कपालोपधानार्थक अष्टम में पुरोडाशनिष्पादनार्थक, नवम में वेदिकरणार्थक, दशम में आज्यग्रहण तथा पत्नीसंनहन से सम्बद्ध, ११वें में इध्मसंनहनार्थक तथा कुशास्तरणार्थक, १२वें में आघारार्थक और १३वें में सामिधेनी इत्यादि से सम्बद्ध मन्त्र संकलित हैं।

(२) **मैत्रायणी संहिता**[१५३]–'चरणव्यूह' में मैत्रायणीयों की गणना १२ कठों के अन्तर्गत की गई है। आगे ये सात बतलाये गये हैं–मानव, वाराह, दुन्दुभ, ऐकेय, हरिद्रवीय, श्याम और श्यामायनीय। इससे ज्ञात होता है कि मैत्रायणी शाखा की गणना यजुर्वेद की प्रारम्भिक शाखाओं में होती रही है। पं० भगवद् दत्त तथा सातवलेकर जी ने हरिवंशपुराण के एक उल्लेख[१५४] का आश्रय लेकर मैत्रायण या मैत्रेय ऋषि को इस शाखा का प्रवर्तक बतलाया है।[१५५] श्रोदर ने यह संभावना व्यक्त की है कि कठों की घनिष्ठता में आने वाली कालाप शाखा ही कालान्तर से मैत्रायणी शाखा में परिणत हो गई।[१५६] बी.सी. लेले नें भी मैत्रायणी को कालापक शाखा से पुनर्गठित संहिता माना है। रामकृष्ण शास्त्री पाठक ने मैत्रायणी को वैशम्पायन के प्रारम्भिक शिष्यो के अन्तर्गत मानकर इस संहिता को कृष्ण यजुर्वेदान्तर्गत न मानकर सीधे आद्य यजुर्वेद से जोड़ा है।[१५७] अनेक

१५३. सायण-भाष्य सहित संस्करण आनन्दाश्रम, पूना से १९७८ में प्रकाशित (चतुर्थावृत्ति)। भट्टभास्कर, मिश्र के भाष्य के साथ प्रकाशित मैसूर-संस्करण का पुनर्मुद्रण मोतीलाल बनारसी दास के द्वारा/कीथ ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया है–हावर्ड सीरीज में।

१५४. अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि दिवादासस्य सन्ततिम्।
दिवोदासस्य दायादो ब्रह्मर्षिः मित्रयुर्नृपः।।
मैत्रायणस्ततः सोमो मैत्रेयास्तु ततः स्मृताः।

–हरिवंश, १.३२.७५–७६

१५५. (क) त्वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भगवद्दत्त।
(ख) मैत्रायणी संहिता की प्रस्तावना, पृष्ठ ११।

१५६. श्रोदर द्वारा संपादित मैत्रायणी संहिता की भूमिका, पृ० १३।

१५७. मानवगृह्यसूत्र (ed. by Tole), Preface, p. 6-7.

तथ्य ऐसे मिलते हैं जो मैत्रायणी संहिता को शुक्ल यजुर्वेद के निकट ले जाते हैं।[१५८]

चरणव्यूह में एक आभाणक उल्लिखित है,[१५९] जिसके अनुसार मयूर पर्वत से गुजरात तक यह शाखा विशेष प्रचलित थी। तदनुसार इसका प्रसार आधुनिक खानदेश, नासिक और मोर्वी में होना चाहिए। इसके अधिकांश हस्तलेख नासिक और मोर्वी में ही प्राप्त हुए हैं। गुजरात के मोढ़ ब्राह्मण इस शाखा के अनुयायी हैं।

संहिता में मुख्यत: चार भाग माने गये हैं–अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य सौम्य अध्वर (मैत्रा० सं० १.९.५)। इन चार भागों के अवान्तर भेदों को मिलाकर इस संहिता में कुल १४ यज्ञों–अग्न्याधान, अग्न्युपस्थान, पुनराधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम (अवभ्य, अतिरात्र और षोडशी सहित), राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, सौत्रामणी, प्रवर्ग्य, गोनामिक और अग्निचिति का व्याख्या सहित विशद वर्णन है। अश्वमेध, सौत्रामणी और प्रवर्ग्य के मन्त्र मात्र हैं–उनसे सम्बद्ध ब्राह्मण भाग नहीं। इनमें से गोनामिक का वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता।

सम्पूर्ण मैत्रायणी संहिता में चार काण्ड और ५४ प्रपाठक हैं। इनमें से ४४ प्रपाठकों में केवल मन्त्र हैं और १७ में मात्र ब्राह्मण। शेष १० प्रपाठकों में प्रकरण की एकरूपता और मन्त्र-ब्राह्मण के विभाग का पूरी तरह ध्यान रखा गया है।

मैत्रायणी संहिता में कुल २१४४ मन्त्र हैं, जिन में १७०१ ऋचाएँ ऋग्वेद से उद्धृत हैं।

काठक संहिता–कृष्णयजुर्वेद के अन्तर्गत इस शाखा का विशेष महत्त्व रहा है। पतञ्जलि के व्याकरण महाभाष्य के अनुसार कदाचित् गाँव-गाँव में इस शखा का प्रचार था–'ग्रामे-ग्रामे कठं कालापकं च प्रोच्यते।' 'चरणव्यूह' में १२ कठों का उल्लेख है–चरक, आह्वरक, भ्राजिष्ठलकठ, प्राच्यकठ, कपिष्ठलकठ, वारायणीय, चारायणीय, श्वेत, श्वेताश्वतर, औपमन्यव, पाताण्डिनेय और मैत्रायणीय। अन्यत्र देश और द्वीप भेद से कठों की १३ अवान्तर शाखाएँ बतलाई गई हैं। ये हैं–पिञ्जुलकठ (क्रौञ्चद्वीप), औदलकठ (शाकद्वीप), सपिच्छलकठ (शाकद्वीप), मुद्गलकठ (कश्मीर), श्रृङ्गलकठ (सृंज), सौभरकठ (सिंहल), मौरसकठ (कुशद्वीप), चुचुकठ (यवनदेश), योगकठ (वही), हपिकठ (वही), दौसलकठ (सिंहल), घोषकठ (क्रौञ्चद्वीप) तथा जृम्भकठ (श्वेतद्वीप)।

ब्रह्म पुराण में प्राप्त विवरण[१६०] के अनुसार कठों के मूल पुरुष महर्षि कठ भरद्वाज ऋषि के शिष्य और बहनोई दोनों थे। भरद्वाज की रेवती नाम की बहन कठ को ब्याही थी। ऋषि कठ को श्रुतर्षि कहा गया है।

काठक संहिता में पांच खण्ड हैं–इठिमिका, मध्यमिका, ओरिमिका, याज्यानुवाक्या तथा अश्वमेधाद्यनुवचन। प्रत्येक खण्ड (ग्रन्थ) का अवान्तर विभाजन स्थानकों में है। प्रथम चार खण्डों में ४० स्थानक हैं। पञ्चम खण्ड अनुवचनों में विभक्त है–जिसमें १३ अनुवचन हैं। सम्पूर्ण संहिता में ८४३ अनुवाक तथा ३०९१ मन्त्र हैं। मन्त्र–ब्राह्मणों की सम्मिलित संख्या १८ हजार है। इठिमिका

१५८. मैत्रायणी संहिता (थीसिस)-वेदकुमारी विद्यालंकार, पृ० ९–१०।

१५९. मयूरपर्वताच्चैव यावद्गुर्जरदेशत:। व्याप्ता वायव्यदेशा तु मैत्रायणी प्रतिष्ठिता।

१६०. ब्रह्मपुराण (गोदामहात्म्य) ५०वाँ अध्याय।

खण्ड में पुरोडाश, अध्वर, अग्निहोत्र, पशुबन्ध, वाजपेय, राजसूय प्रभृति का वर्णन है। मध्यमिका खण्ड में सावित्र इत्यादि का निरूपण है। ओरिमिका में सत्र तथा सवयागों के अतिरिक्त सौत्रामणी, यदक्रन्द तथा हिरण्यगर्भ का विवरण है। अन्तिम खण्ड में पन्थानुवचन हैं।

इस संहिता की स्वर-प्रक्रिया कुछ भिन्न है। इसमें उदात्तस्वर ऊर्ध्वरेखा से अंकित हैं। अनुदात्त स्वर अरेखित है। स्वरित स्वर को प्रदर्शित करने के लिए नीचे बिन्दु रख देते हैं; यथा : 'इषे त्वोर्जे त्वा।'

प्रचयादि स्वर अचिह्नित ही रहते हैं। काठक-संहिता के बहुसंख्यक मन्त्र अन्य संहिताओं में मिल जाते हैं। इस शाखा के ब्राह्मण और आरण्यक तो उद्धरणों के रूप में ही उपलब्ध हैं, किन्तु कठ उपनिषद्, काठक श्रौतसूत्र और काठक गृह्यसूत्र उपलब्ध हैं। श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र लौगाक्षि के नाम से प्रसिद्ध हैं। उपनिषदों के मध्य कठोपनिषद् के विशिष्ट महत्त्व से हम परिचित ही हैं।

कपिष्ठल-कठ संहिता—चरव्यूह में कठों के अन्तर्गत 'कपिष्ठल कठः' के रूप में इस शाखा का भी उल्लेख है। निरुक्त के वृत्तिकार दुर्गाचार्य ने अपने को वसिष्ठ गोत्रीय कपिष्ठल ऋषि का वंशज कहा है—'अहं च कापिष्ठलो वासिष्ठः' (निरुक्त-वृत्ति ४.४) विद्वानों का अनुमान है कि कपिष्ठल ऋषि के नाम के आधार पर ही आधुनिक 'कैथल' स्थान है। डॉ॰ रघुवीर ने लाहौर से, सन् १९३२ में इसका एक संस्करण निकाला था, जो अपूर्ण है। इसका विभाजन ऋग्वेद के सदृश अष्टकों और अध्यायों में है। प्रथम अष्टक के आठों अध्याय ठीक हैं। इसकी विषय-वस्तु काठक-संहिता के समान ही है।

श्रौत यागों के समग्र स्वरूप के परिज्ञान के लिए यजुर्वेद की विभिन्न शाखाएँ अत्यन्त उपादेय हैं।

सामवेद संहिता

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार बिना सामों के यज्ञानुष्ठान नहीं सम्पन्न हो सकता है—'नासाम यज्ञो भवति।' अनेक ऋग्वेदीय मन्त्रों (५.४४.१४; २.४३.२; १.१०७.२) में भी सामों की महिमा का उल्लेख है। समस्त सामवेद का मूलतत्त्व और उद्गीथ का नामान्तर ओङ्कार भगवत्स्वरूप है। इसीलिए गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने सामवेद को ही अपना स्वरूप बतलाया है—'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (गीता १०.२२)।

सामवेद को उद्गातृवेद भी कहा जाता है, क्योंकि यज्ञ में उद्गातृ ऋत्विक् ही इन सामों का गान करता है। सामों के अनेक अवान्तर भेद-प्रभेद और उनके नामधेय ऋगादि अत्यन्त प्राचीन संहिताओं में प्राप्त होने के कारण साम-गान-परम्परा बहुत पुरातन प्रतीत होती है।

वैदिक भाष्यकारों की दृष्टि में सामवेद की उपादेयता

याज्ञिक दृष्टि से सामवेद की प्रयोजनशीलता पर विचार करते हुए सायणाचार्य का कथन है कि अध्वर्यु के द्वारा यज्ञ के शरीर का निर्माण सम्पन्न हो जाने पर होतृगण उसे शस्त्र, याज्या और

अनुवाक्याओं से अलङ्कृत करता है; तदन्तर उद्गातृ-वृन्द यज्ञदेह को आज्य-पृष्ठादि स्तोत्रों से विभूषित करता है। सामों की स्थिति यज्ञ-देह को मण्डित करने वाली मणियों और मुक्ताओं के सदृश हैं :

शस्त्रयाज्यानुवाक्याभिर्होताऽलङ्कृरुतेऽध्वरम्।
आज्यपृष्ठादिभिः स्तोत्रैरुद्गाताऽलङ्करोत्यमुम्।।

× × × ×

जाते देहे भ्वत्यस्य कटकादिविभूषणम्।
आश्रितं मणि-मुक्तादिकटकादौ यथातथा।।
यजुर्जाते यज्ञ-देहे स्यादृग्भिस्तदविभूषणम्।
सामाख्या मणि-मुक्ताद्या ऋक्षु तासु समाश्रिताः।।[१६१]

'साम' का अभिप्राय–छान्दोगय तथा बृहदारण्यक उपनिषदों में प्राप्त उक्तियों से ज्ञात होता है कि साम ऋगाश्रित होता है।[१६२] 'साम' शब्द का निर्वचन भी यही प्रदर्शित करता है–'सा च अमश्च तत् साम्नः सामत्वम्।[१६३] 'सा' का अर्थ है 'ऋक्' उससे सम्बद्ध 'अम्' षड्जादि स्वरों का उपलक्षक है। तात्पर्य यह कि सामवेद गानस्वरूप है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद केवल मन्त्रात्मक हैं; किन्तु सामवेद मात्र तद्वत् नहीं है। वह अगाश्रयभूत होते हुए भी प्रधानतः गानमय ही है, जैसा कि जैमिनि का सूत्र है-'गीतिषु सामाख्या।'[१६४] 'साम' संज्ञा मन्त्रगत गीतियों की ही है, केवल मन्त्र की नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् के शालावत्य-दालभ्य'संवाद में कहा गया है–'का साम्नो गतिरिति? स्वर इति होवाच।'[१६५] बृहदारण्यक उपनिषद् में पुनः यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साम का स्वर ही उसका अपना स्वरूप है–'तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति, हास्य स्वं स्वर एव स्वम्।'

ऋक्-साम सम्बन्ध–जैसा कि ऊपर कहा गया है, ऋगाश्रित गान ही सामवेद में उपलब्ध हैं। इससे व्यक्त होता है कि ऋक् और साम का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। पूर्वमीमांसा के प्रवर्तक जैमिनि ने इस सम्बन्ध को ध्यान में रखकर ही सर्वप्रथम ऋक् का लक्षण किया। तत्पश्चात् साम का ! 'यजुष्' का लक्षण उन्होंने अन्त में किया[१६६] जबकि शतपथादि में ऋगनन्तर यजुर्वेद ही

१६१. सामवेदभाष्य भूमिका, ८, १२–१३ (पृष्ठ)

१६२. ऋचि अध्यूढं साम गीयते (छाप० उप०, १.६.१; अमोऽहमस्मि सात्वं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्योरहं पृथिवी त्वम्। ताविह संभवाव
प्रजामाजनयावहै–अथर्व०सं० १४.२.७१; ऐत० ब्रा०, ८.२७; बृहदा० उप०, ६.४.२०

१६३. बृहदा० उप०, १.३.२२ तथा जैमि० उप० ब्रा०, १.५३.५

१६४. जैमिनि-सूत्र, २.१.३७; इस पर शबरस्वामी का भाष्य है–'विशिष्टा काचिद् गीतिः सामेत्युच्यते', तथा 'गीतिर्नाम क्रिया ह्याभ्यन्तरजन्या स्वरविशेषाणामभिव्यञ्जिका 'साम' शब्दाभिलप्या सा नियमप्रमाणायमृचि गीयते' (मी०सू०, ९.२.२९ पर भाष्य)।

१६५. छा० उप० १.८.४.४

१६६. तेषामृग्यत्रार्थवशेनपादव्यवस्था; गीतिषु सामाज्या, शेषे यजुः शब्दः–मी०सू० २.१.३५–३७

उल्लिखित है, सामवेद का नाम तृतीय स्थान पर है–'त्रयो वेदा अजायन्त–अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात् सामवेदः।[१६७]

सम्प्रति सामवेदीय मन्त्रों में से ९९ मन्त्रों को छोड़कर अवशिष्ट सभी मन्त्र ऋग्वेद में प्राप्त हो जाते हैं–इन ९९ मन्त्रों के विषय में कहा जाता है कि ये ऋग्वेद की किसी लुप्त शाखा में रहे होंगे। स्व०पं० सातवलेकर ने भी इससे साहमत्य व्यक्त किया है।[१६८] किन्तु इससे मैक्डानेल, विण्डरनित्स प्रभृति के उस अभिमत[१६९] की पुष्टि नहीं होती, जिसके अनुसार ऋग्वेद से सामवेद उद्धृत है। सामवेदियों की यह दृढ़ मान्यता है कि **सामवेद संहिता का अपना स्वतन्त्र सवरूप है। वह ऋग्वेद की किसी वर्तमान या लुप्त संहिता से उद्धृत नहीं की गई**। इस सन्दर्भ में पं० रामनाथ दीक्षित का कथन उल्लेख्य है–'ततश्च गृत्समदादीनां मण्डलदष्ट्णां काले सामवेद आसीदेव। अतएव ऋग्वेदसंहितायाभिन्नामिमां संहिताम्, ऋग्वेदसंहिताव्याख्यया अस्या अगतार्थतां च मन्यमानेन सायणाचार्येण पृथक् व्याख्यानाय प्रयत्न आश्रीयते स्म। अपि न स जानाति ऋग्वेदादत्र मन्त्रा उद्धृता इति। ततश्चेयं संहिता यजुर्वेदसंहितेव स्वतन्त्रैव भवेदिति युक्तमुत्पश्यामि।[१७०] अपनी मान्यता के समर्थन में इन मनीषियों के प्रमुख तर्क ये हैं :

(१) पश्चिमी विद्वानों के ही अनुसार गृत्समदादि के द्वारा दृष्ट मण्डल प्राचीन हैं–इन गृत्समद ऋषि को सामवेद का ज्ञान है।[१७१] प्रश्न है कि ये साम, जिनसे गृत्समदादि अवगत हैं, किन ऋचाओं पर आश्रित हैं ? इसके उत्तर में यदि यह कहा जाये कि 'प्रजापतेर्हृदयम्' प्रभृति छिन्नगान (लुप्तर्च साम) उस समय भी थे, तो पश्चिमी विद्वानों का यह कथन निरस्त हो जाता है कि भाषा और विषय-वस्तु की दृष्टि से ऋक्संहिता सर्वप्राचीन है। उन ऋग्वेदीय मन्त्रों को, जिनमें सामों के साथ उनकी गान-विधि का भी उल्लेख है, प्राचीन और उनमें वर्णित विषय-साम-गान-को अर्वाचीन मानना कैसे युक्तिसंगत हो सकता है ?

(२) सायणादि प्राचीन भाष्यकार यह नहीं मानते कि ऋक् संहिता की व्याख्या करने से साम संहिता की व्याख्या भी हो गई। उन्होंने साम संहिता पर स्वतन्त्र रूप से भाष्य-प्रणयन किया है।

उपर्युक्त युक्तियाँ इस दिशा में नये सिरे से विचार करने के लिए बाध्य कर देती हैं। पश्चिमी विद्वानों की विचार-प्रक्रिया के विपरीत अब इतना तो माना ही जाने लगा है कि यदि कोई मन्त्र ऋग्वेद के साथ अन्य मन्त्र-संहिताओं में भी है, तो वहाँ उसका स्वतन्त्र रूप है। उसके स्वरादि

१६७. शत० ब्रा०, ११.५.८.३

१६८. 'शाङ्ख्यायनादिषु ऋग्वेदीयशाखास्वन्यासु पाठभेदभिन्न एते मन्त्रा, भवेयुरिति यत्कैश्चिन्मन्यते तदैव समीचीनमिव प्रतिभाति'।

–श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, साम० संहिता की भूमिका, पृ० ८

१६९. *History of Ancient Indian Literature*, p. 136.

१७०. ऊह–उह्यगानम्, भूमिका, पृष्ठ 5 (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित)।

१७१. सामवेद का महत्त्व निरूपित करते समय ऐसे ऋङ्मन्त्र उल्लिखित किये जा चुके हैं। कतिपय ऐसे ऋङ्मन्त्रों के, जिनमें सामों का स्पष्ट उल्लेख है, सन्दर्भ यह है– ऋ० सं० २.२३.१६–१७; २.५.३; २.४३.१–२।

भिन्न होते हैं। प्राचीन भाष्यकार उसकी व्याख्या भी विशेष रूप से उस विशिष्ट संहिता के सन्दर्भ में ही करते हैं।

'ऋचि अध्यूढं साम गीयते'–का मात्र इतना ही अभिप्राय है कि ऋक् और साम के मध्य परस्पर आचार और आधेय भाव विद्यमान है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि साम-संहिता ऋक्संहिता से उद्धृत की गई। 'ऋक्' का अर्थ ऋङ् मन्त्र मात्र है, ऋग्वेद नही। ये ऋङ्मन्त्र सामवेद के ही आर्चिक ग्रन्थ में उपलब्ध हैं।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने ग्रन्थ 'त्रयी परिचय' में विस्तार से प्रतिपक्ष के तर्कों का निराकरण करते हुए यही सिद्ध किया है कि जैसे ऋक्संहिता में सूक्त हैं, उसी प्रकार सामवेद में दशतियाँ हैं–फिर कैसे कहा जाये कि किसको कहाँ से उद्धृत किया गया ?

छान्दोग्य उपनिषद् प्रभृति में ऋक्-साम-सम्बन्ध विषयक जो अनेक मनोरम दृष्टान्त दिये गये हैं,[१७२] वे इसी के उपलक्षक हैं। अभिप्राय यह है कि सामान्यतः 'साम' शब्द व्यापक दृष्टि से संहितागत ऋङ्मन्त्र और तदाधृत गान दोनों के लिए व्यवहृत होता है; किन्तु यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाये, तो वह केवल साम-गान का ही ज्ञापक है, जैसा कि प्रो०बे०रा० शर्मा ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा है।[१७३]

'साम' का त्रैविध्य–साधारणतया गानस्वरूप साम तीन प्रकार के हैं–(१) केवल ऋङ्मन्त्रों पर आश्रित साम; (२) केवल स्तोत्रों पर आधृत साम; (३) ऋङ्मन्त्र और स्तोत्र दोनों पर आधृत साम।

पारिभाषिक दृष्टि से इनमें से प्रथम कोटि के साम 'अविर्गान', द्वितीय प्रकार के साम छिन्नगान तथा तृतीय श्रेणी के साम 'लेशगान' कहलाते हैं, जैसा कि वाञ्छिनाथ का कथन है :

ऋग्विहीनं छिन्नगानं लेशं स्तोत्रमृचा सह।
आविर्गानं स्तोत्रहीनमेवं गानत्रयं विदुः।।

साम-गान की अन्य विशेषताओं का विवरण बाद में प्रस्तुत्य है।

सामवेद का स्वरूप–सामवेद के दो मुख्य भाग हैं–आर्चिक तथा गान। 'आर्चिक' शब्द ऋक् समूह का वाचक है, जिसको भी अवान्तरतः दो भागों में विभक्त किया गया है–पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक। सामवेद-संहिता में अन्य वेदों के समान विकृतिपाठ नहीं है। इसमें केवल सामयोनि मन्त्र सङ्कलित हैं जो साम-गान के लिए उपादान या आधार सामग्री के रूप में मान्य हैं। इन्हीं मन्त्रों के आश्रय से ऋषियों ने अनेकविध गान प्रदर्शित किये हैं। साम-संहितागत मन्त्र पर स्थित अङ्क उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के बोधक है; ये गान के स्वर नहीं हैं। ऋग्वेद में जिस

१७२. इयमेवर्गग्निः साम; अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम, द्यौरेवर्गादित्यः साम, नक्षत्राण्येवर्क्चन्द्रमाः साम; अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम–छा० उप० १.६.१–५

१७३ The word 'Saman' is a comprehensive term implying the Samhita as well as the ganas based on the Samhita text. But strictly speaking the word 'Saman' Stands for the 'Sama Gana' and not for the verse-text though it is closely used to mean both.

—Pushpa Sutram, Intro., p. 11.

अनुदात्त का प्रदर्शन अधोरेखा से होता है, उसे सामवेद में '३' के अङ्क से चिह्नित किया जाता है। इसी प्रकार ऋग्वेद में जहाँ अनुदात्त के अनन्तर आने वाले उदात्त पर कोई चिह्न नहीं होता, उसे यहाँ '१' के अङ्क से प्रदर्शित किया जाता है। ऋग्वेद में स्वरित का प्रदर्शन ऊर्ध्वरेखा से होता है, किन्तु सामवेद में उसे '२' के अङ्क से दिखलाया जाता है। प्रचय पर कोई चिह्न नहीं होता। 'सन्नतरस्वर' रूप अन्तिम अनुदात्त अनुदात्त की ही भाँति अधोरेखा से प्रदर्शित किये जाते हैं। ये प्रचय और सन्नतर स्वर जहाँ होते हैं, यथाक्रम स्वरित के ही अनुगामी बनते हैं।

आर्चिक भाग की व्यवस्था और विन्यास—पूर्वार्चिक' को 'छन्द आर्चिक' भी कहा जाता है। इसमें छह प्रपाठक अथवा अध्याय हैं; प्रत्येक प्रपाठक में दो अर्ध (खण्ड) हैं, प्रत्येक अर्ध में एक 'दशति' है। 'दशति' शब्द से प्रतीत होता है कि इसमें दस ऋचाएँ होनी चाहिए, किन्तु किसी में कुछ कम हैं और किसी में अधिक। दशतियों में सङ्कलित मन्त्रों में प्रायेण देवता तथा छन्दोगत ऐक्य विद्यमान हैं। ऋक्संहिता में जो ऋचाएँ एक ही देवता से सम्बद्ध होने पर भी विभिन्न ऋषियों के द्वारा साक्षात्कृत होने के कारण पृथक्-पृथक् मण्डलों में अवस्थित हैं, वे भी सामवेद संहिता में एकत्र सुलभ हैं। अग्निविषयक मंत्र-समूह के सङ्कलन के कारण प्रथम प्रपाठक आग्नेय काण्ड (अथवा पर्व) कहलाता है। इसके १२ खण्डों में कुल ११४ मन्त्र हैं। द्वितीय से चतुर्थ प्रपाठकों तक इन्द्रदेव का आधिपत्य है, जिसे 'ऐन्द्र काण्ड' कहा जाता है। इसमें कुछ ३५२ मन्त्र हैं। पञ्चम अध्याय 'पावमान काण्ड' कहलाता है। इन सभी मन्त्रों का सम्बन्ध सोम से है, जो ऋग्वेद के नवम मण्डल में भी समग्रतया विद्यमान हैं। पावमानकाण्ड की मन्त्र-संख्या है ११९। सातवलेकर के संस्करण में पूर्वार्चिक (छन्द आर्चिक) यहीं समाप्त हो जाता है। षष्ठ अध्याय आरण्यकाण्ड है। इसमें देवों और छन्दों का वैविध्य है। साम्य केवल गान विषयक है। आरण्यपर्व के अनन्तर 'महानाम्न्यार्चिक' है, जिसमें मात्र १० ऋचाएँ हैं—इसे परिशिष्ट के रूप में मान्यता प्राप्त है। इस प्रकार पूवार्चिक के प्रथम पाँच प्रपाठक 'गामेगेय गान' या 'वेयगान' के अन्तर्गत हैं। आरण्यपर्व पृथक् रूप से 'अरण्ये गान' के नाम से अभिहित होता है।

उत्तरसंहिता या उत्तरार्चिक में ९ प्रपाठक हैं प्रथम पाँच प्रपाठक दो-दो भागों में विभक्त हैं—ये प्रपाठकार्ध कहे जाते हैं। अन्तिम चार प्रपाठकों में तीन-तीन अर्ध हैं। यह व्यवस्था राणायनीयगत है। कौथुमशाखीय छन्दोग इन अर्धों को अध्याय तथा दशतियों को खण्ड कहते हैं। उत्तरार्चिक में कुल १२२५ मन्त्र हैं, जिन्हें पूर्वार्चिक के ६५० मन्त्रों से युक्त करने पर कुल मन्त्र-संख्या १८७५ हो जाती है। पूर्वार्चिक के २६७ मन्त्र उत्तरार्चिक में पुनः उल्लिखित हैं ऋग्वेद और सामवेद के आर्चिक भाग में प्रायः समान रूप से उपलब्ध होने वाले मन्त्रों की संख्या १५०४ है। ९९ ऋचाएँ ऐसी हैं, जो वर्तमान ऋक् संहिता में नहीं प्राप्त होतीं—ये पूर्णतया नवीन हैं।

पुराणोक्त सामप्रचारगत विवरण—भागवत, विष्णु और वायुपुराणों में सामवेद के प्रचार-प्रसार की विस्तृत परम्परा प्राप्त होती है। तदनुसार महर्षि व्यास ने अपने शिष्यों में से जैमिनि को सामवेद की शिक्षा प्रदान की। जैमिनि की सामशिष्य-परम्परा में तीन नाम प्रमुख हैं—सुमन्तु, सुत्वान् और सुकर्मा। इनमें सुकर्मा ने सर्वाधिक साम-प्रचार किया। वायु-पुराण के अनुसार इन्होंने सभी शाखाओं का अध्ययन किया था—'स सहस्रमधीत्याशु सुकर्माऽप्यथ

संहिता:।'[१७४] सुकर्मा के दो निष्ठावान् शिष्य हुए–पौष्यञ्जि और हिरण्यनाम कौसल्य। पौष्यञ्जि के शिष्य उदीच्य सामग तथा हिरण्यनाभ के शिष्य प्राच्य सामग के रूप में विख्यात हुए। प्रश्नोपनिषद् में हिरण्यनाभ का उल्लेख कोसल के राजकुमार रूप में है, अतएव उनकी शिष्य परम्परा का पूर्व में विस्तार होना स्वाभाविक है। पौष्यञ्जि को 'आवन्त्य' कहा गया है, जिससे प्रतीत होता है कि वे संभवत: अवन्ति जनपद (वर्तमान उज्जैन के समीप) के निवासी रहे होंगे। इन दोनों शिष्यों के नामों में विभिन्न पुराणों में वर्तनीगत भिन्नता प्राप्त होती है। पौष्यञ्जि की शिष्य-परम्परा में लौगाक्षि का नाम उल्लेख्य है, जिनके नाम से काठक गृह्यसूत्र सम्बद्ध किया जाता है। राणायनि को इन्हीं लौगाक्षि का शिष्य बतलाया गया है। कुथुमि को भी पौष्यञ्जि का ही शिष्य माना जाता है, जिन्होंने आगे कौथुम शाखा का प्रवर्तन किया। हिरण्यनाभ के शिष्यों में आचार्यकृत का नाम उल्लेख्य है[१७५] इनकी शिष्य-परम्परा ने भी सामवेद के प्रचार में महती भूमिका का निर्वाह किया, जैसा कि वायुपुराण में उल्लिखित है :

सामगानां तु सर्वेषां श्रेष्ठौ द्वौ प्रकीर्तितौ।
पौष्यञ्जिश्च कृतश्चैव संहितानां विकल्पको।।[१७६]

नामों में कुछ भिन्नता होने पर भी पुराणों में सामवेद के प्रचार का यह विवरण सत्य प्रतीत होता है। इसमें त्रुटि केवल यह है कि इसमें 'संहिता' और 'शाखा' को पर्याय मान लिया गया है।

सामवेद की शाखाएँ

'सहस्राध्वा सामवेद:'[१७७] अथवा 'सहस्रवर्त्मा सामवेद:'[१७८] प्रभृति उल्लेखों से प्रतीत होता है कि सामवेद की एक सहस्र शाखाएँ होनी चाहिए; किन्तु इस सन्दर्भ में विद्वानों में प्राय: मतैक्य है कि 'अध्वा' अथवा 'वर्त्मा' पद शाखावाचक न होकर सामगान की विभिन्न पद्धतियों के द्योतक हैं, जैसा कि मीमांसा-सूत्र 'अर्थैकत्वाद् विकल्प: स्यात्'[१७९] पर भाष्य करते हुए शबरस्वामी का कथन है :

१७४. वायु पुराण, ६१-२७

१७५. जैमिनेः सामगस्यासीत सुमन्तुस्तनयो मुनिः। सुन्वांस्तु तत्सुतस्ताभ्यामेकैकां प्राह संहिताम्।।
सुकर्मा चापि तच्छिष्य: सामवेदतरोर्महान्। सहस्रसंहिता भेदं चक्रे साम्नां ततो द्विज:।।
हिरण्यनाभ: कौसल्य: पौष्यञ्जिश्च सुकर्मण:। शिष्यौ जगृहतुश्चान्य आवन्त्यो ब्रह्मवित्तम:।।
उदीच्या: सामगा: शिष्या: आसन् पञ्चशतानि वै। पौष्यञ्ज्यावन्त्ययोश्चापि तांश्च प्राच्यान् प्रचक्षते।।
लौगाक्षिर्माङ्गाल: कुल्य: कुसीद: कुक्षिरेव च। पौष्यञ्जिशिष्या: जगृहु: संहितास्ते शतं शतम्।।
कृतो हिरण्यनाभस्य चतुर्विंशति संहिता:। शिष्य ऊचे स्वशिष्येभ्य: शेषा: आवन्त्य आत्मवान्।।
–भाग० पु० १२.६.७५-८०

१७६. वा० पु० ६१-४८।

१७७. षड्गुरुशिष्य के द्वारा किसी प्राचीन 'चरणषट्क' से उद्धृत। सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा 'त्रयीपरिचय' में उल्लिखित।

१७८. व्याकरण महाभाष्य, पस्पशाह्निक।

१७९. मीमांसा–सूत्र ९.२.२९ और उस पर भाष्य।

'सामवेदे सन्ति सहस्रं गीत्युपाया:। आह। कतमे ते गीत्युपाया नाम उच्यते। गीतिर्नाम क्रिया ह्याभ्यन्तरजन्या स्वरविशेषाणामभिव्यञ्जिका सामशब्दाभिलप्या सा नियतप्रमाणायामृचि गीयते। तत्सम्पादनार्थोऽयमृगक्षर विश्लेषो विकर्षणमभ्यासो विराम: स्तोत्र इत्येवमादय: सर्वे समधिगता: समाम्नायन्ते।'[१८०]

इस प्रकार मूलत: सामवेद की १३ शाखाएँ ही प्रतीत होती हैं, जिनके नाम 'सामतर्पण' में प्राप्य हैं–

'राणायनिसात्यमुग्रिर्व्यासा भागुरिरौलुण्डी गौल्गुलविर्भानुमानौपमन्यवो दारालो गार्ग्य: सावर्णिर्वार्षगण्यश्च ते दश। कुथुमिश्च शालिहोत्रश्च जैमिनिश्च त्रयोदश। इत्येते सामगाचार्या: स्वस्ति कुर्वन्तु तर्पिता:।'[१८१]

'चरणव्यूह' में भी १३ शाखाओं का उल्लेख है, किन्तु उनके नाम कुछ भिन्न हैं, वे हैं–आसुरायणीया, वासुरायणीया, वार्त्तान्तवेया, प्राञ्जला, राणायनीया, शाट्यायनीया, सत्यमुद्गला, खल्वला, महाखल्वला, लाङ्गला, कौथुमीया, गौतमी, जैमिनीया।'[१८२]

तां०ब्रा० में उल्लिखित सामशाखाएँ–तां०ब्रा० में भी कतिपय साम-शाखा-नाम सुलभ होते हैं; यथा–'भाल्लवि शाखा' इसमें त्रिवृत्स्तोत्र की परिवर्तिनी विष्टुति का विशेष महत्व रहा है-'तामेताम्भालवय उपासते।'[१८३] सामतर्पण में प्रवचनकर्त्ताओं के मध्य 'वाल्लवि' नाम का उल्लेख है। सम्भव है, दोनों में समानता हो। ताण्ड्य में इसके अतिरिक्त 'त्रिखर्व्वा'[१८४] 'अभिप्रतारी'[१८५] "प्रावाहण्य'[१८६] करद्विष्'[१८७] आदि शाखाओं के नाम भी उल्लिखित हैं। इनमें से त्रिखर्व्वा शाखीय सप्तदशस्तोत्रक दशसप्ता विष्टुति के द्वितीय प्रकार के, अभिप्रतारी सप्तस्थिता विष्टुति के, करद्विष एकविंशस्तोत्र तथा त्रिणवस्तोत्र की उद्यती नाम्नी विष्टुति के तथा प्रावाहण्य एकविंशस्तोत्र की प्रतिष्टुति नाम्नी विष्टुति के विशेष भक्त बतलाये गये हैं। अभिप्रतारी नाम्नी शाखा के विषय में कहा गया है कि किसी राजा के नाम पर इसका नामकरण हुआ।

इसके अतिरिक्त आपस्तम्बश्रौतसूत्र, संहितोपनिषद् तथा पुष्पसूत्र में नेगी,[१८८] कालबवी एवं शैलाली प्रभृति शाखाओं का उल्लेख भी मिलता है। संहितोपनिषद् ब्राह्मणगत 'ग्रामेगेयं च लाङ्गलानामेवैके बहुलम्'[१८९] पर द्विजराजभट्ट के भाष्यावलोकन से ज्ञात होता है कि कालबवी

१८०. मीमांसा-सूत्र ९.२.२९ और उस पर भाष्य।
१८१. वंशब्राह्मण की दक्षिण भारत में प्राप्त कतिपय पाण्डुलिपियों में 'सामतर्पण' को प्रथम पटल के रूप में रखा गया है, किन्तु प्रो० बे० रा० शर्मा ने उसे परिशिष्ट में ही अपने संस्करण में रखा है।
१८२. चरणव्यूह, खण्ड-३
१८३. ता० ब्रा०, २.२.४
१८४. वही, २.८.३
१८५. वही, २.९.४
१८६. वही, २.२५.४ तथा ३.६.४
१८७. वही, २.१६.५
१८८. ऋक्तन्त्र-भूमिका, पृष्ठ २ पर डॉ० सूर्यकान्त द्वारा उल्लिखित।
१८९. संहि० ब्रा०, ३.६

और शाट्यायनी शाखाएँ मूलतः लाङ्गलशाखा के अन्तर्गत हैं और यह लाङ्गलशाखा भी वस्तुतः राणायनी शाखा की ही मध्यवर्तिनी रही है। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण में 'शैलना गायन्ति'[१९०] कहकर शैलना शाखानुयायियों के मत का भी प्रस्तवन है।

इन सभी शाखाओं का अस्तित्व साम-गान की किन्हीं विशिष्टताओं पर आधृत रहा होगा।

सामवेद की, इस प्रकार प्रभूत शाखाओं[१९१] के साक्ष्य सुलभ होने पर भी सम्प्रति केवल तीन शाखाएँ ही उपलब्ध होती हैं–कौथुमी, राणायनीया और जैमिनीया।

कौथुम एवं राणायनीय शाखाएँ–संहिता की दृष्टि से इनमें मन्त्र-क्रमजन्य भिन्नता नहीं है, केवल गणना पद्धतिगत भेद हैं।[१९२] एक में प्रपाठक, अर्धप्रपाठक और दशतियों के माध्यम से गणना की जाती है, जबकि अन्य शाखा में अध्याय, खण्ड और मन्त्रों के द्वारा। दोनों ही शाखाओं में आंशिक स्वरोच्चारणजन्य वैभिन्य भी है। कौथुमीय जहाँ 'हाउ' कहते हैं, वहीं राणायनीय शाखियों का 'हावु' उच्चारण है, तथा 'राइ' के स्थान पर 'रायि'। ऋग्वेदीय और कौथुमीय 'वाजेषुनो' कहते हैं, अन्य शाखाध्यायी 'वाजेषुणो।' ऐसे ही कतिपय अन्य उच्चारणगत भेद हैं। अनेक मनीषियों का विचार है कि 'कुसुम' शब्द से व्युत्पन्न 'कौसुम' शब्द 'कौथुम' का पूर्वरूप है, क्योंकि सामवेदीय लक्षण ग्रन्थ पुष्पसूत्र के नामान्तर 'कुसुमसूत्र' या 'कौसुमसूत्र' भी हैं। पुष्पसूत्र का विशेष सम्बन्ध कौथुमी शाखा से ही है।

सर्वाधिक प्रचार इन्हीं कौथुमी और राणायनी शाखाओं का ही रहा है। कौथुम का प्रचलन विन्ध्य के उत्तर में और राणायनी का दक्षिण भारत में रहा है, जैसा कि पं॰ रामनाथ दीक्षित ने कहा है–'विन्ध्यस्योत्तरे भारते यज्ञकन्या कौथुमी, दक्षिणे राणायनी शाखा यज्ञधुरं बिभर्त्ति इति प्रामाणिका वर्णयन्ति।[१९३] गुर्जरप्रदेश और नागर ब्राह्मणों में कौथुम शाखा विशेष प्रचलित रही है। महाराष्ट्र में राणायनी का विशेष प्रचार बतलाया जाता है। प्रो॰ कालन्द के अनुसार सामवेदीय लक्षणग्रन्थों के विख्यात व्याख्याकार वरदराज राणायनीय शाखा के ही अनुयायी थे।[१९४] डॉ॰ बे॰रा॰ शर्मा के कथनानुसार किसी समय दक्षिण भारत में राणायनी शाखा का बहुत प्रचार था, किन्तु

१९०. जैमि॰ उप॰ ब्रा॰ १.१.२.३।

१९१. इन सभी शाखाओं में मूलतः एक ही मन्त्रसंहिता (आर्चिक ग्रन्थ) प्रचलित रही है। हाँ, काल-भेद, स्थान-भेद और उच्चारणादिजन्य भेदों से कुछ मन्त्रों का न्यूनाधिक्य, पौर्वापर्य भले ही हो, किन्तु वास्तविक संहिता-भिन्नता कदापि नहीं रही है, जैसा कि पं॰ सत्यव्रत सामश्रमी का स्पष्ट विचार है :
'तदित्थमेकैकस्य वेदस्य बहुशाखत्वेऽपि एकैकस्याः शाखाया अध्ययन एवं भवेदधीत एवैकैकोऽपि भेदः, सर्वास्वेव शाखासु मूलसंहितैक्यदर्शनात्, किञ्चित् पाठ न्यूनातिरिक्तेन, किञ्चित् पाठ न्यूनातिरिक्तेन, किञ्चित् पाठक्रमोच्चारणभेदेन, किञ्चिदनुष्ठानपद्धतिभेदादिना च न ह्येवाभवत् वास्तविकः संहिता-भेदः।'
साम-शाखाओं के विषय में तो उनकी धारणा अधिक ही प्रसंगोपात्त है–'वस्तुतः सामवेदस्य गीतिकौशल बहुत्त्वादेव बहुशाखावत्वम्, शाखासंख्या तु त्रयोदशैवेत्यस्माकमपि सम्मतमेव'–(दोनों ही उद्धरण 'ऐतरेयालोचन के पृष्ठों क्रमशः १२५ एवं १२७ से)।

१९२. पं॰ रामनाथ दीक्षित का कथन है–'मन्त्रक्रमे नास्ति भेदः कौथुमराणायनीयानाम'–जैमिनीय सामगानम् भूमिका।

१९३. जैमिनीय सामगानम्, भूमिका–पृष्ठ–झ।

१९४. पंचविंश ब्राह्मण का आंग्लानुवाद, भूमिका, पृष्ठ २०।

सम्प्रति केवल आन्ध्र और उत्तरी कर्णाटक में ही उसके कतिपय अनुयायी अवशिष्ट हैं। आन्ध्र प्रदेश में राणायनीय शाखा के दो पाठ हैं–गुर्जरपाठ और ताम्रपर्णी पाठ। सम्प्रति राणायनीय शाखाध्यायी कौथुमीय पाठ को ही अपने सामने रखते हैं। डॉ॰ शर्मा का अभिमत है कि गुर्जरपाठ अधिक प्राचीन और प्रामाणिक है। उन्हीं की यह भी सूचना है कि मैसूर के दक्षिणी कनारा जिले में जैमिनीय शाखाध्यायी भी कौथुम शाखीय ग्रामेगेय गान और आरण्यक गान को ही आधार मानकर गान करते हैं।

पं॰ बलदेव उपाध्याय का यह कथन कि 'पुराणों में उदीच्य तथा प्राच्य सामगों का वर्णन होने पर भी आजकल न उत्तर भारत में साम का प्रचार है, न पूर्वी भारत में,[१९५] सत्य नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उ॰प्र॰ के उन्नाव जनपद का बड़ोरा ग्राम केवल अपने सामवेदियों के कारण ही प्रसिद्ध है। उक्त ग्राम के सामवेदियों ने साम-गान की यथावत् परम्परा आज भी सुरक्षित बनाये रखी है। सम्प्रति कानपुर में रहते हैं। स्व॰ डॉ॰ राघवन के द्वारा प्रदत्त सूचना के अनुसार दरभंगा के पूर्व महाराज ने बिहार में साम-गान के प्रचलन-हेतु गहरी रुचि ली थी और उनकी सहायता से दक्षिण भारतीय छन्दोगों के द्वारा साम-गान प्रशिक्षण की परम्परा भी पड़ी थी।[१९६]

कौथुम शाखा का ही दूसरा नाम 'छन्दोगसाम' है, जो तमिलनाडु और कर्नाटक क्षेत्रों में प्रचलित है। ताण्ड्य कौथुम की ही अवान्तर शाखा है। शंकराचार्य ने इस शाखा के समस्त उद्धरण प्रायेण 'ताण्डिनाम् श्रुतिः' कहकर ही दिये हैं।[१९७]

जैमिनीय शाखा और उसका वैशिष्ट्य–यद्यपि इस शाखा के अनुयायियों की संख्या अतिन्यून है और इसका प्रचलन मात्र केरल और तमिलनाडु में बतलाया जाता है, तथापि इसका अपना वैशिष्ट्य है। इसका प्राचीन नाम तलवकार है जिसके अस्तित्व का प्राचीन तमिल अभिलेखों में उल्लेख है। जैमिनीय सामगान के मूलगुरु वेङ्कटराम मखिन माने जाते हैं।[१९८]

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कौथुम और राणायनीय शाखाओं में मात्र स्वरोच्चारणगत तथा कतिपय मंत्रों के क्रम में ही अन्तर है; इसके विपरीत जैमिनीय शाखा उपर्युक्त दोनों शाखाओं से गान-व्यवस्था, सामों की संरचना और अक्षरजन्य विकृतियों की दृष्टि से प्रभूत भिन्न है। जैमिनीय सामग साम-गान में सभापति-कृत 'धारणा लक्षण' (पाणिक्रियातन्त्र) ग्रन्थ के अनुयायी हैं। कहा जाता है कि जैमिनीय शाखा में अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन रूप सुरक्षित हैं–जिन्हें अन्यत्र प्रायः

१९५. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ॰ १५५।

१९६. Dr. V. Raghavan : *Present Position of Vedic Recitation and Vedic Shakhas* Kumbhakonam, 1962.

१९७. (क) अन्येऽपि शाखिनः ताण्डिनः शाट्यायिनः (छा॰उप॰, शां॰ भाष्य ३.३.२७);
(ख) यथा ताण्डिनामुपनिषदि...(शांकर-भाष्य ३.३६–छां॰ उप॰)।

१९८. कलौ तलवकारस्य शाखा येन समुद्धृता। श्रीमद्वेङ्कटनाथाख्यमस्मद्गुरुमहं भजे। विश्वामित्रकुलाब्धिकौस्तुभमणिः कारुण्यपाथोनिधिः। साम्नस्सुन्दरगीतरागमिति यत्प्रख्यातनाम क्षितौ। गम्भीरध्वनिगान वैभवकृते यो यायजूकाग्रणीः। तं श्री वेङ्कटनाथ दीक्षितमहं वन्दे गुरुं सन्ततम्। श्रीमद्वेङ्कटनाथ दीक्षितसुतो बालाग्निहोत्री कविः। सोऽयं जैमिनि सामगो विजयते साहित्यरत्नाम्बुधिः।

विस्मृत-सा कर दिया गया है। कालन्द[१९९] तथा बे०रा० शर्मा[२००] प्रभृति विद्वानों का इस विषय में साहमत्य है कि जैमिनीय शाखा में प्राचीनतम् परम्परा और वैयाकरणिक विशेषताएँ सुरक्षित हैं।

साम-गान की प्रक्रिया

जैसा कि पहले कहा गया है, 'साम' का अभिप्राय है गान। गानों के त्रैविध्य–ऋगाश्रित, मात्र स्तोभाश्रित और ऋक् तथा स्तोभ-उभयाश्रित–का भी उल्लेख किया जा चुका है।

साम-गान की प्रक्रिया अत्यन्त दुरूह है, उसके सभी पक्षों का ज्ञान, जो छन्दोग के लिए आवश्यक है, समर्थ गुरु के सान्निध्य में सुदीर्घकालिक साधना और अभ्यास से ही प्राप्त किया जा सकता है। यहां केवल दिग्दर्शनस्वरूप परिचयात्मक विवरण ही प्रदेय है।

सामान्यत: समग्र साम-गान दो भागों में विभक्त हैं–पूर्वगान और उत्तरगान।

पूर्वगान अथवा प्रकृतिगान

इसके गानग्रन्थ का परिचय पहले दिया जा चुका है जिसमें ग्रामेगेयगान और अरण्येगेयगान नाम से दो भाग हैं। पूर्वगान की आधार-सामग्री सामवेद संहितागत पूर्वार्चिक के चार काण्ड हैं। इनमें से आग्नेय, ऐन्द्र और पवमान काण्ड तक ग्रामेगेय गान हैं तथा आरण्य काण्ड से अरण्येगेयगान प्रारम्भ होते हैं। महानाम्न्यार्चिक परिशिष्ट हैं। प्रकृतिगान तीन काण्डों तक संहिता-क्रम का पूर्णतया अनुगामी है। ग्रामेगेय और अरण्येगेय– दोनों ही प्रकार के गान (अरण्येगेयगान के कतिपय अपवादों को छोड़कर) प्राय: एक-एक ऋचा पर आधृत हैं। ग्रामेगेयगान में एक ऋचा पर प्राय: एकाधिक गान हैं–किन्तु उसी नैरन्तर्य और क्रम के अनुसार। इस प्रकार ग्रामेगेय में ५८३ ऋचाओं पर आधृत प्राय: १२०० गान हैं।[२०१]

आरण्येगेयगान–इसमें संहिता-क्रम का दृढ़ता से अनुगमन नहीं हुआ है। आरण्यकाण्ड से ली गई आधारभूत ऋचाओं में तो क्रम बना रहता है, किन्तु अरण्येगेयगान के बीच-बीच में प्रथम तीन काण्डों से यदृच्छया गृहीत ऋचाएँ भी आ जाती हैं, जो सातत्य को व्यवहित करती हैं। ऐसा

१९९. Caland, pancavimsha Brahman (Eng. translation), Introduction, p. XX.

२००. We may, however, not be wrong if we assume some extent the tradition and also the languages uncontaminated with all its grammatical peculiarities and obscure vocables, besides its style. The reason for this comparative uncontamination must be because of its having very few followers and its subsequent less popularity.
Jaiminiyarsheya Brahamana, Introduction, p. 8-9.

२०१. डॉ० बे० रा० शर्मा का कथन है कि ग्रामेगेयगान में पवमानकाण्ड की दो ऋचाओं 'एष स्य धारया' (५८४) तथा 'य उस्रिया' (५८५) पर कोई गान नहीं प्राप्त होते। किन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है। 'एष स्य धारया' पर प्रकृतिगान में ५ गान प्राप्त होते हैं और 'य उस्रिया' पर केवल एक गान प्राप्त होता है (द्रष्टव्य: काञ्ची कामकोटिपीठाधिपति के द्वारा प्रकाशित प्रकृतिगान ग्रन्थ, द्वितीय भाग, पवमानकाण्ड, पृ० १२२, १९७६ तथा पुष्पसूत्रम्, ed. by B. R. Sharmas, Introduction, p. 14).

एक स्थल 'आयं गौ:' (सा०सं० ६३०) ऋचा है, जिस पर आनन्द और प्रत्यानन्द साम आश्रित हैं; यह ऋचा 'अन्तश्चरति' (सा०सं० ६३१), जो 'चित्रं देवानाम्' (सा०सं० ६२९) के साथ सम्बद्ध होकर आदित्यव्रत साम की योनि बन जाती है, के पश्चात् ली गई है। इससे मन्त्रानुक्रम विच्छिन्न हो जाता है।

अरण्येगेयगान के शुक्रिय पर्वगत कतिपय सामों का स्वरूप उत्तरगानसदृश है, क्योंकि उनमें तीन-तीन स्तोत्रीय ऋचाएँ हैं। अरण्येगेयगान के ये स्तोत्ररूप गान उत्तर गानों की भूमिका के निर्माता हैं जो नियमत: दो या तीन स्तोत्रीय ऋचाओं पर आधृत हैं। अरण्येगेयगान की एक अन्य विशेषता भी ग्रामेगेयगान से उसकी भिन्नता प्रकट करती है और ऊह तथा ऊह्य गान से सादृश्य स्थापित करती है। वह यह कि इसमें भिन्न क्रम और नाम से गान प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत ग्रामेगेयगान में एक ही ऋचा पर अनेक गान प्राप्त होने की स्थिति में भी क्रम अविच्छिन्न रहता है–एक ऋचा पर विद्यमान सभी गान उसी अनुक्रम से प्राप्त हो जाते हैं।

आरण्यकाण्ड में सामयोनिमन्त्र को 'छन्दसी' और उसके गान को सामान्यत: 'छान्दस्र' और विशेष रूप से 'आरण्यक' या 'रहस्य' कहा जाता है।

ये गान नगर तथा ग्राम से दूर विजन स्थान पर–अरण्य या उसके समीप गाये जाते थे। इसी कारण ये 'रहस्य' गान कहलाते हैं। इनमें उच्च आधिदैविक सामर्थ्य भी निहित मानी जाती थी–इसी कारण ये सुपात्र को ही प्रदेय थे।

'रहस्या' शब्द उन ऋचाओं का भी वाचक है जो यद्यपि सम्प्रति साम-संहिता में प्राप्त नहीं होती, किन्तु 'सामयोनि' समझी जाती है, यथा–'आक्रन्दय' (अरण्येगेयगान, अर्कपर्व ५१.१), जिस पर दो महासाम आधृत हैं। (वहीं ५१.२-३); 'रहस्या ऋक्' कहलाती है। यह रहस्या ऋक् अपने पदपाठसहित सामवेद संहिता में नहीं है, किन्तु गान-ग्रन्थ में है। सामविधान ब्राह्मण और सामतन्त्रम् में सामान्यत: 'रहस्य' शब्द अरण्येगेयगानों का वाचक है।

महानाम्नी पर्व–महानाम्न्यार्चिक में पुरीष पदों को सम्मिलित करने पर १० ऋचाएं हैं। इन पर स्तोत्र प्रकार के गान उपलब्ध हैं, जो तृच पर गेय होते हैं। उदाहरणार्थ महानाम्नीपर्व के प्रथम गान को प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसमें 'विदा मघवन्', 'अभिष्ट्वमभिष्टिभि:' तथा 'एवाहि शक्रों' (साम संहिता ६४१-६४३) ये तीन ऋचाएँ हैं। इस प्रकार पुरीषपदों को छोड़कर तीन गान हैं, जिनमें से प्रत्येक एक तृच पर आधृत है। पुरीषपद में पाँच पद हैं, जिन पर एक गान है। महानाम्नी-गान अपने तृचात्मक रूप से पूर्व और उत्तरगानों के मध्य सेतु रचना सी करते हैं। इनके अनन्तर 'उद्वयं तमसस्परि' तथा 'भारुण्डसाम' संज्ञक दो गान और हैं। इनमें से प्रथम गान की आधारभूत ऋचा 'उद्वयं तमसस्परि' सामवेद में न प्राप्त होने के कारण 'रहस्या' पद-वाच्य है। द्वितीय स्तोत्रगान है, जो केवल स्तोत्रों पर आश्रित हैं।

विभिन्न सोमयागों में महानाम्नी संज्ञक गान उत्तरगान के समान ही विहित हैं, जो इनकी याज्ञिक दृष्टि से महत्ता का प्रतीक है। तात्पर्य यह कि ये उत्तरगान के सदृश पाञ्चभक्तिक रूप में गेय हैं।

इन्हें आरण्यक गानों का परिशिष्ट माना जाता है। सामवेद संहिता में भी महानाम्न्यार्चिक का समावेश परिशिष्ट रूप में ही है।

आरण्यकाण्डगत दो ऋचाओं 'इन्द्र इद्धर्यो॰' तथा 'इन्द्र वाजेषु' (सामवेद ५९७-५९८) पर अरण्येगेयगान में कोई गान नहीं है। उत्तरार्चिकगत 'इन्द्रमिद्‌गाथिनः (सामवेद ७९६-८) के साथ ये दोनों ऋचाएँ हैं, किन्तु इस दृष्टि से ऊह और ऊह्यगानों में इन पर कोई गान नहीं पाया जाता।

उत्तरार्चिक में गायत्रीछन्दस्क ऐसे अनेक सूक्त हैं, जिन पर कोई साम नहीं है। इनमें से प्रायः सभी सोमयागों के प्रातः सवनों में विनियुक्त हैं और गायत्र-गान की पद्धति से गेय हैं यह गायत्र-गान ग्रामेगेय गान के आरम्भ में है, किन्तु गानों के अनुक्रम में इसकी गणना नहीं होती।

इस प्रकार महानाम्नीपर्व को मिलाकर ग्रामेगेयगान और अरण्येगेयगान जिसका सम्मिलित नाम प्रकृतिगान है–पूर्वार्चिक (नामान्तर-छन्द आर्चिक) पर आधृत है।

अरण्येगेयगान के २९० गानों में से २५५ गान पूर्वार्चिक की १७८ ऋचाओं पर आश्रित हैं, जिसमें से ५३ आरण्यकाण्ड से गृहीत हैं, २९ स्तोभों पर आधृत हैं और छह 'रहस्याख्य' ऋचाओं पर।

उत्तरगान

सम्पूर्ण उत्तरार्चिक २१ अध्यायों में तथा प्रत्येक अध्याय कुछ खण्डों में विभक्त है। अन्तिम अध्यायगत नौ अप्रतिरथ सूक्तों पर गान नहीं प्राप्त होते। इस प्रकार उत्तरार्चिक के केवल २० अध्यायों पर ऊह और ऊह्यगान प्राप्त हैं। इनमें भी प्रथम अध्याय गायत्री छन्दस्क आरम्भिक सात सूक्तों तथा अन्य अध्यायों के कतिपय सूक्तों पर भी विशेष साम अप्राप्य हैं। देवताध्याय ब्राह्मण (३.२.३) के अनुसार आवश्यकतानुसार वे सावित्रीगान के रूप में गाये जा सकते हैं–'सावित्रीगेयं यात्रागीतम्।'

ऊह और ऊह्यगानों की व्यवस्था वस्तुतः सोमयागों के अनुरूप है। इसी क्रम से यज्ञों में उद्‌गातृ-मण्डल इनका आगान करता है। 'ऊह' का अर्थ है विचारपूर्वक विन्यास। याग में उद्‌गातृ-मण्डल के विभिन्न सदस्यों के द्वारा अपनी-अपनी भक्ति का विचारपूर्वक गान ऊहन का एक प्रकार है। इसी प्रकार निधन भाग के सम्बन्ध में भी यथास्थान विचार-विन्यास प्रक्रिया के अन्तर्गत हैं। यहाँ पं. श्री रामनाथ दीक्षित का तद्विषयक कथन उल्लेख्य है–'इमानि सामानि नैकेनर्त्विजा प्रयुज्यन्ते परन्तु त्रिभिरुद्‌गातृपुरुषैः। तेऽपि न समं गायन्ति किन्तु स्वकीयं स्वकीयं भागमेव। तत्र कियानात्मीयो भाग इति विचार्य प्रयोक्तव्यः। ततश्चोहत्वं सम्पद्यते यद्वा बहिर्निधनसामस्वध्ययनकाले सामान्तेऽधीतं निधनभागं प्रयोगकाले प्रथमसाम्नि द्वितीय साम्नि च प्रयुञ्जीरन् इत्यप्यूहः। आहोस्वित् रथन्तरसाम यथाधीतं न तथा प्रयोगकाले प्रयुज्यते। उद्‌गीथ भक्त्युच्चारणकाले भकारैर्गेयम्। सोऽयमूहः। अथवा 'परिस्वानोगिरिष्ठाः' इति तृचे 'मदेषु सर्वथा असि' इति वारत्रयमागतम्। गाने तु तृतीये साम्नि। प्रयोगकाले सर्वेषु सामसु योजयम्।'[२०२]

ऊह और ऊह्यगानों के मूलाधार प्रकृतिगानगत ग्रामेगेय गान और अरण्येगेयगान हैं। प्रकृतिगान के विपरीत उत्तरगान प्रायः दो या तीन स्तोत्रीय ऋचाओं पर आधृत हैं–यद्यपि ऐसे गानों की भी कम संख्या नहीं है, जो केवल एक ऋचा पर और यहाँ तक कि पाँच, तीन या दो पादों पर स्तोत्ररूप

२०२. दीक्षित, पं॰ रामनाथ : ऊहगानम्–ऊह्यगानम्, प्राक्कथनम्, पृ॰ २६, काशी हिन्दू वि॰ वि॰ वाराणसी, १९६७.

में गाये जाते हैं। यदि किसी सूक्त में तीन से अधिक मन्त्र हैं तो प्रथम दो और अन्तिम मन्त्र मिलकर गान-योनि सिद्ध होते हैं।

योनि–सामवेद की पारिभाषिक शब्दावली में वह आधारभूत ऋचा, जिस पर साम आधृत होता है, 'योनि' या 'सामयोनि' कहलाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण पूर्वार्चिक ग्रामेगेयगान और अरण्येगेयगान की योनि का सम्पादन करता है। ऊह और ऊह्यगानगत तृच की प्रथम स्तोत्रीय ऋचा ग्रामेगेयगान या अरण्येगेयगान के एकर्च गान के सदृश होती है और अन्य दो स्तोत्रीय ऋचाओं में वही गान अपनाया जाता है जो प्रथम स्तोत्रीय ऋचा में होता है। इस प्रकार तीन स्तोत्रीय मन्त्रों वाले गान में प्रथम स्तोत्रिया ग्रामेगेय या अरण्येगेयगत होती है और अन्य दो स्तोत्रियाओं की भी वही योनि सिद्ध होती है। यहाँ उल्लेखनीय है कि उत्तरार्चिक गत सूक्त की प्रथम ऋचा निरपवादरूप से पूर्वार्चिक में प्राप्त होती है और उस ऋचा पर आधृत गान ग्रामेगेयगान या अरण्येगेयगान में सुलभ है। बहुधा उन दोनों के नामों में भी समानता होती है सायणाचार्य ने इसे कारिकाबद्ध रूप में यों प्रस्तुत किया है :

> **'ये तु मन्त्राः स्तोत्ररूपा उत्तरासु तृचेषु ते।**
> **योनिवद्गानमूहित्वा पठ्यन्ते तद्विधेर्वशात्।।**
> **यद्योन्यां गानमाम्नातं तदेवोत्तरयोर्ऋचोः।**
> **गायेदिति स्तोत्रक्लृप्त्यै साम्नामूहो विधीयते।।**[२०३]

उन सभी गानों के लिए, ऊहगान में जिनके वही नाम हैं, ग्रामेगेयगत केवल एक प्रकृतिगान योनि-रूप में अनुमन्य है। इसी प्रकार ऊह्यगत गानों के लिए अरण्येगेय का एक गान, सम्भवतः समान नाम वाला प्रकृतिगान माना जा सकता है।

उदाहरण के लिए ऊहगान में सात गान 'आमहीयव' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें से एक 'उच्चा तेजा;–तृच पर आधृत है, तदनन्तर चार गान अन्य तृचों पर, षष्ठ गान केवल एक ऋचा पर तथा सप्तम गान मात्र अर्द्ध ऋचा पर समाश्रित हैं, किन्तु इन सभी गानों के लिए 'उच्चा तेजा॰' पर आधृत ग्रामेगेयगत आमहीयव गान ही योनि रूप में स्वीकृत है। सभी गानों के स्वर, पर्व-विभाग और भक्तियाँ आमहीयव के अनुरूप होते हैं। सभी सातों आमहीयवगानों के स्तोभों और निधन (बहिर्निधन) की समानता लक्षित की जा सकती है।

यदि किसी ऐसे गान के तृच की प्रथम ऋचा, जो समान नाम वाले सामों में प्रथम है, उसी नाम वाले प्रकृतिगान से भिन्न है, तो उस गान की ऋचा को योनि माना जाता है जो पूर्वार्चिक में प्राप्त हो। उदाहरण के लिए ऊहगत मार्गीयव साम को लिया जा सकता है। इसमें आठ गान हैं, जिनमें यद्यपि 'अध्वर्यो... (सामवेद संहिता १२२५-२७)' तृच आता है, किन्तु मार्गीयव साम की योनि 'तद्वोगाय' (सामवेद संहिता ११५) ऋचा मानी जाती है।

इस सामान्य नियम का केवल एक ही अपवाद है–ऊहगत आकूपारसाम। प्रकृतिगान में इस नाम से तीन गान हैं–जो क्रमशः 'आ तू न इन्द्र' (सामवेद संहिता १६७), 'यदिन्द्र चित्र' (सामसंहिता

२०३. ताण्ड्य ब्राह्मण–भाष्योपक्रमणिका।

३४५) और 'परित्यम्' (सामसंहिता ५५२) पर आधृत हैं। इन तीनों में से प्रथम दो वैकल्पिक रूप से ऊहगत आकूपार साम की योनि माने जाते हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि ऊह और ऊह्यगान सर्वत्र अपने योनिगान के ग्रामेगेय और अरण्येगेयगानगत स्वरों का अनुसरण करें। उदाहरणार्थ ग्रामेगेयगत मार्गीयवसाम प्रस्तुत है, जिसकी योनि ('तद्वो गाय'–साम संहिता ११५) का स्वरूप यों है :

'त ५ द्वो हो ४ वा ५'

किन्तु ऊह में इसी ऋचा से प्रारम्भ प्रस्तुतगान के स्वर परिवर्तित हैं :

'त २ द्वौ हौ १ वा २'।

यह भी सदैव आवश्यक नहीं है कि किसी गान की द्वितीय और तृतीय स्तोत्रीय ऋचा के पर्व प्रथम स्तोत्रीय ऋचा के समान ही हों। उदाहरण के लिए वामदेव्य साम को लिया जा सकता है, जो 'कयानश्चित्र' (सामसंहिता ६८२-६८४) पर आधृत हैं। इसकी तृतीय स्तोत्रीय ऋचा का षष्ठ पर्व स्वर प्रकार की दृष्टि से प्रथम स्तोत्रीय ऋचा से कुछ भिन्न हैं। तुलनात्मक दृष्टि से दोनों प्रस्तुत हैं :

र २
प्रथम स्तोत्रीय ऋचा का षष्ठ पर्व– 'औ२ऽ ३ होहाइ'

र २
तृतीय स्तोत्रीय ऋचा का षष्ठपर्व– 'औऽ २३ होहाइ'

'योनि' पद के उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन को पं॰ श्री रामनाथ दीक्षित के शब्दों में इस प्रकार संहत रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

'योनिपदस्य द्विविधोऽर्थः सम्पादनीयः। एकस्तावत् योन्यां यस्यामृचि सामोत्पन्नम्–यथा वा–रथन्तरं साम बृहत्यामभित्वा शूर इत्यस्यामुत्पन्नमिति सा ऋक् अभित्वा योनिः भवति। तत्र यत्साम रथन्तरं यथागीतं तद्वदेव तत्सूक्तस्थयोरुत्तरयो ऋचोर्गेयम् इति। द्वितीयस्तु वृषापवस्वेति तृचेऽप्यामहीयवं गीयते। तत्र पूर्वोक्तोऽर्थोनुपपन्नः। आमहीयवसाम च 'उच्चा तेजातमन्धसः' इत्यस्यामृच्युत्पन्नं न तु वृषापवायाम्। अतः तृचे या प्रथमा ऋक् साऽपि योनिशब्देन व्यवहर्तव्या। तत्र यत्साम गीतं तदेवोत्तरयोरपि भवेत्।[२०४]

गानों का प्रयोजन और प्रक्रिया–प्रकृतिगान मूलतः स्वाध्याय से सम्बद्ध हैं। यज्ञों में जहाँ कहीं इनका विनियोग है, इनके एकर्च गान केवल एक सामग के द्वारा ही समग्ररूप से गेय हैं, जबकि उत्तरगान को पांच विभक्तियों में विभक्त कर उद्गातृ-मण्डल के तीन सदस्य पृथक्-पृथक् गाते हैं। पांचवीं भक्ति निधन का गान समवेत रूप में होता है।

साम-गान की पाँच (अथवा सात) भक्तियाँ

साम-गान में सामान्यतः पाँच भक्तियाँ होती हैं, जैसाकि पंचविधसूत्र में कहा गया है-'प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारोपद्रवनिधनानि भक्तयः।' हिङ्कार और ओङ्कार को भी सम्मिलित करने

२०४. उहगानम्, भूमिका, पृष्ठ २३।

पर भक्तियों की संख्या सात हो जाती है। प्रतिहारसूत्र के व्याख्याकार वरदराज का कथन है– '....सप्त वा। हिङ्कारः प्रस्तावात् पूर्वः। उद्गीथादोङ्कार इति।'

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण तथा छान्दोग्योपनिषद् में अनेक रूपकों के माध्यम से इन सभी विभक्तियों, विशेष रूप से ओङ्कार की बहुविध प्रशंसा होती है।

प्रस्ताव और प्रतिहार भागों का गान क्रमशः प्रस्तोता और प्रतिहर्ता करते हैं। उदाहरण के लिए सामवेद का प्रथम मन्त्र है–'अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। निहोता सत्सि बर्हिषि।'

इसकी पाँचों विभक्तियाँ इस प्रकार हैं :

१. **प्रस्ताव** – हुँ ओग्नाइ।
२. **उद्गीथ** – ओम् आयहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
३. **प्रतिहार** – नि होता सत्सि बर्हिष ओम्।
४. **उपद्रव** – निहोता सत्सि ब
५. **निधन** – र्हिषि ओम्।

सामवेदीय 'पञ्चविधसूत्रम्' और प्रतिहारसूत्रम्' संज्ञक लक्षण ग्रन्थों में इनकी विस्तार से व्याख्या की गई है। ताण्ड्य ब्राह्मण में निधनों की विपुल चर्चा है, अतएव उसका विस्तृत विवरण आगे प्रदेय है।

पर्व–प्रत्येक भक्ति कुछ पर्वों में विभक्त होती है। पर्व में कभी ऋचा का एक पूरा पाद होता है, कभी शब्द और कभी-कभी केवल कुछ अक्षर। पर्व का नामान्तर है गेष्य। सामगाताओं द्वारा भक्ति-उच्चारण के मध्य गृहीत विराम की क्षणावधि से पूर्व तथा पश्चात् साम का लघुतम भाग वस्तुतः पर्व में अभिप्रेत है, जैसाकि पं॰ रामनाथ दीक्षित का कथन है :

'छन्दोगा यत्र विरम्य पठन्ति तस्य पर्व इति नाम गेष्य इति च। तत्र विराम काले कश्चित्क्षणो गानहीनो भविष्यति। एवमेकः स्वकीयभक्तिमुच्चारयति। तदनन्तरमन्यो द्वितीयां भक्तिं यदोपक्रमते गातुं तत्रापि कश्चन क्षणगानहीनः।'[२०५]

इस विराम-क्षण की पूर्ति स्तोताओं के पृष्ठभाग में आसीन उपगातागण 'हो' इस प्रकार के मन्द स्वर से करते हैं साम के पर्व-विभाग में व्याकरण के नियमों का पालन नहीं हो पाता। इनमें केवल स्वर और लय का ही ध्यान रखा जाता है।

निधन भक्ति का अन्तरंग परिचय

सामान्यतः निधन द्विविध हैं–सामान्तिक और अन्तःसामिक। गान के अन्त में आने वाले सामान्तिक और गान के मध्यगत निधन अन्तःसामिक हैं। सामान्तिक के अवान्तर चार भेद हैं–स्वर, निधन, इडा और वाक् (वा)। इन तीनों के भी अनेक प्रकार है[२०६] जिनका प्रदर्शन इस प्रकार किया जा सकता है :

२०५. ऊहगानम्, पृष्ठ ४४ (भूमिका)।

२०६. निधनानि द्विविधानि समान्तिकानि अन्तः सामिकानि च। स्वरो निधनमिडावागिति सामन्तिकानि। तदन्ययाच्च सामानि यथाक्रमं स्वाराणि निधनवन्ति ऐडानि वाङ्निधनानि चोच्यन्ते–वरदराज, प्रतिहारसूत्र की व्याख्या, पृष्ठ २१।
द्राह्यायण श्रौतसूत्र (६.१.६–७; ७.८.१६–१८ तथा ७.८.५–६) में भी प्रायः इसी प्रकार का प्रतिपादन है।
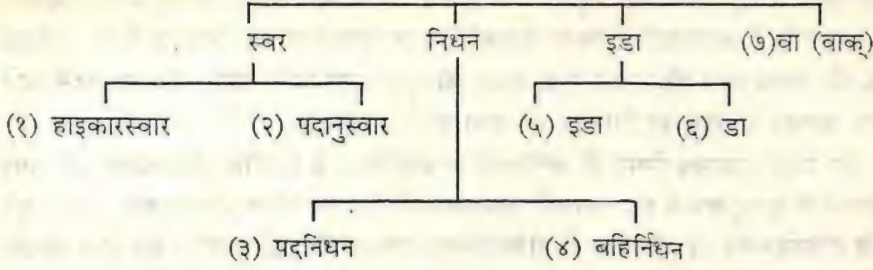
इस प्रकार निधनों के प्राय: सात भेद होते हैं, जिनके उदाहरण क्रमश: वामदेव्य, औशन, यौधाजय, आमहीयव, काशीत, बृहद्भारद्वाज और यज्ञायज्ञीय साम हैं।

अन्त: सामिक निधन कुछ जटिल हैं। डॉ०बे०रा० शर्मा का मत है कि वे वस्तुत: 'निधन' पद वाच्य नहीं हैं, क्योंकि वे गान के अन्त में न आकर मध्य में आते हैं।[२०७] इस पर भी ये निधन केवल इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि ये किसी गान के वास्तविक निधनों के सदृश होते हैं।

अन्त: सामिक निधनों की तीन श्रेणियां हैं :

(१) इह, इडा और अथ,

(२)-(अ)-निधनस्वरगीत, (आ)-द्वयक्षर हीषीस्वर

(३) देवताप्रतिपादक पद और वाक्य, जो आरण्यक गान में आते हैं। लाट्यायन श्रौतसूत्र में इन्हें स्पष्ट करते हुए कहा गया है-'देवताश्चारण्येगेयेषु।' इसे और अधिक विस्तार से प्रतिहार सूत्र की व्याख्या में वरदराज ने समझाया है-'यानि लोकप्रसिद्धानि अनार्चिकानिपदानि यावत्सुवरित्यादीनि। वाक्यानि वयोबृहत्सत्यमोज इत्यादीनि। तानि साक्षात् परम्परया वा देवता प्रतिपादनपरत्वात् देवता: उच्यन्ते। तान्येतानि इहकारादीनि सर्वप्रयोज्यानि इति।'[२०८]

यहाँ उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त तीन श्रेणियों के निधन वस्तुत: तभी निधन कहलाते हैं, जब ये स्थितियां हों-(१) निधन से पूर्व गान में कोई ऐसा स्तोभ आये, जिसका अन्त 'वा' से हो और जो पूर्वभक्ति का भाग न हो, अथवा (२) वृद्धियुक्तकृष्ट या स्वरित 'आ' पहले आये, अथवा (३) ऐसा स्वरित वर्ण आये जो द्वितीय स्वर से तृतीय स्वर तक कृष्ट हों तथा मन्द्रस्वरयुक्त भी हो' (४) अथवा वृद्धियुक्त अक्षर आये। उपर्युक्त स्थितियों में से ही किसी के रहने पर पहली कोटि के 'इह', 'इडा' और 'अथ' निधन कहलाते हैं, अन्यथा नहीं-तब वे मात्र स्तोभ रह जाते हैं।

निधन स्वर-यह वस्तुत: सामान्त्य निधन के ही समान साममध्य में रहता है।

द्वयक्षर हीषीस्वर-'अग्न आयाहि' (साम संहिता-१) पर आधृत तीन गानों में से प्रथम गान का 'हीषी' अन्तिम पर्व है-उसके समान स्वर 'हीषीस्वर' है-'ही २३४ षी।'

२०७. In fact, strictly speaking, they cannot be called Nidhanas at all since they are not found at the end of a chant but within the chant itself.
—Sharmas, B.R. : प्रतिहारसूत्रम्, Intro., p. 5.

२०८. प्रतिहारसूत्रम्, १५वां खण्ड, पृष्ठ २१२।

देवताप्रतिपादक पद और वाक्य–आरण्यक गानों में 'सुव:' 'ज्योति:' आदि ऋग्भिन्न पद तथा 'यशो, बृहत्, सम्यमोज:' प्रभृति वाक्य आते हैं जो परम्परा अथवा साक्षात् रूपेण देवताओं के उपलक्षक हैं, अन्त:सामिक निधन कहलाते हैं। इस सन्दर्भ में यह उल्लेख्य है कि ऋग्भिन्न पद और वाक्य स्वयं ही अन्त:सामिक निधन की सृष्टि नहीं करते, प्रत्युत वे ठीक पहले आने वाले ऋग्भाग के साथ ही निधनत्व को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार सामान्त्य निधन के अन्तनिधन या बहिर्निधन के विपरीत, ठीक पहले आने वाले ऋग्भाग से पृथक् रूप में इह, इडा और अथ स्वयं ही निधनत्व को नहीं प्राप्त करते, प्रत्युत पूरी पंक्ति (जिसमें स्तोभ भी सम्मिलित हैं) ही अन्तर्निधन कहलाती है। यही सामान्त्य और अन्त:सामिक निधन का मुख्य अन्तर है।

अन्त:सामिक निधन के ये उदाहरण हैं :

(१) रेवती साम–'इह', इससे पहले ऋचा का वृद्धियुक्त भाग आता है। 'इडा', इससे पहले 'वा' आता है। 'अथ' के उदाहरणार्थ पर्युरश्म साम प्रस्तुत्य है जिससे पूर्व वृद्धियुक्त अक्षर आता है।

(२) निधनस्वर गति के उदाहरण के लिए 'द्विनिधन' और 'त्रिणिधन'-आयास्य साम को प्रस्तुत किया जा सकता है, जिनमें निधन से पूर्व स्वरित आता है, 'श्येन' और 'दाशपत्य' सामों में निधन से पूर्व 'वा' आता है। 'गूर्द साम' में हीषी स्वर है, जिससे पूर्व कृष्ट 'आ' तथा स्वरित से पूर्व 'वा' आता है।

(३) देवतावाचक शब्दों के सन्दर्भ में आथर्वण साम को लिया जा सकता है, जिसमें ठीक पूर्व 'वा' आता है। 'गजनसाम' में पहले स्वरित आता है और आन्धीगव में पहले कृष्ट 'आ' है।

उत्तरगान के सन्दर्भ में इन निधनों के विषय में ताण्ड्यादि ब्राह्मण अनेक प्रकार के विधान करते हैं, जिनका मूल प्रयोजन सामगान को एकरसता से बचाये रखकर उसमें नवीनता उत्पन्न करना है।[२०९]

सामविकार–ऋचा को गान-रूप देने के लिए कतिपय परिवर्तन होते हैं, जिन्हें सामवेद की पारिभाषिक शब्दावली में 'विकार' कहा जात है। इनमें स्तोभ मुख्य हैं। जैमिनीय ब्राह्मण का कथन है कि स्तोभ साम-गान के अलंकरण हैं :

'स्तोभा ह वा आसाम् अलंकारा: ता: अलं कुर्वन्निव शोभयन्निव गायेत्।'

(१) **स्तोभ**–अक्षरतंत्रादि के अनुसार स्तोभ वे अतिरिक्त अथवा ऋग्भिन्न 'औहोवा', 'हाउ' आदि अक्षर तथा पद हैं जो ऋचा को गानरूप देने के लिए उसमें सम्बद्ध कर दिये जाते हैं।[२१०] स्तोभ प्राय: निरर्थक होते हैं। यदि कहीं सार्थक भी होते हैं तो प्रसंग के साथ उनके अर्थ की प्राय: संगति नहीं दिखलाई देती। इन स्तोभाक्षरों में दैवी और रहस्यमयी शक्ति सन्निहित मानी जाती है। इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया गया है–

२०९. तां॰ ब्रा॰ १२.४.१६।

२१०. 'अधिकत्वे सत्यृग्विलक्षणवर्ण: स्तोभ:'–सायण के द्वारा सामवेद–भाष्योपक्रमणिका में उद्धृत।

(१) अन्वयी और (२) अनुषङ्गी। अन्वयी स्तोभ ऋचा के आरम्भ में जुड़ते हैं और अनुषङ्गी दो शब्दों के मध्य तथा साम के अन्त में। अनेक गान ऐसे हैं जो पूर्णतया स्तोभाश्रित हैं, यथा–आर्वाग्रीव तथा प्रजापतेर्हृदयम् इत्यादि। भारुण्डसाम भी स्तोभाश्रित ही माना जाता है। जैमिनीय ब्राह्मण (१.१३१-१३२) में एक अक्षर से लेकर १७ अक्षरों तक का स्तोभ-विधान है।

स्तोभ के अतिरिक्त अन्य साम-विकारों का विवरण इस प्रकार है :

(२) **विकार**–यह परिवर्तन शब्द में घटित होता है; यथा-'अग्ने' के स्थान पर 'ओग्नायि'।

(३) **विश्लेषण**–पद का पृथक्करण विश्लेषण है; यथा–'वीतये' के स्थान पर 'वोयि तोया २यि'।

(४) **विकर्षण**–एक स्वर का दीर्घकाल तक खींचकर उच्चारण करना; यथा–'ये' का 'या २३ यि'।

(५) **अभ्यास**–किसी पद का पौन: पुन्येन उच्चारण करना; यथा–'तोया २यि। तो या २ यि।'

(६) **विराम**–गानगत सुविधा के लिये किसी पद के मध्य में रुक जाना; यथा–'गृणानो हव्यदातये' का 'गृणानोह। व्यदातये'–रूप में उच्चारण।

स्तोत्र, स्तोम एवं विष्टुति

गेय मन्त्रों के द्वारा सम्पादित स्तुति स्तोत्र है–'प्रगीतमन्त्रसाध्या स्तुति: स्तोत्रम्।' उत्तरगान में सामान्यत: एक स्तोत्र का सम्पादन तीन ऋचाओं से होता है, जैसा कि सायण का कथन है–'ये तु मन्त्रा: स्तोत्ररूपा उत्तरासु तृचेषु ते।'[२११] इसे ही प्रगाथ भी कहा जाता है।

इन्हीं तृच रूप स्तोत्रों का आवृत्तिपूर्वक गान स्तोम है–'आवृत्तियुक्तं तत्साम स्तोम इत्यभिधीयते।'[२१२]

अभिप्राय यह कि स्तोम स्तुति का ही एक प्रकार है। स्तोमों की कुल संख्या नौ है : (१) त्रिवृत् (२) पञ्चदश, (३) सप्तदश (४) एकविंश (५) त्रिणव (६) त्रयत्रिंश (७) चतुर्विंश (८) चतुश्चतवारिंश तथा (९) अष्टाचत्वारिंश।

स्तोम स्तोत्ररूप तृच पर अधिष्ठित होते हैं। तृचों को तीन पर्यायों में गाया जाता है। तृतीय पर्याय में स्तोमसम्पादन हो जाता है। स्तोमों के विभिन्न प्रकार हैं, जिन्हें 'विष्टुति', जिसका अर्थ है विशेष स्तुति कहा जाता है।

उदाहरण के लिए माध्यन्दिनपवमान नामक स्तोत्र को लें। इसके तृच को १५ बार आवृत्तिपूर्वक गाया जाता है। प्रथम पर्याय में पहली ऋचा को ३ बार यथा द्वितीय और तृतीय ऋचाओं को एक-एक बार गाया जाता है। द्वितीय पर्याय में पहले ऋचा को एक बार, द्वितीय को तीन बार और तृतीय को एक बार गाया जाता है। तृतीय पर्याय में प्रथम और द्वितीय ऋचाओं को एक-एक

२११. सायणकृत ताण्ड्य ब्राह्मण-भाष्योपक्रमणिका।
२१२. वही।

बार और तृतीय ऋचा को तीन बार गाया जाता है। आवृत्तिपूर्वक गान की यह पद्धति पञ्चदश स्तोमगत है, जिसके तीन प्रकार या विष्टुतियाँ हैं–पञ्चपञ्चिनी, अपरा और उद्यती। कुशानिक्षेप प्रकार से इनका प्रदर्शन इस प्रकार किया जा सकता है :

(१)	पञ्चपञ्चिनी	–	प्रथमा ऋक्	द्वितीया ऋक्	तृतीया ऋक्
		तृतीय पर्याय	–	–	≡
		द्वितीय पर्याय	|	|||	|
		प्रथम पर्याय	=	–	–
(२)	अपरा	–	प्रथम ऋक्	द्वितीय ऋक्	तृतीया ऋक्
		तृतीय पर्याय	–	≡	≡
		द्वितीय पर्याय	|	|	|
		प्रथम पर्याय	≡	–	–
(३)	उद्यती	–	प्रथम ऋक्	द्वितीय ऋक्	तृतीया ऋक्
		तृतीय पर्याय	≡	–	≡
		द्वितीय पर्याय	|	|||	|
		प्रथम पर्याय	–	–	–

यह कुशा–निक्षेप गणना के समय गानरत स्तोताओं के द्वारा किया जाता है। 'कुशा' शब्द उदुम्बर वृक्ष के आगे से नुकीले (तीक्ष्णाग्र) और प्रादेशमात्र काष्ठविशेष के लिए व्यवहृत होता है। विभिन्न विष्टुतियों में कुशा-निक्षेप का प्रकार भी वैभिन्नयपूर्ण है जो याज्ञिक-परम्परा के अनुसार विधेय है।

ताण्ड्य ब्राह्मण के २य एवं तृतीय अध्यायों में सभी स्तोमों की विष्टुतियों का विस्तृत निरूपण प्राप्त होता है। तदनुसार बहिष्पवमानस्तोत्र के साधनभूत त्रिवृत्स्तोम की तीन विष्टुतियां हैं–उद्यती, परिवर्तिनी और कुलायिनी। 'ज्येष्ठो ज्येष्ठिनेय स्तुवीत।'[२१३] वचन के अनुसार ज्येष्ठ भ्राता और ज्येष्ठपत्नी का पुत्र इससे स्तुति करने के अधिकारी हैं। 'कुलायिनी' शब्द 'कुलाय' से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है पक्षियों का नीड। जैसे पक्षियों का नीड तृणों के व्यत्ययपूर्वक विन्यास से सम्पन्न होता है, वैसे ही यह विष्टुति भी ऋचाओं के व्यत्यास से निष्पन्न होती हैं। इसके प्रयोग से पर्जन्य वर्षणशील होता है।

ताण्ड्य ब्राह्मणकार ने इन सभी विष्टुतियों का वर्णन स्तुति-अधिकारियों और प्रयोजन-निरूपणपूर्वक किया है।

इस प्रकार याग-दृष्टि से साम-गान में सामान्यतः बहिष्पवमादि ३३ प्रमुख स्तोत्र, नौ स्तोम और २८ विष्टुतियां व्यवहृत होती हैं।

२१३. ता० ब्रा० २.१.१।

विशंतिभाव विकार

पुष्पसूत्र के नवम प्रपाठक में ऊह और ऊह्यगानों में होने वाले २० भावों का उल्लेख किया गया है। इनसे आर्चिक और स्तोमिक उभयविध पदों में विकास उत्पन्न होते हैं। ये हैं–आइत्व, प्रकृतिभाव, वृद्ध, अवृद्ध, गत, अगत, उच्च, नीच, सन्धिवत्, पदवत्, अत्व, आर्भाव, प्रशलेष, विश्लेष, संकृष्ट, विकृष्ट, लोप, अतिहति, आभाव और विकल्प। श्लोकबद्धरूप में इनका संग्रह इस प्रकार है–

> 'आयित्वं प्रकृतिं चैव वृद्धं चावृद्धमेव च।
> गतागतं च स्तोभानामुच्च.नीचं तथैव च।।
> सन्धिवत् पदवत् गानमत्वमार्भाव एव च।
> प्रश्लेषाश्चाथ विश्लेषा ऊहेत्येवं निबोधत।।
> संकृष्टं च विकृष्टं च व्यञ्जनं लुप्तमतिहृतम्।
> आभावांश्च विकारांश्च भावानूहेऽभिलक्षयेत्।
> एतैर्भावैस्तु गायन्ति सर्वाः शाखाः पृथक्-पृथक्।।

इनमें से 'आयित्व' का अभिप्राय है ऋचा के तालव्य स्वरों का 'आइ' के रूप में गान, जैसे आमहीयवासाम के 'दिवि' पद का गान में 'दिवाइ' रूप में परिवर्तन हो जाता है। इसी प्रकार के अन्य भाव विकारों से भी विभिन्न परिवर्तन होते हैं।

साम-गानगत सांगीतिक प्रक्रिया

सामवेदीय ब्राह्मणों के अनुसार स्वर ही साम का सर्वस्व है, वही साम का प्रिय धाम है, अतएव सदैव स्वरयुक्त रूप में ही साम-गान करना चाहिए–'स्वरेण सम्पाद्य उद्गायेत। एतद् वै साम्नः स्वं यत् स्वरः। स्वेनैवेनत् तत् समर्द्धयति। एतद् वै साम्नः प्रियं धाम यत् स्वरः।'[२१४] छान्दोग्योपनिषद् में भी साम की गति स्वर ही निरूपित है। किन्तु प्रश्न उठता है कि सामवेदीय युग में संगीत के स्वर-मण्डल का कितना विकास हुआ था?–इस विषय में अनेक मत प्राप्त होते हैं, जिनकी प्रस्तुति से पूर्व सामवेदीय संगीत के सन्दर्भ में उपलब्ध सामग्री का आकलन आवश्यक है।

गानग्रन्थों, ब्राह्मणग्रन्थों, पुष्पसूत्र, सामतन्त्र, नारदीय शिक्षा और कतिपय प्रकीर्ण सन्दर्भों के आधार पर आधुनिक युग में जिन मनीषियों ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है, उनके एम.एस. रामस्वामी अय्यर,[२१५] बर्नेल,[२१६] ई. क्लेमेंट्स् (E. Clements),[२१७] हूगत (J.M.

२१४. जैमि॰ ब्रा॰ १.१११।

२१५. Aiyar, M.S. Ramaswamy : *Samagana. Journal of the Musical Academy*, Madras, Vol. V, 1934.

२१६. Burnell, A.C. : *Introductions to Arsey Brahaman and Samvidhan Brahaman.*

२१७. Clements, E : *Introduction to the Study of Indian Music*, London, 1913.

Hoogt),[२१८] आचार्य क्षितिमोहनसेन,[२१९] बेरेण्ड फेडेगान (Barend Feddegon)[२२०] ठाकुर जयदेव सिंह, स्वामी प्रज्ञानानन्द,[२२१] आनन्दकुमार स्वामी,[२२२] डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय[२२३] और राज्येश्वर मित्र[२२४] प्रमुख हैं।

इस विषय में प्राय: सभी सहमत हैं कि वैदिक काल में संगीत की प्रक्रिया अत्यन्त विकसित थी और सामवैदिक गायक सातों स्वरों से परिचित थे, जैसाकि स्वामी प्रज्ञानानन्द का कथन है।[२२५]

तीन मूल स्वर

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित–ये तीन मूलस्वर तो ऋग्वेदकाल से ही चले आ रहे थे। इनमें सुरीली आवृत्ति के लिए उदात्त सबसे ऊँचा स्वर था, तो अनुदात्त अपेक्षाकृत निम्नस्वर। स्वरित मध्यम स्वर था।

उदात्तादि के साथ षड्जादि स्वरों का तादात्म्य–उपर्युक्त तीन मूलस्वरों पर ही षड्जादि लौकिक स्वर प्रतिष्ठित हुए, जैसा कि नारदीया शिक्षा में उल्लेख है :

> **'उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्ते ऋषभधैवतो।**
> **स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमा: (१.८.८)**

इस प्रकार वैदिक तीन मूल स्वरों में से उदात्त की समानता लौकिक स्वर गान्धार या उसके संवादी स्वर निषाद, अनुदात्त की ऋषभ या उसके संवादी धैवत तथा स्वरित की षड्ज या उसके संवादी स्वर मध्यम या पञ्चम से की गई है।

पाणिनीय और याज्ञवल्क्य शिक्षाएँ भी इस तुलना से परिचित हैं।

साम-स्वरों के साथ लौकिक स्वरों का समन्वय–साम-गान के सात स्वर सामान्यतः माने जाते हैं-क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य। इसके साथ ही चार-चार अवान्तर स्वरों के दो समूह हैं :

२१८. Hoogt, J.M. Van Der : The Vedic Chant Studies in its Textual and Musical Form, Holland, 1929.
२१९. Kshiti Mohan Sen : Music in Vedic Age (Vide The Four Arts, Annual, 1935).
२२०. Barend Faddegon : Studies on Samaveda, North Holland Publishing Company, Amsterdam, 1951.
२२१. Prajnananand, Swamy : Historical Development of Indian Music, Firma K.L. Mukhopadhyaya, Calcutta, 1960.
२२२. Swamy, Anand Koomar : Christian and Oriental Philosophy of Art, Dower Publications.
२२३. पाण्डेय, कान्तिचन्द्र : स्वतन्त्र कला शास्त्र, प्रथम भाग।
२२४. मित्र, राज्येश्वर : वैदिक ऐतिह्ये सामगान (बंगला, जिज्ञासा, कलकत्ता, 1978)।
२२५. The Vedic music was a developed and systematic one, and it possessed some rhythmic process and harmonic relation between the notes (page 408.)
In fact all the seven notes were used in the vedic music and it is interesting to note that these seven notes were also used in the pre-historic Indus People-Historical Development of Indian Music.

१. प्रत्युत्क्रम, अतिक्रम, कर्षण और स्वार।
२. विनत, प्रणत, उत्स्वरित और अभिगीत।

नारदीया शिक्षा में सामगान के मान के रूप में वेणु (वंशी) के मध्यम स्वर को आधार माना गया है। तदनुसार वेणु का स्वर सामगान का प्रथम स्वर, वेणुका गान्धार स्वर साम-गान का द्वितीय स्वर, वेणुका ऋषभ् स्वर सामगान का तृतीय स्वर, वेणु का षड्ज स्वर सामगान का चतुर्थ स्वर, वेणु का मन्द्र धैवत सामगान का पञ्चम स्वर, वेणु का मन्द्रनिषद सामगान का षष्ठ स्वर और वेणु का मन्द्र पञ्चम सामगान का सप्तम स्वर होता है :

यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः।
यो द्वितीयः स गान्धारस्तृतीयस्त्वृषभः स्मृतः।।
चतुर्थः षड्ज इत्याहुः पंचमो धैवतो भवेत्।
षष्ठो निषादो विज्ञेयः सप्तमः पंचमः स्मृतः।। (ना.शि. १.५.१-२)

मध्यम स्वर से मन्द्र पञ्चम तक–यह वैदिक स्वरग्राम अवरोहगामी बतलाया गया है। अवरोहण क्रम का समर्थन पं. सातवलेकर, रामस्वामी अय्यर, स्वामी प्रज्ञानानन्द[२२६] और राज्येश्वर मित्र आदि ने किया है। अवरोहण क्रम इनके अनुसार इस प्रकार होगा-म, ग, रि, स/ध नि प।

उपर्युक्त विवरण को इस रेखाचित्र से स्पष्ट किया जा सकता है :

साम स्वर	लौकिक स्वर
प्रथम	मध्यम (म)
द्वितीय	गान्धार (ग)
तृतीय	ऋषभ (रि)
चतुर्थ	षड्ज (स)
पञ्चम (मन्द्र)	मन्द्र धैवत (ध)
षष्ठ (अतिस्वर)	मन्द्र निषाद (नि)
सप्तम	मन्द्र पञ्चम (प)

क्रुष्टस्वर--श्री राज्येश्वर मित्र के अनुसार कर्षण द्वारा जिस स्वर का निर्णय किया जाता है, वह क्रुष्ट है। स्वर से स्वर का संक्रमण ही कर्षण है। प्रथम स्वर को कर्षण के द्वारा उठाया जा सकता है, पुनः मन्द्र स्वर धैवत को भी कर्षण कर उसे निषाद तक चढ़ाया जाता है। श्री मित्र ने कुष्ट और अतिस्वार को एक माना है।

बृहद्देवता में यद्यपि क्रुष्ट का उल्लेख प्रथम से पूर्व है, किन्तु विद्वानों का कथन है कि क्रुष्ट स्वर पर सामगान का आरम्भ नहीं दिखाई देता क्योंकि जो स्वर आदि स्वर माना जाता है, उसका

२२६. The Samons were sung in अवरोहण क्रम and it may be said that it was the characteristic of the songs of the ancient nations of the world.
—*Historical Development of Indian Music*, p. 408.

निर्दिष्ट स्वरूप होना चाहिए, किन्तु क्रुष्ट एक अनिर्दिष्ट स्वर है–'क्रुष्ट' शब्द से एक स्वर को खींचकर कुछ ऊपर स्थापित करने का बोध होता है–आरम्भ में ही इस प्रकार के अनिर्दिष्ट स्वर पर कोई गान आरम्भ नहीं हो सकता।

उपर्युक्त धारणा का सायण के कथन से समर्थन नहीं होता। उन्होंने आर्षेय ब्राह्मण के भाष्य में प्रथम स्वर को ही क्रुष्ट कहा है एवं अतिस्वार को अतिमन्द्र की संज्ञा दी है। इसके विपरीत सामतन्त्र के 'क्रुष्टादयः उत्तरोत्तरं नीचा भवन्ति' वाक्य से आधुनिक विद्वानों के ही अभिमत का समर्थन होता है।[२२७]

साम-स्वरों का विकास-क्रम

नारदीया शिक्षा में आर्चिक, गाथिक और सामिक स्वरों का उल्लेख है :

> **आर्चिकं गाथिकं चैव सामिकं च स्वरान्तरम्।**
> **कृतान्ते स्वरशास्त्राणां प्रयोक्तव्यं विशेषतः।।**
> **एकान्तरः स्वरो ह्यृक्षु गाथासु द्व्यन्तरः स्वरः।**
> **सामसु त्र्यन्तरं विद्यादेतावत् स्वरतोऽन्तरम्।।** (ना.शि. १.१.२-३)

इसके आधार पर संगीत के आधुनिक विद्वानों ने स्वरों के विकास क्रम की एक परिकल्पना प्रस्तुत की है। तदनुसार आरम्भ में एकस्वर वाला आर्चिक संगीत था, उसके स्थान पर गाथिक प्रकार का संगीत आया, जिसमें दो स्वर थे। तत्पश्चात् सामिक प्रकार का नया संगीत आया, जिसमें तीन स्वर थे। क्रमशः विकसित अभिरुचि के अनुरूप सामिक के स्थान पर स्वरान्तर प्रकार का संगीत आया, जिसमें चार स्वर थे। इसका स्थान पांच स्वरों वाले औडव संगीत ने लिया और तदनन्तर छह स्वरों वाला षाडव संगीत उभरा। इसी षाडव संगीत की रूपरेखा पर सात स्वरों वाले संगीत का सम्पूर्ण रूप सम्पन्न हुआ।[२२८] इसी प्रकार का अभिमत डा० जयदेव सिंह जी ने व्यक्त किया है जिन्होंने सामवैदिक स्वरसप्तक विकास में दो सोपान बतलाये हैं।[२२९]

त्रिविध (अथवा चतुर्विध) स्वर-विस्तार–जैमिनीय ब्राह्मण (१.५१) में चतुर्विध स्वर-विकास का निर्देश है–मन्द्र, उग्र, वल्गु और क्रौञ्च।

२२७. नारदीया शिक्षा के उल्लेख को देखते हुए हमारा विचार है कि कुष्ट का स्थान मन्द और अतिस्वार के मध्य में है :
'प्रथमश्च द्वितीयश्च तृतीयोऽथ चतुर्थकः।
मन्द्रः क्रुष्टो ह्यतिस्वारः एतान् कुर्वन्ति सामगाः।।–ना०शि० १.१.१२

२२८. Prajnananand and Swamy : *Historical Development of Indian Music.*

२२९. Singh, Th. Jaideo : There were two phases in the evolution of the Samavedic Scale. First, in which only three or four notes were used, second in which three more notes were added. Thus the full Samavedic scale of seven notes was evolved.
—quoted by Swamy Prajnenanand in *Historical Development of India Music.*

ताण्ड्य ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणयुगीन वैदिक गायक मन्द्र, मध्यम और तार तीनों प्रकार के स्वर-विस्तार से परिचित थे, जैसाकि स्पष्ट उल्लिखित है :

मन्द्रभिवाग्र आददीताथ तारतरमथ तारतमम्।[२३०]

श्रुति जाति-पञ्चक–सामवेदीय स्वर-मण्डल में पाँच श्रुति-जातियों का अस्तित्व भी नारदीय शिक्षा ने बतलाया है। ये हैं–दीप्ता, आयता, करुणा, मृदु एवं मध्या–

दीप्तायता करुणानां मृदुमध्यमयोस्तथा।
श्रुतीनां योऽविशेषज्ञो न स आचार्य उच्यते।। (ना.शि. १.७.९)

श्रुतियों और स्वरों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, इसका समाधान संगीतज्ञों ने यह कहकर किया है कि श्रुतियां वे घटक अंगमात्र हैं, जिनसे स्वरों का निर्माण हुआ है अर्थात् प्रत्येक सवर चार, तीन या दो श्रुतियों के संयोग से बना है।

वाग्गेयगान के विषय में सामवेदीय ब्राह्मणों और नारदीय शिक्षा में अन्य अनेक उपयोगी निर्देश प्राप्त होते हैं–उनमें से कतिपय ये हैं : (१) वामदेव्यसाम का गान निश्चल रूप से आसीन होकर उस सहज स्वाभाविक रीति से करना चाहिए, जैसे वायु जल पर धीरे-धीरे बहती है अथवा जैसे मार्जारी अपने बच्चों को सन्देश की भाँति पकड़ती है।[२३१] (२) यज्ञायज्ञीय साम का गान वैसे ही करना चाहिए, जैसे अनड्वान वक्र मूत्रधारा को निरन्तर भूमि पर गिराता है, उसी प्रकार पृथक्-पृथक् अनृजु बनाकर गाना चाहिए।[२३२] (३) नारदीय शिक्षा में गान के १० गुण उल्लिखित हैं।[२३३]

अवनर्दन की प्रक्रिया–ताण्ड्य ब्राह्मण में गायत्रसाम के गान के विषय में दो बार अवनर्दन करने का विधान है।[२३४] 'अवनर्दन' का अर्थ है–'अवस्वरण (Lowering of the musical tone) अर्थात् पहले दो खण्डों के अन्त्याक्षर को ऊपर ले जाकर नीचे लाना। उपर्युक्त गायत्रगान के मध्यम भाग में 'प्रचो' अंश के पश्चात् ओकारान्त स्वर अक्षुण्ण रखकर किया गया विस्तार (विकार) 'मगमग' प्रकार का है। इस प्रकार मध्यम एवं गान्धार के मध्यगत उतार-चढ़ाव ही अवनर्दन है।

गात्रवीणा–नारदीया शिक्षा में दो प्रकार की वीणाओं का उल्लेख किया गया है। दारवं तथा गात्र वीणा :

दारवी गात्रवीणा च द्वे वीणे गानजातिषु।
सामिकी गात्रवीणा तु तस्याः शृणुत लखणम्।।[२३५]

इनमें से गात्रवीणा वास्तव में कोई वीणा नहीं है। हाथ की उँगलियों पर स्वरों का आरोप

२३०. तां॰ ब्रा॰ ७.१.७
२३१. तां॰ ब्रा॰ ७.९.७ तथा ७.९.११
२३२. वही ८.७.४
२३३. नारदीया शिक्षा में गान के दश गुण ये बतलाये गये हैं–रक्त, पूर्ण, अलंकृत, प्रसन्न, व्यक्त, विक्रुष्ट, श्लक्ष्ण, सम, सुकुमार और मधुर (१.३.१)।
२३४. तां॰ ब्रा॰ ७.१.२
२३५. नारदीया शिक्षा १.६.१

कर कृत्रिम रूप से सुर-स्थापन की एक प्रक्रिया मात्र है। इस पद्धति का आश्रय साम-गान के निमित्त ही ग्राह्य है।

नारदीया शिक्षागत विवरण के अनुसार दोनों जानुओं पर दोनों हाथों की हथेलियां सीधी एवं उँगलियां प्रसारित अवस्था में रखनी चाहिए। अंगुष्ठ से उँगलियों के मध्यम पर्व का स्पर्श करना चाहिए, क्योंकि वहीं स्वर-मण्डल स्थापित होता है। उँगलियों में केवल मध्यम पर्व पर ही त्रिरेखा दिखलाई देती है। इस त्रिरेखा से ही स्वर-मण्डल अवधार्य है। सामगान के स्वर के अनुसार इस त्रिरेखा के मध्य स्थल से एक-एक यव के अन्तर पर स्वराङ्कन अर्थात् रंग से एक-एक रेखा अंकित की जानी चाहिए। मात्रा-प्रदर्शन-हेतु बायें हाथ की उँगलियों पर मात्रा, द्विमात्रा एवं त्रिमात्रा के अनुसार विभाजन तथा प्रयुक्त मात्रा के अनुरूप अंगुष्ठ से विभाजन के चिह्नों का स्पर्श किया जाना चाहिए।

इसी शिक्षा ग्रन्थ में अन्यत्र कहा गया है कि अंगुष्ठ के उत्तम भाग पर क्रुष्ट एवं अंगुष्ठ पर प्रथम स्वर अवस्थित है। प्रदेशिनी पर गान्धार, मध्यमा पर ऋषभ, अनामिका पर षड्ज एवं कनिष्ठा पर धैवत स्थित है। उसके नीचे कनिष्ठा के मूल पर्व पर निषाद का विन्यास होना चाहिए।

अथर्ववेद संहिता

वैदिक मन्त्र-संहिताओं में अथर्ववेद का कुछ विशेष महत्त्व रहा है। इसके महत्त्व के अनेक कारणों में से कुछ ये हैं :

(१) ऋगादि अन्य वेद केवल आमुष्मिक फल देने वाले हैं, जबकि अथर्ववेद ऐहिक और आमुष्मिक दोनों ही दृष्टियों से उपयोगी है। इसलिए सायणाचार्य का कथन है 'व्याख्याय वेदत्रित यमामुष्मिकफलप्रदम्। ऐहिकामुश्मिक फलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति (–अथर्ववेदभाष्य भूमिका)।

(२) ब्रह्मा यज्ञ का सर्वप्रमुख ऋत्विक् है, उसका अपना वेद अथर्ववेद है। गोपथब्राह्मण के अनुसार तीनों वेदों के द्वारा यज्ञ के मात्र एक पक्ष की ही पूर्त्ति होती है, ब्रह्मा मन के द्वारा उसे पूर्णता प्रदान करता है।[२३६]

(३) विभिन्न लोकरीतियों, अभिचार कर्म, जादू-टोना, कृत्या (मूठ) प्रहरण तथा अन्य तत्कालीन विश्वासों का यह विशाल संग्रह है। इसीलिए मैक्डॉनेल का कथन है कि 'सभ्यता के इतिवृत्त के अध्ययन के लिए ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में उपलभ्यमान सामग्री कहीं अधिक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण है।

(४) ऋग्वेद के दार्शनिक विचारों का प्रौढ़ रूप इसी वेद में मिलता है।

(५) आयुर्विज्ञान, जीवाणुविज्ञान, औषधियों आदि के विषय में अथर्ववेद में पुष्कल सामग्री है।

२३६. स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते। मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्तरं पक्षं संस्करोति-गोपथ ब्राह्मण १.३.२।

(६) 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' प्रभृति मन्त्रों के द्वारा वैदिक-राष्ट्रीय भावना का सुदृढ़ प्रतिपादन सर्वप्रथम यहीं हुआ है।

(७) शान्ति और पौष्टिक कर्मों का सम्पादन भी इसी वेद से होता है।

इन्हीं सब कारणों से स्थान-स्थान पर इस वेद की भूयसी प्रशंसा दिखाई देती है।[२३७]

अथर्ववेद के विभिन्न नाम

(१) अथर्ववेद-अथर्वा ऋषि के मन्त्र इसमें सर्वाधिक हैं, इसीलिए यह नाम पड़ा। निरुक्त (११.१८) और गोपथ ब्राह्मण के अनुसार 'अथर्वन्' का शाब्दिक अर्थ है गतिहीन या स्थिर। यहाँ सम्भवतः चित्तवृत्तियों की स्थिरता की ओर सङ्केत है। यह नाम अथर्ववेद की आध्यात्मिकता पर भी प्रकाश डालता है। अवेस्ता के 'अथ्रवन्' से भी इसका सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

(२) **आंगिरस वेद**–अङ्गिरा ऋषि और उनके वंशजों द्वारा साक्षात्कृत मंत्रों का संग्रह होने के कारण गोपथब्राह्मण ने इसे 'अंगिरस वेद' भी कहा है।

(३) **ब्रह्मवेद**–यह इस वेद का पर्याप्त प्राचीन नाम है। सम्भवतः ब्रह्मा द्वारा दृष्ट ९६७ मंत्रों का संग्रह होने के कारण यह नाम पड़ा।

(४) **भृग्वाङ्गरोवेद**–ऋषि भृग्वङ्गिरस के द्वारा दृष्ट ६७० मंत्रों का इसमें संग्रह है।

(५) **भैषज्यवेद**–आयुर्वेद, चिकित्सा, औषधियों आदि के विपुल वर्णन के कारण इसका यह नाम प्रचलित है।

(६) **महीवेद**–पृथ्वी सूक्त अथर्ववेद का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूक्त है। उसी के कारण इसका यह नाम पड़ा। इनके अतिरिक्त **क्षत्रवेद** और **छन्दोवेद** आदि नाम भी अथर्ववेद के लिए प्रचलित हैं।

अथर्ववेद की अध्ययन-परम्परा–श्रीमद्भागवत के अनुसार वेदव्यास ने सर्वप्रथम अपने शिष्य सुमन्तु को अथर्ववेद की शिक्षा दी। सुमन्तु ने कबन्ध को दो संहिताओं का अध्ययन कराया।

२३७. (क) 'श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये सम्बभूव। एतद् वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वाङ्गिरसः। येऽङ्गिरसः स रसः। येऽथर्वणिस्तद्भेषजम्। यद् भेषजं तद् अमृतम्। यद् अमृतम्। यद् अमृतं तद् ब्रह्म।'–गो०ब्रा०

(ख) न तिथिर्नच नक्षत्रं न ग्रहो न च चन्द्रमाः।
अथर्वमन्त्र सम्प्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति।।

–अथर्व परि० २.५

(ग) अभिषिक्ताऽथर्व मन्त्रैम हीं भुङ्क्ते ससागराम् मार्कण्डेय पुराण।

(घ) यस्य राज्ञो जनपदै अथर्वा शान्तिपारगः।
निवसत्यपि तद् राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम्।।
दानसम्मानसत्कारैर्नित्यं समभिपूजयेत्।।

–अथर्वपरिशिष्ट ४.६।

(ङ) यस्तत्रार्थवणान् मन्त्रान् जपेच्छाद्धसमन्वितः।
तेषाम् अर्थोद्भवं कृत्स्नं फलं प्राप्नोति स ध्रुवम्।।

–स्कन्दपुराण-(कमलालय खण्ड)

(च) पौरोहित्यं शान्तिकपौष्टिकादि राज्ञाम् अथर्ववेदेन कारयेद् ब्रह्मत्वं च–विष्णु पुराण।

कबन्ध ने पथ्य और देवदर्श नामक अपने शिष्यों को यह संहिता प्रदान की। जाजलि, कुमुद और शौनक-पथ्य के इन तीन शिष्यों ने तथा मोद ब्रह्मबलि, पिप्पलाद और शौक्लायनि प्रभृति देवदर्श के चार शिष्यों ने आगे अथर्ववेद का प्रचार किया।

अथर्ववेद की शाखाएँ

पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'नवधाऽऽथर्वणो वेदः' कहकर अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख किया है। प्रपञ्चहृदय, चरणव्यूह और सायणाचार्य की अथर्ववेद भाष्यभूमिका में भी इसका समर्थन किया गया है किन्तु नामों में पर्याप्त अन्तर है। तुलनात्मक विवेचन से प्राप्त नाम ये हैं–पैप्पलाद, तौद, मौद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श, चारण वैद्य।

सम्प्रति केवल शौनक और पैप्पलाद–ये दो शाखाएँ ही प्राप्त हैं :

(१) शौनकीया शाखा–इस समय यही शाखा अथर्ववेद की प्रतिनिधि है। इसमें २० काण्ड ७३० सूक्त एवं ५९८७ मन्त्र हैं। इनमें छठा, १९वाँ और २०वाँ काण्ड सबसे बड़ा है जिनमें क्रमशः ४५४, ४५३ और ९५८ मंत्र संकलित हैं। इसमें गद्यांश भी प्रचुर परिमाण में है। सायण का भाष्य (अपूर्ण) इसी पर प्राप्त है।

(२) पैप्पलाद शाखा[२३८]–अमेरिका और भारत से यद्यपि इसके एक-एक संस्करण निकल चुके हैं किन्तु दोनों ही अपूर्ण हैं। इसका प्रारम्भिक अंश अप्राप्त है। महाभाष्य से ज्ञात होता है कि 'शन्नो देवीरभिष्टय,.......इस शाखा का पहला मन्त्र था। सम्प्रति शौनकीया शाखा में यह मंत्र छठे सूक्त के आदि में है। श्री दुर्गामोहन भट्टाचार्य और उनके आत्मज दीपक भट्टाचार्य इस शाखा के उद्धार में विशेष प्रयत्नशील रहे हैं।

आथर्वण संहिता का विवादग्रस्त स्वरूप–अथर्ववेद परिमाण के विषय में, वेदानुशीलियों के मध्य पर्याप्त मतभेद हैं। सर्वप्रथम तो काण्डों की ही संख्या अनिश्चित है। कुछ के अनुसार अथर्ववेद में मूलतः १३ काण्ड ही थे; कुछ मूल काण्डों की संख्या १८ मानते हैं। ह्विटनी प्रभृति पाश्चात्य मनीषी १९ काण्डों को ही मूलगत मानते हैं। यों २०वें काण्ड की बहुत सी सामग्री ऋग्वेद से ही ली गई है।

अथर्वसंहिता के सङ्कलन में कुछ अन्य विशेषताएं भी दिखाई देती हैं। प्रथम काण्ड से ७वें काण्ड तक मंत्र संख्या पर बहुत ध्यान केन्द्रित किया गया है। उदाहरण के लिए प्रथम काण्ड के प्रत्येक सूक्त में ४ मन्त्र हैं। द्वितीय काण्ड में ५, तृतीय में ६, चतुर्थ में ७ और ५वें काण्ड के प्रत्येक सूक्त में आठ मन्त्र संगृहीत हैं। इससे प्रतीत होता है कि मन्त्र-संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई है।

मैक्डॉनेल इत्यादि पाश्चात्य वेदपण्डितों ने अथर्ववेद के विषय में कुछ और भी विचार प्रकट किए हैं–जिनमें से कुछ ये हैं : (१) रचनाशैली एवं विषय-विवेचन से प्रतीत होता है कि मूल अथर्ववेद में केवल १३ काण्ड थे। (२) १३वें काण्ड के अनन्तर विषयों में एकरूपता और क्रमबद्धता है जो प्रारम्भ के १३ काण्डों में नहीं दिखती, जैसे–१४वें काण्ड में विवाह-संस्कार, १५वें में

२३८. पैप्पलाद शाखा के अधिकांश हस्तलेख उड़ीसा से प्राप्त हुए हैं।

व्रात्य-वर्णन, १६-१७ में सम्मोहन मन्त्र और १८वें में अन्त्येष्टि का निरूपण। १५-१६ काण्डों में ब्राह्मण ग्रन्थों के सदृश गद्यशैली का प्रयोग हुआ है। (३) १८वें और २०वें काण्ड बाद में जोड़े गए प्रतीत होते हैं। १८वाँ काण्ड पाठ की दृष्टि से कुछ भ्रष्ट भी है। २०वें काण्ड के प्राय: सभी सूक्त इन्द्र स्तुतिपरक हैं और वे ऋग्वेद से उद्धृत हैं। (४) अन्तिम अध्यायों में सोमयाग का वर्णन है जो अथर्ववेद की परम्परा के विरुद्ध है। प्रतीत होता है कि इसकी योजना अथर्ववेद को चतुर्थ वेद की मान्यता दिलाने के लिए की गई।

क्या अथर्ववेद परवर्ती हैं?

पाश्चात्य विद्वानों के साथ ही कुछ भारतीय मनीषियों ने भी यह विचार व्यक्त किया है कि अन्य वेदों की अपेक्षा अथर्ववेद कुछ परवर्ती है। उसके मन्त्रों की रचना, संहिताकरण, नामकरण आदि सब कुछ बहुत अर्वाचीन है। ब्लूमफील्ड आदि ने तो यहाँ तक सन्देह प्रकट किया है कि अथर्ववेद को वेद की मान्यता दिलाने के लिए एक लम्बा संघर्ष भी करना पड़ा। उनके तर्कों में से प्रमुख ये हैं–(१) 'वेदत्रयी' नाम वेदों के लिए बहुत काल से प्रचलित है। इससे प्रतीत होता है कि पहले तीन ही वेद थे, अथर्ववेद बाद की रचना है। (२) ऋग्वेद और यजुर्वेद में अथर्ववेद का उल्लेख नहीं है। (३) अन्य वेदों की विषयवस्तु से अथर्ववेद की विषयवस्तु बहुत भिन्न है। (४) अथर्ववेद की भाषा बहुत अर्वाचीन प्रतीत होती है।

उत्तरपक्ष–(१) पूर्वमीमांसा के सूत्रों में 'वेदत्रयी' अर्थात् ऋक्, यजुष् और सामन् की जो व्याख्या की गई है, उसके अनुसार ये संहितावाचक पद नहीं हैं, ये नाम केवल रचना त्रैविध्य के द्योतक हैं। अथर्ववेद में पद्य, गद्य और गान तीनों ही प्रकार के मन्त्र हैं, इसलिए उसका अलग से उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं हैं। 'वेदत्रयी' के अन्तर्गत उसका भी समावेश हो जाता है। जहाँ तक नामकरण की भिन्न पद्धति का प्रश्न है, उसका भी अपना औचित्य है। ऋग्वेद में ऋचाओं का प्राधान्य है, यजुर्वेद में यजुषों और सामवेद में सामों का–अत: इनके आधार पर इन वेदों का नामकरण उचित ही है किन्तु अथर्ववेद में इन तीनों का अस्तित्व लगभग समान आधार पर है इसलिए इनके आधार पर उसका नामकरण उचित नहीं होता; इसीलिए नामकरण में वैज्ञानिकता और तर्कसंगति बनाये रखने के लिए प्रमुख द्रष्टा ऋषि के नाम का आश्रय लिया गया। इसके अतिरक्त ऋषि अथर्वा का योगदान भी इतना मूल्यवान है कि उनके नाम की स्मृति बनाये रखना आवश्यक प्रतीत हुआ। ऋषि अथर्वा ने राजनीति, समाजनीति और अर्थनीति पर आध्यात्मिक तत्वों के समान ही बल दिया। अथर्ववेद की विषयवस्तु से भी इसीलिए अथर्वा ऋषि का नाम सहज ही जुड़ जाता है। (२) यह तर्क पूर्णरूप से निराधार है कि ऋग्वेद में अथर्वा और अथर्ववेद का नामोल्लेख नहीं है। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में अथर्वा का स्मरण बहुत सम्मान के साथ किया गया है–**'यज्ञैरथर्वा प्रथम: पथस्तते'** (ऋ.१.८३.५); **'अग्निर्जातो अथर्वणा** (ऋ. १०.२१.५); **इममुत्यम् अथर्ववदग्निं मन्थन्ति वेधस:'** (ऋ.६.१५.१७)। अथर्ववेद के ऋत्विक् का नामोल्लेख भी ऋग्वेद में हुआ है–**'ब्रह्मा त्वो वदति जतविद्याम्** (ऋ.१०.७१.११)। केवल इतना ही नहीं, अथर्ववेदीय ऋषि भृगु और अंगिरा के परिवार के ५७ ऋषि ऋग्वेद के भी सहस्रों मन्त्रों के द्रष्टा हैं। इससे तो ऋग्वेद ही अथर्ववेदीय ऋषियों का ऋणी सिद्ध होता है। (३) जहाँ तक विषयवस्तु

की भिन्नता का प्रश्न है, यह तो ग्रन्थ का गौरव ही है, दोष नहीं। (४) भाषा वाले तर्क की परीक्षा अभी शेष है। भाषावैज्ञानिक अर्हताओं के परिप्रेक्ष्य में वैदिक भाषा पर अभी इतना कम काम हुआ है कि उसके आधार पर कोई धारणा बनाना या निष्कर्ष निकालना वस्तुत: भूल ही होगी।

अथर्ववेद के विषय में आधुनिक विद्वानों की आवधारणा–अथर्ववेद के विषय में आधुनिक विद्वानों, जिसमें प्राच्य और पाश्चात्य दोनों ही सम्मिलित हैं, का विचार है कि मूल वेद (UR-VEDA) से ही इसके मन्त्र भी लिये गये। उनके अनुसार इसे यों प्रदर्शित किया जा सकता है–
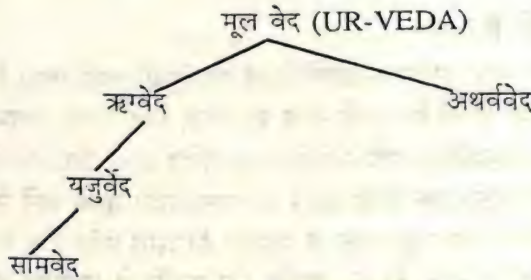
अथर्ववेद के बहुसंख्यक मन्त्र ऋग्वेद से भी प्राचीन हैं। वास्तव में अन्य वेद जहां विशिष्ट एवं अभिजातवर्ग की निधि थे, वहीं अथर्ववेद साधारण जन से सम्बद्ध था—Atharva Veda was the veda of masses, while other vedas were the vedas of classes. अथर्ववेद को संहिताकरण के समय पृथक् इसलिए करना पड़ा, क्योंकि आर्यों की यागात्मक संरचना (Sacrificial-Setup) के यह अनुरूप नहीं था। इसी कारण अथर्ववेद की प्रारम्भ से ही उपेक्षा हुई, जबकि आर्यजन के सम्पूर्ण जीवन के परिज्ञान के लिए यह आवश्यक है। शैशव से लेकर अन्त्येष्टि तक उनका समग्र जीवन इसमें प्रतिबिम्बित हुआ है। अथर्वा का अस्तित्व अवेस्ता में भी है। वैदिक 'अथर्वा' और भारत-ईरानी Athra-van दोनों ही अग्निपूजक हैं। ऋग्वेदीय याग सोमप्रधान हैं, जबकि अथर्ववेदीय याग होम प्रधान। अथर्ववेद का गृह्याग्नि से विशेष सम्बन्ध है। अंगिरा भी अग्निपूजक थे। इसलिए अथर्ववेद का प्राचीन नाम 'अथर्वाङ्गिरस' मिलता है। भृगु इन दोनों से प्राचीन अग्निपूजक थे। अंगिरा और अथर्वा को भृगु के नेत्र बतलाया गया है।

यही एक ऐसा वेद है, जिसमें ब्राह्मण ग्रन्थ (गोपथ) और श्रौतसूत्र (वैतान) की अपेक्षा गृह्यसूत्र (कौशिक सूत्र) को विशेष महत्त्व दिया गया है–उसे अथर्ववेदी अपनी 'संहिता-विधि' मानते हैं। आंगिरस और नक्षत्रकल्पादि के आधार पर अथर्ववेदी 'पञ्चकल्पिन्' भी कहलाते हैं। अथर्ववेदियों के मध्य अथर्व-परिशिष्टों का भी विशेष महत्त्व है।

अथर्ववेद का प्रतिपाद्य विषय

सर्वप्रथम प्रो० ब्लूमफील्ड ने अथर्ववेद के ७३१ सूक्तों को १० वर्गों में विभक्त किया था।[२३९] बाद

२३९. सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट (४२वां भाग); भूमिका, पृष्ठ ६३।

में उन्होंने ही 'अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण' शीर्षक ग्रन्थ में उनका विवेचन १४ शीर्षकों के अन्तर्गत किया था। वे ये हैं :

(१) **भैषज्याणि**–रोगों एवं दानवों से मुक्ति की प्रार्थनाएँ।
(२) **आयुष्याणि**–दीर्घायु एवं स्वास्थ्य के लिए प्रार्थनाएँ।
(३) **आभिचारिकाणि तथा कृत्याप्रतिकरणानि**–राक्षसों, अभिचारिकों एवं शत्रुओं के प्रतिकूल अभिचार।
(४) **स्त्रीकर्माणि**–स्त्रीविषयक अभिचार।
(५) **साम्मनस्यानि**–सामंजस्य प्राप्त करने एवं सभा में प्रभाव डालने के अभिचार।
(६) **राजकर्माणि**–राजविषयक अभिचार।
(७) **ब्राह्मण्यानि**–ब्राह्मणों के हित में प्रार्थनाएँ एवं अभिशाप।
(८) **पौष्टिकानि**–सम्पन्नता-प्राप्ति एवं भय से मुक्ति के अभिचार।
(९) **प्रायश्चित्तानि**–पाप एवं दुष्कर्म के लिए प्रायश्चित्त विषयक अभिचार।
(१०) सृष्टि विषयक एवं आध्यात्मिक सूक्त।
(११) याज्ञिक एवं सामान्य विषयक सूक्त।
(१२) व्यक्तिगत विषयों की विवेचना करने वाले काण्ड (१३-१८)।
(१३) २०वां काण्ड तथा
(१४) कुन्तापसूक्त प्रभृति।

इनमें से भैषज्याणि का प्रथम परिच्छेद में वैदिक विज्ञान के अन्तर्गत पर्याप्त विवेचन हो चुका है। वह वहीं द्रष्टव्य है। दीर्घायु एवं स्वास्थ्य विषयक सूक्तों में आयुष्य, जीवन, असु और प्राणापानों की मांग की गई है, जिससे वृद्धावस्था से पहले मृत्यु न आये। इन सूक्तों में अग्नि को प्रमुखता मिली है :

यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।।[२४०]

अथर्ववेद में अभिचार कर्म द्विविध हैं। जिसमें से एक घोर (Black magic) हैं–इनका प्रयोजन दूसरे को हानि पहुँचाना है। इनका सम्बन्ध अङ्गिरा से है। कृत्या (मूठ) का प्रयोग इसी प्रकार का कृत्य है। 'यो अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः'–प्रभृति अभिचार इसी कोटि के हैं। दूसरे प्रकार के अभिचार अपने लाभ के लिए हैं–इन्हें सामान्य यातु (White magic) की श्रेणी में रखा जा सकता है। जिन व्यक्तियों के विरुद्ध अभिचारों का प्रयोग किया गया है, उन्हें 'कृत्याकृत्' (अभिचार का निर्माता), 'वलगिन्' (जादू के लिए खोदने वाला), 'मलिन्' (जड़ों को खोदने वाला), 'शपथेय्य' (शाप छोड़ने वाला), 'प्रतीचीन' (पीछे से प्रहार करने वाला) कहा गया है। यातुधान, किमीदिन्, अत्रिन् और पिशाच भी इसी कोटि में हैं।

२४०. अथर्ववेद संहिता १.३५.१।

स्त्री विषयक सूक्तों में बहुत-से विवाह विषयक मन्त्र हैं, जिनमें से अनेक ऋग्वेद में गृहीत हैं। इनके अतिरिक्त गर्भाधान और सन्तानोत्पत्ति से सम्बद्ध मन्त्र भी हैं। सपत्नियों को मारने के लिए कुछ अभिचारपरक मन्त्र भी हैं। अनेक मन्त्र 'हृद्य' अथवा वशीकरणपरक हैं। एक मन्त्र में कहा गया है कि मैं तेरे मन को अपनी और खींचता हूं, जैसे आगे चलने वाला घोड़ा साथ चलने वाली घोड़ी को :

आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव।
रेष्माच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः।।' (अथर्ववेद ६.१०२.२)

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि जैसे लता वृक्ष को लपेट लेती है, वैसे ही तू मुझसे लिपट जा :

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे।
एवा परिष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसौ यथा मन्नापगा
असः' (अथर्ववेद संहिता ६.८.१)।

प्रेम में अपने प्रतिद्वन्द्वियों को नष्ट करने का उल्लेख भी अनेक मन्त्रों में हैं। कुछ मन्त्रों में आभिचारिक क्रियाओं के द्वारा एक स्त्री दूसरी स्त्री के आकर्षण, प्रेमेन्द्रियों और सन्तानोत्पत्ति-क्षमता को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देती है (अथर्व ३.१८; ७०.३५; ११३ और ११४)। पुरुषों के पुंस्त्वहरणपरक अभिचार-सूक्त (६.१३८ तथा ७.७०) भी हैं। पराङ्मुख स्त्री को अपनी ओर लौटा लाने वाले कुछ अभिचार हैं (६.७७)।

सुखद वैवाहिक जीवन, शारीरिक विकृतियों के अपनयन, वन्ध्यात्व-निवारण तथा गर्भधारण कराने की प्राथनाएं तो अनेक सूक्तों में की गई हैं।

'साम्मनस्यानि' के अन्तर्गत ऐसे सूक्त और मन्त्र हैं, जिनमें कलह-निवारण का प्रयत्न है। भार्गव च्यवन या आङ्गिरस की आख्यायिका में गृह-कलह को एक अभिशाप के रूप में चित्रित किया गया है। मन्त्र का आशय यों है-पिता पुत्र से लड़ा और भाई-भाई से-उस समय न तो माता पुत्र को जान सकी और न पुत्र माता को। पारिवारिक कलह विनाश के सूचक माने गये हैं-'कुले कलहिनि यत्रैतत् कुलं कलहि भवति।' ऐसे परिवारों पर निर्ऋति आक्रमण करती है। इस वर्ग के सूक्तों का विषय है द्रोह एवं संघर्ष का शान्ति और संघर्षरत पक्षों में समन्वय की स्थापना। विशेषरूप से आकर्षक एवं सुन्दर है परिवार में समन्वय के लिए प्रार्थना (३.३०)। इसका अभिप्राय है: हृदय की एकता और मन की एकता, घृणा से मुक्ति मैं तेरे लिए देता हूँ। तुम एक दूसरे में उसी प्रसन्नता को प्राप्त करो, जिसे एक गाय अपने नवजात वत्स में अनुभव करती है। पुत्र पिता माता के प्रति भक्तिभाव रखे। स्त्री पति से मधुमय वचन बोले। भाई-भाई से घृणा न करे और न बहन-बहन से। एक चित्त होकर, एक उद्देश्य में संलग्न होकर तुम प्रेम भरे वचन बोला करो:

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसार मुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।। (अथर्ववेद ३.३०.२-३)

राजकर्माणि राज्याभिषेक प्रभृति से सम्बद्ध सूक्त हैं। पौष्टिकानि में गृह-निर्माण-संस्कार प्रभृति का वर्णन है। २०वें काण्ड के १२७वें से १४६ तक के सूक्त 'कुन्तापसूक्त' हैं–इनका विवेचन ऋग्वेदीय खिलों के अन्तर्गत किया गया है।

निष्कर्ष

इस प्रकार दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक और आभिचारिक विषयों का गम्भीरता से प्रतिपादन करने वाला अथर्ववेद उक्त विषयों का आकर ग्रन्थ है। इस वेद में जहाँ विराट् ब्रह्म, ब्रह्म, वाक्तत्त्व, माया, माया और मायी, उच्छिष्ट ब्रह्म, ईश्वर, सूत्रात्मा, एकेश्वरवाद स्कम्भ ब्रह्म, रोहित ब्रह्म, यज्ञ, त्रैतवाद, प्रकृति, व्रात्य, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, मधुविद्या, मनोविज्ञान और स्वप्नशास्त्र आदि दार्शनिक विषयों का गूढ़ विवेचन हुआ है, वहीं इन्द्रजाल, कृत्या-प्रयोग, जादू-टोना, झाड़-फूँक, सपत्नीनाशन, वशीकरण, सम्मोहन, वाजीकरण आदि अभिचारिक कृत्यों का वर्णन भी उसी तत्परता से है। राष्ट्र, राष्ट्रीय जन, प्रजातन्त्र, राजा का निर्वाचन, सभा और समिति, न्याय और दण्ड-विधान तथा, शस्त्रास्त्र सदृश राजनीति के तत्त्वों पर प्रौढ़ विचारों को प्रस्तुत करने के साथ ही अथर्ववेद के ऋषियों ने सामाजिक और आर्थिक मोर्चों की ओर भी दुर्लक्ष्य नहीं किया। आर्थिक समृद्धि समाज का मेरुदण्ड है। व्यापार और वाणिज्य, कृषि और पशुपालन जैसे विषय भी उनकी दृष्टि से परे नहीं हुए हैं। अथर्ववेद में सर्वाधिक उल्लेखनीय विषय है आयुर्विज्ञान। शरीर के विभिन्न अंगों और उनकी क्रियाओं का वर्णन करने के साथ ही अथर्ववेद में ज्वर, यक्ष्मा, हृदयरोग और विभिन्न क्षेत्रिय रोगों के नाम, कारण, निदान और चिकित्सा के उपाय भी बतलाये गए हैं। क्रिमि और जीवाणु विज्ञान के सिद्धान्तों का भी कुछ स्थलों पर उल्लेख हुआ है। आयुर्विज्ञान के अतिरिक्त कुछ अन्य भौतिक विज्ञानों पर भी इस वेद में अच्छी सामग्री प्राप्त होती है। कहा जाता है कि होमिओपैथी के जनक डॉ. हेनिमैन को 'सिमिलिआ सिमिलिअस क्यूरेण्टम' (समः समे शमयति अथवा विषस्य विषमौषधम्) का सिद्धान्त अथर्ववेद के जर्मन अनुवाद को पढ़कर ही ज्ञात हुआ था।[२४१] चिकित्सा विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि यही सिद्धान्त होमिओपैथी का मूल है।

अथर्ववेद के कतिपय महत्त्वपूर्ण सूक्त–इस वेद में अनेक सुन्दर सूक्त प्राप्त होते हैं। चिकित्सा और रोगों से सम्बन्धित, आयुष्यकारक, शान्ति और पुष्टि कर्मों में विनियुक्त, प्रायाश्चित विषयक, राजकर्मपरक तथा विवाह और प्रेम से सम्बन्धित सूक्तों के साथ ही अथर्ववेद में कुछ

२४१. इस सूचना के लिए मैं अपने मित्र और यशस्वी होमियोपैथिक चिकित्सक डॉ॰ ए॰पी॰ सिंह का आभारी हूँ।

काव्यात्मक सौन्दर्यमण्डित सूक्त भी प्राप्त होते हैं। इन सूक्तों[२४२] में निहित रमणीय काव्यत्व के निदर्शन हेतु एन०जे० शेंदे की कृति तथा डॉ० मातृदत्त त्रिवेदी का 'अथर्ववेदः एक साहित्यिक अध्ययन'[२४३] शीर्षक ग्रन्थ अवलोकनीय हैं।

अथर्ववेद का बहुचर्चित सूक्त है पृथिवीसूक्त, जो अपनी राष्ट्रभक्ति से पूर्ण भाव-सम्पदा, राष्ट्रवाद के आद्यविचार और ओजस्वी शब्दशेवधि के लिए अत्यन्त प्रख्यात है। मातृभूमि के प्रति भक्तिभावना जागृत करने की दृष्टि से यह सूक्त अनुपम है। इस सूक्त के कुछ मन्त्र द्रष्टव्य हैं :

'सत्यं बृहदृतमुग्रंदीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरूं लोकं पृथिवी नः कृणोतु।।

अटल सत्यनिष्ठा, स्वदेशाभिमान, यथार्थ ज्ञान, सत्याचरण, क्षात्रबल, परस्पर सहयोग, कार्यनैपुण्य आदि गुण ही मातृभूमि को धारण करते हैं। वह मातृभूमि, अतीत, वर्तमान तथा भविष्य में होने वाले प्राणियों की रक्षा करती है। वह अपने अंचल को विस्तीर्ण करे जिससे हमें निवास के लिए प्रचुर स्थान प्राप्त हो सकें।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे
यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तमन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा
भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु।।

जिस मातृभूमि में, प्राचीनकालिक हमारे पूर्वजों ने विशेष प्रकार के पराक्रम पूर्ण कार्य किए, जिस पृथिवी पर दैवीशक्ति समन्वित विद्वानों एवं वीर पुरुषों ने हिंसक शत्रुओं को युद्ध में परास्त कर भगा दिया वह मातृभूमि हमारी गायों, अश्वों और नभचारी प्राणियों को आश्रय स्थान दे तथा हमें ब्रह्मतेज प्रदान करे।

२४२. *Kavi and Kavya in the Atharvaveda*, Poona University, Poona.
२४३. प्राप्ति स्थान–विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर।

तृतीय अध्याय

ब्राह्मण ग्रन्थ

'ब्राह्मण' शब्द तथा उसका अर्थ

मन्त्र-भाग से अतिरिक्त शेष वेद-भाग ब्राह्मण है, जैसा कि जैमिनि का कथन है–'शेषे ब्राह्मणशब्दः'।[1] सायणाचार्य ने भी इसी लक्षण से सहमति व्यक्त की है।[2] कोशग्रन्थों के अनुसार वेद-भाग का ज्ञापक 'ब्राह्मण' शब्द नपुसक लिङ्ग में व्यवहार्य है।[3] इसका अपवाद केवल महाभारत का एक स्थल है, जहाँ पुल्लिग में भी यह प्रयुक्त है।[4] ग्रन्थ के अर्थ में 'ब्राह्मण' शब्द का प्राचीन प्रयोग तैत्तिरीय संहिता में है।[5] पाणिनीय अष्टाध्यायी,[6] निरुक्त[7] तथा स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थों में तो एतद्विषयक पुष्कल प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं।[8] व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह 'ब्रह्म' शब्द से 'अण्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है। इस सन्दर्भ में सत्यव्रत सामश्रमी का अभिमत है कि 'ब्राह्मण' शब्द से ही प्रोक्त अर्थ में 'अण्' प्रत्यय लगकर 'ब्राह्मण' शब्द बना है।[9] 'ब्रह्म' शब्द के दो अर्थ हैं–मन्त्र तथा यज्ञ।[10] इस प्रकार ब्राह्मण वे ग्रन्थ विशेष हैं, जिनमें याज्ञिक दृष्टि से मन्त्रों की विनियोगात्मिका व्याख्या की गई है।[11] जिन मनीषियों ने वेद का मन्त्रवत् प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया है, वे भी इन्हें वेद-व्याख्यान रूप मानते हैं।[12]

१. मीमांसासूत्र, २.१.३३
२. मन्त्रश्चब्राह्मणश्चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः। अन्यद् ब्राह्मणमित्येतद् भवेद् ब्राह्मण-लक्षणम् II – जैमिनीयन्यायमालविस्तर, २.१.८; तथा 'अवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणम् ऋग्भाष्यभूमिका, पृष्ठ ३७
३. ब्राह्मणं ब्रह्मसंघति वेदभागे नपुंसकम्'–मेदिनीकोश।
४. य इमे ब्राह्मणाः प्रोक्ता मन्त्रा वै प्रोक्षणे गवाम्। एते प्रमाणं उतादो नेति वासव। –महाभारत (उद्योगपर्व)।
५. एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि–तै॰ सं॰, ३.७.१.१
६. अष्टाध्यायी, ३.४.३६
७. निरुक्त, ४.२७
८. 'ब्रह्म वै मन्त्रः'–शत॰ ब्रा॰, ७.१.१.५ तथा 'वेदो ब्रह्म'–जैमि॰उप॰ब्रा॰, ४.११.४.३
९. ऐतरेयालोचन, पृष्ठ २
१०. ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः–भट्टभास्कर, तै॰सं॰, १.५.१ पर भाष्य।
११. नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्।
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते। –वाचस्पति मिश्र
१२. स्वामी दयानन्द सरस्वती, अनुभ्रमोच्छेदन; सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २९९ (बहालगढ़ संस्करण, सं॰ २०२९)। तथा–'तत्तन्मन्त्राणां तत्तद्यागाद्युपयोगित्वं वर्णयितुं समासतस्तात्पर्य मन्वख्यातुं वा व्याख्यानानि च कृतानि। ततश्च विध्यर्थवादाख्यानपूर्वकमादिमं मन्त्र-भाष्यं ब्राह्मणमित्येव पर्यवस्यते ब्राह्मणलक्षणम्'–ऐतरेयालोचन, पृष्ठ–११।

ब्राह्मण ग्रन्थों का विवेच्य विषय

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य विषय यज्ञ का सर्वाङ्गपूर्ण निरूपण है। इस याग-मीमांसा के दो प्रमुख भाग हैं–विधि तथा अर्थवाद। 'विधि' से अभिप्राय है कि यज्ञानुष्ठान कब, कहाँ, कैसे और किन अधिकारियों के द्वारा होना चाहिए। याग-विधियाँ अप्रवृत्त कर्मादि में प्रवृत्त करने वाली तथा अज्ञातार्थ का ज्ञापन करने वाली होती हैं। इन्हीं के माध्यम से ब्राह्मण ग्रन्थ कर्मानुष्ठानों में प्रेरित करते हैं, जैसाकि आपस्तम्ब का कथन है–'कर्मचोदना ब्राह्मणानि।'[१३] विधि का स्तुति और निन्दा रूप में पोषण तथा निर्वाह करने वाले ब्राह्मणगत अन्य विषय अर्थवाद कहलाते हैं। अर्थवाद परक वाक्यों में यज्ञ-निषिद्ध वस्तुओं को निन्दा तथा यज्ञोपयोगी वस्तुओं की प्रशंसा रहती है। इस प्रकार के वाक्यों की विधि-वाक्यों के साथ 'एकवाक्यता' का उपपादन मीमांसकों ने किया है–'विधिना तु एक वाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः।'[१४] उनके अनुसार विधि और अर्थवाद वचनों के मध्य परस्पर शेषशेषिभाव अथवा अङ्गाङ्गि भाव है। अतः शबरस्वामी के मतानुसारवस्तुतः विधियाँ ही अर्थवादादि के रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों में दस प्रकार से व्यवहृत हुई हैं।[१५]

विधि और अर्थवादवाक्यों की एक वाक्यता को स्पष्ट करने के लिए ताण्ड्य महाब्राह्मण से एक उदाहरण प्रस्तुत है–षष्ठ अध्याय के सप्तम खण्ड में अग्निष्टोमानुष्ठान की प्रक्रिया में बहिष्पवमान स्तोत्र के निमित्त अध्वर्यु की प्रमुखता में उद्गाता प्रभृति पाँच ऋत्विकों के सदोमण्डप से चात्त्वालस्थान तक प्रसर्पण का विधान है–'बहिष्पवमानं प्रसर्पन्ति।'[१६] इस प्रसर्पण के सन्दर्भ नें दो नियम विहित हैं–प्रक्वाण (मृदुपदन्यासपूर्वक) प्रसर्पण तथा वाङनियमन। साथ ही पांचों ऋत्विकों-अध्वर्यु, प्रस्तोता, उद्गात प्रतिहर्ता तथा ब्रह्मा–के एक दूसरे के पीछे इसी क्रम से पंक्तिबद्ध

१३. यज्ञपरिभाषा, सूत्र ३५।

१४. मीमांसासूत्र, १.२.२७।

१५. हेतुर्निर्वचनंनिन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारण-कल्पना।।
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य वै।–मीमांसासूत्र–शाबरभाष्य, २.१८
सायण ने सामवेद-भाष्य भूमिका में इनके उदाहरण इस प्रकार दिये हैं–(१) हेतु–'तेन ह्यत्रं क्रियते' (शत॰ ब्रा॰ २.५.२.२३); (२) निर्वचन–'एतद्दध्नो दधित्वम्' (तै॰सं॰ २.५.३.३); (३) निन्दा 'अमेध्या वै माषाः' (वही ५.१.८.१); (४) प्रशंसा–'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता (वही, २.१.१.१); (५) संशय–'तद् व्यचिकित्सन् जुहवाना मा होषामिति'; (६) विधि–'यजमानेन सम्मिता औदुम्बरी भवति' (तै॰सं॰ ६.२१०.३); (८) पुराकल्प–'पुरा ब्राह्मणा अभैषुः' (तै॰सं॰ १.५.७.५); (९) विशेषावधारणकल्पना–'यावतोऽश्वान् प्रतिगृहणीयात् तावतो वारुणांश्चतुष्कपालन्निर्वपित्'; (१०) उपमान–सायण ने यद्यपि इसका उदाहरण नहीं दिया है, तथापि छां॰ उप॰ (६.८.३) के इस अंश को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है–'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्य त्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत, एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्त्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धनं हि सौम्य मन इति।'

१६. तां॰ ब्रा॰, ६.७.९

होकर चलने का विधान है, क्योंकि यज्ञ पांक्त है[१७]-'पञ्चर्त्विजः संरब्धाः सर्पन्ति, वहीं इन नियमों का पालन करने से शान्ति बनी रहने और अन्य लाभों तथा हेतुओं का उल्लेख है। नियमों का पालन न करने से अनेकविध अनर्थों की संभावना भी उल्लिखित है।

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में यागानुष्ठान की विभिन्न विधियों के निरूपण में प्रशंसा और निन्दा ही नहीं, उनके औचित्य-बोधक हेतु भी दिये गये हैं। उदाहरणार्थ अग्निष्टोम याग के ही प्रसंग में ताण्ड्य ब्राह्मण में[१८] उद्गाता के द्वारा सदोमण्डप में औदुम्बरी-उदुम्बर वृक्ष की शाखा के उच्छ्रयण का विधान करते समय कहा गया है कि प्रजापति ने देवों के निमित्त ऊर्क का जो विभाजन किया, उसी से उदुम्बर की उत्पत्ति हुई। अतः उदुम्बर वृक्ष प्रजापति से सम्बद्ध है और उद्गाता का भी उससे सम्बन्ध है, इसलिए जब वह औदुम्बरी का उच्छ्रयणरूप प्रथम कृत्य करता है, तब वह उसी प्रजापति नाम्नी अधिष्ठात्री दैवी शक्ति के द्वारा अपने को आर्त्विज्य हेतु वरण कर लेता है। इस प्रसंग में द्रोण-कलशप्रोहण, जिस कृत्य के अन्तर्गत द्रोणकलश में सोमरस चुलकर रथ के नीचे रखा जाता है, का समर्थन एक आख्यायिका के द्वारा किया गया है। तदनुसार प्रजापति ने अनेक होने के लिए सृष्टि-कामना की। सृष्टिविषयक विचार करते ही उनके मस्तक से आदित्य की उत्पत्ति हुई। वह छिन्न-भिन्न मूर्द्धा ही द्रोणकलश हो गया, जिसमें देवों ने शुभ्रवर्ण के चमकते हुए सोमरस को ग्रहण किया।[१९] इस आख्यायिका के माध्यम से द्रोणकलश और तत्रस्थ सोमरस में सर्जना शक्ति से ओतप्रोत श्रेष्ठ मानसिक सामर्थ्य के अस्तित्व का उपपादन किया गया है।

इस प्रकार विधि-निर्देश के समानान्तर ही ब्राह्मण ग्रन्थ उनकी उपयुक्ततता भी विभिन्न प्रकार से बतला देते हैं। इस सन्दर्भ में यागों, उनकी अनुष्ठान-विधियों, द्रव्यों, सम्बद्ध देवों और विनियुक्त मन्त्रों का छन्द आदि के द्वारा औचित्य-निरूपण करते समय ब्राह्मण ग्रन्थों के रचयिता मानवीय भावनाओं और मनोविज्ञान का सदैव ध्यान रखते हुए यजमान के सम्मुख उस कृत्यविशेष के अनुष्ठान से होने वाली लाभ-हानि का यथावत् विवरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं।

अग्निष्टोम याग का अनुष्ठान व्यक्ति क्यों करे ? उससे क्या लाभ हो सकता है ?–इसे जाने बिना व्यक्ति मानवीय स्वभाव (प्रयोजनमन्तरेण मन्दोऽपि न प्रवतति) के अनुसार यज्ञ में प्रवृत्त ही नहीं हो सकता। इस बिन्दु पर ब्राह्मण ग्रन्थ उसे आश्वस्त कर देते हैं कि यह वस्तुतः समस्त फलों का साधन होने के कारण मुख्य है, इसके विपरीत अन्य याग एक-एक फल देने वाले हैं, इसलिए अग्निष्टोम के अनुष्ठान से समस्त फल प्राप्त होते हैं–'एष वाव यज्ञो यदग्निष्टोमः। एकस्मा अन्यो यज्ञः कामायाह्रियते सर्वेभ्योऽग्निष्टोमः।'[२०] इस सामान्य निर्देश के अनन्तर विस्तार

१७. वही, ६.७.१२

१८. प्रजापतिर्देवेभ्य ऊर्ज्जं व्यभजत तत उदुम्बरः समभवत्प्राजापत्यो वा उदुम्बरः प्राजापत्य उद्गाता यदुद्गतौदुम्बरीं प्रथमेन कर्मणान्वारभते स्वयैव तद्देवतयात्मानामार्त्विज्याय वृणीते। तामुच्छ्रयति।'–तां॰ ब्रा॰, ६.४.१-२

१९. तां॰ ब्रा॰, ६.५.१। यह आख्यायिका किञ्चित् परिवर्तित रूप में जैमिनीय तथा शतपथ ब्राह्मणों में भी मिलती है। जैमि॰ ब्रा॰ में आदित्य के स्थान पर अग्नि 'वृक्षो वै सोम आसीत्। तं यत्र देवा अपघ्नन् तस्य मूर्द्धोद्वर्तत्, स द्रोणकलशो भवत्'–(शत॰ ब्रा॰ ४.४.३.४)।

२०. तां॰ ब्रां॰ ६.३.१-२

से यह बतलाया गया है कि इसके अनुष्ठान से पशु-समृद्धि, ब्रह्मवर्चस-प्राप्ति आदि पृथक्-पृथक् फलों की प्राप्ति भी हो सकती है।

जहाँ तक विभिन्न यज्ञ-कृत्यों में विनियुक्त मन्त्रों के औचित्य-प्रदर्शन की बात है, ब्राह्मण ग्रन्थ उस बिन्दु के अनावरण का पूर्ण प्रयत्न करते हैं, जिसके कारण उस मन्त्रविशेष का किसी कृत्य विशेष में विनियोग किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों की पारिभाषिक शब्दावली में यह रूप-समृद्धि कहलाती है। रूप-समृद्धि, जिसका स्थूल अभिप्राय क्रियमाण कर्म के साथ विनियुक्त मन्त्र का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, से स्वयं यज्ञ समृद्ध होता है।[२१] इस प्रकार रूप-समृद्धि का वास्तविक तात्पर्य तत्तत् विशिष्ट कृत्य के सन्दर्भ में विनियुक्त मन्त्र की सार्थकता का प्रदर्शन है। इस दिशा में सामवेदीय ताण्ड्यादि ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्र ही नहीं, मन्त्र के विभिन्न पादों, मन्त्रगत छन्द, स्तोम, विष्टुति और निधन तक के औचित्य का निरूपण करते हैं। विनियोगगत औचित्य-निरूपण के प्रसंग में ताण्ड्य ब्राह्मण से एक उदाहरण प्रस्तुत है–वहाँ अग्निष्टोमगत काम्य प्रयोग[२२] में निम्नलिखित मन्त्र विनियुक्त है–'स नः पवस्व शं गवे शं अनाय समवति। शँ राजन्नोषधीभ्यः।'[२३] इसका विनियोग पशुओं की रोग-निवृत्ति के सन्दर्भ में सर्वथा उचित प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें औषधियों से पशुओं को स्वस्थ करने की प्रार्थना की गई है। ताण्ड्य ब्राह्मण ने इस प्रसंग में विस्तार से विनियोग का वैशिष्ट्य बतलाया है। जहाँ सीधे विनियुक्त स्तोत्रिया के अर्थ से औचित्य की प्रतीति नहीं हो पाती, वहाँ ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रगत देवों से कृत्य को सम्बद्ध करते हैं। उदाहरण के लिए किसी दीर्घ रोगी की रोग-निवृत्ति के लिए ताण्ड्य ब्राह्मण में 'आ नो मित्रावरुणाधृतेर्गव्यूतिमुक्षतम्। मध्वा रजांसि सुक्रतू' मन्त्र का विनियोग है। आपाततः इस ऋचा के अर्थ से रोग-निवृत्ति का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है; किन्तु यहाँ भी प्रकारान्तर से सम्बन्ध निरूपित है। ताण्ड्यकार का कथन है कि दीर्घ रोगी के प्राण और अपान अपक्रान्त हो जाते हैं, जबकि प्राण और अपान की समान स्थिति पर ही आरोग्य निर्भर है। प्राण और अपान की तथाकथित समस्थिति मित्र और वरुण की अनुकूलता पर अवलम्बित है, क्योंकि इन दोनों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राणापान वस्तुतः अहोरात्र रूप हैं और दिन के देव मित्र हैं तथा रात्रि के वरुण। इन दोनों के आनुकूल्य-अर्जन से शरीर में प्राण और अपान की यथावत् स्थिति बनी रहती है। अतः दीर्घ रोगी की रोग-निवृत्ति के सन्दर्भ में उपर्युक्त ऋचा का गान सर्वथा उपयुक्त है।

इनके साथ ही ब्राह्मण ग्रन्थों में निरुक्तियाँ और आख्यायिकाएँ भी पुष्कल परिमाण में प्राप्त होती हैं।

नामान्तर और ब्राह्मणों के प्रकार

'विज्ञायते', 'प्रवचन' और 'वाग्' आदि अन्य शब्दों से भी ब्राह्मणग्रन्थों की ओर सङ्केत किया गया

२१. एतद वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्क्रियमाणं कर्म ऋग्यजुर्वाऽभिवदति।

–ऐत० ब्रा०, प्रथम अध्याय।

२२. तां० ब्रा० ६.९.६-९

२३. सामवेद संहिता, उत्तरार्चिक ६५३

है। भट्ट भास्कर ने 'कर्मब्राह्मण' और 'कल्पब्राह्मण' नामक दो प्रकार के ब्राह्मण बतलाए हैं–'कर्मब्राह्मणं कल्प ब्राह्मणं चेति द्विविधं ब्राह्मणम्' (तै०सं०भा०१.८.१)। उनके मत से कर्मब्राह्मण वे हैं जिनमें केवल कर्मों का विधान और मन्त्रों का विनियोग है। कल्पब्राह्मणों में मंत्रों का पाठमात्र है, विनियोग नहीं। सायण ने ब्राह्मणों के आठ भेद बतलाए हैं–इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान। शंकराचार्य ने भी बृहदारण्यक उपनिषद् में परिगणित उक्त आठ भेदों से अपनी सहमति व्यक्त की है।

अनुब्राह्मण

'अनुब्राह्मणादिनि:'-पाणिनीय सूत्र से ज्ञात होता है कि कुछ अनुब्राह्मणों का अस्तित्व था। स्व०पं० सत्यव्रत सामश्रमि भट्टाचार्य ने सामवेद के आर्षेय ब्राह्मण को अनुब्राह्मण कहा है।

उपलब्ध ब्राह्मण

पाणिनि के 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (४.३.१०५) सूत्र के ब्राह्मणों के प्राचीन और नवीन दो भागों की सूचना मिलती है। जयादित्य ने 'काशिका' में सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है–'पुराणेन चिरन्तनेन मुनिना प्रोक्ता:। ब्राह्मणेषु तावत् भाल्लविन:। शाट्यायनिन:। ऐतरेयिण:। कल्पेषु-पैङ्गीकल्प:। पुराणप्रोक्तेषु इति किम् ? याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि।' इसके अनुसार भाल्लवि, शाट्यायन और ऐतरेय ब्राह्मण पुराणप्रोक्त ब्राह्मणों के अन्तर्गत हैं तथा याज्ञवल्क्य (शतपथ) ब्राह्मण अर्वाचीन है।

सम्प्रति प्राप्त ब्राह्मणों का विवरण इस प्रकार है :

ऋग्वेदीय ब्राह्मण–(१)

ऐतरेय ब्राह्मण

यह ऋग्वेदीय ब्राह्मणों में प्रथम है। पारम्परिक दृष्टि से इसके द्रष्टा ऋषि महिदास ऐतरेय हैं। १२वीं शती के भाष्यकार षड्गुरुशिष्य ने महिदास को किसी यज्ञवल्क नामक ब्राह्मण की इतरा (द्वितीय) नाम्नी भार्या का पुत्र बतलाया है :

महिदासैतरेयर्षिसन्दृष्टं ब्राह्मणं तु यत्।'
आसीद् विप्रो यज्ञवल्को द्विभार्यस्तस्य द्वितीयामितरेति चाहु:।[२४]

ऐतरेयारण्यक के भाष्य में षड्गुरुशिष्य ने इस नाम की व्युत्पत्ति भी दी है।[२५] सायण ने भी अपने भाष्य के उपोद्घात में इसी प्रकार की आख्यायिका दी है, जिसके अनुसार किसी महर्षि की अनेक पत्नियों में से एक का नाम 'इतरा' था–महिदास उसी के पुत्र थे। पिता की उपेक्षा

२४. ऐतरेय ब्राह्मण पर सुखप्रदा वृत्ति (१९४२-५२ ई०), त्रिवेन्द्रम।
२५. इतराख्यास्य माताभूत् स्त्रीभ्यो ढक्यैतरेयगी:।' -एन० आर० भाष्यभूमिका।

से खिन्न होकर महिदास ने अपनी कुलदेवता भूमि की उपासना की, जिसकी अनुकम्पा से उन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण के साथ ही ऐतरेयारण्यक का भी साक्षात्कार किया।[२६] भट्टभास्कर का मत इससे कुछ भिन्न है। तदनुसार ऐतरेय के पिता का नाम ही ऋषि इतर था :

इतरस्य ऋषेरपत्यमैतरेयः। शुभ्रादिभ्यश्च ढक्।

स्कन्दपुराण में प्राप्त आख्यान के अनुसार ऐतरेय के पिता हारीत ऋषि के वंश में उत्पन्न ऋषि माण्डूकि थे।[२७] ब्रह्मसूत्र के मध्व-भाष्य में इनके सम्बन्ध में ब्रह्माण्ड पुराण का भी एक श्लोक उद्धृत किया गया है।[२८] छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार महिदास को ११६ वर्ष की आयु प्राप्त हुई।[२९] शांखायन गृह्यसूत्र में भी इनके नाम का 'ऐतरेय' और 'महैतरैय' रूपों में उल्लेख है।[३०] कतिपय पाश्चात्य मनीषियों ने अवेस्ता में 'ऋत्विक' के अर्थ में प्रयुक्त 'एथ्रेय' शब्द से 'ऐतरेय' का साम्य स्थापित करने की चेष्टा की है। इस साम्य के सिद्ध हो जाने पर 'ऐतरेय' की स्थिति भारोपीय कालिक हो जाती है।

हॉग और खोण्दा सदृश पाश्चात्य विद्वानों की धारणा है कि सम्पूर्ण ऐतरेय ब्राह्मण किसी एक व्यक्ति अथवा काल की रचना नहीं है। अधिक से अधिक महिदास को ऐतरेय ब्राह्मण के वर्तमान पाठ का सम्पादक भर माना जा सकता है।[३१]

उपलब्ध संस्करण–अद्यावधि ऐतरेय ब्राह्मण के (भाष्य, अनुवाद या वृत्ति सहित अथवा मूलमात्र) जो संस्करण प्रकाशित हुए हैं, अनका विवरण निम्नवत् है :

(१) १८६३ ई० में अंग्रेजी अनुवाद सहित मार्टिन हॉग के द्वारा सम्पादित और बम्बई से मुद्रित संस्करण, दो भागों में।

(२) थियोडॉर आउफ्रेख्ट के द्वारा १८७९ ई० में सायण भाष्यांशों के साथ बोन से प्रकाशित संस्करण, शीर्षक है–Das Aitareya Brahmana.

(३) १८९५ से १९०६ ई० के मध्य सत्यव्रत सामश्रमी के द्वारा कलकत्ता से सायण-भाष्यसहित चार भागों में प्रकाशित संस्करण।

२६. ऐतरेय ब्राह्मण पर सायण-भाष्य, पृष्ठ ८, आनन्दाश्रम।

२७. अस्मिन्नेव मम स्थाने हारीतस्यान्वयेऽभवत्।
माण्डूकिरिति विप्राग्र्यो वेदवेदाङ्गपारगः।।
तस्यासीदितरानाम भार्या साध्वी गुणैर्युता।
तस्यामुत्पद्यतसुतस्त्वैतरेय इति स्मृतः।।

–स्कन्दपुराण १.२.४२.२८-३०।

२८. महिदासभिज्ञो जज्ञे इतरायास्तपोबलात्।

–ब्रह्मसूत्रगत मध्व-भाष्य में उद्धृत।

२९. छान्दोग्य उपनिषद् ३.१६.७ तथा जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण ४.२।

३०. शांखायन गृह्यसूत्र ४.१०.३।

३१. J Gonda : History of Indian Literature (Vedic Literature, Volume I), p. 343 (Netherlands).

(४) ए०बी० कीथ के द्वारा अंग्रेजी में अनूदित शीर्षक 'Rigveda Brahmanas', १९२० ई० में कैम्ब्रिज से (तथा १९६९ ई० में दिल्ली में पुनर्मुद्रित) प्रकाशित संस्करण।

(५) १९२५ ई० में निर्णय सागर से मूलमात्र प्रकाशित, जिसका भारत सरकार ने पुनर्मुद्रण कराया है। यह राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली से प्राप्य है।

(६) १९५० ई० में गंगा प्रसाद उपाध्याय का हिन्दी अनुवाद मात्र हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से प्रकाशित।

(७) १९८० ई० में सायण भाष्य और हिन्दी अनुवाद सहित सुधाकर मालवीय के द्वारा सम्पादित संस्करण, वाराणसी से प्रकाशित।

(८) १९८६ ई० में सायण-भाष्यसहित संस्करण, आगाशे सम्पादित, आनन्दाश्रम, पूना से प्रकाशित-(हाल ही में पुनर्मुद्रित)।

(९) अनन्तकृष्ण शास्त्री के द्वारा षड्गुरुशिष्य 'कृत 'सुखप्रदा' वृत्तिसहित तीन भागों में त्रिवेन्द्रम से १९४२ से ५२ ई० के मध्य प्रकाशित संस्करण।

ऐतरेय ब्राह्मण का स्वरूप और प्रतिपाद्य–सम्पूर्ण ऐतरेय ब्राह्मण में ४० अध्याय हैं। प्रत्येक पाँच अध्यायों को मिलाकर एक 'पंचिका' निष्पन्न हो जाती है जिनकी कुल संख्या आठ है। अध्याय का अवान्तर विभाजन खण्डों में है, जिनकी संख्या प्रत्येक अध्याय में पृथक-पृथक है। समस्त चालीस अध्यायों में कुल २८५ खण्ड हैं।

ऋग्वेद की प्रसिद्धि 'होतृवेद' के रूप में है, इसलिए उससे सम्बद्ध इस ब्राह्मण ग्रन्थ में सोमयागों के हौत्र पक्ष की विशद मीमांसा की गई है। होतृमण्डल में जिनकी 'होत्रक' के नाम से प्रसिद्धि है, सात ऋत्विक होते हैं–होता, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, नेष्टा, पोता, अच्छावाक और आग्नीध्र। ये सभी सोमयागों के तीनों सवनों में ऋङ्मन्त्रों से 'याज्या' (ठीक आहुति-सम्प्रदान के समय पठित मन्त्र) का सम्पादन करते हैं। इनके अतिरिक्त 'पुरोऽनुवाक्याएँ'[३२] होती हैं, जिनका पाठ होम से पहले होता है। होता, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी और अच्छावाक–ये आज्य, प्रउग प्रभृति शस्त्रों (अप्रगीतमन्त्रसाध्य स्तुति) का शंसन (पाठ) करते हैं। इन्हीं का मुख्यतया प्रतिपादन इस ब्राह्मण ग्रन्थ में है। प्रसंगवश कतिपय अन्य कृत्यों का निरूपण भी हुआ है। होता के द्वारा पठनीय प्रमुख शस्त्र ये हैं–आज्य शस्त्र, प्रउगशस्त्र, मरुत्वतीय शस्त्र, निष्केवल्य शस्त्र, वैश्वदेव शस्त्र, आग्निमारुत शस्त्र, षोडशीशस्त्र, पर्यायशस्त्र तथा आश्विन शस्त्र प्रभृति याज्या और पुरोऽनुवाक्या को छोड़कर अन्य शस्त्र प्रायः तृच होते हैं, जिनमें पहली और अन्तिम (उत्तमा) ऋचा का पाठ तीन-तीन बार होता है। 'उत्तमा ऋचा को ही 'परिधानीया' भी कहते हैं। पहली ऋचा का पारिभाषिक नाम 'प्रतिपद' भी है। इन्हीं के औचित्य का विवेचन वस्तुतः ऐतरेय ब्राह्मणकार का प्रमुख उद्दिष्ट है। अग्निष्टोम समस्त सोमयागों का प्रकृतिभूत है, अतएव इसका सर्वप्रथम विधान किया गया है जो पहली पंचिका लेकर तीसरी पंचिका के पांचवें अध्याय के पांचवें खण्ड तक है–यद्यपि 'अग्निष्टोम' का नाम्ना उल्लेख १४वें अध्याय (तीसरी पंचिका के चतुर्थ अध्याय) में प्रथम बार हुआ है। यह एक दिन का प्रयोग है–सुत्यादिन की दृष्टि से–सामान्यतः इसके अनुष्ठान में कुल पांच दिन लगते हैं।

३२. पुरोऽनुवाक्या–पुरः पूर्वं यागाद् देवतामनुकूलयितुं या ऋग् उच्यते सा।

इसके अनन्तर अग्निष्टोम की विकृतियों–उक्थ्य क्रतु, षोडशी और अतिरात्र का वर्णन चतुर्थ पंचिका के द्वितीय अध्याय के पंचम खण्ड तक है। इसके पश्चात् सत्रयागों का विवरण है, जो ऐतरेय ब्राह्मण में ताण्ड्यादि अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा कुछ कम विस्तार से है। सत्रयागों में 'गवामयन' का चतुर्थ पंचिकागत दूसरे अध्याय के षष्ठ खण्ड से तीसरे अध्यायान्तर्गत अष्टम खण्ड तक निरूपण है। 'अङ्गिरसामयन' और 'आदित्यानामयन' नामक सत्रयाग भी इसी मध्य आ गये हैं। जैसाकि नाम से स्पष्ट है, सत्रयागों के अनुष्ठान में एक वर्ष (३६१ दिन) लगता है। पांचवीं पंचिका में विभिन्न 'द्वादशाह' संज्ञक सोमयागों का निरूपण है। इसी पंचिका में अग्निहोत्र भी वर्णित है। छठी पंचिका में सोमयागों से सम्बद्ध प्रकीर्ण विषयों का विवेचन है। इसी पंचिका के चतुर्थ और पंचम अध्यायों में वालखिल्यादि उन सूक्तों की विशद प्ररोचना की गई है, जिनकी गणना 'खिलों' के अन्तर्गत की जाती है। सप्तम पंचिका का प्रारम्भ यद्यपि पशु-अंगों की विभक्ति प्रक्रिया के विवरण के साथ होता है, किन्तु इसके दूसरे अध्याय में अग्निहोत्री के लिए विभिन्न प्रायश्चितों, तीसरे में शुनः शेप का सुप्रसिद्ध उपाख्यान और चतुर्थ अध्याय में राजसूय याग के प्रारम्भिक कृत्यों का विवरण है। आठवीं पंचिका के प्रथम दो अध्यायों में राजसूययाग का ही निरूपण है, किन्तु अन्तिम तीन अध्याय सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवरण–ऐन्द्र महाभिषेक, पुरोहित की महत्ता तथा ब्रह्मपरिमर (शत्रुक्षयार्थक प्रयोग–) का प्रस्तावक है। 'ब्रह्म' का अर्थ यहाँ वायु है। इस वायु के चारों और विद्युत, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य ओर अग्नि प्रभृति का अन्तर्भाव (मरण-प्रकार) ही 'परिमर' है। यज्ञ की सामान्य प्रक्रिया से हटकर सोचने पर यह कोई विलक्षण वैज्ञानिक कृत्य प्रतीत होता है।

इनमें से ३० अध्यायों तक प्राच्य और प्रतीच्य उभयविध विद्वानों के मध्य कोई मतभेद नहीं है–यह भाग निर्विवाद रूप से ऐतरेय ब्राह्मण का प्राचीनतम भाग है। इसमें भी प्रथम पाँच अध्याय तैत्तिरीय ब्राह्मण से भी पूर्ववर्ती माने जा सकते हैं।[३३] कीथ की इस धारणा के विपरीत विचार हार्श (V.G.L. Horsch) का है, जो तैत्तिरीय की अपेक्षा इन्हें परवर्ती मानते हैं।[३४] कौषीतकि ब्राह्मण के साथ ऐतरेय की तुलनात्मक विवेचना करने के अनन्तर पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि सातवीं और आठवीं पंचिकाएं (अन्तिम १० अध्याय) परवर्ती हैं–इन्हें बाद में जोड़ा गया। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत तर्क ये हैं :

(क) कौषीतकि ब्राह्मण में मात्र ३० अध्याय हैं–जबकि दोनों ही ऋग्वेदीय ब्राह्मणों का वर्ण्य विषय एक ही है–सोमयाग।

(ख) राजसूय याग में राजा का यागगत पेय सोम नहीं है, जबकि ऐतरेय ब्राह्मण के मुख्य विषय सोमयाग के अन्तर्गत पेय द्रव्य सोम है।

(ग) ऐतरेय ब्राह्मण की सप्तम पंचिका का आरम्भ 'अथातः' (अथातः पशोर्विभक्तिस्तस्य विभागं वक्ष्यामः) से हुआ है, जो परवर्ती सूत्र-शैली प्रतीत होती है।

३३. Rigveda Brahmanas' Introduction.

३४. Die Vedische Gatha and Sloka Literature, 1966 (V.G.L. Horsch).

उपर्युक्त तर्कों के उत्तर में यहां केवल पाणिनि का साक्ष्य ही पर्याप्त है जिन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण के ४० अध्यायात्मक स्वरूप का संकेत से उल्लेख किया है। वे ऋग्वेद के दूसरे ब्राह्मण–कौषीतकि के ३० अध्यायात्मक स्वरूप से भी परिचित थे।[३५] वस्तुत: उपर्युक्त शंकाओं (जिनमें षष्ठ पंचिका को परिशिष्ट मानने की धारणा भी है, क्योंकि इसमें स्थान-स्थान पर पुनरुक्ति है) का कारण ऐतरेय ब्राह्मण की विवेचन-शैली है, जो विषय को संश्लिष्ट और संहितरूप में न प्रस्तुत कर कुछ फैले-फैले रूप में निरूपित करती है। वास्तव में श्रौतसूत्रों के सदृश समवेत और संहित रूप में विषय-निरूपण की अपेक्षा ब्राह्मणग्रन्थों से नहीं की जा सकती। यह सुनिश्चित है कि ऐतरेय ब्राह्मण पाणिनि के काल तक अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर चुका था। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने मूल ब्राह्मण (UR-Brahmana) के अस्तित्व की बात भी उठाई है, किन्तु प्रा. खोण्दा जैसे मनीषियों ने उससे असाहमत्य ही प्रकट किया है।[३६]

ऐतरेय ब्राह्मण की व्याख्या-सम्पत्ति–इस पर चार प्राचीन भाष्यों का अस्तित्व बतलाया जाता है–गोविन्दस्वामी, भट्टभास्कर, षड्गुरुशिष्य और सायणाचार्य के भाष्य। इनमें से अभी तक केवल अन्तिम दो का प्रकाशन हुआ है–उनमें भी अध्ययन-अध्यापन का आधार सामान्यतया सायणभाष्य ही है जिसमें हौत्र पक्ष की सभी ज्ञातव्य विशेषताओं का समावेश है।

ऐतरेय ब्राह्मण की रूप-समृद्धि–किसी कृत्यविशेष में विनियोज्य मंत्र के देवता छन्दस् इत्यादि के औचित्य निरूपण के सन्दर्भ में ऐतरेयकार अन्तिम बिन्दु तक ध्यान रखते हैं। इसे वह अपनी पारिभाषिक शब्दावली में 'रूप-समृद्धि' की आख्या देते हैं–'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूप समृद्धं यत्कर्म क्रियमाणं ऋगभिवदति (ऐत०ब्रा० ३.२)।

ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विवरण–ऐतरेय ब्राह्मण में मध्यदेश का विशेष आदरपूर्वक उल्लेख किया गया है–'ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि (८.४)। पं० सत्यव्रत सामश्रमी के अनुसार इस मध्यदेश में कुरु, पाञ्चाल, शिवि और सौतीर संज्ञक प्रदेश सम्मिलित थे।[३७] महिदास का अपना निवास-स्थान भी इरावती नदी के समीपस्थ किसी जनपद में था।[३८]

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार उस समय भारत के पूर्व में विदेह इत्यादि जातियों का राज्य था। दक्षिण में भोजराज्य, पश्चिम में 'नीच्य' और 'अपाच्य' का राज्य उत्तर में उत्तरकुरुओं और उत्तर मद्र का राज्य तथा मध्य भाग में कुरु-पाञ्चाल राज्य थे।[३९] काशी, मत्स्य, कुरुक्षेत्र इत्यादि का भी उल्लेख है।

ऐन्द्र महाभिषेक के प्रसंग में अन्तिम तीन अध्यायों में जिन ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम आये हैं, वे हैं-परीक्षित-पुत्र जनमेजय, मनु-पुत्र शर्यात, उग्रसेन-पुत्र युधांश्रौष्टि, अविश्रितपुत्र, मरुत्तम,

३५. अष्टाध्यायी ५.१.६२

३६. History of Indian Literature (Vedic Literature, Vol I)-कीथ की यह धारणा किसी अंश तक सही हो सकती है कि ऐतरेय तथा कौषीतकि दोनों ही ब्राह्मण कभी एक ही ग्रन्थ के रूप में थे।

३७. ऐतरेयालोचन, पृष्ठ ४२, कलकत्ता, १९०६।

३८. वही, पृष्ठ ७१।

३९. ऐतरेय ब्राह्मण ८.३.२।

सुदास पैजवन, शतानीक और दुष्यन्त पुत्र भरत। भरत की विशेष प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि उसके पराक्रम की समानता कोई भी नहीं कर पाया :

महाकर्म भरतस्य न पूर्वे नापरे जना।
दिवं मर्त्य इव हस्ताभ्यां नोदापुः पञ्चमानताः।[४०]

इस भरत के पुरोहित थे ममतापुत्र दीर्घतमा।

पुरोहित का गौरव–ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम अध्याय में पुरोहित का विशेष महत्त्व निरूपित है। राजा को पुरोहित की नियुक्ति अवश्य करनी चाहिए क्योंकि वह आहवनीयाग्नितुल्य होता है। पुरोहित वस्तुतः प्रजा का प्रतिनिधि है, जो राजा से प्रतिज्ञा कराता है कि वह अपनी प्रजा से कभी द्रोह नहीं करेगा।

आचार-दर्शन–ऐतरेय ब्राह्मण में नैतिक मूल्यों और उदात्त आचार-व्यवहार के सिद्धान्तों पर विशेष बल दिया गया है। प्रथम अध्याय के षष्ठ खण्ड में कहा गया है कि दीक्षित यजमान को सत्य ही बोलना चाहिए :

'ऋतुं वाव दीक्षा सत्यं दीक्षा तस्माद्दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्।' इसी प्रकार के अन्य वचन हैं–'विदुषा सत्यमेव वदित्यम्' (५.२९); 'अवत्येनं सत्यमनृतं हिनस्ति' (४.१.१)। जो अहंकार से युक्त होकर बोली जाती है, वह राक्षसी वाणी है 'यां वै दृप्तो वदति, यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाक्' (२.१.७)।

शुनः शेप से सम्बद्ध आख्यान के प्रसंग में कर्मनिष्ठ जीवन और पुरुषार्थ-साधन का महत्त्व बड़े ही काव्यात्मक ढंग से बतलाया गया है–कहा गया है कि बिना थके हुए श्री नहीं मिलती। जो विचरता है, उसके पैर पुष्पयुक्त होते हैं, उसकी आत्मा फल को उगाती और काटती है। भ्रमण के श्रम से उसकी समस्त पापराशि नष्ट हो जाती है। बैठे-ठाले व्यक्ति का भाग्य भी बैठ जाता है सोते हुए का सो जाता है और चलते हुए का चलता रहता है। कलियुग का अर्थ है मनुष्य की सुप्तावस्था; जब वह जँभाई लेता है, तब द्वापर की स्थिति में होता है खड़े होने पर त्रेता और कर्मरत होने पर सत्ययुग की अवस्था में आ जाता है–चलते हुए ही मनुष्य स्वादिष्ट फल प्राप्त करता है। सूर्य के श्रम को देखो, जो चलते हुए कभी आलस्य नहीं करता :

कलिः शयानो भवति एंजिहानस्त द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरँश्चरैवेति।।
चन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमार यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति।। (३३.१)

देवता विषयक विवरण–ऐतरेय ब्राह्मण में कुल देवता ३३ माने गए हैं–'त्रयस्त्रिशद् वै देवाः।' इनमें अग्नि प्रथम देवता हैं और विष्णु परम देवता–इन्हीं के मध्य शेष सबका समावेश हो जाता है–'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण अन्याः सर्वाः देवताः।' यहीं से

४०. वही ८.४.९।

महत्ता-प्राप्त विष्णु आगे पुराणों में सर्वाधिक वैशिष्ट्य सम्पन्न देवता बन गए। देवों के मध्य इन्द्र अत्यधिक ओजस्वी, बलशाली और दूर तक पार कराने वाले देवता हैं–'स वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः (७.१६)। देवताओं के सामान्यरूप से चार गुणा हैं–(१) देवता सत्य से युक्त होते हैं, (२) वे परोक्षप्रिय होते हैं, (३) वे एक दूसरे के घर में नहीं रहते और वे मर्त्यों को अमरता प्रदान करते हैं (ऐत०ब्रा० १.१.६; ३.३.९; ५.२.४; ६.३.४)।

शौनः शेप आख्यान–अन्य ब्राह्मणों के सदृश ऐतरेय ब्राह्मण में भी आख्यानों की विशाल थाती संकलित है। इनका प्रयोजन याग से सम्बद्ध देवता और उनके शस्त्रों (स्तुतियों) के छन्दों एवं अन्य उपादानों का कथात्मक ढंग से औचित्य-निरूपण है। इन आख्यानों में शुनः शेप का आख्यान, जिसे हरिश्चन्द्रोपाख्यान भी कहा जाता है, समाजशास्त्र, नृतत्त्वशास्त्र एवं धर्मशास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह ३३वें अध्याय में समाविष्ट है। राज्याभिषेक के समय यह राजा को सुनाया जाता था। संक्षिप्त रूप से आख्यान इस प्रकार है–इक्ष्वाकुवंशज राजा हरिश्चन्द्र पुत्ररहित थे। वरुण की उपासना और उनकी प्रसन्नता तथा इस शर्त पर राजा को रोहित नामक पुत्र की प्राप्ति हुई कि वे उसे वरुण को समर्पित कर देंगे। बाद में वे उसे समर्पित करने से टालते रहें–जिसके फलस्वरूप वरुण के कोप से वे रोग ग्रस्त हो गये। अन्त में राजा ने अजीगर्त ऋषि के पुत्र शुनः शेप को खरीदकर उसकी बलि देने की व्यवस्था की। इस यज्ञ में विश्वामित्र, वसिष्ठ और जमदग्नि ऋत्विक थे। शुनः शेप की हत्या के लिए इनमें से किसी के भी तैयार न होने पर अन्त में पुनः अजीगर्त्त ही लोभवश तैयार हो गये। बाद में विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति से शुनःशेप बन्धन-मुक्त हो गया। लोभी पिता का उसने परित्याग कर दिया और विश्वामित्र ने उसे पुत्र रूप में स्वीकार कर लिया। शुनःशेप का नया नामकरण हुआ देवरात वैश्वामित्र। इस आख्यायिका के चार प्रयोजन आपाततः प्रतीत होते हैं–(१) वैदिक मन्त्रों की शक्ति और सामर्थ्य का प्रतिपादन, जिनकी सहायता से व्यक्ति वध और बन्धन से भी मुक्त हो सकता है। (२) यज्ञ या किसी भी धार्मिक कृत्य में नर-बलि जैसे घृणित कृत्य की भर्त्सना। सम्भव है, बहुत आदिम-प्राकृत काल में, जब यज्ञ-संस्था विधिवत् गठित न हो पाई हो नर-बलि की छिटपुट घटनाओं की यदा-कदा आवृत्ति हो जाती हो। ऐतरेय ब्राह्मण ने प्रकृत प्रसंग के माध्यम से इसे अमानवीय घोषित कर दिया है। (३) मानव-हृदय की, ज्ञानी होने पर भी लोभमयी प्रवृत्ति का निदर्शन, जिसके उदाहरण ऋषि अजीगर्त्त हैं। (४) राज-सत्ता के द्वारा निजी स्वार्थ के लिए प्रजा का प्रलोभनात्मक उत्पीड़न। इस आख्यायिका के हृदयावर्जक अंश दो हीं हैं–(१) राजा हरिशचन्द्र के द्वारा प्रारम्भ में पुत्र-लालसा की गाथाओं के माध्यम से मार्मिक अभिव्यक्ति (२) 'चरैवेति' की प्रेरणामयी गाथाएँ, जिनके उदाहरण पहले ही दिये जा चुके हैं।

साहित्यिक शैलीगत सौष्ठव–अन्य ब्राह्मणों की तरह ऐतरेय ब्राह्मण में भी रूपकात्मक और प्रतीकात्मक शैली का आश्रय लिया गया है, जो इसकी अभिव्यक्तिगत सप्राणता में अभिवृद्धि कर देती है। स्त्री-पुरुष के मिथुनभाव के प्रतीक सर्वाधिक हैं। उदाहरण के लिए वाणी और मन देवमिथुन हैं–'वाक्च वै मनश्च देवानां मिथुनम्' (२४.४)। घृतपक्व चरु में घृत स्त्री-अंश है और तण्डुल पुरुषांश–(१.१)। दीक्षणीया इष्टि में दीक्षित यजमान के समस्त संस्कार गर्भगत शिशु की तरह करने का विधान भी वस्तुतः प्रतीकात्मक ही है। कृत्य-विधान के सन्दर्भ में

कहीं-कहीं बड़े सुन्दर लौकिक उदाहरण दिये गये हैं, यथा एकाह और अहीन यागों के कृत्यों से याग का समापन इसलिए करना चाहिए, क्योंकि दूर की यात्रा करने वाले लक्ष्य पर पहुँचकर गाड़ी के बैलों को बदल देते हैं।

अड़तीसवें अध्याय में, ऐन्द्रमहाभिषेक के प्रसंग में मन्त्रों से निर्मित आसन्दी का सुन्दर रूपक प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है–इस आसन्दी के अगले दो पाये बृहत् और रथन्तर सामों से तथा पिछले दोनों पाये वैरूप और वैराज सामों से निर्मित हैं। ऊपर के पट्टे का कार्य करते हैं शाक्वर और रैवत साम। नौधस और कालेय साम पार्श्वफलक स्थानीय है। इस आसन्दी का ताना ऋचाओं से, बाना सामों से तथा मध्यभाग यजुषों से निर्मित है। इसका आस्तरण है यश का तथा उपधान श्री का। सवितृ, बृहस्पति और पूषन् प्रभृति विभिन्न देवों ने इसके फलकों को सहारा दे रखा है। समस्त छन्दों और तदभिमानी देवों से यह आसन्दी परिवेष्टित है। अभिप्राय यह कि बहुविध उपमाओं और रूपकों के आलम्बन से विषय-निरूपण अत्यन्त सुग्राह्य हो उठा है।

वैज्ञानिक तथ्यों का समावेश–ऐतरेय ब्राह्मण में ज्ञानिक सूचनाएं संकलित हैं। उदाहरण के लिए ३०वें अध्याय में, पृथिवी के प्रारम्भ में गर्मरूप का विवरण प्राप्त होता है–आदित्यों ने अंगिरसों को दक्षिणा में पृथ्वी दी। उन्होंने उसे तपा डाला, तब पृथ्वी सिंहिनी होकर मुंह खोलकर आदिमियों को खाने के लिए दौड़ी। पृथ्वी की इस जलती हुई स्थिति में उसमें उच्चावच गर्त बन गए।

भाषा–ऐतरेय ब्राह्मण की रचना ब्रह्मवादियों के द्वारा मौखिक रूप में व्यवहृत यज्ञ विवेचनात्मक सरल शब्दावली में हुई है जैसाकि खोण्दा ने अभिमत व्यक्त किया है।[४१] प्रो० कीथ ने अपनी भूमिका' में इस की रूप-रचना, सन्धि और समासंगत स्थिति का विशद विश्लेषण किया है, जिसकी अवतारणा इन परिमित पृष्ठों में सम्भव नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण की प्रथम पञ्चिका में निरूपित दो इष्टियों का परिचयात्मक विवरण यहाँ निदर्शनार्थ दिया जा रहा है।

ऐतरेय ब्राह्मण में दीक्षणीया इष्टि

श्रौतयाग वैदिक वाङ्मय में विहित कर्म स्रक के समेरु रूप कहे गये हैं 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार समस्त श्रौतयागों (कर्मों) को पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है–अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मासस्य, पशुयाग तथा सोमयाग।

'स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि पशुः सोमः।

इन्हें तीन प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है–इष्टि, सोम और पशु। समस्त श्रौतयागों के मध्य इष्टि का विशष्ट महत्व है, इष्टि के इष्टित्व को स्पष्ट करते हुए ब्राह्मणकार का कथन है :

४१. The diction and phraseology of the Brahmanas are based on, or are a literary conventionalized development of the language of oral instruction and discussions of the oral experts—*History of Indian Literature* (Vedic Literature, Vol.I) (Netherlands).

यज्ञो वै देवेभ्यः उदक्रामत्तमिष्टिभिः प्रैषमैच्छन् यदिष्टिभिः प्रैषमैच्छंस्तरिष्टीनां, इष्टित्वम्।

श्रौतयागों के मध्य सोमयागों का भी विशिष्ट स्थान है। सामान्यतया समस्त सोमयागों की सात संस्थायें मानी जाती हैं :

अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोयमि।

इनमें से अग्निष्टोम की आख्या ज्योतिष्टोम भी है इनके नामकरण का आधार यज्ञायज्ञीय नामक अग्निष्टोम संज्ञक एक साम विशेष है जिससे यह समाप्य माना जाता है। यह संक्षेप में चतु:संस्थ है और समस्त सोमयागों की मूल-प्रकृति है :

एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज् ज्योतिष्टोमः
ज्योतींषि स्तोमाः यस्य सः ज्योतिष्टोमः।।

श्रौतयागों के संपादन के सन्दर्भ में ऋत्विक्दृष्टि से चार पक्ष होते हैं–हौत्र, आध्वर्यव, औद्गात्र एवं ब्राह्म। कुल मिलाकर सम्पूर्ण यज्ञ में १७ ऋत्विकों की आवश्यकता पड़ती है जिनके द्वारा संपाद्य कृत्यों का विवरण विशदरूप में तत्तद् ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों में उपलब्ध होता है। ऐतरेय ब्राह्मण का सम्बन्ध क्योंकि ऋग्वेद से है इसलिए इसमें मुख्य रूप से हौत्रपक्ष ही प्रस्तुत हो पाया है। इस ब्राह्मण के अधिकांश भाग (लगभग १७ अध्यायों में) ज्योतिष्टोम का ही विवरण प्राप्त होता है। इसके आध्वर्यव पक्ष का विशद् ज्ञान यजुर्वेदीय ब्राह्मणों तथा कात्यायन और आपस्तम्ब के श्रौतसूत्रों से होता है।

यद्यपि ऐतरेय-ब्राह्मण में सर्वप्रथम दीक्षणीया इष्टि का ही विवरण दिया गया है किन्तु इससे पूर्व कुछ अन्य कृत्य हो चुके होते हैं, जिनमें ऋत्विक्-वरण मुख्य है। सोमप्रवाक् वर्ण भी इसी से सम्बद्ध है।

दीक्षणीया इष्टि वस्तुतः यजमान के उपवास पूर्वक वमन और स्नान के अनन्तर प्रारम्भ होती है। इसमें मुख्य द्रव्य एकादश संख्यक कपालों में निर्मित पुरोडाश बताया गया है। इसके देवता के रूप में अग्नि और विष्णु विहित हैं :

आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति दीक्षणीयमेकादशकपालम्।

प्रश्न उठता है कि अग्नि और विष्णु दो ही तो देवता हैं तो इन एकादश कपालों में निर्मित पुरोडाश, का विभाजन किस क्रम से करेंगे? इसका उत्तर यह है कि आठ कपालों से सम्बद्ध भागों के अग्नि देवता हैं, क्योंकि गायत्री छन्द के एक चरण में आठ अक्षर होते हैं और गायत्री ही अग्नि का छन्द है। तीन कपालों से सम्बद्ध भाग विष्णु के लिए दिया जाता है क्योंकि विष्णु ने इस सृष्टि को तीन डगों में नापा :

अष्टाकपाल आग्नेयः त्रिकपालो वैष्णवः।

पुनः प्रश्न उठता है कि दीक्षणीया इष्टि में अन्य देवताओं का भी चयन होता है तो केवल

अग्नि और विष्णु को ही पुरोडाश क्यों अर्पित किया जाता है ? इसका उत्तर ब्राह्मणकार देता है कि देवताओं के मध्य अग्नि का सबसे आदि में और विष्णु का सबसे अन्त में स्थान है। इन दोनों देवताओं के मध्य अन्य प्रधान देवताओं का स्थान है–

अग्निर्वै देवानाम् अवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।

तथा

अग्निर्वै सर्वा देवता विष्णुः सर्वा देवताः।

एकादशकपालों के अनन्तर १७ साधेनी ऋचाएं उल्लिखित हैं जिनका प्रयोजन यज्ञाग्नि प्रज्वलन है, उनका पाठ करना चाहिए।

सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्।

इस इष्टि के संपादन के अनन्तर जिस यजमान की दीक्षा हुई है उसकी यागजन्य पात्रता के उत्कर्ष-हेतु कतिपय संस्कार भी विहित हैं, जिनका प्रारम्भ प्रथम अध्याय के तृतीय खण्ड से हो जाता है। प्रतीत होता है कि दीक्षा यज्ञ के विधान-कर्ताओं की दृष्टि में कुछ-कुछ यजमान के पुनर्जन्म-जैसी है, जैसे वह पुनः मातृ-गर्भ से निकलकर आया हो :

पुनर्वा एतमृत्विजो गर्भं कुर्वन्ति यं दीक्षयन्ति

सर्वप्रथमतः यजमान का जल से अभिषेक किया जाता है। इसके पीछे यह मान्यता है कि वह पुत्रोत्पादन की सामर्थ्य से सम्पन्न हो जाता है :

अद्भिरभिषिञ्चन्ति

अभिषेक के अनन्तर सम्पूर्ण शरीर में नवनीत (ताजे मक्खन) का अनुलेपन किया जाता है:

नवनीतेनाभ्यञ्जन्ति

तदुपरान्त यजमान की दोनों आँखों में अञ्जन लगा देते हैं। ब्राह्मणकार की आवधारणा है कि इससे यजमान की आँखें तेजोमयी हो जाती हैं :

तेजो वा एतदक्ष्योर्यदाञ्जनम्

तत्पश्चात् २१ कुश-पिञ्जूलों से उसे शुद्ध करते हैं :

एकविंशत्या दर्भपिञ्जूलैः पावयन्ति

इतने कृत्यों के पश्चात् दीक्षित पुरुष को यजमान के लिए बनाये गये विशेष स्थान पर ले जाया जाता है। इस विशेष स्थान को यहाँ 'विमित' की संज्ञा दी गयी है। इसके अनन्तर वस्त्राच्छादन, कृष्णमृगचर्म का वेष्टन और मुष्टिबन्धन जैसे कृत्य सम्पन्न होते हैं। यह एक प्रतीकात्मक कृत्य प्रतीत होता है जिसके विषय में ब्राह्मणकार का कथन है कि :

मुष्टि वै कृत्वा गर्भोऽन्तः शेते, मुष्टी कृत्वा कुमारो जायते तद्यन् मुष्टी कुरुते यज्ञं चैव तत्सर्वाश्च देवता मुष्टयोः कुरुते।'

इसके पश्चात् यजमान लपेटे हुए वस्त्र के साथ ही स्नान करता है। ऐतरेय ब्राह्मण में इसके अनन्तर हौत्र की दृष्टि से कुछ पुरोनुवाक्याओं का विधान किया गया है जिसके विशद उल्लेख की यहाँ आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

सोमयाग के दीक्षित यजमान से अपेक्षा की गयी है कि उसे सत्य ही बोलना चाहिए क्योंकि दीक्षा स्वयं सत्य स्वरूप हैं। वह प्राकृतिक नियमों के अनुकूल है :

ऋतं वाव दीक्षा सत्यं दीक्षा तस्माद्दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्।

ब्राह्मणकार मानव स्वभाव की दुर्बलताओं से अवगत हैं तथा इस सत्य से सुपरिचित हैं कि कोई भी मनुष्य इच्छा रहने और प्रयत्न करने पर भी सर्वदा तथा सर्वथा सत्य बोलने में समर्थ नहीं हो सकता। इस दृष्टि से विचार करने के अनन्तर ब्राह्मणकार यजमान के लिए विचक्षण शब्द से युक्त वाणी बोलने का निर्देश प्रस्तुत करता है :

विचक्षणवतीं वाचं वदेत्।

ऐतरेय ब्राह्मण में विहित कृत्यों और संस्कारों पर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रस्तुत प्रकरण केवल स्थूल कर्मकाण्ड का प्रस्तावक नहीं है, प्रत्युत नैतिकता और आचार के उच्च आदर्शों एवं मानकों से समन्वित है।

ऐतरेय ब्राह्मण में आतिथ्येष्टि

समस्त योमयागों के मध्य 'आतिथ्या' संज्ञक इष्टि का विशिष्ट स्थान है। इसके विशद विवरण के लिए ऐतरेय ब्राह्मण के तृतीय अध्यायगत चतुर्थ खण्ड से षष्ठ खण्ड पर्यन्त अंश विशेष उपादेय हैं। ब्राह्मणकार के अनुसार सोमवल्ली की स्थिति एक सम्राट के समान है। उसके आगमन पर स्वागत स्वरूप अतिथ्य-हवि का निरूपण किया जाता है :

हविरातिथ्यं निरुप्यते सोमे राजन्यागते

यह इष्टि तब होती है जब प्राचीन वंशशाला के समीप सोम का आनयन सम्पन्न हो चुका है। तद्गत सायण भाष्य है :

'प्राचीन वंश समीपं सोमे राजनि समागते सति तस्यतिथिरूपत्वात् तदीयमतिथ्याख्य कर्म संबन्धि हविनिर्वपेत्'

यद्यपि इस इंष्टि का देवता अतिथि, जो सोम रूप है को न मानकर विष्णु को माना गया है, तथापि उपचार लक्षणा से हवि के अतिथि रूप होने के कारण इस कर्म का नामकरण भी सुसंगत प्रतीत होता है। ब्राह्मणकार का वचन है :

'सोमो वै राजा यजमानस्य गृहनागच्छति तस्मा एतद् हविरातिथ्यं निरुप्यते। तदातिथ्यस्याऽऽतिथ्यत्वम्।'

इस स्थल पर प्राप्य सायण भाष्य से भी इसका समर्थन होता है :

तिथिविशेषमनपेक्ष्य भोजनार्थं कस्यचिद् गृहं प्रत्यकस्माद्यः समागतः सोऽतिथिः। सोमोपि तथाविधत्वाददतिथिरित्युच्यते। तत्सबन्धित्वादातिथ्यमिति नामधेयम्।

इसके पहले ऐतरेय ब्राह्मण के इसी अध्याय के प्रथम तीन खण्डों में सोम के क्रय, उसके शकटारोहण तथा उसके आनयन का साङ्गोपाङ्ग विवरण मिलता है। तदनुसार सोम पूर्व दिशा में क्रय किया जाता था। जब वह आता है तो सभी प्रसन्न होते हैं और इसी निमित्त **'सर्वे नन्दन्ति यशसाऽऽगतेन्'** जैसी ऋचाओं का अभिनन्दन स्वरूप पाठ होता है। सोम राजा को बड़ा यशस्कर तथा आनन्दकर माना गया है :

यशो वै सोमो राजा सर्वो ह वा एतेन क्रीयमाणेन नन्दन्तियञ्च यज्ञे लप्स्यमानो भवति यश्च न।

सोम को शकट से उतारते समय अनेक औपचारिकताओं का पालन अपेक्षित था। उदाहरण के लिए दोनों बैलों में से केवल एक को ही खोला जाता था। इसके पीछे एक धारणा थी कि इस कृत्य से योगक्षेमः बना रहता है :

अन्यतरोऽनाड्वयुक्तः स्यादन्यतरो विमुक्तोऽथ राजानमुपावहरेयुः। इति उभावेव तेक्षेमयोगौ कल्पयन्ति।

एक आख्यायिका के माध्यम से उस प्रसंग का उल्लेख भी किया गया है जब सोम को राजा के पद पर प्रतिष्ठित किया गया था। सामाजिक विज्ञानगत अर्हताओं के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि अराजकता से निस्तार पाने की दिशा में मानवीय प्रयत्नों के आद्य रूप को यह कथा उद्घाटित करती है। जैसा कि पहले कहा गया है कि अतिथ्येष्टि का देवता विष्णु है और नवकपालों का पुरोडाश द्रव्य है–

नवकपालो भवति नव वै प्राणाः प्राणानां क्लृप्त्यै प्राणानां प्रतिपज्ञात्ये।

तथा

वैष्णवो भवति, विष्णुर्वै यज्ञः।

स्पष्ट है, यहाँ नौ कपाल नौ प्राणों के प्रतीक हैं और विष्णु यज्ञ स्वरूप का उपलक्षक है। माना जाता है कि राजा सोम का अनुगमन गायत्री आदि सभी छन्द तथा पृष्ठादि सभी स्तोत्र करते हैं और आतिथ्य इष्टि में ये सभी उसी तरह सत्कार्य है, जैसे राजा के अनुयायी होते हैं :

सर्वाणि वावच्छन्दांसि च पृष्ठानि च सोमं राजानं क्रीतमन्वायन्ति, यावन्तः खलु वै राजानमनुयन्ति तेभ्यः सर्वेभ्यः आतिथ्यं क्रियते।

सोम के सत्कारप्रसंग में सर्वप्रथम कृत्य है अग्निमन्थन।

अग्निं मन्थन्ति सोमे राजन्यगते। तद्यथैवादो मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिरवाऽर्हत्युक्षाणं वा वेहतं वा क्षदन्त एवमेवास्या एतद् क्षदन्ते यदग्निं मन्यन्ति अग्निर्हि देवानां पशुनां।

अग्नि मन्थन के समय १३ ऋचाओं का पाठ विहित है, उनमें से पहली और अन्तिम ऋचा के तीन-तीन बार पाठ का विधान है, जिससे कुल संख्या १७ सम्पन्न हो जाती है, जो संवत्सर की प्रतीक है :

सप्तदशो वै प्रजापतिर्द्वादिशं मासाः पञ्चर्तवतावान् संवत्सरः, संवत्सरः प्रजापतिः।

इस इष्टि में विहित आज्य भाग की पुरोनुवाक्या में अतिथि शब्द का रहना विशेष महत्त्व का भाजन है क्योंकि इससे रूपसमृद्धि सुलभ हो जाती है जिसकी ओर ब्राह्मणकार सदैव अत्यन्त सतर्क रहा है।

ऋग्वेदीय ब्राह्मण–(२)

शांखायन ब्राह्मण

यह ऋग्वेद का द्वितीय उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थ है। 'शांखायन' का 'सांख्यायन' रूप में भी कहीं-कहीं उल्लेख मिलता है। इसी का दूसरा नाम 'कौषीतकि ब्राह्मण' भी है। ऋग्वेद की बाष्कल शाखा से इसका सम्बन्ध बतलाया गया है। इस पर कोई भी प्राचीन भाष्य प्रकाशित नहीं हुआ है।[४२]

प्रकाशित संस्करण–अब तक इस ब्राह्मण के निम्नलिखित संस्करण मुद्रित हुए हैं–(१) कौषीतकि ब्राह्मण, समपादक–बी॰लिण्डनर, सन् १८८७ ई.। (२) शांखायन ब्राह्मण, सम्पादक गुलाबराय वजेशंकर ओझा, आनन्दाश्रम पूना से १९११ ई॰ में इसी का पुनर्मुद्रण हुआ है। (३) 'Rigveda Brahmanas' के अन्तर्गत ए॰बी॰ कीथ का अंग्रेजी अनुवाद कैम्ब्रिज से १९२० ई. में प्रकाशित। १९७१ ई॰ में मोतीलाल बनारसीदास के द्वारा पुनर्मुद्रित संस्करण।

स्वरूप–सम्पूर्ण ग्रन्थ ३० अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय के खण्डों का अवान्तर विभाजन प्राप्त होता है। कुल २२७ खण्ड हैं।

प्रवक्ता–परम्परा इसके प्रवचन का श्रेय शांखायन अथवा कौषीतकि (या कौषीतक) को देती है। शांखायन ब्राह्मण में अनेक स्थानों पर उनके मतों का नाम्ना उल्लेख है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में कौषीतकों का उल्लेख व्रात्यभावापन्न रूप में है :

'एतेन वै शमनीचामेढ्रा अयजन्त तेषां कुषीतकः– सामश्रवसो गृहपतिरासीत्तान् लुशाकपिः रवार्गलिनुव्याहरदवाकीर्षत् कनीयांसौ स्तोमावुपागुरिति तस्मात् कौषीतकानां न कश्चनाऽतीजिहीते यज्ञावकीर्णा हि।'[४३]

उपर्युक्त पंक्तियों के अनुसार आयाज्य-याजन के कारण कौषीतकि वंशियों को समाज में कोई श्रेय या प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई।

'शांखायन आरण्यक' में इनकी वंश-परम्परा का उल्लेख इस प्रकार है–'अथ वशः। नमो ब्रह्मणे। नम आचार्येभ्यो गुणाख्याच्छाङ्खायनादस्माभिरधीतं गुणाख्यः शाङ्खायनः कहोलात् कौषीतकेः कहोलः कौषीतकिरुद्दालकादारुपोरुद्दालक आरुणिः।[४४]

४२. शांखायन अथवा कौषीतकि ब्राह्मण पर विनायक नामक किसी भाष्यकार के भाष्य के अस्तित्व की सूचना हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियों में प्राप्त होती है। डॉ॰ मंगलदेवशास्त्री, कौषीतकि ब्राह्मण पर्यालोचनम्, पृ॰ २, १९६१ ई॰, वाराणसी।

४३. ताण्ड्य ब्राह्मण १४.४.३ काशी।

४४. शांखायन आरण्यक, १५.१., पृष्ठ ४७ आनन्दाश्रम १९२२ ई॰।

इसके अनुसार उद्दालक आरुणि से कहोल कौषीतकि ने, उनसे गुण शाङ्खायन ने और उनसे वंश-परम्परा के लेखक तक यह अध्ययन-परम्परा पहुँची। वास्तव में यह वंश-परम्परा विद्याक्रम से है, जन्म-क्रम से नहीं। कौषीतकि और शांखायन इस परम्परा से, परस्पर गुरु-शिष्य सिद्ध होते हैं। अतः शांखायन को ही अन्तिम रूप से शांखायन शाखीय ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रवक्ता माना जाना चाहिए। आचार्य शांखायन ने ही अपने गुरु कौषीतकि के नाम पर इसका नामकरण कर दिया होगा—लेकिन परम्परा व शांखायन का नाम भी सुरक्षित रह गया। 'चरणव्यूह' की महिदास-कृत टीका में उद्धृत 'महार्णव' के एक श्लोक से भी इसकी पुष्टि होती है, जिसमें ब्राह्मण का नाम तो कौषीतकि ही है, किन्तु शाखा शांखायनी कही गई है :

उत्तरे गुर्जरे देशे वेदो बह्वृच ईरितः।
कौषीतकि ब्राह्मणं च शाखा शांखायनी स्थिता।।[४५]

शंकराचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र (१.१.२८ और ३.३.१०) के भाष्य में 'कौषीतकि ब्राह्मण' नाम को स्वीकार किया है। ३० अध्यायात्मक इस ब्राह्मण का उल्लेख 'अष्टाध्यायी' में भी है।[४६]

विषय-निरूपण शैली—ऐतरेय की अपेक्षा शांखायन ब्राह्मण का वैशिष्ट्य यह है कि उसमें सोमयागों के अतिरिक्त इष्टियों और पशुयागों का प्रतिपादन भी हुआ है। शांखायन ब्राह्मण के आरम्भिक छह अध्यायों में दर्शपूर्णमासादि की ही विवेचना है। ऐतरेय ब्राह्मण की विषय-वस्तु के साथ उसकी समानता सप्तम अध्याय से आरम्भ होती है। ऐतरेय के अन्तिम १० अध्यायों में निरूपित विषय-वस्तु शांखायन में नहीं है।

ऐतरेय की अपेक्षा शांखायन ब्राह्मण अधिक प्राचीन प्रतीत होता है। वास्तव में ऐतरेय ब्राह्मण का सम्पादन शांखायन-प्रदत्त सामग्री से ही हुआ है, इसलिए शांखायन की अपेक्षा ऐतरेय ब्राह्मण में अधिक स्पष्टता, सुबोधता तथा व्यवस्था है। शांखायन ब्राह्मण में प्राप्त विशद विचार-विमर्श को छोड़कर, ऐतरेय ब्राह्मण में अनेक तथ्यों की परिनिष्ठित रूप में प्रस्तुति दिखलाई देती है। उदाहरण के लिए शांखायन के आरम्भ में अग्नि की स्थिति पर विस्तृत चर्चा की गई है, जबकि ऐतरेय में इसका अस्तित्व नहीं है। दोनों में समानरूप से प्राप्त कुछ पंक्तियों से इनकी प्रतिपादन-शैलियों की भिन्नता का आकलन किया जा सकता है :

(१) **शांखायन ब्राह्मण**—'अग्निर्वैदेवानामवरार्ध्यो विष्णुः परार्ध्यस्तद्यश्चैव देवानामवरार्ध्यो यश्च परार्ध्यस्ताभ्यामेवैतत्सर्वा देवताः परिगृह्य सलोकतामाप्नोति।'[४७]

इसी अभिप्राय की प्रस्तुति ऐतरेय ब्राह्मण में अधिक सुस्पष्टता से हुई है :

अग्निर्वैदेवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।[४८]

शांखायन में 'आग्नावैष्णवमेकादशकपालं पुरोळाशं निर्वपन्ति' पंक्ति उद्धृत अंश से पहले आई है

४५. चरण-व्यूह (टीका), द्वितीयखण्ड, पृष्ठ ३३, चौखम्बा-संस्करण, १९३८।

४६. त्रिंशच्चत्वारिंशतो

४७. शांखायन ब्राह्मण ७.१।

४८. ऐतरेय ब्राह्मण १.१.०

और ऐतरेय में बाद में। इस दृष्टि से ऐतरेय की व्यवस्था अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होती है—क्योंकि अग्नि और विष्णु के निमित्त पुरोडाश-निर्वाप-विधान से पूर्व याग में अग्नि और विष्णु की स्थिति को स्पष्ट कर देना आवश्यक था।

(२) रूप-समृद्धि की चर्चा दोनों ही ब्राह्मणों में है, किन्तु दोनों की प्रस्तुति में आंशिक भिन्नता है :

शांखायन ब्राह्मण—'अभिरूपा भवन्ति यद्यज्ञेऽभिरूपं तत्समृद्धम्।'

ऐतरेय ब्राह्मण—'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्मक्रियमाणमृगभिवदति।'

ऐतरेय ब्राह्मण ने अभिरूपता के स्वरूप को भी स्पष्ट कर दिया है।

अपनी इसी सुव्यवस्थित निरूपण-शैली के कारण शांखायन की अपेक्षा ऐतरेय ब्राह्मण को अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। लेकिन सोमयागों के साथ ही इष्टियों के भी प्रतिपादन के कारण शांखायन का महत्त्व अक्षुण्ण है। शांखायन की याग-मीमांसा में भी प्राचीनता का गौरव विद्यमान है।

आचार-मीमांसा—अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों के सदृश शांखायन ब्राह्मण में भी मानवीय आचार के नियामक और निर्देशक तत्त्व बाहुल्य से उपलब्ध होते हैं। व्यक्ति के लिए वाणी परम उपादेय सिद्ध होती है। इस ओर शांखायन ब्राह्मणकार का ब्यान है :

अथो वाग्वै सार्पराज्ञी। वाग्घि सर्पतो राज्ञी।[४९]

ऊपर 'सर्प' शब्द प्राणिमात्र के लिए व्यवहृत है।

वाणी के संस्कार की दिशा उत्तर या पश्चिमोत्तर बतलाई गई है—'उदीच्यां दिशि प्रज्ञाततरा वागुद्यते। उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्। यो वांतत् आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्त इति ह स्माह। एषा हि वाचो दिक् प्रज्ञाता।'[५०]

काशिका-वृत्ति[५१] में वामन-जयादित्य ने भी भाषा-ज्ञान की दृष्टि से उत्तर दिशा की सार्थकता बतलाई है :

प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोऽके यथा।
विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती।।

स्मरणीय है कि महर्षि पाणिनि भी उत्तर दिशा में ही स्थित शलातुर स्थान पर उत्पन्न हुए थे।

वाणी के गौरव-ज्ञापन के साथ ही सत्य-संभाषण की आवश्यकता भी शांखायन ब्राह्मण में प्रतिपादित की गई है :

रात्र्या उ शीर्षन् सत्यं वदति। स यदि ह वा अपि तत् ऊर्ध्व मृषा वदति; सत्यं हैवास्योदितं भवति।[५२]

४९. कौषीतकि ब्राह्मण २६।४।
५०. वही ७।६।
५१. काशिकावृत्ति १।१।७५।
५२. वही २।८।

तथा–

सत्यमयो ह वा अमृतमय:।[५३]

शांखायन ब्राह्मण में पुरुष के शतायुष्य, उतसवमयता और शताधिक पराक्रमों और ऐन्द्रिक सामर्थ्य की आकांक्षा व्यक्त की गई है-

शतायुर्वै पुरुष:।[५४]

तथा–

शतायुर्वैपुरुष: शतपर्वा शतवीर्य: शतेन्द्रिय:।[५५]

मानव-जीवन चतुष्टयात्मक है। भाष्यकार विनायक[५६] के अनुसार 'चतुष्टय' शब्द धर्म, अर्थ काम और मोक्ष को लक्षित करता है।

निष्कर्ष यह कि शांखायन ब्राह्मण प्रामाणिक याग-मीमांसा, प्राचीनता, संश्लिष्ट प्रतिपादन और प्रेरक आचार-मीमांसा, के कारण ब्राह्मण-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण

समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों के मध्य शतपथ ब्राह्मण सर्वाधिक बृहत्काय है। शुक्ल यजुर्वेद की दोनों शाखाओं-माध्यन्दिन तथा काण्व–में यह उपलब्ध है। इसका गद्य-पाठ भी तैत्तिरीय ब्राह्मण के ही सदृश स्वराङ्कित है।[५७] अनेक विद्वानों के विचार से यह तथ्य इसकी प्राचीनता का द्योतक है।

नामकरण–'रणरत्नमहोदधि के अनुसार 'शतपथ' का यह नामकरण उसमें विद्यमान सौ अध्यायों के आधार पर हुआ है–'शतं पन्थानो यत्र शतपथ: तत्तुल्यग्रन्थ:।'[५८] इसी का अनुवाद श्रीधर शास्त्रीवारे ने भी किया है–'शतं पन्थानो मार्गा नामाध्याया यस्य तच्छतपथम्।'[५९] यद्यपि काण्व शतपथ ब्राह्मण में एक सौ चार अध्याय हैं, तथापि वहाँ 'छत्रिन्याय से यह संज्ञा अन्वर्थ हो जाती है। कुछ विद्वानों ने यह सम्भावना प्रकट की है कि शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता से सम्बद्ध कोई 'शतपथी' शाखा रही होगी। जिसके आधार पर असम और उड़ीसा प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में प्राप्त 'शतपथी' या 'सत्पथी' आस्पद हैं। किन्तु यह मत मान्य इसलिए नहीं प्रतीत

५३. वही २।८।
५४. वही १७।७।
५५. वही १८।१०
५६. हस्तलिखित रूप में उपलब्ध।
५७. शतपथगत स्वर प्रक्रिया के विशेष विवरण के लिए देखिए 'शतपथ ब्राह्मण की स्वर प्रक्रिया'।
५८. गणरत्नमहोदधि, पृष्ठ ११७, इटावा संस्करण
५९. शतपथ ब्राह्मण (वैंकटेश्वर प्रेस, बम्बई) के उपोद्घात से।

होता, क्योंकि शाखाओं से सम्बद्ध प्राप्त सामग्री में 'शतपथ' या 'शतपथी' नाम की किसी शाखा का कहीं भी उल्लेख नहीं है। अध्यायवाली बात ही अधिक विश्वसनीय प्रतीत होती है।

व्यवस्था और विन्यास–माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में १४ काण्ड, सौ अध्याय, ४३८ ब्राह्मण तथा ७६२४ कण्डिकाएँ हैं। प्रथम काण्ड में दर्श और पूर्ण मास इष्टियों का प्रतिपादन है। द्वितीय काण्ड में आधान, पुनराधान, अग्निहोत्र, उपस्थान, प्रवत्स्यदुपस्थान, आगतोपस्थान, पिण्डपितृयज्ञ, आग्रयण, दाक्षायण तथा चातुर्मास्यादि यागों की मीमांसा की गई है। तृतीय काण्ड में दीक्षाभिषवपर्यन्त सोमयाग का वर्णन है। चतुर्थकाण्ड में सोमयाग के तीनों सवनों के अन्तर्गत किये जाने वाले कर्मों का, षोडशीसदृश सोम संस्था, द्वादशाहयाग तथा सत्रादियागों का प्रतिपादन हुआ है। पञ्चम काण्ड में वाजपेय तथा राजसूय यागों का वर्णन है। छठे काण्ड में उषासम्भरण तथा विष्णुक्रम का और सातवें में चयनयाग, गार्हपत्य चयन, अग्निक्षेत्र संस्कार तथा दर्भस्तम्बादि के दूर करने तक के कार्यों का विवेचन हुआ है। आठवें काण्ड में प्राणभृत् प्रभृति इष्टकाओं की स्थापना विधि विहित है। नवम काण्ड में शतरुद्रिय होम, धिष्ण्यचयन, पुनश्चिति: तथा चित्युपस्थान का निरूपण है। दशम काण्ड में चिति-सम्पत्ति, चयनयाग स्तुति, चित्यपक्षपुच्छविचार, चित्याग्निवेदिका परिमाण, उसकी सम्पत्ति, चयनकाल, चित्याग्नि के छन्दों का अवयव रूप, यजुष्मती और लोकम्पृणा आदि इष्टकाओं की संस्था, उपनिषद् रूप से अग्नि की उपासना, मन की सृष्टि, लोकादि रूप से अग्नि की उपासना, अग्नि की सर्वतोमुखता तथा सम्प्रदायप्रवर्तक ऋषिवंश प्रभृति का विवेचन हुआ है। ११वें काण्ड में आधान-काल, दर्शपूर्ण मास तथा दाक्षायण यज्ञों की अवधि, दाक्षायणयज्ञ, पथिकृदिष्टि, अभ्युदितेष्टि, दर्शपूर्ण मासीय द्रव्यों का अर्थवाद, अग्निहोत्रीय अर्थवाद, ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य, मित्रविन्देष्टि, हवि: समृद्धि, चातुर्मास्यार्थवाद, पंच महायज्ञ, स्वाध्याय-प्रशंसा, प्रायश्चित, अंशु और अदाभ्यग्रह, आध्यात्मविद्या, पशुबन्ध प्रशंसा तथा हविर्याग के अवशिष्ट विधानों पर विचार किया गया है। १२वें काण्ड में सत्रगत दीक्षा-क्रम, महाव्रत, गवामयन सत्र, अग्निहोत्र प्रायश्चित, सौत्रामणीयाग, मृतकाग्निहोत्र तथा मृतक दाह प्रभृति विषयों का निरूपण है। १३वें काण्ड में अश्वमेध, तद्गत प्रयश्चित्त, पुरुषमेध, सर्वमेध तथा पितृमेध का विवरण है। १४वें काण्ड में प्रवर्ग्य कर्म, धर्म-विधि, महावीर पात्र, प्रवर्ग्योत्सादन, प्रवर्ग्यकर्तृक नियम, ब्रह्मविद्या, मन्थ तथा वंश इत्यादि का प्रतिपादन हुआ है। इसी काण्ड में बृहदारण्यक उपनिषद् भी है। सामूहिक रूप से इन काण्डों के नाम क्रमश: ये हैं–हविर्यज्ञम्, एकपादिका, अध्वरम्, ग्रहनाम, सवम्, उषासम्भरणम्, हस्तिघटम्, चिति: संचिति:, अग्निरहस्यम्, अष्टाध्यायी (संग्रह), मध्यमम् (सौत्रामणी), अश्वमेधम्, बृहदारण्यकम्।

काण्व शतपथ की व्यवस्था और विषय-वस्तु

काण्व शतपथ की व्यवस्था और विन्यास में विपुल अन्तर है। उसमें १७ काण्ड, १०४ अध्याय, ४३५ ब्राह्मण तथा ६८०६ कण्डिकाएँ हैं। प्रथम काण्ड में आधान-पुनराधान, अग्निहोत्र, आग्रयण, पिण्डपितृयज्ञ, दाक्षायणयज्ञ, उपस्थान तथा चातुर्मास्य संज्ञक यागों का विवेचन है। द्वितीय काण्ड में पूर्ण मास तथा दर्श यागों का प्रतिपादन है। तृतीय काण्ड में अग्निहोत्रीय अर्थवाद तथा दर्शपूर्ण मासीय अर्थवाद विवेचित हैं। चतुर्थकाण्ड में सोमयाग, सवनत्रयगत कर्म, षोडशी प्रभृति सोम

संस्था, द्वादशाहयाग, त्रिरात्रहीन दक्षिणा, चतुस्त्रिशंद्धोम और सत्रधर्म का निरूपण है। षष्ठ काण्ड में वाजपेययाग का, सप्तम काण्ड में राजसूय का तथा अष्टम में उरवा-सम्भरण का विवेचन है। नवम् काण्ड से लेकर १२वें काण्ड तक विभिन्न चयन याग निरूपित हैं। १३वें काण्ड में आधानकाल, पथिकृत इष्टि, प्रयाजानुयाजमन्त्रण, शंयुवाक्, पत्नीसंयाज, ब्रह्मचर्य, दर्शपूर्ण मास की शेष विधियों तथा पशुबन्ध का निरूपण है। १४वें काण्ड में दीक्षा-क्रम, पृष्ठ्याभिप्लवादि, सौत्रामणीयाग, अग्निहोत्र प्रायश्चित्त, मृतकाग्निहोत्र आदि का वर्णन हुआ है। १५वें काण्ड में अश्वमेध का, १६वें में सांगोपाङ्ग प्रवर्ग्य कर्म का तथा १७वें काण्ड में ब्रह्मविद्या का विवेचन किया गया है। सामूहिक रूप से इन काण्डों के नाम ये हैं–एकपात् काण्डम्, हविर्यज्ञ काण्डम्, उद्धारिकाण्डम्, अध्वरम्, ग्रहनाम्, वाजपेयकाण्डम्, राजसूयकाण्डम्, उखासम्भरणम्, हस्तिघटकाण्डम्, चितिकाण्डम्, साग्निचिति, अग्निरहस्यम्, अष्टाध्यायी, मध्यमम्, अश्वमेधकाण्डम्, प्रवर्ग्यकाण्डम् तथा बृहदारण्यकम्।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि दोनों ही शाखाओं की प्रतिपाद्य विषय-वस्तु समान है। केवल क्रम में कुछ भिन्नता है। विषय की एकरूपता की दृष्टि से माध्यन्दिन शतपथ अधिक व्यवस्थित है। इसका एक अन्य वैशिष्ट्य यह है कि वाजसनेयी संहिता के १८ अध्यायों की क्रमबद्ध व्याख्या इसके प्रथम नौ अध्यायों में मिल जाती है। केवल पिण्ड पितृयज्ञ का वर्णन संहिता में दर्शपूर्ण मास के अनन्तर है।

संस्करण–शतपथ ब्राह्मण के विभिन्न प्रकाशित और अनूदित संस्करणों का विवरण इस प्रकार है :

(१) सन् १९४० में लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई से सायण-भाष्य (वेदार्थ प्रकाश) तथा हरिस्वामी की टीका-सहित सम्पूर्ण माध्यान्दिन शतपथ ब्राह्मण प्रकाशित–इसके सम्पादक हैं श्रीधर शर्मा वारे।

(२) वेबर द्वारा सम्पादित संस्करण सन् १८५५ में प्रकाशित-इसी का पुनर्मुद्रण चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी से सन् १९६४ में हुआ।

(३) सत्यव्रत सामश्रमी के द्वारा अपनी ही टीका के साथ कलकत्ता से सन् १९१२ में सम्पादित और प्रकाशित।

(४) शतपथ ब्राह्मण (विज्ञान-भाष्य)–पं. मोतीलाल शर्मा, श्री बालचन्द्र यन्त्रालय, मानवाश्रम, दुर्गापुरा, जयपुर से १९५६ ई. में प्रकाशित।

(५) शतपथ ब्राह्मण (हिन्दी अनुवाद) सं॰ गंगाप्रसाद उपाध्याय, प्राचीन वैज्ञानिक अध्ययन-अनुसन्धान संस्थान, दिल्ली से १९६७ ई. में प्रकाशित।

(६) शतपथ ब्राह्मण (महत्त्वपूर्ण अंशों के सरलभावानुवाद के साथ), सं. चमनलाल, संस्कृति संस्थान, बरेली से १९७३ ई. में प्रकाशित।

(७) शतपथ ब्राह्मण, वैदिकयन्त्रालय, अजमेर से सन् १९५० ई. में मुद्रित।

(८) काण्व शतपथ (प्रथम काण्ड), कालन्द-सम्पादित, लाहौर।

(९) मा॰ शतपथ ब्राह्मण (अंग्रेजी अनुवाद), जूलियस एगलिंग।

शतपथ ब्राह्मण के रचयिता–परम्परा से इसके रचयिता वाजसनेय याज्ञवल्क्य माने जाते

हैं। शतपथ के अन्त में उल्लेख है–'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते।' महाभारत और पुराणों में उनके विषय में प्राप्य विवरण के अनुसार याज्ञवल्क्य का आश्रम सौराष्ट्र क्षेत्र के आनर्तभाग में कहीं था[६०] –जनक से सम्बद्ध होने पर मिथिला में भी उन्होंने निवास किया। श्रीधर शर्मावारे के अनुसार उनका जन्म श्रावण शुक्ल चतुर्दशीविद्ध पूर्णिमा को हुआ था।[६१] वायुपुराण (६१-२१), ब्रह्माण्डपुराण (पू॰भा॰ ३५१२४) तथा विष्णु पुराण (३/५/३) में उनके पिता का नाम ब्रह्मरात बतलाया गया है, जबकि भागवत (१२/६/४) के अनुसार याज्ञवल्क्य देवरात के पुत्र थे। अनुश्रुति के अनुसार उनके गुरु शाकल्य थे, जिनसे बाद में उनका मतभेद हो गया था। तदनन्तर उन्होंने सूर्य की उपासना की, जिससे उन्हें समग्र वेदों का ज्ञान प्राप्त हुआ। जनक ने उनकी इसी प्रसिद्धि से आकृष्ट होकर उन्हें अपने यहाँ आमन्त्रित किया।[६२] ओल्डेन-बर्ग ने याज्ञवल्क्य के विदेहवासी होने में सहमति प्रकट की है, जबकि एगलिंग की इस विषय में असहमति है।[६३] सायण के अनुसार याज्ञवल्क्य के पिता की ख्याति अन्नदाता के रूप में थी–इसी कारण वे 'वाजसनि' कहलाते थे :

वाज इत्यन्नस्य नामधेयम्, अन्नं वै वाज इति श्रुतेः। वाजस्य सनिदनिं यस्य महर्षेरस्ति सोऽयं वाजसनिस्तस्य पुत्रो वाजसनेय इति तस्य याज्ञवल्क्यस्य नामधेयम्।'[६४]

स्वयं शतपथ ब्राह्मण ने याज्ञवल्क्य को वाजसनेय बतलाया है,[६५] इसलिए उसी को अन्तिम रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए। ब्रह्मरात या देवरात इत्यादि उन्हीं के नामान्तर हो सकते हैं 'स्कन्दपुराण' के 'नागरखण्ड (६/१६४/६)' के अनुसार याज्ञवल्क्य की माता का नाम सुनन्दा था। कंसारिका उनकी बहन थी। बृहदारण्यक उपनिषद् (२.४.१) से ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य की कात्यायनी और मैत्रेयी नाम्नी दो पत्नियां थीं। पुराणों में कात्यायनी का उल्लेख कल्याणी नाम से भी है। स्कन्दपुराण ने ही कात्यायन और पारस्कर को एक मानकर उन्हें याज्ञवल्क्य का पुत्र बतलाया है। स्मरणीय है कि शुक्ल यजुर्वेद का गृह्यकल्प 'पारस्कर गृह्यसूत्र' के रूप में प्रसिद्ध है। महाभारत (शान्ति पर्व, ३२३/१६) के अनुसार याज्ञवल्क्य के १०० शिष्य थे। वैशम्पायन को याज्ञवल्क्य का मातामह बतलाया गया है[६६]

'ततः स्वमातामहान्महामुनेर्वृद्धाद्वैशम्पायनाद्यजुर्वेदमधीतवान्' महाभारत (शान्ति पर्व) में वैशम्पायन का उल्लेख याज्ञवल्क्य के मामारूप में है। पुराणों में याज्ञवल्क्य की अनेक सिद्धियों

६०. स्कन्दपुराण (६। १२९। १-२)।

६१. माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण, उपोद्घात, पृष्ठ २६, मुम्बई।

६२. स्कन्द पुराण, नागर खण्ड (६।१२९।१३७)।

६३. In XI] 6, 2-1 Janaka is represented as meeting apparently for the first time, with श्वेतकेतु आरुणेय, सोमशुष्म सात्ययज्ञि याज्ञवल्क्य, while they were travelling. Probably we are to understand by this that these divines had then come from the west to visit Videha country.–शतपथ ब्राह्मण।

६४. काण्वसंहिता, सायण–भाष्योपक्रमणिका।

६५. शतपथ ब्राह्मण ९४।९।४।३३।

६६. शतपथ ब्राह्मण के उपोद्घात में श्रीधर शास्त्रीवारे का कथन।

और चमत्कारों का उल्लेख है। परम्परा याज्ञवल्क्य को शुक्ल यजुर्वेद संहिता और शतपथ ब्राह्मण के सम्पादन के अतिरिक्त 'याज्ञवल्क्य स्मृति', 'याज्ञवल्क्य शिक्षा' और 'योगियाज्ञवल्क्य' शीर्षक अन्य ग्रन्थों के प्रणयन का श्रेय भी देती है। संभव है, प्रथम याज्ञवल्क्य के अनन्तर, उनकी परम्परा में याज्ञवल्क्य उपाधिधारी अन्य याज्ञवल्क्यों ने स्मृति प्रभृति ग्रन्थों की रचना की हो।

शतपथ ब्राह्मण का रचना-काल–मैक्डॉनेल ने ब्राह्मणकाल को ८०० ई. पूर्व से ५०० ई.पू. तक माना है, लेकिन प्रो. सी.वी. वैद्य और दफ्तरी का मत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है जिसमें उन्होंने शतपथ ब्राह्मण का रचना-काल न्यूनतम ई.पू. २४वीं शताब्दी स्वीकार किया है।[६७] यह आगे ई.पू. ३००० तक जाता है। उनके अनुसार शतपथ ब्राह्मण की रचना महाभारत युद्ध के अनन्तर हुई। महाभारत का युद्ध ई.पू. ३१०२ में हुआ। अत: यही समय याज्ञवल्क्य का भी माना जा सकता है। प्रो. विण्टरनित्स भी महाभारत-युद्ध की उपर्युक्त तिथि से सहमत प्रतीत होते हैं।[६८] इसलिए आज से प्राय: ५००० वर्ष पूर्व शतपथ ब्राह्मण का रचना-काल माना जा सकता है। प्रो० कीथ ने भी शतपथ को अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन ब्राह्मण माना है।[६९] कृत्तिकाओं के विषय में भी शतपथ में जो विवरण मिलता है, वह शंकर बालकृष्ण दीक्षित के अनुसार ३००० ई.पू. के आस-पास का ही है। शतपथ के अनुसार कृत्तिकाएँ ठीक पूर्व दिशा में उदित होती हैं और वे वहां से च्युत नहीं होती कृत्तिका स्वादधीत। एता द्वै कृत्तिका: प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते।'[७०] पं० सातवलेकर के अनुसार[७१] किसी ऋषि ने कृत्तिकाओं को पूर्व दिशा में अच्युत रूप से देखा, तभी शतपथ में उसका उल्लेख वर्तमान कालिक क्रिया से किया गया। अब तो पूर्व दिशा को छोड़कर कृत्तिकाएँ ऊपर की ओर अन्यत्र चली गई हैं। उनका ऊपर की ओर स्थानान्तरण ५००० वर्षों से कम की अवधि में नहीं हो सकता। ताण्ड्य ब्राह्मण में सरस्वती के लुप्त होने के स्थान का नाम मिलता है–'विनशन' तथा पुन: उद्‌भूत होने के स्थान का नाम है 'प्लक्ष प्रास्रवण'। किन्तु शतपथ में सरस्वती के लुप्त होने की घटना का उल्लेख नहीं है। प्रतीत होता है कि शतपथ के काल तक सरस्वती लुप्त नहीं हुई थी। राजा के अभिषेकार्थ जिस सारस्वत जल को तैयार किया जाता था, उसमें सरस्वती का जल भी मिलाया जाता था।[७२] इस तथ्य से भी शतपथ की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है।

शतपथ याग-मीमांसा का वैशिष्ट्य–शतपथ में विविध प्रकार के यज्ञों के विधि-विधान का अत्यन्त सांगोपाङ्ग विवरण प्राप्त होता है–मैक्डॉनेल ने इसी कारण इसे वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के अनन्तर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बतलाया है।[७३] यज्ञों के नानारूपों

६७. *History of Sanskrit Literature*, Saction II, p. 15.
६८. *History of Indian Literature*, Vol. I, pp.-473-74.
६९. हार्वर्ड ओरियंटल सीरीज, जिल्द १८-१९; सन् १९१४, भूमिका-भाग।
७०. कृत्तिकास्वादधीत। एता ह वै कृत्तिका: प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते।–शत० ब्रा० २.२.१.२।
७१. सातवलेकर, काण्वसंहिता, प्रस्ताव, पृष्ठ १५।
७२. शत० ब्रा० ५.३.४.३।
७३. It is next to the Rigveda and Atharva veda, the most valuable product of the Vedic Age.
—Macdonell, A.A.; India's Past, p. 46.

तथा विविध अनुष्ठानों का जिस असाधारण परपूर्णता के साथ शतपथ में निरूपण है, अन्य ब्राह्मणों में नहीं। आध्यात्मिक दृष्टि से भी यज्ञों के स्वरूप-निरूपण का श्रेय इस ब्राह्मण को प्राप्त है–शतपथ ब्राह्मणकार इस तथ्य से अवगत है कि भौतिक याग एक प्रतीकात्मक व्यापार है। इसीलिए उसने अन्तर्याग एवं बहिर्याग में पूर्ण सामंजस्य तथा आनुरूप्य पर बल दिया है। प्रा. लुई रेनू ने भी इस ओर इंगित किया है।[७४]

शतपथ के अनुसार यज्ञ का स्वरूप द्विविध है–प्राकृत एवं कृत्रिम। प्राकृत यज्ञ प्रकृति में निरन्तर चल रहा है, उसी के अनुगमन से अन्य यज्ञों के विधान बने–'देवान् अनुविद्या वै मनुष्याः यद् देवाः अकुर्वन् तदहं करवाणि।' 'यज्ञ' के नामकरण का हेतु उसका विस्तृत किया जाना है–'तद् यदेनं तन्वते तदेनं जनयन्ति स तायमानो जायते।'[७५] इस ब्राह्मण में वाक्, पुरुष, प्राण, प्रजापति, विष्णु आदि को यज्ञ से समीकृत किया गया है। शतपथ ने यज्ञ को जीवन का सबसे महंत्त्वपूर्ण कृत्य बतलाया है-'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (१.७.३.५)।

तदनुसार जगत् अग्नीषोमात्मक है। सोम अन्न है तथा अग्नि अन्नाद/अग्निरूपी अन्नाद सोमरूपी अन्न की आहुति ग्रहण करता रहता है। यही क्रिया जगत् में सतत विद्यमान है।

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ की प्रतीकात्मक व्याख्याएँ भी हैं। एक रूपक के अनुसार यज्ञ पुरुष है, हविर्द्धान उसका शिर, आहवनीय मुख, आग्नीध्रीय तथा मार्जालीय दोनों बाहुएँ हैं। यहाँ यज्ञ का मानवीकरण किया गया है।[७६] सृष्टि-यज्ञ का रूपक भी उल्लेख्य है-तदनुसार–संवत्सर ही यजमान है, ऋतुएँ यज्ञानुष्ठान कराती हैं, वसन्त अग्नीध्र है, अतः वसन्त में दावाग्नि फैलती है। ग्रीष्म ऋतु अध्वर्युस्वरूप है–क्योंकि वह तप्त-सी होती है। वर्षा उद्गाता है, क्योंकि उसमें जोर से शब्द करते हुए जल-वर्षा होती है। प्रजा ब्रह्मवती है। हेमन्त होता है।

यह यज्ञ पांक्त है[७७]–यहाँ पांच संख्या का सम्बन्ध पांच अंगुलियों से है। शतपथ ने यज्ञ को देवों की आत्मा कहा है।[७८] अनृत-भाषणादि कार्यों से यज्ञ को क्षति पहुँचती है।[७९] यज्ञ ही प्रकाश, दिन, देवता तथा सूर्य है।[८०] देवों ने यज्ञ के द्वारा ही सब कुछ पाया था। यज्ञ के द्वारा यजमान मृत्यु से ऊपर उठ जाता है।

शतपथ ने यज्ञ-मीमांसा का प्रारम्भ हविर्यागों से किया है–जिनका प्रकृतियाग अग्निहोत्र है। अग्निहोत्री को अग्नि मृत्यु के पश्चात् भी नष्ट नहीं करता, अपितु माता-पिता के समान नवीन जन्म दे देता है। अग्निहोत्र कभी भी बन्द नहीं होता। यह यजमान को स्वर्ग ले जाने वाली नौका के सदृश है–'नौर्हवा एषा यदग्निहोत्रम्।'[८१]

७४. *Vedic India*, p. 27.

७५. शत० ब्रा० ३.९.४.२३।

७६. शत० ब्रा० ३.५.३.१ तथा ३.४.४.१।

७७. वही १.१.२.१६। म० म० स्व० पं० गोपीनाथ कविराज के अनुसार यज्ञ का पांक्त स्वरूप देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विक् तथा दक्षिणा से सम्पन्न होता है–भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १६८.

७८. शत० ब्रा० ९.३.२.७।

७९. वही १.१.२.२१।

८०. वही।

८१. वही २.३.४.१५।

'अध्वरो वै यज्ञ:'[८२] प्रभृति उल्लेखों से स्पष्ट है कि शतपथ की दृष्टि में सामान्यत: यज्ञ में हिंसा नहीं होनी चाहिए। ११वें काण्ड में पञ्चमहायज्ञों–भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ का विशेष विवेचन है।[८३] स्वाध्याययज्ञ (ब्रह्मयज्ञ) की प्ररोचना करते हुए कहा गया है[८४] कि ऋक् का अध्ययन देवों के लिए पयस् की आहुति है, यजुष का आज्याहुति, साम का सोमाहुति अथर्वाङ्गिरस का मेदस्-आहुति है। विभिन्न वेदांगों (अनुशासन), वाकोवाक्य, इतिहास और पुराण तथा नाराशंसी गाथाओं का अध्ययन देवों के लिए मधु की आहुति है। पं॰ मोतीलाल शर्मा ने शतपथ ब्राह्मण की याग-विवेचना में निहित आध्यात्मिक प्रतीकवत्ता की विशद व्याख्या अपने विज्ञानभाष्य में की है।

शतपथ ब्राह्मण ने यज्ञ की सर्वाङ्गीण समृद्धि पर बल दिया है। इसके लिए याज्ञवल्क्य ने अनेक पूर्ववर्ती यागवेत्ताओं से अपना मत वैभिन्न्य भी प्रकट किया है। उनकी दृष्टि में यज्ञ एक सजीव पुरुष है। उसके लिए भी शरीर के आच्छादनार्थ वस्त्र एवं क्षुत्पिपासा-शमनार्थ भोजन चाहिए।[८५] वे कण-कण में जीवन प्रदायिनी शक्ति देखते हैं। किसी भी रूप में यज्ञ का अङ्ग-वैकल्य उन्हें अभीष्ट नहीं है। यज्ञ-विधि को याज्ञवल्क्य अपौरुषेय मानते हैं। कठिन नियमों से वे पलायन नहीं करते। कालगत, देशगत, पात्रगत, वस्तुगत तथा क्रमगत औचित्यों पर शतपथ ब्राह्मणकार की निरन्तर दृष्टि रही है। वह शब्द प्रयोग की दृष्टि से भी निरन्तर सजग है। उदाहरण के लिए 'दर्शेष्टि' में अध्वर्यु बछड़ों का स्पर्श करते समय 'वायव: स्थ' मन्त्र का उच्चारण भी करता है। तैत्तिरीयशखा में 'वायव: स्थ' के स्थान पर 'उपायव: स्थ' पाठ मिलता है।[८६] अन्य आचार्य भले ही दोनों को एक समझते हों, किन्तु याज्ञवल्क्य ने 'वायव: स्थ' पाठ पर ही बल दिया है। लोक व्यवहार के प्रति उनमें समादर की दृष्टि है। यज्ञ-विधान के समय उसका वे ध्यान रखते हैं। यज्ञ-वेदी का स्वरूप स्त्री के समान बतलाकर उन्होंने अपनी सौन्दर्य-दृष्टि का ही परिचय दिया है :

'योषा वै व्वेदिर्वृषाग्नि: परिगृह्य वै घोषा व्वृषाणं शेते।'[८७]

इस प्रसंग में उनका कथन है कि यज्ञ-वेदी के दोनों अंश उन्नत होने चाहिए। मध्य में उसे पतली होना चाहिए तथा उसका पिछला भाग (श्रोणि) अधिक चौड़ा होना चाहिए :

सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात्। मध्ये संह्वारिता पुन: पुरस्तादुर्व्येवमिव हि योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिर्व्विमृष्टान्तरां सा मध्ये संग्राह्येति जुष्टामेवैनामेतद्देवेभ्य: करोति।।'[८८]

८२. वही ३.९.२.१ इत्यादि।

८३. वही ११.५.७।

८४. वही।

८५. शत॰ ब्रा॰ ४.५.९.११ तथा ६.३.१.३३।

८६. तैत्तिरीय संहिता १.१.१। याज्ञवल्क्य के अनुसार 'उप' का अर्थ द्वितीय और 'द्वितीय' का अर्थ शत्रु होता है, इसलिए उसे छोड़ देना चाहिए–शत॰ ब्रा॰ १.७.१.३।

८७. शत॰ ब्रा॰ १.२.५.१५।

८८. वही १.२.५.१६।

इस प्रकार यज्ञ-विवेचना के प्रसंग में शतपथ ब्राह्मणकार का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यावहारिक, सर्वाङ्गीण और कलामय है।

सांस्कृतिक तत्त्व—शतपथ ब्राह्मण के षष्ठ से लेकर दशम काण्ड तक, जिन्हें 'शाण्डिल्य-काण्ड' भी कहते हैं, क्योंकि इनमें उनके मत का अत्यन्त आदरपूर्वक पौन: पुन्येन उल्लेख है, गान्धार, केकय और शाल्व जनपदों की विशेष चर्चा की गई है। अन्य काण्डों में आर्यावर्त्त के मध्य तथा पूर्व भाग—कुरु-पाञ्चाल, कोसल, विदेह, सृञ्जय आदि जनपदों का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में वैदिक संस्कृति के सारस्वत-मण्डल से पूर्व की ओर प्रसार का सांकेतिक कथन है। अश्वमेध के प्रसंग में अनेक प्राचीन सम्राटों का उल्लेख है—इनमें जनक, दुष्यन्त और जनमेजय के नाम महत्त्वपूर्ण हैं।

देवशास्त्रीय सामग्री भी शतपथ में पुष्कल है। वरुण को 'धर्मपति' कहा गया है,[८९] जो उनके ऋत (प्रकृति के शाश्वत नियम) पालक स्वरूप का द्योतक है। इस ब्राह्मण में कुल ३०००३ देवों की स्थिति बतलाई गई है, किन्तु वास्तव में ३३ देवताओं का ही स्वरूप-निरूपण है।[९०] विदग्ध शाकल्य ने जब याज्ञवल्क्य से ३००३ देवों के नाम पूछे, तो उन्होंने उत्तर दिया कि ये देव न होकर उनकी महिमाएं हैं। नाम्ना केवल ३३ देवों का ही उल्लेख है। ये हैं—८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति।[९१]

अभिचार को इस ब्राह्मण में 'वलग' कहा गया है :

इदमहं ते वलग मुत्किदामि यन्मे निष्ट्योऽयमात्यो निचरवाम।[९२]

आख्यान-उपाख्यान—शतपथ ब्राह्मण में संकलित आख्यान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें अनेक ऐसे आख्यान हैं, जिनका इतिहास-पुराण में विशद उपबृहण हुआ। है। इनमें इन्द्र-वृत्र-युद्ध, योषित्कामी गन्धर्व, सुपर्णी तथा कद्रू, च्यवन भार्गव तथा शर्यात मानव, स्वर्भानु असुर तथा सूर्य, वैन्य, असुर नमुचि एवं इन्द्र, पुरुरवा-उर्वशी, केशिन् राजन्य, मनु एवं श्रद्धा तथा जल-प्लावन के आख्यान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

आचार-मीमांसा—श्रम एवं तप का महत्त्व इस ब्राह्मण में पौलन: पुन्येन प्रदर्शित है।[९३] अनृतभाषी को अमेध्य कहा गया है—'अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति।'[९४]

सृष्टि-प्रक्रिया—शतपथ ब्राह्मण के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में, ब्रह्म के दो रूप थे—मूर्त्त और अमूर्त्त। इन्हें 'यत्' और 'त्यत्' अर्थात् सत् तथा असत् कहा जा सकता है—'द्वे वाव ब्राह्मणो रूपे। मूर्त्त चैवामूर्त्तम्। स्थितं च यच्च। सच्च त्यच्च....।'[९५] यज्ञ विश्वसृष्टि का मूल हेतु है। यज्ञ

८९. शत० ब्रा० ५.३.३.९।
९०. ९१. वही ११.६.३.६-८।
९२. वही ३.५.४.१०।
९३. वही १४.१.१.१।
९४. वही १.१.१।
९५. शत० ब्रा० १४.९.३.१।

में ही प्रजाएँ उत्पन्न हुईं, जिनसे सृष्टि का विकास होता रहा 'यज्ञाद्वै प्रजा: यज्ञात्प्रजायमाना मिथुना प्रजायते....अन्ततो यज्ञस्येमा: प्रजा: प्रजायन्ते।'[९६] सृष्टि-कर्त्ता प्रजापति यज्ञ है। मनु-मत्स्य-प्रकरण में प्रलय के अनन्तर मनु के द्वारा जल....एवं आमिक्षा से सम्पादित यज्ञ से एक सुन्दर स्त्री की उत्पत्ति बतलाई गई है। इस प्रकार यज्ञ विश्व की नाभिस्थली है। अभिप्राय यह कि सृष्टि के आरम्भ में एक मात्र ब्रह्म की सत्ता थी और तदनन्तर प्रजापति की–'प्रजापतिर्वै इदमग्र आसीत्।'[९७] इस बिन्दु पर शतपथ का अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों से पूर्ण साहम्त्य दिखता है। आगे प्रजापति के अजायमान तथा विजायमान (निरुक्त तथा अनिरुक्त) रूपों का उल्लेख है–'उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च, परिमितश्चापरिमितश्च।'[९८]

प्रजापति की उत्पत्ति जल में तैरते हुए हिरण्मय अण्ड से मानी गई है :

'आपो ह वा इदमग्रसलिलमेवास.....संवत्सरे हि प्रजापतिरजायत्।'[९९]

'तस्मादाहुर्हिरण्यमय: प्रजापतिरिति।'[१००]

शनै: शनै: प्रजापति के श्रम एवं तप से सृष्टि-प्रक्रिया आगे बढ़ी :

'प्रजापतिर्हवा इदमग्र एक एवास। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेय इति सोऽश्राम्यत, स तपोऽतप्यत।'[१०१]

भुवनों में सर्वप्रथम पृथ्वी की रचना हुई–'इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा।'[१०२] इसके पश्चात् हिलती हुई पृथिवी के दृढ़ीकरण, शर्करा-सम्भरण (कंकड़ों की स्थापना), फेन-सृजन, मृत्तिकासृजन, पशु-सृष्टि, औषधियों एवं वनस्पतियों की सृष्टि, अन्य लोकों की सृष्टि, संवत्सरादि की सृष्टि, विभिन्न वेदों और छन्दों के अविर्भाव का शतपथ ब्राह्मण में वर्णन है।

अन्य–भाषा की दृष्टि से भी शतपथ ब्राह्मण का महत्त्व है।[१०३] इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण का ब्राह्मण-साहित्य में अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। स्व. पं. भगवद्दत्त के शब्दों में कहा जा सकता है–'जो अध्येता शतपथ ब्राह्मण पढ़ लेता है, वह याज्ञिक क्रिया का सर्वश्रेष्ठ पण्डित कहा जाता है। अन्य सब ब्राह्मणों को वह स्वल्पकाल में स्वायत्त कर लेता है। इस शतपथ में वेदार्थ की कुंजी है, वैदिक विषयों का भरपूर ज्ञान है। वैदिक ऐतिह्य का प्रामाणिक कथन है। यह वस्तुत: अपूर्व है।'[१०४]

९६. वही १.९.१.५।
९७. वही ६.१.३.१।
९८. वही १४.१.२.१८।
९९. वही ११.१.६.१-२।
१००. वही १०.१.४.९।
१०१. वही २.२.२.१।
१०२. वही १४.१.२.१०।
१०३. आचार्य बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति।
१०४. पं॰ भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास पृष्ठ १७, संस्करण-१९७४।

कृष्णयजुर्वेदीय ब्राह्मण

तैत्तिरीय ब्राह्मण

कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा में एकमात्र यही ब्राह्मण अद्यावधि सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध है। 'काठक ब्राह्मण' के केवल कुछ अंश ही प्राप्त हैं। शतपथ ब्राह्मण के सदृश इसका पाठ भी सस्वर है। यह इसकी प्राचीनता का द्योतक है। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन काण्डों अथवा अष्टकों में विभक्त है। प्रथम दो काण्डों में आठ-आठ अध्याय अथवा प्रपाठक हैं। तृतीय काण्ड में १२ अध्याय (या प्रपाठक) हैं। भट्टभास्कर ने अपने भाष्य में इन्हें 'प्रश्न' भी कहा है। एक अवान्तर विभाजन अनुवाकों का भी है, जिनकी संख्या ३५३ है।

संस्करण–अब तक इसके तीन संस्करण सम्पादित हुए हैं–जिनका पौन: पुन्येन मुद्रण होता रहता है। प्रथमत: मुद्रित संस्करण ये हैं–(१) राजेन्द्रलाल मित्र के द्वारा सायण-भाष्य सहित सम्पादित तथा कलकत्ता से १८६२ में प्रकाशित; (२) सायण-भाष्य सहित, आनन्दाश्रम, पुणे से १९३४ में प्रकाशित; (३) भट्टभास्कर-भाष्य सहित, महादेव शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा मैसूर से प्रकाशित–अन्तिम दोनों संस्करणों का पुन: मुद्रण हो चुका है।

याग-मीमांसा–तैत्तिरीय ब्राह्मण यजुर्वेदीय होने के कारण अध्वर्युकर्तृक याग-कृत्यों का विस्तार से प्रस्तावक है। सायण के अनुसार यज्ञ के शरीर की निर्मिति अध्वर्यु और उसकी अनुगत ऋत्विङ्-मण्डली के द्वारा वस्तुत: याजुष् मन्त्रों और प्रक्रियाओं से ही की जाती है, अतएव तैत्तिरीय ब्राह्मणगत याग मीमांसा अत्यन्त व्यापक है। संक्षेप में, तैत्ति॰ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय यागों का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, उपहोम, सौत्रामणी तथा बृहस्पतिसव प्रभृति विविध सवों का निरूपण है। तृतीय काण्ड में नक्षत्रेष्टियों तथा पुरुषमेध से सम्बद्ध विवरण मुख्यत: आया है।

अन्य ब्राह्मणों में जहाँ सोमयागों का ही वर्चस्व है, वहीं तैत्तिरीय ब्राह्मणों में इष्टियों और पशुयागों की भी विशद विवेचना मिलती है। नक्षत्रेष्टियाँ, नक्षत्रों से सम्बद्ध होम तथा नाचिकेत और सावित्र-चयन भी कृष्ण यजुर्वेदीय ब्राह्मण की विशिष्ट उपलब्धि हैं तैत्तिरीय संहिता में आये 'इषे त्वोर्ज्जे त्वा॰' प्रभृति दर्शपूर्ण मास से सम्बद्ध मन्त्रों के अनुवर्तन में, तैत्तिरीय ब्राह्मण में पहले पौरोडाशिक काण्ड होना चाहिए, किन्तु अग्न्याधान के बिना दर्शपूर्ण मास का अनुष्ठान सम्भव नहीं है, इस कारण पहले उसी की विधि बतलाई गई है। अग्न्याधान-काल की मीमांसा करते हुए नक्षत्र और ऋतुनिर्णय के अनन्तर देवयजन की साज-सज्जा का विधान है। कृष्णयजुर्वेदीय यागानुष्ठाता गार्हपत्याग्नि का आधान रात्रि में और सूर्य के आधे उदित होने पर आहवनीयाग्नि का आधान करते हैं–'नक्तं गार्हपत्यमादधाति। अर्धोदिते सूर्ये आहवनीयमादधाति।; प्रथम काण्ड (१म प्रपा., ९म अनुवाक) में ब्रह्मौदन की विधि बतलाई गई है। यह वस्तुत: वह ओदन है, जिसे ब्राह्म होम तथा ऋत्विग्भोजनार्थ पकाया गया हो। इसी काण्ड से द्वितीय प्रपाठक से गवामयन याग का वर्णन आरम्भ हो गया है, क्योंकि ब्राह्मणकार के अनुसार इसमें सभी सोमयागों का अन्तर्भाव

हो जाता है।[१०५] द्वितीय काण्ड (१ म प्र पा०) में अग्निहोत्र का विशद निरूपण एक आख्यायिका के माध्यम से किया गया है। उसे अग्नि का भाग बतलाया गया है :

'स एतद्भागधेयमभ्यजायत। यदग्निहोत्रम्।'[१०६] तैत्तिरीय ब्राह्मण में उदितहोम का विधान है-'उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति।'[१०७] घर में रहने वाले दो पुण्यात्माओं में से दोनों की जैसे पूजा की जाती है, उसी प्रकार सायंकाल अग्नि और सूर्य के लिए संसृष्ट होम किया जाता है। अग्निहोत्र को देवों ने घर की निष्कृति के रूप में देखा था। उस समय गृहागत अतिथियों को अन्न-परिवेषण से तृप्त करना चाहिए-'सायं यावानश्च वै देवा: प्रातर्यावाणश्चाग्निहोत्रिणो गृहमागच्छन्ति, तान्यन्नेन तर्पयेत्।'[१०८] १म काण्ड के ५म प्रपाठक में एक सुन्दर उपमा के माध्यम से अपराह्ण काल को यागानुष्ठान-हेतु शुभ बतलाया गया है-क्योंकि वह कुमारियों के श्रृंगार का समय होता है-'अपराह्ने कुमार्यो भगमिच्छमानाश्चरन्ति।'[१०९] इसी प्रपाठक के चतुर्थ अनुवाक् में यागीय पात्रों का विवरण देते हुए काष्ठमय पात्रों का विशेष रूप से उल्लेख है।[११०]

गवामयन सत्र का प्रथम निरूपण इसलिए है कि इसमें विभिन्न एकाहों और अहीनयागों में अनुष्ठेय कृत्यों की ही पौन: पुन्येन आवृत्ति होती है, अतएव उसके निरूपण से सभी का निरूपण स्वत: हो जाता है।

वाजपेय-निरूपण के प्रसंग में आजि-धावन इत्यादि के विषय में प्राप्त आख्यायिका और विधि-विधान के अतिरिक्त कुछ अर्थवादात्मक कथन बहुत सुन्दर हैं। अतिग्रहों के अन्तर्गत सोम और सुरा भी विहित हैं जो क्रमश: पुरुष और स्त्री रूप बतलाये गये हैं। दुन्दुभि-वादन को परमा वाक् बतलाते हुए उसे वाग्देवी का नादात्मक शरीर कहा गया है-'परमा वा एषा वाक् या दुन्दुभी।'[१११] श्रौतयागों में पुरुषमेध ने वैदिक विद्वानों का सर्वाधिक ध्यान आकृष्ट किया है। उसके तात्त्विक अनुशीलन की पुष्कल सामग्री इस ब्राह्मण में है। इस अहीन सोमयाग का निरूपण तृतीय काण्ड के चतुर्थ प्रपाठक में हुआ है। इसमें पाँच दिन लगते हैं। नाम-श्रवण से प्रतीत होता है कि अश्वमेध में जैसे अश्व का संज्ञपन, विशसन और उसके अंगों से होम होता है, तद्वत् यहां भी पुरुष के संज्ञपनादि कृत्य होने चाहिए। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता है। उल्लिखित विशिष्ट पुरुषों का विधिवत् विभिन्न देवों के सम्मुख उपाकरण करके उनका उत्सर्जन (जीवित रूप में ही परित्याग) हो जाता है। न तो उनका संज्ञपन करता है, न विशसन और न अग्नि में प्रेक्षापातमक होम ही होता है। इस सन्दर्भ १९८ प्रकार के पुरुषों का उल्लेख है, जिनका उपाकरण और उत्सर्जन होता है। संज्ञपन और विशसनादि अजादि पशुओं के ही विहित हैं। पुरुषों का नारायण के रूप

१०५. तैत्ति० ब्रा० २.३.६.४।
१०६. तैत्ति० ब्रा० २.१.२.५-६।
१०७. तैत्ति० ब्रा० २.१.२.६।
१०८. तैत्ति० ब्रा० २.१.५.१०।
१०९. वही १.५.३.३।
११०. वही १.५.४.।
१११. वही १.३.६.२।

में ध्यान भर किया जाता है। ध्यान के समय पुरुष सूक्त के मन्त्र पठनीय हैं। १९८ प्रकार के पुरुषों के उल्लेख से उस युग के विभिन्न व्यवसायों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इस यज्ञ का अनुष्ठाता अपना सर्वस्व-दान देकर तथा राग-द्वेष रहित होकर वन को चला जाता है।

अश्वमेध के प्रसंग में भी अन्यत्र राजरानियों और ऋत्विकों के मध्य अश्लील संभाषण के जो कृत्य विहित हैं, वे तैत्तिरीय ब्राह्मण में नहीं हैं। 'सव' संज्ञक एकाह यागों का विशद विधान भी इस ब्राह्मण की एक विशेषता है। ये १२ हैं–बृहस्पति सव, वैश्यसव, ब्राह्मणसव, सोमसव, पृथिसव, गोसव, ओदनसव, मरुत्स्तोम (पञ्चशांखीय), अग्निष्टुत, इन्द्रस्तुत, अप्तोर्याम और विघन। सायण का कथन है कि 'सव' ईश्वर की तरह अभिषिक्त होने का वाचक है–'सूयते ईश्वरत्वेन अभिषिच्यते एष्विति सवाः।' 'ईश्वर' पद यहाँ स्वामित्व का उपलक्षक है। 'बृहस्पति सव' में नियोज्य होता का वैशिष्ट्य है उसका खल्वाट (परिस्रजी) होना और बार-बार आँखों का उन्मीलन और निमीलन करना। 'दशंहोत्र' संज्ञक होमों का विधान भी तैत्तिरीय ब्राह्मण का वैशिष्ट्य है। द्वितीय काण्ड के चतुर्थ प्रपाठक में कतिपय उपहोम भी विहित हैं, जो श्रौत के साथ ही स्मार्त कृत्य भी है। इसी काण्ड के षष्ठ प्रपाठक में कौकिली सौत्रामणी का विधान भी उल्लेख्य है। यह पशुयाग है, जिसमें पाँच पशुविहित हैं–इन्हीं की 'सौत्रामणी' आख्या है। इस याग में तौक्म (व्रीहि), मासर (भुने हुए यव का दधिमिश्रित महीन चूर्ण), नग्न (मट्ठामिश्रित यव का मोटा चूर्ण) के साथ सुरा के संसर्जन की विधि भी इसमें विहित है। नक्षत्रेष्टियों के सन्दर्भ में देवताओं के रूप में तैत्तिरीय ब्राह्मण में अम्बा, दुला, नितत्नी, भ्रयन्ती, मेघयन्ती, वर्षयन्ती और चुपुणीका के नाम आये हैं।

तृतीय काण्ड के दशम प्रपाठक में सावित्र-चयन का निरूपण है। ईंटों से बनाया गया स्थान विशेष ही 'चयन' है। याग की जटिल प्रक्रियाओं के मध्य में भी साहित्यिक सौष्ठव की दृष्टि से यहाँ ध्यान रखा है। इसी काण्ड के ११वें प्रपाठक में नाचिकेताग्नि चयन की प्रक्रिया निरूपित है। इसी स्थल पर नचिकेता का सुप्रसिद्ध आख्यान आया है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में यागों का निरूपण बहुत विप्रकीर्ण शैली में हुआ है, जो इसकी प्राचीनता का उपलक्षक है। याग-मीमांसा का फलक अत्यन्त विशद और सर्वाङ्गसम्पन्न है। आध्वर्यव के साथ ही हौत्र और औद्गात्र पक्ष भी निरूपित हैं। इस ब्राह्मण में यह दृष्टिकोण उपपादित है कि यज्ञ ही मनुष्य का सर्वस्व है–'यज्ञो रायो यज्ञ ईशे वसूनाम्। यज्ञः सस्यानामुत सुक्षितीनाम्।[११२]' इसीलिए यह प्रार्थना की गई है कि यज्ञ निरन्तर बढ़ता रहे। याग की वेदी पुत्र-पौत्रों के माध्यम से निरन्तर फूलती-फलती रहे :

'अयं यज्ञो वर्धतां गोभिरश्वैः। इयं वेदिः। इयं वेदिः स्वपत्या सुवीरा।'[११३]

आख्यायिकाएँ–तैत्तिरीय ब्राह्मण का सर्वाधिक प्रसिद्ध आख्यान महर्षि भरद्वाज से सम्बद्ध है, जो तृतीय काण्ड के १० म प्रपाठक में आया है। इसमें वेदों के आनन्त्य (अनन्ता वै वेदाः[११४])

११२. तैत्ति० ब्रा० २.५.५.१।
११३. वही।
११४. वही ३.१०.११.३।

का प्रतिपादन है परम तत्त्व के विवेचन की आख्यायिका[११५] इस ब्राह्मण को उपनिषदों के ज्ञान-गौरव से विभूषित करती है। इसके कुछ अंश इस प्रकार है–अरुण के पुत्र अत्यंह के किसी ब्रह्मचारी से प्लक्ष ने पूछा–

–'सावित्राग्नि किसमें प्रतिष्ठित है?'

–'रजोगुण से परे।'

'उससे परे क्या है?'

–रजोगुण से परे दृश्यमान् मण्डलात्मा है।'

'यह अग्नि किस में प्रतिष्ठित है?'

–'सत्य में।'

नचिकेता के आख्यान के साथ प्रह्लाद (प्रह्राद) और अगस्त्य विषयक आख्यायिकाएँ भी उल्लेख्य हैं। सीता-सावित्री की प्रणयाख्यायिका, उषस् के द्वारा प्रिय की प्राप्ति के आख्यान इसकी रोचकता में अभिवृद्धि करते हैं। सृष्टि, यज्ञ और नक्षत्र विषयक आख्यान तो पुष्कल परिमाण में हैं। देवविषयक आख्यानों से देवशास्त्र के विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

सृष्टि प्रक्रिया

सृष्टि-प्रक्रिया की दृष्टि से तैत्तिरीय ब्राह्मण के द्वितीय काण्ड (२ य प्रपा॰) में सर्वाधिक सामग्री है। ऋग्वेदीय नासदीय सूक्त का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। सृष्टि से पहले किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं मानी गई है। अनभिव्यक्त नामरूप (असत्) ने ही यह इच्छा की कि मैं सतरूप में हो जाऊँ–'तदसदेव सन्मनोऽकुरुत स्यामिति।' उसने तप किया, जिससे धूम, अग्नि, ज्योति, अर्चि, मरीचि, उदार और अभ्र की क्रमशः सृष्टि हुई। स्रष्टा की बस्ति (मूत्राशय) के भेदन से समुद्र उत्पन्न हुआ–इसी कारण समुद्र का जल आज भी अपेय समझा जाता है। तदनन्तर सब कुछ जलमय हो गया। इस पर प्रजापति को रुलाई आ गई कि जब मैं कुछ भी नहीं कर सकता, कुछ भी नहीं रच सकता तो मेरी उत्पत्ति ही क्यों हुई ? प्रजापति के इसी अश्रु-जल के समुद्र में गिरने से पृथिवी बनी। कालान्तर से अन्तरिक्ष और द्युलोक बने। प्रजापति के जघन भाग से असुरों की सृष्टि हुई। पुनः प्रजापति ने तपस्या की, जिससे मनुष्यों, देवों और ऋतुओं की सृष्टि हुई। इस प्रक्रिया में मनका योगदान सर्वाधिक रहा–'असतोऽधि मनोऽसृज्यत। मनः प्रजापतिमसृजत। प्रजापतिः प्रजाः असृजत।'[११६]

सङ्कल्पित अर्थ वाला यह मन ही श्वोवस्य नामक ब्रह्म है–'यदिदं किञ्च तदेतच्छ्वोवस्यं नाम ब्रह्म।[११७]'

सृष्टि की सुरक्षा प्राकृतिक नियमों की संरक्षा पर निर्भर है। इन्हें 'ऋत' कहा गया है। जिसका अतिक्रमण कोई भी वस्तु नहीं कर सकती। भूमि और समुद्र सभी उस पर ही अवलम्बित हैं–

११५. वही ३.१०.९।

११६. तैत्ति॰ ब्रा॰ २.२.९.१०।

११७. वही।

'ऋतमेव परमेष्ठि। ऋतं नात्येति किञ्चन। ऋते समुद्र आहितः। ऋते भूमिरियं श्रिता।'[११८]

आचार-दर्शन–तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार मनुष्य का आचरण देवों के समान होना चाहिए–'इति देवा अकुर्वत। इत्यु वै मनुष्याः कुर्वते।'[११९]

सत्य-भाषण, वाणी की मिठास, तपोमय जीवन, अतिथि सत्कार, संगठनशीलता, सम्पत्ति के परोपकार हेतु विनियोग, मांस-भक्षण से दूर रहने तथा ब्रह्मचर्य के पालन पर विशेष बल दिया गया है। इनके अनुष्ठान में प्रमाद या अपराध करने पर निष्कपट भाव से प्रायश्चित्त का विधान है। अहिताग्नि व्यक्ति को कदापि असत्य नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि तेजोमयता सत्य में ही है–'आहिताग्निः न अनृतं वदेत्।'

उग्रवाणी, भूख और प्यास का हेतु होने के कारण महापातक के सदृश है–'अशनयापिपासे ह वा उग्रं वचः।'[१२०]

ऋत और सत्य एक हैं–'तदृतं तत्सत्यम्।'[१२१] तथा–'ऋतं सत्येऽधायि। सत्यमृतेऽधायि।'[१२२]

सत्य वह है, जो नेत्रों से देखकर बोला जाये, क्योंकि वाणी झूठ बोल जाती है और मन मिथ्या का ध्यान करने लग जाता है।[१२३] इसलिए चक्षु ही विश्वसनीय हैं।

व्यक्ति को निरन्तर असत्य से सत्य की ओर बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि वह मनुष्यत्व को देवत्व की ओर अग्रसर होने का द्योतक है–'अनृतात सत्यमुपैमि। मानुषाद्दैत्य मुपैमि। दैवीं वाचं यच्छामि।'[१२४]

तपोमय जीवन तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रतिपादित दूसरा महनीय जीवन-मूल्य है–तपस्या से देवों ने उच्च स्थिति प्राप्त की, ऋषियों ने स्वर्गिक सुख पाया और अपने शत्रुओं का विनाश किया–'तपसा देवा देवतामग्रआयन्। तपसर्षयः स्वरन्वविन्दन्। तपसा सपत्नान् प्रणुदोमशतीः।'[१२५]

तपस् माता, पिता एवं पुत्र सभी कुछ है। सम्पूर्ण विश्व उसी पर केन्द्रित है। अतएव वह सर्वाधिक आदरणीय है।[१२६]

श्रद्धा भी विशिष्ट जीवन-मूल्य के रूप में उल्लिखित है। लोक की प्रतिष्ठा श्रद्धा से ही है। अमृत का दोहन करती हुई श्रद्धा कामना की बछेरी है। वह संसार की पालिका है–

'श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते। कामवत्सामृतं दुहाना। श्रद्धा देवी प्रथमजा ऋतस्य। विश्वस्य भर्त्री जगतः प्रतिष्ठा। तां श्रद्धां हविषा यजा महे।'[१२७]

११८. वही १.५.५।
११९. वही १.५.९.४।
१२०. तैत्ति० ब्रा० १.५.९.५।
१२१. वही १.५.५.४।
१२२. वही ३.७.७.४।
१२३. वही–अनृतं वाचा वदति...।
१२४. वही १.२.१।
१२५. वही ३.१२.३.१।
१२६. वही।
१२७. वही ३.१२.३.२।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार आहिताग्नि व्यक्ति को न तो मांस भक्षण करना चाहिए और न स्त्री गमन ही करना चाहिए।

जिस सम्पत्ति से यज्ञादि परोपकार और सार्वजनीन कृत्यों का अनुष्ठान होता रहता है, दान-पुण्य होते रहते हैं, उसका कदापि विनाश नहीं होता। न तो उसे शत्रु ले जाते हैं और न शत्रु क्षति पहुँचाते हैं।

'न ता नशन्ति न दभाति तस्करः। नैना अमित्रो व्यथिरादधर्षति। देवाश्च याभिर्यजते ददाति च।'[१२८]

सबके प्रति मैत्री-भाव पर भी तैत्तिरीय ब्राह्मण में बल दिया गया है। सात पगों की भी यात्रा जिनके साथ हुई हो, वे सभी मित्र हैं। उनके प्रति सख्यभाव को कभी क्षति नहीं पहुँचने देनी चाहिए :

'सखायः सप्तपदा अभूम। सख्यं ते गमेयम्। सख्यात्ते मा योषाम्। सख्यान्मे मा योष्ठा।'[१२९]

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार मनुष्य का मन ही सर्वोच्च प्रजापति है। सभी क्रियाएँ उसी से सम्पन्न होती हैं-अतएव मन की शुद्धि परम आवश्यक है-'मन इव हि प्रजापतिः'[१३०] तथा-'येन पूतस्तरति दुष्कृतानि।'[१३१]

मन की शुद्धि के सन्दर्भ में बहुविध कामनाओं का परित्याग भी आवश्यक है, क्योंकि वे समुद्र के समान अपार हैं :

'समुद्र इव हि कामः। नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति।'

इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में मनुष्य के चतुर्दिक अभ्युत्थान और उदात्त दृष्टि से जीवन-पथ पर आरोहण के निमित्त अत्यन्त प्रशस्त आचार दर्शन की प्रस्तुति दिखलाई देती है।

परम्परा तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रवक्ता के रूप में वैशम्पायन के शिष्य तित्तिरि की प्रसिद्धि है। नाम से भी यही प्रकट होता है। इसके अन्तर्गत सम्मिलित काठक-भाग (३.१०-१२) के प्रवचन का श्रेय भट्टभास्कर के अनुसार काठक का है। परम्परा के अनुसार आन्ध्र प्रदेश, नर्मदा की दक्षिण तथा आग्नेय दिशा एवं गोदावरी के तटवर्ती प्रदेशों में तैत्तिरीय शाखा का प्रचलन रहा है। बर्नल ने इस दक्षिण भारतीय जनश्रुति को उद्धत किया है, जिसके अनुसार दक्षिण की पालतू बिल्लियां भी तैत्तिरीय शाखा से परिचित होती हैं। सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य की अपनी यही शाखा थी-इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों में, सर्वप्रथम उन्होंने इसी पर अपना भाष्य रचा।

सामवेदीय ब्राह्मण

सामवेद के अनुपलब्ध ब्राह्मण

डॉ. वटकृष्ण घोष ने कतिपय ऐसे सामवेदीय ब्राह्मणों के उद्धरण उपलब्ध कराये हैं, जो यद्यपि

१२८. वही २.४.६.८।

१२९. वही ३.७.७.११।

१३०. वही २.२.६.२।

१३१. वही ३.१२.३.४।

मूलरूप में प्राप्त नहीं होते, किन्तु उनके उद्धरण विभिन्न ग्रन्थों में हैं।[१३२] इनमें से दो ब्राह्मण मुख्य हैं–(१) शाट्यायन ब्राह्मण तथा (२) भाल्लवि ब्राह्मण। शाट्यायन ब्राह्मण के ७० उद्धरणों में से अधिकांश ऋग्वेद के सायण-भाष्य[१३३] तथा ताण्ड्य ब्राह्मण के सायण-भाष्य[१३४] में मिल जाते हैं। चार-पाँच उद्धरण ब्रह्मसूत्र के शाङ्कर-भाष्य में भी हैं।[१३५] शाट्यायन ब्राह्मण के बहुसंख्यक उद्धरणों के जैमिनीय ब्राह्मण में उपलब्ध होने से प्रतीत होता है कि शाट्यायन और जैमिनीय ब्राह्मणों का कदाचित् एकीकरण हो गया। प्रो. कालन्द ने भी इसी प्रकार की संभावना व्यक्त की है।[१३६] संभवत: सायण के सम्मुख भी शाट्यायन ब्राह्मण अपने सम्पूर्ण मूलस्वरूप में उपलब्ध नहीं रहा होगा, अन्यथा वे इसको 'शाट्यायनमुनिना' या 'शाट्यायनेन'–इस प्रकार के एकवचनान्त व्यक्तिवाचक नाम-निर्देश मात्र से उद्धृत नहीं करते।

भाल्लवि ब्राह्मण–सामवेद की भाल्लवि शाखा का उल्लेख ब्राह्मण में है, यह प्रथम परिच्छेद में कहा जा चुका है। इसका निर्देश कतिपय श्रौतसूत्रों के अतिरिक्त व्याकरण महाभाष्य[१३७] तथा काशिका[१३८] में भी है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ब्राह्मण-साहित्य अत्यन्त विशाल रहा है और इस महती राशि में से अनेक आज उपलब्ध नहीं हैं।[१३९]

सामवेदीय अनुब्राह्मण–सामवेदीय ब्राह्मणों का वर्गीकरण पारम्परिक रूप से दो कोटियों में किया जाता है, वे हैं–ब्रह्मण और अनुब्राह्मण। 'अनुब्राह्मण' शब्द पाणिनीय अष्टाध्यायी के 'अनुब्राह्मणादिनि:'[१४०] सूत्र में भी है, जिसका अभिप्राय है ब्राह्मण सदृश ग्रन्थ। आठ सामवेदीय

१३२. Collection of fragments from lost Brahmanas, Calcutta, 1935.

१३३. ऋ० सं०, १.१०५.१०; ७.३३.७; ८.९ १.१; ८.९१.५ पर सायण-भाष्य।

१३४. शाट्यायनेन स्पष्टमाम्नातम् ईर्म इव वा एषा होत्राणां यदच्छावाको यदच्छावाकमनुसन्तिष्ठेर्तेम इव तुष्टुवाना: स्युरिति।
'अतएव शाट्यायनकं यदभ्यवर्त्तन्त तदभीवर्त्तस्याभीवर्त्तत्वम्। एतदेव
शाट्यायनमुनिभिर्विस्पष्टमास्नातम्। शाट्यायनकादिषु...–तां० ब्रा० के क्रमश: ४.२.१०; ४.३.२; ४.५.१४ और ४.६.२३ पर सायण-भाष्य।

१३५. ब्रह्मसूत्र–३.३.२५; ३.३.२६; ४.१.१६ तथा ४.१.१७ पर शाङ्कर-भाग्य।

१३६. Perhaps the original Shatyayanaka, which is lost to us, was taken over by the Jaiminiyas, either a part or the whole of it and amplified with other passages. —Pancavimsha Brahmana, Introduction, p. 18.

१३७. व्याकरण महाभाष्य व्याकरण (पतञ्जलि)–४.२.१०४।

१३८. काशिका (४.२.६६ : ४.३.१०५ सूत्रों पर)।

१३९. Dr. V. Raghavan : It may be worth while to remember that Prahmana literature was vast and a good number of Brahmanas remains to be recovered.
—Foreword, p. 2.
(Samavidhan Brahmana; edited by B.R. Sharma).

१४०. अष्टाध्यायी, ४.२.६२।

ब्राह्मणों में से सामविधान, आर्षेय, देवताध्याय, उपनिषद्, संहितोपनिषद् और वंश ब्राह्मणों को विद्वानों ने अनुब्राह्मण कहा है।[१४१]

सामवेदीय ब्राह्मण और उनका विशिष्ट प्रतिपाद्य

सामवेदीय ब्राह्मणों का परिचय यहाँ उसी क्रम से प्रस्तुत है, जिस क्रम से सायणाचार्य ने अपनी भाष्य-भूमिकाओं में उनका उल्लेख किया है :

१. **ताण्ड्य महाब्राह्मण**–स्वयं ताण्ड्य ब्राह्मण से इस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता कि इसका रचयिता कौन है ? हाँ, परम्परा के अनुसार ताण्डि नामक किन्हीं सामवेद के आचार्य के द्वारा दृष्ट होने के कारण यह ताण्डि अथवा ताण्ड्य ब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध है।[१४२] सामविधान ब्राह्मण में सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्यों की जिस परम्परा का उल्लेख है : तदनुसार ताण्डि और शाट्यायन बादरायण के शिष्य थे।[१४३] ऋषि ताण्डि से प्रारम्भ होने वाले गोत्र का उल्लेख वंश ब्राह्मण में भी है।[१४४] अग्निचित् के सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण में ताण्ड्य नामक आचार्य का उल्लेख है।[१४५] सामविधान का उल्लेख विशेष प्रामाणिक प्रतीत होता है, क्योंकि ताण्डि और शाट्यायन शाखाओं का युगपत् अन्यत्र भी नाम-निर्देश हुआ है।[१४६] प्रतीत होता है कि कौथुम शाखा की उपशाखाओं में ताण्ड्य का महत्त्व सर्वाधिक रहा है, क्योंकि शंकराचार्य ने छान्दोग्योपनिषद् का निर्देश ताण्डिशाखियों की उपनिषद् के रूप में ही किया है।[१४७]

इस ब्राह्मण ग्रन्थ का नामान्तर २५ अध्यायों में विभक्त होने के कारण पञ्चविंश ब्राह्मण भी है। आकार-प्रकार की विशालता और वर्ण्यविषयों की गरिमा के कारण यह महाब्राह्मण तथा प्रौढ़ब्राह्मण के नामों से भी सदाख्य है। सुसन्तुलित निरूपण शैली के कारण ताण्ड्य ब्राह्मण की प्रौढ़ता स्वयमेव लक्षित हो जाती है।

जैसा कि पहले कहा गया है, ताण्ड्य ब्राह्मण का स्वरूप २५ अध्यायात्मक अथवा प्रपाठकात्मक

१४१. सत्यव्रत सामश्रमी–(द्रष्टव्य आर्षेय ब्राह्मण का मुख पृष्ठ) तथा 'ताण्ड्यांश भूतानि ताण्ड्यपरिशिष्ट भूतानि वा अनुब्राह्मणानि वा अपराण्यपि सप्ताधीयन्ते' निरूक्तालोचन, पृ० १९७, कलकत्ता, १९०७।

१४२. (क) चिन्नस्वामि शास्त्री, तां० ब्रा०, पुनस्तात् निवेदनम्, पृ० २।

(ख) इस परम्परा का समर्थन जैमि० ब्रा० के उस अंश से होता है, जहाँ कहा गया है–'तदु होवाच ताण्ड्यः।' आपस्तम्ब श्रौ० सू० में इसे 'ताण्ड्यम्' उल्लिखित है। कालन्द ने यद्यपि यहाँ किसी दूसरे प्राचीन ब्राह्मण का संकेत माना है, किन्तु उनके समर्थन में वस्तुतः कोई गम्भीर युक्ति नहीं है। भाष्यकार अग्निस्वामी ने ता० ब्रा० को '[illegible]ण्ड्यप्रवचन' नाम दिया है।

१४३. सामवि० ब्रा० ३.९.३।

१४४. वंश ब्राह्मण २.६।

१४५. शत० ब्रा० ५.१.२.२५।

१४६. अन्येऽपि शाखिनः ताण्डिनः शाट्यायिनः-ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य ३.३.२७।

१४७. यथा ताण्डिनामुपनिषदि–वही ३.३.३६।

है। ऐतरेयादि ब्राह्मणों के समान इसमें भी ५ अध्यायों को 'पञ्चिका' कहने की परम्परा है। इस प्रकार पञ्चविंश ब्राह्मण पञ्चपञ्चिकात्मक है।

विद्वानों का विचार है कि ऐतरेयादि अन्य वेदों के ब्राह्मणों के समान सामवेदीय ताण्ड्य ब्राह्मण में भी मूलतः ४० अध्याय होने चाहिए। षड्विंश और उपनिषद् ब्राह्मणों को मिलाकर यह संख्या सम्पन्न भी हो जाती है। इसके अनुसार काशिकोक्त 'चत्वारिंश ब्राह्मण' शब्द ताण्ड्य ब्राह्मण के ही ४० अध्यायात्मक स्वरूप के ज्ञापनार्थ प्रयुक्त है[१४८] यद्यपि षड्गुरुशिष्य का मत इसके विपरीत है।[१४९] इस सन्दर्भ में सत्यव्रत साश्रमी ने सर्वाधिक दृढ़ता से ताण्ड्य ब्राह्मण के चत्वारिंशद-ध्यायात्मक स्वरूप का समर्थन किया है।[१५०] षड्विंश तो स्पष्ट रूप से ताण्ड्य ब्राह्मण का भाग है। षड्विंश का विवरण देते समय इसका आगे विस्तार से उपपादन किया जायेगा। इस प्रकार ताण्ड्य महाब्राह्मण का स्वरूप पञ्चविंश, षड्विंश और छान्दोग्य ब्राह्मण को मिलाकर सम्पन्न होता है। यों तो मेरी धारणा है कि केन उपनिषद् भी इसी क्रम में है। सम्पूर्ण छान्दोग्य उपनिषद् का स्वरूप केन उपनिषद् को मिलाकर ही सम्पन्न होता है। इस स्थिति में, मन्त्र ब्राह्मण पृथक मानना पड़ेगा।

ताण्ड्य ब्राह्मण का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय सोमयाग है। अग्निष्टोमसंस्थ ज्योतिष्टोम से आरम्भ करके सहस्र संवत्सरसाध्य सोमयागों का इसमें मुख्यतः विधान किया गया है। इनके अंगभूत सामवेदीय स्तोत्र, स्तोम और उनकी विष्टुतियों के प्रकार एवं स्तोमभाग–ये इसमें विस्तार से विहित हैं। स्तोत्रादि का परिचय गान-प्रक्रियाविषयक परिच्छेद में किया गया है। अध्यायानुसार विषय-वस्तु का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है[१५१]

प्रथम अध्याय–उद्गाता के लिए पठनीय यजुषात्मक मन्त्र।

२-३ अध्याय–त्रिवृत–पञ्चदशादि स्तोमों की विष्टुतियां।

४-५ अध्याय–समस्त सत्रयागों के प्रकृतिभूत गवामनयन का वर्णन।

६-९ (१२ वें खण्ड तक) अध्याय–ज्योतिष्टोम, उक्थ्य तथा अतिरात्रसंस्थ यागों का वर्णन। नवमाध्याय के शेष खण्डों में विभिन्न प्रायश्चित विधियाँ वर्णित हैं।

१०-१५ अध्याय–द्वादशाह यागों का वर्णन।

१६-१९ अध्याय–विभिन्न एकाहयागों का वर्णन।

२०-२२ अध्याय–अहीन यागों का निरूपण।

२३-२५ अध्याय–सत्र-यागों का विधान।

१४८. काशिका (वामन-जयादित्य)–५.१.६२

१४९. ऐत० ब्रा० की सुखप्रदा व्याख्या।

१५०. 'अध्यायानाम् संकलनंया चत्वारिंशदध्यायात्मकम् कौथुम ब्राह्मणं सम्पद्यते ताण्ड्यनाम' –त्रयीपरिचय, पृ० १२१ तथा–'पञ्चविंशं षड्विंशं ब्राह्मणं च छान्दोग्योपनिषच्च मिलित्वा ताण्ड्यमहाब्राह्मणं भवति' सामवेदसंहिता की भूमिका, पृष्ठ १३, पारडी, १९५६ ई०।

१५१. हे–'पञ्चविंशतिरध्याया महति ब्राह्मणे स्थिताः। आद्येऽध्याये श्रुता मन्त्रा उद्गातुर्यजुरात्मकाः। द्वयोरध्याययोः स्तोमप्रकारा बहुधा श्रुताः। चतुर्थाध्यायगारभ्य गवामयनिकादयः। क्रतूनां विधयः प्रोक्ता एतेऽस्मिन ब्राह्मणे क्रमः।

इनमें से विभिन्न सोमयागों का परिचय श्रौतयागों वाले परिच्छेद में द्रष्टव्य है। कुल मिलाकर ७८१६११ सुत्याक १७८ सोमयाग इसमें निरूपित है।

इस प्रकार ताण्ड्य ब्राह्मण का मुख्य निरूप्य विषय सोमयाग एवं तद्गत सामगान की प्रविधि का प्रस्तवन है। विविध प्रकार के साम, उनके नामकरणादि से सम्बद्ध आख्यायिकाएँ और निरुक्तियां भी प्रसंगत: पुष्कल परिमाण में आई हैं। यज्ञ के विभिन्न पक्षों के सन्दर्भ में आचार्यों के मध्य प्रचलित विवादों और मत-मतान्तरों का उल्लेख भी है। ताण्ड्य ब्राह्मण में निरूपित व्रात्ययज्ञ का निर्देश भी यहाँ आवश्यक है, जो सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मण युगीन भौगोलिक सामग्री भी इसमें प्राप्य है।

सोमयागों के विधान में क्रम की दृष्टि से कात्यायन और आपस्तम्ब सदृश प्रमुख श्रौतसूत्रकार ताण्ड्योक्त क्रम का ही अवलम्बन करते हैं।

ताण्ड्य महाब्राह्मण का वैशिष्ट्य

ताण्ड्य महाब्राह्मण का वैदिक वाङ्मय में, अपनी निम्नलिखित विशेषताओं के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है :[१५२]

(१) इसमें समस्त सोमयागों (एकाह से लेकर सत्रयागों तक) के औदगात्र पक्ष का निरूपण अत्यन्त साङ्गोपाङ्ग और विस्तार से हुआ है।

(२) साम-गान की प्रक्रिया, विशेष रूप से सोमयागों में ऊह और ऊह्यगान किस प्रकार गाये जाते थे–इसकी जानकारी के लिए ताण्ड्य ब्राह्मण अति प्रामाणिक आकर ग्रन्थ है। बहुविधि सामों, स्तोत्रों और उनकी विष्टुतियों के विषय में इस ब्राह्मण ग्रन्थ में बहुत उपादेय सामग्री सुलभ हो जाती है।

(३) व्रात्यस्तोम संस्कारहीन व्यक्तियों की शुद्धि के लिए संपादित यागों का ताण्ड्य में ही विवरण है। इन यागों में, जिनका स्वरूप एकाहात्मक है, ऋत्विकों को जो विशिष्ट दक्षिणा (उष्णीष, प्रतोदबैलों को हाँकने के लिए लौहनिर्मित अग्रशलाका वाला दण्ड–काली किनारे वाली धोती–इत्यादि) दी जाती थी, तथा जिन विशिष्ट कृत्यों का संपादन होता था, उनकी तुलनात्मक धर्म-विज्ञान के विद्यार्थी के लिए महत्ता सर्वविदित है।

(४) सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस ब्राह्मण में अत्यन्त मूल्यवान विवरण उपलब्ध है। सरस्वती नदी के विनशन (नदी जिस स्थान पर लुप्त हुई), प्लक्षप्रास्रवण (जहाँ उसका पुन: आविर्भाव हुआ), यमुना नदी, नैमिषारण्य और खाण्डव वन कुरुक्षेत्र, कुरु पाञ्चाल और मगध जनपदों का तो उल्लेख है ही–निषाद सदृश सामाजिक समुदाय-विशेष के विषय में भी जानकारी प्राप्त हो जाती है।

(५) जैमिनीय ब्राह्मण भी यद्यपि सामवेदीय ही है–किन्तु उसकी अपेक्षा ताण्ड्य ब्राह्मण अत्यन्त सुव्यवस्थित और सुसंपादित है। इसकी एक-एक पंक्ति ही नहीं, एक-एक शब्द भी नपा-तुला

१५२. ताण्ड्य एवं अन्य सामवेदीय ब्राह्मणों के विषय में विशेष जानकारी के लिए लेखक-कृत 'सामवेदीय ब्राह्मणों का परिशीलन' शीर्षक ग्रन्थ अनुशीलनीय है।

है–इसमें न अनावश्यक विस्तार है और न अतिसंक्षिप्तता। इन्हीं कारणों से वैदिक धर्म एवं आचार-दर्शन के परिज्ञान के लिए ताण्ड्य का महत्त्व सुविदित है।

षडविंश ब्राह्मण

कौथुम शाखीय सामवेद का यह द्वितीय महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण ग्रन्थ है। जैसा कि पूर्वत: संकेत किया गया, षड्विंश कदाचित् ताण्ड्य ब्राह्मण का भाग माना जाता रहा है। अपने भाष्य में सायण ने इसे 'ताण्डकशेष ब्राह्मण' कहा है। मूलत: इसमें सोमयागों के ताण्ड्यानुक्त विषयों का वर्णन होने से यह ताण्ड्य ब्राह्मण का परिशिष्ट प्रतीत होता है।

षड्विंश ब्राह्मणों में सम्प्रति छह अध्याय हैं। नाम से प्रतीत होता है कि पहले कभी इन्हें एक ही अध्याय माना जाता होगा। षष्ठ अध्याय की विषय-वस्तु शेष पांच अध्यायों को विषयवस्तु से भिन्न है, अतएव 'अद्भुत ब्राह्मण' के नाम से उस अंश की स्वतन्त्र मान्यता भी है। इस छठे अध्याय का ग्रन्थ से परवर्ती काल में सम्बंध हुआ। इस सन्दर्भ में प्रमुख युक्ति यह दी जाती है कि पञ्चम अध्याय का परिसमापन 'इति' से हुआ है–'तस्यानु तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्वसनेति'।[१५३] सायणभाष्य से ज्ञात होता है कि 'इति' शब्द अध्याय की परिसमाप्ति का सूचक है। प्राचीन ग्रन्थों में सामान्यतया ग्रन्थ की समाप्ति या तो 'इति' से दिखलाई देती है या अन्तिम वाक्य की आवृत्ति से छठे अध्याय का प्रारम्भ 'अथात:' से होना भी किसी नये ग्रन्थ के आरम्भ का द्योतक है–'अथातोऽद्भुतानां कर्मणां शान्तिं व्याख्याम:।[१५४] उदाहरण के लिए ब्रह्मसूत्र और मीसांसा सूत्र को लिया जा सकता है, जिनका आरम्भ क्रमश: 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा[१५५] तथां अथातो कर्मजिज्ञासा[१५६] से हुआ है। किन्तु हमारे विचार से इस 'अथात:' का सम्बन्ध यहाँ नवीन ग्रन्थ के आरम्भ से न होकर नवीन वस्तु के निरूपण से है, जैसा कि सायण का कथन है कि इष्ट प्राप्ति के साधभूत कर्मों का निरूपण पहले पांच अध्यायों में है और तत्पश्चात् अनिष्ट परिहार के साधनों का निरूपण षष्ठ अध्याय में है।

षड्विंश ब्राह्मण के अब तक प्राय: सात विभिन्न संस्करण हुए हैं,[१५७] जिनमें व्यवस्था और विन्यासगत विपुल अन्तर है।

अध्यायानुसार षड्विंश ब्राह्मण की विषय-वस्तु इस प्रकार है :

प्रथम अध्याय–इसमें कुल सात खण्ड हैं, जिनमें से प्रथम दो खण्डों में सुब्रह्मण्या निगद का वर्णन है। सर्गादि में ब्रह्म और सुब्रह्म दो ही के अस्तित्व सूचक अंशों से प्रारम्भ षड्विंश ब्राह्मण सुब्रह्मण्या निगद की गौरवमयी प्रशंसा करके यजमान को परामर्श देता है कि वह सुब्रह्मण्या के सर्वविधवेत्ता को ही सुब्रह्मण्य ऋत्विक के पद पर नियुक्त करे। तृतोय खण्ड में तीनों सवनों के

१५३. षड्० ब्रा० ५.७.३।
१५४. वही, ६.१.१।
१५५. ब्रह्मसूत्र १.१.१।
१५६. मीमांसासूत्र १.१.१।
१५७. दृष्टव्य ग्रन्थान्त में ग्रन्थ-सूची।

साम और उनके छन्दों का निरूपण है। चतुर्थ खण्ड में ज्योतिष्टोम सुत्याह के प्रातनुवाक से पहले के कृत्यों तथा विश्वरूपागान का विधान है। पञ्चम खण्ड में वसिष्ठ गोत्रापन्न ब्राह्मण को ही ब्रह्मा के पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए कहा गया है। प्रजापति ने भूः, भुवः और स्वः–इन तीन महाव्याहुतियों को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद से निस्सृत किया। इस खण्ड में भी ज्ञात-अज्ञात त्रुटियों का प्रायश्चित्त विहित है। सप्तमखण्ड में अर्थवादपूर्वक सोमदेव विषयक अर्थात् सौम्य चरु के निर्वाप का विधान है।

द्वितीय अध्याय–इसमें भी ७ खण्ड हैं। १-३ खण्डों में अग्निष्टोमान्तर्गत बहिष्पवमान के रेतस्या और धूरगानों का विधान है। इस फल-कथन के साथ विधि का समापन है कि जो इस धूर्गान का ज्ञान रखता है, वह अपने और यजमान के लिए अपराजेयलोक की प्राप्ति कर लेता है, यजमान सहित स्वयं को मृत्यु के पार ले जाकर स्वर्ग की प्राप्ति करा देता है।[१५८] चतुर्थखण्ड में होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा उद्गाता और सदस्य प्रभृति ऋत्विकों तथा होत्राच्छंसी और चमसाध्वर्यु आदि उप ऋत्विकों के यागगत प्रकीर्ण धर्मों का सामान्य निरूपण है। ५-७ खण्डों में तीनों सवनों में चमस-भक्षण हेतु उपहवादि का कथन है।

तृतीय अध्याय–प्रथम दो खण्डों में यह प्रदर्शित है कि होता आदि के द्वारा की गई भूलें यजमान के लिए हानिकारक होती हैं, अतएव उन्हें अपने कर्त्तव्यकर्म का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके यज्ञ को अङ्ग-वैकल्य से बचाये रखना चाहिए, क्योंकि यजमान की पशु-सम्पत्ति अध्वर्यु पर, कीर्त्ति होता पर, योगक्षेम ब्रह्मा पर और आत्मा उद्गाता पर आश्रित है। तृतीय खण्ड में ऋत्विक्-वरण, राजा से याग-भूमि की याचना और यागार्थ उपयुक्त भूमि का वर्णन है। चतुर्थ खण्ड में अवभृथ (स्नान) धर्म, यज्ञावशिष्ट द्रव्य का जल के समीप आनयन और रक्षोघ्न साम (अवभृथहेतुक) के गान-हेतुओं आदि का निरूपण है। ५-९ खण्डों में अभिचार यागों का विधान है, जिसके कारण इस ब्राह्मण का विशेष महत्त्व है। पञ्चम षष्ठ में त्रिवृत स्तोम की दो विष्टुतियों, षष्ठ में पञ्चदशस्तोम की विष्टुति, सप्तम खण्ड में सप्तदश स्तोम की विष्टुति, अष्टम में एकविंशस्तोम की विष्टुति तथा नवम में त्रिणवस्तोम की विष्टुति का वर्णन है।

चतुर्थ अध्याय–इसमें छह खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में व्यूढ द्वादशाह याग के धर्मों का छन्दों के क्रम-परिवर्तन का कथन करते हुए निरूपण है। वस्तुतः यहाँ केवल नौ दिनों के कृत्यों का ही विधान है, क्योंकि प्रायणीयाख्य प्रथम दिन, उदयनीयाख्य १२वें दिन तथा १०वें दिन के कृत्य सभी यागों में समान होते हैं। द्वितीय खण्ड में श्येनयाग नामक अभिचार याग का निरूपण तथा उसके स्तोत्रगत स्तोमों और सामों का कथन है। तृतीय और चतुर्थ खण्डों में त्रिवृदग्निष्टोम और संदंश यागों का निरूपण है। पञ्चमखण्ड में वज्रयाग का विधान तथा वज्र और यागों में गीयमान सामों का वैशिष्ट्य प्रदर्शित है। षष्ठ खण्ड वैश्वदेवाख्य त्रयोदशाह के निरूपण से सम्बद्ध है।

पञ्चम अध्याय–यह ७ खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में अग्निहोत्र-निरूपण करते हुए उसकी ज्योतिष्टोम से तुलना की गई है। यजमान के पात्र से आज्य के गिर जाने पर प्रायश्चित्त का विधान है। हुतावशिष्ट हवि ही इसकी दक्षिणा बतलाई गई है। द्वितीय खण्ड में कहा गया

१५८. षड्० ब्रा०, २.३-५।

है कि अग्निहोत्र के अनुष्ठान से ही अन्य यागसाध्य इष्ट भी साधित हो जाते हैं–इसके समर्थन-हेतु एक आख्यायिका भी प्रस्तुत की गई है। तृतीय और चतुर्थ खण्डों में औदुम्बरी और यज्ञयूप का वैशिष्ट्य सहित निरूपण है। पञ्चम खण्ड में सन्ध्योपासना विषयक विवरण प्राप्य है। इस सन्दर्भ में एक आख्यायिका के माध्यम से यह विवेचना की गई है कि प्रातः और सायंकाल ही सन्ध्या का अनुष्ठान क्यों किया जाता है। षष्ठ खण्ड में चन्द्रमा के घटने-बढ़ने का निरूपण है। देवगण शुक्ल पक्ष में सोम-पान की दीक्षा लेते हैं और कृष्णपक्ष में सोमका भक्षण करते हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक–ये सोम-पान के तीन पात्र हैं। चन्द्रमा की १५ कलाएँ उपर्युक्त पात्रों के द्वारा देवताओं के भक्षण में काम आ जाती हैं और १६वीं कला औषधियों में प्रविष्ट हो जाती है। सप्तम खण्ड में स्वाहा देवता की उत्पत्ति, पारिवारिक सम्बन्ध और उसके अक्षरादि का कथन है।

षष्ठ अध्याय–जैसाकि पहले सङ्केत किया गया है, इस अध्याय में अद्भुत कर्मों–अनिष्टों तथा अपशकुनों की शान्ति का विधान है। इसमें कुल १२ खण्ड हैं, जिनमें से प्रथम खण्ड में पलाश की समिधाओं से १००८ आहुतियों का विधान है। इन्द्र, यम, वरुण, धनद, अग्नि, वायु, सोम और विष्णु–इन आठ देवों के निमित्त आठ मन्त्र दिये गये हैं। अन्त में पठनीय स्वस्तिवाचन मन्त्र हैं। द्वितीय खण्ड में शत्रु-विजय के निमित्त होमविशेष का प्रतिपादन है। तृतीय खण्ड में इन्द्रविषयक अद्भुत होमविशेष का अनुष्ठान विहित है। यह सब करणीय है जब मणिनिर्मित आभूषणों अथवा माटा, घटादि की क्षति हो, चित्त-पीड़ा हो, राजकुल के साथ विवाद का प्रसंग हो, यानछत्रादि अथवा गृह-भाग भंग हो जाये अथवा हाथियों और अश्वों में से किसी की मृत्यु हो जाये। चतुर्थ खण्ड में यम के निमित्त अद्भुत कर्मों का अनुष्ठान विहित है। इस अनुष्ठान के निमित्त विशेष हैं-अपने, कुटुम्बियों अथवा पशुओं के शरीर में व्याधि हो; दुःस्वप्न, अनिद्रा अथवा क्षुधा-नाश की स्थिति हो, आलस्यादि से शरीर ग्रसित हो, जब १०८ बार 'नाके॰'[१५९] प्रभृति ऋचा का गान करके यम के निमित्त आहुतिपञ्चक प्रदेय है। पञ्चम खण्ड में वरुण से सम्बद्ध अद्भुतों की शान्ति का विधान है। यह क्षेत्रस्थ अथवा गृहगत अन्न को मूषकादि या अतिवृष्टि आदि से क्षति पहुँचाने की स्थिति में करणीय है। उपर्युक्त कारणों के उपस्थित हाने पर 'धृतवती'[१६०] ऋक् के गान तथा वरुण के निमित्त पाँच आहुतियाँ देने का विधान है। षष्ठ खण्ड में स्वर्ण, रजत, वैदूर्यादि की हानि होने पर किये गये उद्योग के निष्फल होने पर, मित्रों के विद्वेष करने पर पिशाचादिजन्य उद्वेग होने पर, कष्टकर पक्षियों के घर में बसेरा बनाने पर वैश्रवणदेव के निमित्त होम विहित है। इस कृत्य में वैश्रवण, यज्ञाधिपति, हिरण्यपाणि, ईश्वर और सर्वप्रापप्रशमयिता–इन पाँच नामों के निमित्त आहुतिपञ्चक देकर 'अभित्यं देवम्'[१६१] मन्त्र गेय है। सप्तम खण्ड में अग्नि से सम्बद्ध अपशकुनों के निवारण की विधि उल्लिखित है। जब पृथिवी

१५९. साम॰ सं॰ ३२०।
१६०. वही, ३६८।
१६१. वही, ४६४।

तड़-तड़ करके फटने लगे, उसमें कम्पन होने लगे, अग्नि के बिना ही धूम उत्पन्न हो, बिना वर्षा के जल गिरे, जल में प्रक्षिप्त पत्थर न डूबे और प्रक्षिप्त मृत शरीर डूब जाये, अकाल पुष्प-फल उत्पन्न हों, तब यह अनुष्ठेय है। अष्टम खण्ड में वायु देव से सम्बद्ध उत्पातों के शमन-हेतु होमविशेष विहित हैं। इसके निमित्त विशेष हैं–वायु का अतिरेक अथवा अभाव, पर्वतों का टूट-टूटकर गिरना, घर में वन्य पशुओं का प्रवेश, आकाश में मांस-खण्ड और रुधिरादि की वर्षा–इत्यादि। नवम खण्ड में यजमान के द्वारा स्वर्गाभिमुख होकर सोम के अद्‌भुतों की शान्ति का विधान है। इस होम के ये निमित्तविशेष हैं–नक्षत्र टूटकर गिरने लगना, उल्कापात अन्तरिक्ष में धूमकेतु का आविर्भाव, गायों के थनों से दूध के स्थान पर रक्तस्राव इत्यादि। दशम खण्ड में विष्णु जन्य अद्‌भुतों की शान्ति के निमित्त होमविशेष का सम्पादन विहित है। इसके निमित्त विशेष हैं–स्वप्न में अयानद्ध अश्वादि का गमन दिखना, देव-प्रतिमाओं का हँसना तथा पसीजना इत्यादि। इस कृत्य में स्वस्तिवाचन के साथ ब्राह्मण-भोजन तथा दक्षिणा का भी विधान है। ११वें खण्ड में रुद्र और १२वें में सूर्यदेवत्य अद्‌भुतों की शान्ति का विधान है।

इस प्रकार यह ब्राह्मणग्रन्थ श्रौतयागों के साथ ही लोक-विश्वासों के आधार पर चलने वाले सामानान्तर धार्मिक विश्वासों से सम्बद्ध आनुष्ठानिक कृत्यों का भी श्रौत स्वरूप में ही प्रस्तावक है।

षड्‌विंश ब्राह्मण में यज्ञीय विधि-विधानों की व्याख्या के सन्दर्भ में प्राय: २४ आख्यायिकाएँ आई हैं। इनमें से इन्द्र और अहिल्याविषयक आख्यान, जिसका पुराणों में परवर्ती काल में प्रचुर पल्लवन हुआ, विशेष रूप में उल्लेख्य है।

सामविधान ब्राह्मण

सामवेदीय ब्राह्मणों के मध्य इसका तृतीय स्थान है। ताण्ड्य और षड्‌विंश शाखान्तरीय ब्राह्मणों के समान अपने को श्रौतयागों के विवेचन तक ही सीमित रखते हैं। इसके विपरीत सामविधान ब्राह्मण जादू-टोने से सम्बद्ध सामग्री का भी प्रस्तावक है। इसमें प्रतिपादित विषय अधिकांशतया धर्मशास्त्र के क्षेत्र में आ जाते हैं। तात्पर्य यह कि सामविधान ब्राह्मण में श्रौतयागों के साथ ही प्रायश्चित्त-प्रयोग, कृच्छ्रादि व्रत, काम्ययाग तथा विभिन्न लौकिक प्रयोजनानुवर्तित अभिचार कर्मादि भी निरूपित हैं। इस प्रकार विषय-वस्तु की दृष्टि से इस ब्राह्मण का फलक बहुत व्यापक है।

ब्राह्मणग्रन्थों के मध्य इसके वैशिष्ट्य के निम्नाङ्कित प्रमुख कारण हैं :

(१) यज्ञविषयक दृष्टिकोण के विकास-बिन्दुओं को इसमें सरलता से परिलक्षित किया जा सकता है। यज्ञ का द्रव्यात्मक रूप, जिसके अनुष्ठान में प्रचुर समय एवं धन की आवश्यकता होती है, शनै: शनै: सरल स्वरूप लेते हुए दिखाई देता है। जप-यज्ञ एवं स्वाध्याय-यज्ञ के रूप में यज्ञ का जो उत्तरोत्तर विस्तृत विकसित रूप आरण्यकों एवं उपनिषदों में उभरा है, उसके मूल बिन्दु सामविधान ब्राह्मण में निहित हैं। श्रौतयागों के समान ही इसमें स्वाध्याय एवं जप-तप को

भी महत्त्व प्रदान किया गया है।[१६२] यही वह बिन्दु है, जहाँ से स्वाध्याय यज्ञ, ब्रह्मयज्ञ और जप यज्ञ की अवधारणा विकसित हुई।[१६३] सामविधान ब्राह्मण में उन लौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिए मात्र साम-गान का विधान किया गया है, अन्यत्र जिनके लिए बहुव्यय और दीर्घकाल साध्य याग विहित हैं। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का सादृश्य इसी श्रेणी के ऋग्विधान और अथर्वपरिशिष्टादि ग्रन्थों से स्पष्ट लक्षित होता है।

(२) साम-गान को इसमें सृष्टि के लिए जीवन-साधन के रूप में बतलाया गया है–'स वा इदं विश्वं भूतमसृजत। तस्य सामोपजीवनं प्रायच्छत्।'[१६४]

(३) देवशास्त्रीय दृष्टि से इस ब्राह्मण में अनेक नवीन तथ्य उपलब्ध होते हैं। एक स्थल पर उदक-तर्पण के सन्दर्भ में मन्त्र दिया गया है–'नमोऽहमाय मोहमाय मंहमाय नमोनमः।'[१६५] इसके देवता के विषय में सायण तक ने अपनी असमर्थता प्रकट की है–'यद्यप्यत्र देवताविशेषः स्पष्टो न प्रतीयते।' तात्पर्य यह कि उपर्युक्त मन्त्र में आये 'अहम्', 'मोहम' और 'मंहम' सदृश देव-नाम देवों की पारम्परिक नामावली से भिन्न हैं। धन्वन्तरि, जो पुराणों में समुद्र-मन्थन से उद्भूत बतलाये गये हैं और आयुर्वेद के प्रवर्तक माने गये हैं, उन्हें इस ब्राह्मण में वरुण के साथ विशेष रूप से समीकृत किया गया है–'वरुणय धन्वन्तरये।'[१६६] सायण के अनुसार 'धन्व' का अभिप्राय जलरहित स्थान है, उसे वृष्टि के जल से तृप्त करने के कारण वरुण का 'धन्वन्तरि' नाम सार्थक है। 'विनायक' और 'स्कन्द' का देवों के मध्य उल्लेख भी उल्लेखनीय है।[१६७]

इनके अतिरिक्त भाषाशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस ब्राह्मण का विशेष महत्त्व है। सर्वाधिक महत्त्व है साम-गानों की प्रस्तुति के सन्दर्भ में, क्योंकि इसमें कतिपय ऐसे मन्त्र-प्रतीक आये हैं, जिनकी वर्तमान सामवेद संहिता से पहचान नहीं हो पाती।[१६८]

सम्पूर्ण सामविधान ब्राह्मण तीन प्रपाठकों और २५ अनुवाकों में विभक्त है। प्रपाठक-क्रम से विषय-वस्तु का विवरण इस प्रकार है :

१६२. तेषामहीयन्ताजाः पृश्यो वेखनसा वसुरोचिषो ये चापूता ये च कामेप्सवस्तेऽब्रुवन् कथं नु वयं स्वर्गं लोकमियाम' इति। तेभ्यो एतत् स्वाध्यायाध्ययनं प्रायच्छत, तपश्चैताभ्यां स्वर्गं लोकमेष्यथेति। ताभ्यां स्वर्गं लोकमायन्–सामवि॰ ब्रा॰ १.१.१७ इसकी तुलना बृहदारण्यकोपनिषद् के आरम्भ में प्राप्त इस शांकरभाष्यांश से की जा सकती है, जहाँ कहा गया है कि जो अश्वमेधादिजन्य फल की प्राप्ति हो जाती है–'येषामश्वमेधे नाधिकारः तेषामस्मादेव विज्ञानात् तत्फल प्राप्तिः 'विद्याया वा कर्मणा वा', तद्धैतल्लोकजिदेव' इत्येवमादिश्रुतिभ्यः। 'येऽश्वमेधेन यजते, य उ चैनमेवं वेद' इति विकल्प श्रुतेः।'

१६३. Sam Vidhana Brahmana : Introduction, p. 3.

१६४. सामवि॰ ब्रा॰ १.१.६।

१६५. वही १.२७; पृष्ठ २४।

१६६. सामवि॰ १.३.८

१६७. वही, १.४.१९.२०

१६८. प्रो॰ बे॰ रा॰ शर्मा का विचार है कि वर्तमान सामसंहिता से कतिपय मन्त्र लुप्त हो गये हैं, जो ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों के प्रणयन-काल में उनमें थे।

प्रथम प्रपाठक–प्रथम प्रपाठक के प्रथम अनुवाक में प्रजापति की उत्पत्ति और उनके द्वारा भौतिक सृष्टि, साम-प्रशंसा और निर्वचन, सामस्वरों के देवता, देवों के निमित्त यज्ञ और यज्ञ के अनधिकारियों के लिए स्वाध्याय तथा तप का विधान है। द्वितीय अनुवाक में कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र व्रतों का स्वरूप तथा फल उल्लिखित है। तृतीय अनुवाक में स्वाध्याय और अग्न्याधेय के सामान्य नियम, पवमान दर्शपूर्णमास, अग्निहोत्र, पाञ्चरात्रिक प्रयोग, पशुबन्ध और सौत्रामणी प्रयोगों का उल्लेख है। चतुर्थ अनुवाक में कतिपय श्रौतयागों के साथ रुद्रादि की प्रीति के साधनस्वरूप सामगान विहित हैं। पञ्चम से अष्टमपर्यन्त अनुवाकों में अश्लील-भाषण, चोरी अगम्यागमन, अग्राह्य-ग्रहणादि विषयक प्रायश्चित्त दिये हुए हैं।

सम्पूर्ण द्वितीय प्रपाठक और तृतीय प्रपाठक के प्रथम तीन अनुवाकों में काम्य, रोगादि जन्य भयशमनार्थ, क्षेमार्थ और वशीकरण हेतुक विभिन्न प्रयोग उल्लिखित हैं। चतुर्थ से अष्टम पर्यन्त अनुवाकों में वैविध्यपूर्ण सामग्री है, जिसमें अभीष्ट की सिद्धि अथवा असिद्धविषयिणी परीक्षा, राज्याभिषेक-प्रयोग, अद्भुत-अभिचार-शान्ति, युद्ध-विजय के निमित्त प्रयोग तथा पिशाचों के वशीकरणार्थ, पितरों और गन्धर्वों के दर्शनार्थ, गुप्तनिधि की प्राप्ति के निमित्त तथा अन्य बहुत से काम्य प्रयोग दिये गये हैं। नवम प्रपाठक के अन्त में तीन विषयों–साम-सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों का अनुक्रम, अध्ययन के अधिकारियों तथा उपाध्याय की दक्षिणा का निरूपण करके ग्रन्थ का समापन हो जाता है।

इस प्रकार श्रौत एवं तान्त्रिक विधि-विधानों के समन्वय के सन्दर्भ में सामवेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों के मध्य इसका स्वतन्त्र वैशिष्ट्य है।

इस पर अब तक सायण तथा भरतस्वामी[१६९] के भाष्य मुद्रित हुए हैं। १३वीं शती ई. के भरतस्वामी की व्याख्या में उन स्थलों पर भी प्रकाश डाला गया है, जिन्हें सायण ने अव्याख्यात रूप में छोड़ दिया था।

आर्षेय ब्राह्मण

सामवेदीय ब्राह्मणों के मध्य इसका चतुर्थ स्थान है। इसके प्रतिपाद्य विषय के सन्दर्भ में, ग्रन्थारम्भ में कहा गया है–'अथ खल्वयमार्षप्रदेशो भवति।'[१७०] तदनुसार इसमें सामवेद के ऋषियों से सम्बद्ध

१६९. भरतस्वामी सामवेद के सुप्रसिद्ध भाष्यकार हैं, जिन्होंने सम्भवतः सभी सामब्राह्मणों पर भाष्य रचे थे। सम्प्रति उनके केवल सामवेद और सामवि० ब्रा० विषयक भाष्य ही उपलब्ध होते हैं। अपने सामवेद भाष्य के आरम्भ में उन्होंने जो उपक्रमणिका दी है, उससे ज्ञात होता है कि होयसल सम्राट् रामनाथ के वे समसामयिक थे। कश्यपगोत्रीय भरतस्वामी के माता-पिता का नाम था यज्ञदा और नारायणार्य। गुरु थे श्रीनागनाथ। सामवेद-भाष्य की रचना उन्होंने श्रीरंगम में रहकर की–'नमोऽस्तु सामदुग्धाब्धिमन्थमन्दर भूभृते। श्रीमते नागनाथाय गुरवे गुणराशये।।...

नत्वा नारायणं देवं तत्प्रसादादवाप्तधीः। साम्नां श्रीभरतस्वामी काश्यपो व्याकरोत्यृचः।।
होयसलाधीश्वरे पृथ्वीं रामनाथे प्रशासति। व्याख्या कृतेयं क्षेमेण रीरंगे वसता मया।।
इत्थं श्री भरतस्वामी काश्यपो यज्ञदासृतः। नारायणर्यतनयो व्याख्यात्साम्नामृचोऽखिलाः।।

१७०. आर्षेय ब्रा० १.१.१

विवरण है। नामधेय से भी यही स्पष्ट होता है, किन्तु व्यवहारत: न तो यह साम-गान के ऋषियों का कथन करता है और न ही ऋषिगायकों की ही व्यापक सूची प्रस्तुत करता है। इसमें केवल गानों के नाम उनके प्रसिद्ध नामान्तरों के साथ प्रदत्त हैं। प्राय: गानों के नाम उन ऋषियों के नाम पर हैं, जिन्होंने उनकी योजना की है। अतएव आर्षेय ब्राह्मण का नामकरण इस दृष्टि से सार्थक है कि इसकी विषय-वस्तु ऋषियों से सम्बद्ध है। चार प्रकार के सामगानों में से आर्षेय का सम्बन्ध मात्र प्रथम दो गानों–ग्रामगेय और अरण्यगेय–से है, जो महानाम्न्यार्चिक के साथ मिलकर सामसंहिता के पूर्वार्चिक भाग के अन्तर्गत हैं। आर्षेय ब्राह्मण ऊह और ऊह्यगानों पर विचार नहीं करता।

सामगानों का नामकरण प्राय: पाँच आधारों पर हुआ है, जिनके कारण गानों की पाँच कोटियाँ बन गई हैं।[१७१] इनमें से प्रथम कोटि के नाम ही उनके साक्षात्कर्त्ता ऋषियों के नामों पर प्रकाश डालते हैं। अन्य चार प्रकार के नामों की स्थिति इसके विपरीत है। इस कारण आर्षेय ब्राह्मण गानों के नाम देते समय उनके ऋषियों के नामों का भी उल्लेख कर देता है; यथा–'अग्नेर्वैश्वानरस्य यज्ञायज्ञीयम्'[१७२]; 'प्रजापते: सुतं रयिष्ठीये'[१७३]; 'अग्नेर्वैश्वानरस्य राक्षोघ्नमत्रेर्वा वसिष्ठस्य वीङ्कम्'[१७४] इत्यादि। इस सन्दर्भ में यह उल्लेख्य है कि कभी-कभी किसी गान के ऋषि का नामकरण उस गान के आधार पर दिखलाई देता है, जिसकी उसने योजना की। ऐसी स्थिति में उस ऋषि की प्रसिद्धि किसी उपनाम से हो जाती है और वास्तविक नाम विस्मरण के गर्त में निमग्न हो जाता है, किन्तु आर्षेय ब्राह्मण में उस ऋषि-नाम के साथ गोत्र-नाम का भी उल्लेख है, जैसे 'दावसुनिधन' गान के ऋषि हैं 'दावसु' और 'हविष्मत्' गान के ऋषि हैं हविष्मान; इन दोनों ऋषियों का नामकरण गानों के निधनभाग क्रमश: 'दावसु' (२३४५) और 'हविष्मते' (२३४५) के आधार पर हुआ है; किन्तु इन गानों का उल्लेख करते समय आर्षेय ब्राह्मण यह कहना नहीं भूलता, कि प्रकृत गानद्रष्टा ऋषियों का सम्बन्ध अङ्गिरा गोत्र से है।

आर्षेय ब्राह्मण की रचना सूत्र-शैली में हुई है जो सामवेद के अनुब्राह्मणों की विशेषता है। इनकी भाषा में प्राचीन रूपों का अस्तित्व नहीं है, अतएव सामान्यतया ये अपेक्षाकृत परवर्ती वेदकालिक माने जाते हैं।

अन्य सामवेदीय अनुब्राह्मणों के समान, विद्वानों का आर्षेय ब्राह्मण के विषय में भी विचार है कि यह स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर विशालकाय सामवेदीय महाब्राह्मण का उसी प्रकार से एक

१७१. गानों का नामकरण जिन आधारों पर हुआ है, वे ये हैं :

(क) उन ऋषियों के नामों के आधार पर, जिन्होंने उनका साक्षात्कार किया; यथा–सैन्धुक्षित, औशन आदि।

(ख) ऋचा के प्रारम्भिक पदों के आधार पर, जैसे विश्वोविशीय, यज्ञायज्ञीय आदि।

(ग) निधन (गान का अन्त्य भाग) के आधार पर, जैसे सुर्त रयिष्ठीय, दावसुनिधन इत्यादि।

(घ) प्रयोजनमूलक, जैसे संवर्ग, रक्षोघ्न इत्यादि।

(ङ) जो इनमें से किसी श्रेणी में नहीं आते, जिसे वीङ्क, इत्यादि।

१७२. आ॰ ब्रा॰ १.५.१।

१७३. वही, २.४.७।

१७४. वही, १.७.३।

भाग है, जैसे विभिन्न पर्व महाभारत के भाग मात्र हैं। प्रो० बे० रा० शर्मा का अभिमत[१७५] है कि कम-से-कम देवताध्याय ब्राह्मण और आर्षेय ब्राह्मण तो किसी एक ग्रन्थ के ही दो भाग हैं, जिनमें क्रमशः सामों के ऋषियों और देवों का निरूपण हुआ है। इसका द्योतन देवताध्याय ब्राह्मण के अन्तिम सूत्र से भी होता है-'स्वस्ति देवऋषिभ्यश्च।' सायण ने यों तो अपनी भाष्य-भूमिकाओं में आर्षेय ब्राह्मण और देवताध्याय ब्राह्मण का उल्लेख पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में किया है, किन्तु देवताध्याय के समापन के समय आर्षेय ब्राह्मण से एक सूत्र को उद्धृत करते हुए वे दोनों को दो खण्ड मात्र मानते हुए प्रतीत होते हैं-'पूर्वस्मिन् खण्डे तत्सवितुरित्यस्यां सावित्र्यां गायत्रं गीतम्। तस्य च देवता उक्ताः। आर्षेये च अयातयामत्वं ऋषयश्च प्रतिपादिताः गानप्रकारस्य च लक्षणमुक्तं प्रथमायां वा।''[१७६] देवाताध्याय ब्राह्मण की एक कारिका[१७७] पर भाष्य करते समय सायण पुनः दोनों की एकता का स्मरण कराते हैं-'यद्वा साम्नाम् ऋषिदेवतयोरुभयोरप्यपेक्षितत्वात् तदुभयप्रतिपादकार्षेयदेवताध्यायाख्यग्रन्थद्वयस्य एकत्वाभिप्रायेण ऋषीणां विषयज्ञ इत्युपन्यासः।'

देवताध्याय ब्राह्मण के विषय में प्रायः यह मान्यता रही है कि उसमें मात्र तीन खण्ड हैं। विद्वानों का विचार है कि देवताध्याय ब्राह्मण के तृतीय और चतुर्थ खण्ड आर्षेय-देवताध्याय ब्राह्मण' नामक एक ही ग्रन्थ के, जो सामान्यतः 'आर्षेय'-नाम से प्रसिद्ध रहा है और देवताध्याय जिसका एक अध्याय मात्र है, अन्तिम अध्याय हैं।

देवताध्याय ब्राह्मण के अन्त में आई पूर्वोक्त कारिका[१७८] वस्तुतः आर्षेय ब्राह्मण के आरम्भ में उल्लिखित 'एकैकस्य ऋषेः.[१७९]' प्रभृति के सन्दर्भ में है-इससे भी दोनों ब्राह्मणों की एकता सिद्ध होती है-अन्यथा देवताओं का विवेचन करने वाले ग्रन्थ में ऋषि-ज्ञान का महत्त्व बतलाने की सार्थकता नहीं हो सकेगी। 'देवताध्याय' नाम का अभिप्राय ही है देवताविषयक एक अध्याय मात्र, जो किसी ग्रन्थ का भाग ही हो सकता है।

आर्षेय ब्राह्मण में ग्रामगेयगानों का उल्लेख संहितोक्त क्रम से है। आर्षेय ब्राह्मण के अनुसार साम-गानों के ऋषि-नामों और उनके गोत्रों के ज्ञान से स्वर्ग, यश, धनादि फलों की प्राप्ति होती है-'ऋषीणां नामधेयगोत्रोपधारणम्। स्वर्ग्यं यशस्यं धन्यं पुण्यं पुत्रयं यशस्यं ब्रह्मवर्चस्यं स्मार्त्तमायुष्यम्।''[१८०] इस ब्राह्मण का अध्ययन प्रातः प्रातराश से पूर्व होना चाहिए-'प्राक् प्रातराशिकमित्याचक्षते।''[१८१]

१७५. *Arseya Brahmana :* Introduction, p. 11 & 13.

१७६. आ० ब्रा० १.५।

१७७. ऋषीणां विषयज्ञो यः स शरीराद् विमुच्यते।
अतीत्य तमसः पारं स्वर्गे लोके महीयते।।
-देवता० ब्रा० ३.२४।

१७८. देवता० ब्रा० ३.२४।

१७९. एकैकस्य ऋषेः दिव्यं वर्षसहस्रमतिथिर्भवति।...ऋषीणां संस्थानो भवति।
संस्थानो भवति ब्राह्मणः। स्वर्गे लोके महीयते। स्मरन्नाजायते पुनः।

१८०. आ० ब्रा० १.१.१-२।

१८१. वही, १.१.४।

देवताध्याय ब्राह्मण

इसका आकार अत्यन्त अल्प है और इसमें केवल ४ खण्ड हैं। कतिपय हस्तलेखों और प्रकाशित संस्करणों में मात्र तीन ही खण्ड हैं। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इसमें मुख्य रूप से निधन-भेद से सामों के देवताओं का निरूपण हुआ है। प्रथम खण्ड में देव-नामों का ही विभिन्न सामों के सन्दर्भ में संकीर्तन है। द्वितीय खण्ड में छन्दों के वर्णों और देवताओं का निरूपण हुआ है। तृतीय खण्ड में सामाश्रित छन्दों के नामों की निरुक्तियाँ हैं। चतुर्थ खण्ड में गायत्रसाम की आधारभूत सावित्री के विभिन्न अंगों की विविध देवरूपता का वर्णन है। सायण ने इस विषय-वस्तु का इसी प्रकार से परिगणन किया है।[१८२]

आर्षेय ब्राह्मण के प्रसंग में कहा जा चुका है कि यह किसी बड़े ब्राह्मण ग्रन्थ का अध्याय मात्र प्रतीत होता है।

देवताध्याय ब्राह्मण में सामगानों के, सूक्तों तथा ऋचाओं के नहीं, देवताओं के निर्णय की प्रक्रिया का कथन है। साम-गान के देवताओं के रूप में सर्वप्रथम अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, सोम, वरुण, त्वष्टाङ्गिरस्, पूषा, सरस्वती और इन्द्राग्नी का उल्लेख है।

विभिन्न छन्दों के नाम-निर्वचनों का निरुक्त से सादृश्य है। प्रतीत होता है कि दोनों ने ही इन्हें किसी अन्य ब्राह्मण ग्रन्थ से लिया है, क्योंकि दोनों ही किसी ब्राह्मण ग्रन्थ का उल्लेख करते हैं।

सम्पूर्ण देवताध्याय ब्राह्मण में सूत्र-शैली का प्रयोग हुआ है।

उपनिषद् ब्राह्मण

इसका नामान्तर छान्दोग्य ब्राह्मण है, जिसमें १० प्रपाठक हैं। प्रथम दो प्रपाठकों में गृह्यकृत्यों में विनियुक्त मन्त्र संकलित हैं। इसीलिए सौविध्यवश इस अंश को मन्त्रब्राह्मण या मन्त्र-पर्व भी कह दिया जाता है।[१८३] शेष आठ प्रपाठक छान्दोग्योपनिषद् कहलाते हैं। मन्त्र और उपनिषद् दोनों ही अंशों को मिलाकर सम्पूर्ण ग्रन्थ 'उपनिषद् ब्राह्मण' के रूप में प्रसिद्ध रहा है, जैसा कि कतिपय हस्तलेखों की पुष्पिका में कहा गया है।[१८४] तात्पर्य यह कि इस ब्राह्मण के दोनों भागों–कर्मकाण्डपरक मन्त्र भाग और उपनिषदंश को मिलाकर एक पूर्ण ग्रन्थ बन जाता है।[१८५]

छा. ब्रा. में कुल २६८ गृह्यमन्त्र हैं ये सभी मन्त्र गोभिल और खादिर गृह्यसूत्रों के अन्तर्गत

१८२. साम्नां निधनभेदेन देवताध्ययनादयम्।
ग्रन्थोऽपि नामतोऽन्वर्थाद् देवताध्याय उच्यते।।
तत्राद्ये बहुधा साम्नां देवताः परिकीर्तिताः।
द्वितीये छन्दसां वर्णास्तेषामेव च देवताः।
तृतीये तन्निरुक्तिश्चेत्येवं खण्डार्थ संग्रहः।।

१८३. सायण का कथन है–'तत्रोपनिषदाख्योयः षष्ठो ग्रन्थ स च द्विधा मन्त्र पर्व च विद्येति.....।' छा॰ ब्रा॰–भाष्य-भूमिका।

१८४. इत्युपनिषद्ब्राह्मणे मन्त्राध्यायस्यकर्मकाण्डे द्वितीयः प्रपाठकः।

१८५. मन्त्र ब्राह्मण का ही दूसरा नाम छान्दोग्य ब्राह्मण नहीं है, जैसा कि कतिपय विद्वानों ने कहा है।

विभिन्न गृह्यकृत्यों में विनियुक्त हैं। छा.ब्रा. का मन्त्र–क्रम गृह्यसूत्र के क्रम का अनुगामी है। गोभिल और खादिर दोनों ही सूत्रकार प्रायः गृह्यकृत्य का वर्णन करके पठनीय मन्त्र के लिए छा. ब्रा. का सन्दर्भ दे देते हैं। छा. ब्रा. के साथ सूत्र ग्रन्थों की इतनी निकटता के आधार पर प्रो. नौएर (Knauer) ने मत व्यक्त किया है कि गोभिल गृह्यसूत्र छा. ब्रा. पर आधृत है।[१८६] विण्टरनित्स ने भी इससे सहमति प्रकट की है, किन्तु ओल्डेनबर्ग का विचार है कि छा. ब्रा. और गो. गृ. सू. दोनों ही ग्रन्थ किसी समानान्तर योजना के अन्तर्गत रचित हैं।[१८७] खादिर गृ.सू. में भाष्यकार रुद्रस्कन्द ने 'अथातो गृह्याकर्माणि'[१८८] के विषय में कहा है कि यह किसी पूर्ववर्ती वैदिक ग्रन्थ का द्योतक है, जिसमें–देवसवितः' मन्त्र संकलित था–'अथ अनन्तरम्'। कस्मात् अनन्तरम् ? देवसविता इत्यादि मन्त्रवत् शाखाध्ययनात्' यहाँ स्पष्ट रूप से छा. ब्रा. का सन्दर्भ निहित है, क्योंकि उसी का प्रारम्भ 'देवसवितः' मन्त्र से है।

छा. ब्रा. पर दो व्याख्याएँ हैं–गुणविष्णुकृत 'छन्दोग्य-मन्त्र-भाष्य' तथा सायण-कृत 'वेदार्थ प्रकाश'। गुणविष्णु सायण से पूर्ववर्ती हैं।[१८९] उनके छा. भाष्य में निघण्टु, निरुक्त और मीमांसा ग्रन्थों के साथ ही ब्राह्मणों, उपनिषदों, गृह्य तथा धर्मसूत्रों के भी उद्धरण प्रचुर परिमाण में प्राप्त होते हैं। व्याकरणविषयक किसी विवाद की स्थिति में इन्होंने अष्टाध्यायी, ऋक् प्रातिशाख्य और काशिका का सन्दर्भ दिया है।

छा. ब्रा. में मन्त्र-भाग में अतिरिक्त आठ प्रपाठकों अथवा अध्यायों में सुप्रसिद्ध छान्दोग्योपनिषद् है। छा. उप. और केनोपनिषद् के शान्तिपाठ एक हैं, इस आधार पर कतिपय अध्येताओं ने इसे तवलकार शाखीय बतलाया है।[१९०] किन्तु यह पूर्णतया कौथुम शाखीय है, क्योंकि शंकराचार्य ने इसे 'ताण्डिनामुपनिषद्' के रूप में ही उद्धृत किया है।

छा. उप. की वर्णन-शैली अत्यन्त क्रमबद्ध और युक्तियुक्त है। इसमें तत्त्वज्ञान और तदुपयोगी कर्म तथा उपासनाओं का विशद वर्णन है।[१९१] शंकराचार्य ने इस पर भाष्य-प्रणयन किया है, जिसके कारण इसका महत्त्व स्पष्ट है। उपनिषद् के प्रथम पाँच अध्यायों में विभिन्न उपासनाओं का विवेचन किया गया है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण आख्यान और उपाख्यान आये हैं; यथा-शिलक, दालभ्य

१८६. Das Gobhil Grhya Sutra, Zweites Heft, pp. 22--43; Vedische Fragen im Festgruss on Roth, pp. 61.

१८७. आपस्तम्ब मन्त्र पाठ, Anecdota Oxoniensia, pp. XXXI F.

१८८. खादि गृ॰ सू॰।

१८९. गुणविष्णु बंग प्रदेश के निवासी थे। हलायुध, रघुनन्दन आदि ने उन्हें उद्धृत किया है। पुष्पिका से ज्ञात होता है कि वे भट्टदामुक के पुत्र थे। हलायुध के 'ब्राह्मण सर्वस्व' में इनके उद्धरण प्राप्त होने के कारण गुणविष्णु का समय १२वीं शती से भी प्राचीन है। 'ब्राह्मण सर्वस्व' का समय निश्चित ही है, क्योंकि उसकी रचना बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के राज्य-काल में हुई थी। स्वयं कौथुम शाखीय होने पर भी यह सभी वैदिक शाखाओं के श्रेष्ठ ज्ञाता प्रतीत होते हैं।

१९०. द्रष्टव्य गीतप्रेस, गोरखपुर के संस्करण की प्रस्तावना।

१९१. संहितोपनिषद् के स्वकीय भाष्य की भूमिका में द्विजराज भट्ट का कथन है कि इन अपासनाओं के माध्यम से रहस्योपनिषद् में वस्तुतः यज्ञ-विधान का ही निरूपण है।

और प्रवाहण का संवाद, उषस्ति का आख्यान, शौवसामसम्बन्धी उपाख्यान, राजा जनश्रुति और रैक्व का उपाख्यान, सत्यकाम का उपाख्यान, केकय अश्वपति का आख्यान इत्यादि।

साम-गान की दार्शनिक अधिष्ठान पर व्याख्या करते हुए ओङ्कार तथा साम के निगूढ़ स्वरूप का विवेचन किया गया है। शौव उद्गीथ में भौतिक प्रयोजनों से प्रेरित होकर यज्ञानुष्ठान और साम-गान करने वालों पर व्यंग्य किया गया है। इसमें सम्भवत: सामविधान ब्रा. और षड्विंश ब्रा. के अद्भुत शान्ति प्रकरण में विहित विभिन्न अभिचार और काम्यकर्मों की ओर संकेत है।

छान्दोग्योपनिषद–गत दार्शनिक तत्त्वज्ञान पर उपनिषदों के अन्तर्गत विचार किया जायेगा। इस पर शांकरभाष्य के अतिरिक्त आनन्दतीर्थादि के भाष्य भी उपलब्ध हैं।

संहितोपनिषद् ब्राह्मण

जैसाकि नाम से स्पष्ट है, संहितोपनिषद ब्राह्मण संहिता के निगूढ़ रहस्य का प्रकाशक है। अन्य वेदों में 'संहिता' का अभिप्राय मात्र किसी विशेष क्रम से संकलित मन्त्र संग्रह से है, किन्तु संहितोपनिषद् ब्रा. में 'संहिता' शब्द का इसी प्रचलित अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। 'संहिता' का तात्पर्य यहाँ ऐसा सामगान है, जिसका गान विशेष स्वर-मण्डल से अनवरत रूप से किया जाता हो–इस सन्दर्भ में सायण का कथन है–सामवेदस्य 'गीतिषु सामाख्या'[१९२] इति न्यायेन केवलगानात्मकत्वात् पदाभावेन् प्रसिद्धा संहिता यद्यपि न भवति तथापि तस्मिन् साम्नो सप्तस्वरा भवन्ति। क्रुष्ट प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थमन्द्रातिस्वार्या इति। तथा मन्द्रमध्यमताराणीति त्रीणि वाचः स्थानानिभवन्ति। एतेषां यः सन्निकर्षः सा संहिता।'[१९३]

किन्तु द्विजराज भट्ट ने 'संहिता' शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए उससे आर्चिक ग्रन्थ का अभिप्राय ग्रहण किया है–'अत्र संहिताशब्देन आर्चिक ग्रन्था उच्यन्ते। अध्यापकाध्येतॄणां सम्यक् हितकर्यः संहिता। अथवा उपवीतानन्तरं शरीरावसानपर्यन्तं सन्ततमधीयन्त इति संहिताः।' परन्तु द्विजराज भट्ट की व्याख्या प्रकृतप्रसंग में उपादेय नहीं प्रतीत होती है, क्योंकि संहितोपनिषद् ब्रा. ने संहिता का वर्गीकरण 'देवहू', 'वाक्शबहू' और 'अमित्रहू' इत्यादि तीन प्रकार से किया है, यह मन्द्रादिस्वरजन्य उच्चारण पर आधृत है, जो गान-विधि के बिना सम्भव नहीं है। द्विजराज संहिताओं के दो रूप मानते हैं–आर्चिक संहिता और गानसंहिता। उनके अनुसार संहितोपनिषद् ब्रा. के प्रथम और द्वितीय खण्डों में क्रमशः इनका निरूपण हुआ है।[१९४]

इस प्रकार प्रस्तुत ब्राह्मण में संहिता का विभाजन विभिन्न श्रेणियों में किया गया है। ऊपर 'देवहू' प्रभृति भेद उल्लिखित हैं। इनके गान-प्रकारों का आश्रय लेने वाले साम-गाताओं के लिए विभिन्न फलों का निर्देश भी है। देवहू संहिता वह है, जिसका उच्चारण मन्द्रस्वर से होता है और उसके गान से देवगण शीघ्र पधारते हैं। देवहू प्रकार का उद्गाता समृद्धि, पुत्र, पशु आदि

१९२. मीमांसा सूत्र, २.१.३६।

१९३. संहितो॰ ब्रा॰ भाष्य-भूमिका।

१९४. इह पूर्वस्मिन् आर्चिक संहिता प्रयोग विधिः सम्यगुक्तः। तदत्तरं गानसंहिता विधिः वक्तव्यः'–संहितोपनिषद् भाष्य, पृष्ठ ३३।

की प्राप्ति करता है और वाक्शबहू प्रकार से गायन करने वाला, जो अस्पष्टाक्षरों में गान करता है, शीघ्र ही मर जाता है। आगे संहिता का शुद्धा, दुःस्पृष्टा और निर्भुजा रूपों में विभाजन किया गया है। इनके अतिरिक्त देवदृष्टि से भी संहिता का वर्गीकरण है। द्वितीय और तृतीय खण्डों में साम-गान की पद्धति का विधिवत् निरूपण है[१९५] जो सामगाथाओं के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तृतीय खण्ड में विद्या-दान की दृष्टि से अधिकारियों का उल्लेख किया गया है। चतुर्थ और पञ्चम खण्डों में भी इसी विषय का उपबृंहण हुआ है। प्रकृत प्रसंग में इसके 'विद्या हवै ब्राह्मणमाजगाम' प्रभृति मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, जिन्हें निरुक्त में उद्धृत और मनुस्मृति इत्यादि में अनूदित किया गया। आलोच्य ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में प्रसंगतः विविध गुरु-दक्षिणाओं का भी विधान है, जिन्हें विद्या-प्राप्ति के अनन्तर शिष्य गुरु के चरणों में समर्पित करता है।

इस पर दो भाष्य प्राप्त होते हैं—सायणकृत 'वेदार्थप्रकाश' और द्विजराज भट्ट कृत भाष्य। वेदार्थप्रकाश अद्यावधि मात्र प्रथम खण्ड तक ही उपलब्ध है, यद्यपि 'वंशब्राह्मण' पर अपने भाष्य का प्रणयन करने से पूर्व 'संहितोपनिषद्' सहित सात सामवेदीय ब्राह्मणों पर भाष्य रचने की बात उन्होंने कही है।[१९६]

द्विजराज भट्ट[१९७] का भाष्य सभी खण्डों पर है। अनेक स्थलों पर वह सायण की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। भाष्यारम्भ में की गई उनकी प्रतिज्ञा[१९८] अन्वितार्थ प्रतीत होती है। भाष्यान्त में उपलब्ध

१९५. द्विराज भट्ट ने संहितो॰ ब्रा॰ के प्रयोजन का उल्लेख करते हुए कहा है—'सर्वेषु यज्ञेषु स्तोत्रशस्त्राणां प्राधान्यम्। तत्र शस्त्राण्यपि स्तोत्राधीनानि, अथ अन्येषु ब्राह्मणेषु सकलयज्ञविधानमुक्तम्। तथापि प्राधान्येन वर्तमान स्तोत्र रूपसामगानविचार ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदकम्पोत्स्वरिताभिगीत प्रणतविनतप्रकृत्यायिभावसन्धिवत् पदवत्संकृष्टविकृष्टस्तोभविचारोच्चनीचवृद्धावृद्ध कृष्टाकृष्टसंशयप्राप्तविधिप्रदर्शनरथन्तर सामाख्यविशेष वर्णनप्रस्तावादिभक्ति दर्शनमध्यनिधनोदूहलक्षणवेदाध्ययनफलशिष्य पात्रापात्रनिरूपणगुरुभक्ति दक्षिणाविधानमत्रैवोक्तम्। अत एतच्छास्त्रमन्तरेणैतद्विज्ञानं न समवति'
—भाष्योपक्रमणिका।

१९६. प्रौढादिब्राह्मणान्यादौ सप्तव्याख्याय चान्तिमम्।
वंशाख्यं ब्राह्मणं विद्वान् सायणो व्याचिकीर्षति।।—वंश ब्रा॰

१९७. संहितो॰ब्रा॰—भाष्य में द्विजराज भट्ट के द्वारा प्रदत्त विवरण से ज्ञात होता है कि उनके पिता विष्णु भट्ट महान् वैदिक विद्वान् थे। उनके लिए त्र्यर्थ दीपक, सामब्रह्मयि विज्ञानिभास्कर, सर्वत्र प्रभृति विशेषणों का प्रयोग कर द्विजराज ने उन्हें भगवान विष्णु के समकक्ष स्थान दिया है। पिता से द्विजराज ने साङ्ग और सब्राह्मण सामवेद का ज्ञान प्राप्त किया और उन्हीं की प्रेरणा से प्रकृत भाष्य का प्रणयन किया। द्विजराज भट्ट का जन्म श्रीवंश में हुआ था। बर्नेल का मत है कि वे दक्षिण भारतीय थे। इसके समर्थन में तर्क यह दिया जाता है कि द्विजराज ने पूर्वाचार्यों के मध्य दत्तात्रेय को विशेष महत्त्व दिया है :
'पूर्वैः आचार्यैः पुराणैः सकलकल्पसाधारणैः आद्यैः
व्यासनारदकपिलमनुकश्यपदत्तात्रेयादिभिः जगदीश्वरस्वरूपैः.....।'
दत्तात्रेय की उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण में विशेष पूजा प्रचलित रही है, इसी कारण वैदिक ऋषियों में अनुक्त होने पर भी द्विजराज ने उनका पूर्वाचार्यों के मध्य उल्लेख किया। प्रो॰ वे॰ रा॰ शर्मा ने द्विजराज भट्ट का समय १५वीं शती माना है, जो उपयुक्त प्रतीत होता है।

१९८. सामब्रह्मरसज्ञानां विशुद्धज्ञानहेतवे।
संहितोपनिषद्भाष्यं करिष्ये रूवाक्यतः।।

उक्ति से ज्ञात होता है कि संहितोपनिषद् ब्राह्मण की गम्भीर ग्रन्थवत्ता के प्रति भाष्य-प्रणयन की दृष्टि से वे निरन्तर सतर्क रहे हैं।[१९९]

डा॰ बे॰ रा॰ शर्मा ने सायण-भाष्यगत अनेक त्रुटियों का उल्लेख करते हुए अभिमत व्यक्त किया है कि संहितोपनिषद ब्राह्मण पर प्राप्त सायण-भाष्य वस्तुतः सायण-प्रणीत नहीं हैं।[२००]

वंशब्राह्मण

सामवेद के इस अष्टम ब्राह्मण में साम-सम्प्रदाय प्रवर्तक ऋषियों और आचार्यों की वंश-परम्परा दी गई है, जिनसे सामवेद का अध्ययन-क्रम अग्रसर हुआ।

इसमें तीन खण्ड हैं। ग्रन्थारम्भ में ब्रह्मा, ब्राह्मणों, आचार्यों, ऋषियों और देवों–वायु, मृत्यु, विष्णु और वैश्रवण को नमस्कार किया गया है। सायण के अनुसार ये सभी परापर गुरु हैं। तदनन्तर प्रथम दो खण्डों में शर्वदत्त गार्ग्य, जो परम्परा की अन्तिम कड़ी हैं, से प्रारम्भ करके कश्यपान्त ऋषि-परम्परा है। कश्यप ने अग्नि से, अग्नि ने इन्द्र से, इन्द्र ने वायु से, वायु ने मृत्यु से, मृत्यु ने प्रजापति से और प्रजापति ने ब्रह्मा से सामवेद को उपलब्ध किया। इस प्रकार सामवेद की परम्परा वस्तुतः स्वयम्भू ब्रह्मा से प्रारम्भ हुई, जो विभिन्न देवों के माध्यम से कश्यप ऋषि तक पहुँची तथा कश्यप ऋषि से प्रारम्भ परम्परा शर्वदत्त गार्ग्य तक गई। ऋषि-आचार्यों की इस परम्परा में गौतम राय से एक द्वितीय धारा निस्सृत हुई है, जो नयन तक जाती है। साम-विधान ब्राह्मण में आचार्यों की एक अन्य परम्परा भी प्रदत्त है।

जैमिनिशाखीयसाम ब्राह्मण

जैमिनि शाखा के अद्यावधि तीन ही ब्राह्मण ग्रन्थ प्राप्त और प्रकाशित हुए हैं–जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीयार्षेय और जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण। विद्वानों की सामान्य अवधारणा है कि देवताध्याय, वंश और सामविधान ब्राह्मणों का सम्बन्ध कौथुम-राणायनीय के साथ ही जैमिनीय शाखा से भी रहा है। सामविधान ब्राह्मण में अनेक ऐसे सामों का विधान है, जो सम्प्रति मात्र जैमिनिशाखीय संहिता में ही उपलब्ध हैं।[२०१] ऋषि नामों में, जिन्हें साम-विधियाँ सुलभ हुईं, सामविधान ब्रा. तण्डि के साथ ही जैमिनि का नाम भी प्राप्त होता है। सामविधान के साथ ही हमारे विचार से संहितोपनिषद् ब्राह्मण का भी जैमिनि सहित सभी शाखाओं में समान रूप से प्रचलन रहा है। भाषा में प्राचीन रूपों की अवस्थिति, वर्णन-शैली तथा आख्यानों की पुरातन रूपवत्ता से जैमिनिशाखीय ब्राह्मणों

१९९. संहितोपनिषच्छास्त्रं सुज्ञातं च तथा भवेत्।
गर्भितार्थमिदं शास्त्रं संकेतपदविस्तृतम्।।

२००. ऐसा एक स्थल है–अथैतारिस्तस्रः संहिताः भवन्ति। 'देवहूरेका वाक् शबहूरेकामित्रहूरेका'–सायण ने यहाँ 'अभित्रहू' के स्थान पर 'मित्रहू' पाठ माना है–सन्धि पर बिना ध्यान दीये हुए; उसका अर्थ 'मित्राणामह्वानशीला' किया है, जो अनुपयुक्त है।

२०१. अयमग्निः श्रेष्ठतमः 'यदिदस्तन्वो मम'–
सामवि॰ ब्रा॰ ३.४.४ तथा १.७.११

की प्राचीनता सिद्ध है। जैमिनीय ब्राह्मण-सदृश शैली में रचित हैं, जबकि कौथुमशाखीय ब्राह्मणों में सूत्र-शैली भी परिलक्षित होती है। इनकी भाषा में एक विशिष्टता यह है कि इसमें ऋग्वेद के समान 'ळ' व्यंजन सुरक्षित है।

उपलब्ध जैमिनीय ब्राह्मणों का परिचयात्मक विवरण इस प्रकार है :

जैमिनीय ब्राह्मण

यह मुख्यत: तीन भागों में विभक्त है, जिसके प्रथम भाग में ३६०, द्वितीय में ४३७ और तृतीय भाग में ३८५ खण्ड हैं। कुल खण्डों की संख्या है ११८२। बड़ौदा के सूची-ग्रन्थ[२०२] में इसका एक अन्य परिमाण भी उल्लिखित है जिसके अनुसार उपनिषद् ब्राह्मण को मिलाकर इसमें १४२७ खण्ड हैं। प्रपञ्चहृदय के अनुसार इसमें १३४८ खण्ड होने चाहिए।

जैमिनीय ब्राह्मण के प्रारम्भ और अन्त में प्राप्य श्लोकों में जैमिनि की स्तुति की गई है।[२०३]

जैमिनीय ब्राह्मण और ताण्ड्य ब्राह्मण की अधिकांश सामग्री समान है अर्थात् दोनों में ही सोमयागगत औद्गात्रतन्त्र का निरूपण है। दोनों में ही प्रकृतियाग, गवामयन (सत्र), एकाह, दशाह, अन्य विभिन्न एकाहों और अहीन यागों का प्रतिपादन हुआ है। किन्तु वर्ण्य विषयों की समानता होने पर भी दोनों के विवरण में विपुल अन्तर है। जैमिनीय ब्राह्मण में विषय-निरूपण अधिक विस्तार से है, जबकि ताण्ड्य में केवल अत्यन्त आवश्यक विवरण ही दिया गया है। अनेक स्थलों पर मात्र रूपरेखा देकर ही विषय का प्रतिपादन कर दिया गया है। आख्यानों की दृष्टि से भी जैमिनीय ब्राह्मण में विस्तार है और कौथुमशाखीय ब्राह्मणों में संक्षेप प्रतीत होता है। संभवत: ताण्ड्यकार का अनुमान था कि उसके पाठक इन आख्यानों से पूर्वपरिचित हैं।

जैमिनीय ब्राह्मण में ही वह सुप्रसिद्ध सूक्ति प्राप्त होती है, जिसका तात्पर्य है–ऊँचे मत बोलो, भूमि अथवा दीवार के भी कान होते हैं :

मोच्चैरिति होवाच कर्णिनी वै भूमिरिति।

जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण

कौथुमशाखीय आर्षेय ब्राह्मण के सदृश इसके आरम्भ में भी, प्रथम दो वाक्य छोड़कर स्वाध्याय तथा यज्ञ की दृष्टि से ऋषि, छन्द और देवता के ज्ञान पर बल दिया गया है। कौथुमशाखीय आर्षेय ब्राह्मण के आरम्भ में 'अथखल्वयमार्षप्रदेश: भवति' मिलता है, जो इसमें अनुल्लिखित है। वर्ण्य-विषय दोनों का समान है। ग्रामगेयगानों के ऋषि–निरूपण में अध्यायों और खण्डों

२०२. हस्तलिखित ग्रन्थों का सूचीपत्र, प्रथम भाग, पृष्ठ १०५।

२०३ उज्जहारागमाम्भोधेर्यो धर्मामृतमञ्जसा।
न्यायैनिर्मध्य भगवान स प्रसीदतु जैमिनि:।।
सामाखिलं सकलवेदगुरोर्मुनीन्द्राद्
व्यासादवाप्य भुवियेन सहस्रशाखम्।
व्यक्तं समस्तमपि सुन्दरगीतरागं
तं जैमिनिं तलवकारगुरुं नमामि।।'

की व्यवस्था और विन्यास भी प्राय: समान है। कहीं-कहीं दोनों शाखाओं की संहिताओं में उपलब्ध अन्तर के कारण गानों के क्रम में भिन्नता है। कौथुमशाखीय आर्षेय ब्राह्मण में वैकल्पिक नाम भी दिये गये हैं जबकि इसमें वे अनुपलब्ध हैं। इस प्रकार कौथुम की अपेक्षा यह कुछ संक्षिप्त-सा है।

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण

सम्पूर्ण जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण चार अध्यायों में विभक्त हैं। अध्यायों का अवान्तर विभाजन अनुवाकों और खण्डों में है।

इसका विशेष महत्त्व पुरातन भाषा, शब्दावली, वैयाकरणिक रूपों और ऐसे ऐतिहासिक तथा देवशास्त्रीय आख्यानों के कारण हैं, जिनमें बहुविध प्राचीन विश्वास और रीतियाँ सुरक्षित हैं। यह कौथुम शाखा के सभी ब्राह्मणों से अधिक प्राचीन है और इसे सरलता से प्राचीन ब्राह्मणों के मध्य रखा जा सकता है। इसमें कतिपय ऐसी प्राचीन धार्मिक मान्यताएँ निहित हैं, जिनका अन्य ब्राह्मणों में उल्लेख नहीं मिलता। उदाहरणार्थ मृत व्यक्तियों का पुन: प्राकट्य तथा प्रेतात्मा के द्वारा उन व्यक्तियों का मार्ग निर्देशन, जो रहस्यात्मक शक्तियों की उपलब्धि के लिए पुरोहितों–साधकों की खोज में निरत थे। निशीथ वेला में श्मशान-साधना से सम्बद्ध उन कृत्यों का भी उल्लेख है जो अतिमानवीय शक्ति पाने के लिए चिता-भस्म के समीप किये जाते हैं।

आरम्भ में ओङ्कार और हिङ्कार की महत्ता पर विशेष बल दिया गया है। सृष्टि-प्रक्रिया का सम्बन्ध तीनों वेदों से प्रदर्शित है। ब्राह्मणकार पौन: पुन्येन ओङ्कार का महत्त्व निरूपित करता है कि यही वह अक्षर है, जिससे ऊपर कोई भी नहीं उठ सका। यही ओम् परम ज्ञान और बुद्धि का आदि कारण है। ओम् से ही अष्टाक्षरा गायत्री की रचना हुई है। गायत्री से ही प्रजापति को भी अमरता प्राप्त हुई, इसी से अन्य देवों और ऋषियों ने अमरता प्राप्त की–'तदेतदमृतं गायत्रम्। एतेन वे प्रजापतिरमृतत्वमगच्छत्। एतेन देवा:। एतेनर्षय:।'[२०४]

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण के अनुसार गायत्री रूप में यह पवित्र ज्ञान ब्रह्म से प्रजापति को सीधे प्राप्त हुआ और तत्पश्चात् परमेष्ठी, सवितृ, अग्नि और इन्द्र के माध्यम से कश्यप को प्राप्त हुआ। कश्यप से गुप्त लौहित्य तक ऋषियों की सुदीर्घ नामावली दी गई है। वंश ब्राह्मण के अनुसार भी सर्वप्रथम कश्यप को ही पवित्र ज्ञान प्राप्त हुआ।

जैमिनीय उपनिषद् का समापन इस कथन से हुआ है :

सैषा शाट्यायनी गायत्रस्योपनिषद् एवमुपासितव्या।[२०५]

इसके अनन्तर केनोपनिषद् प्रारम्भ हो जाती है।

अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों के समान जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में यागविधियों का विशेष उल्लेख नहीं है। इसमें वर्णित विषय-वस्तु किसी ब्राह्मणग्रन्थ की अपेक्षा आरण्यक अथवा उपनिषद् के

२०४. जैमि॰ उप॰ ब्रा॰ ३.७.३.१।
२०५. वही ४.९.२.९।

अधिक निकट है। तुलनात्मक दृष्टि से ओङ्कार, हिङ्कार और गायत्रसामादि की उपासना पर अधिक बल देने और आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टियों से साम-गान गत तत्वों की व्याख्या करने के कारण इसका छान्दोग्य उपनिषद् से घनिष्ठ सादृश्य प्रतीत होता है कि छांदोग्य उपनिषद् की रचना मूलत: जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण गत आधार-सामग्री से ही हुई; अथवा छांदोग्य उपनिषद् जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण का ही परिष्कृत रूप है।

अथर्ववेदीय ब्राह्मण

गोपथ ब्राह्मण

अथर्ववेद का एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थ गोपथ ब्राह्मण है। सुदीर्घकाल तक इसके शाखा-सम्बन्ध के विषय में अनिश्चय की स्थिति रही क्योंकि अथर्ववेद की नौ शाखाओं में से शौनकीया शाखा विशेष प्रसिद्ध और प्रचलित रही है। गोपथ ब्राह्मण में शौनकीया शाखा के मन्त्रों का भी निर्देश प्रतीकों के द्वारा किया गया है, इसलिए इस शाखा से भी यह सम्बद्ध मान लिया गया था। अब गोपथ ब्राह्मण का सम्बन्ध पैप्पलाद शाखा से सुनिश्चित हो गया है, क्योंकि पतञ्जलि ने व्याकरण–महाभाष्य में अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र के रूप में 'शन्नो देवीरभिष्टये॰' प्रभृति मन्त्र का उल्लेख किया है–यह पैप्लादशाखीय अथर्ववेद में ही प्राप्त होता है। वेङ्कटमाधव की 'ऋग्वेदानुक्रमणी' से भी इसकी पुष्टि होती है–'ऐतरेयमस्माकं पैप्पलादमथर्वणाम्। तृतीयं तित्तिरिप्रोक्तं जानन् वृद्ध इहोच्यते।'[२०६]

'गोपथ ब्राह्मण' का नामकरण–गोपथ ब्राह्मण के नामकरण के विषय में सामान्यत: तीन प्रकार के मत उपलब्ध हैं : (१) ऋषि गोपथ इस ब्राह्मण के प्रवक्ता हैं–उन्हीं के नाम से इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि हुई। स्मरणीय है कि शौनकीय अथर्ववेद के तीन सूक्तों (१९.४७.५०) के द्रष्टा गोपथ माने जाते हैं। ऐतरेय, कौषीतकि और तैत्तिरीय प्रभृति अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों की प्रसिद्धि भी प्रवचनकर्त्ता आचार्यों के नाम पर है। (२) 'गोपथ' शब्द यहाँ 'गोप्ता' से निष्पन्न माना गया है। अथर्वाङ्गिरसों की प्रसिद्धि यज्ञ के गोप्ता रूप में है–'अथर्वाङ्गिरसो हि गोप्तार:[२०७]।' 'गुप्' धातु में 'अथ' के योग से 'गोपथ' शब्द व्युत्पन्न हो जाता है। इन्हीं गोपथों से सम्बद्ध रहा है यह ब्राह्मण ग्रन्थ। (३) शतपथ ब्राह्मण से गोपथ ब्राह्मण ने पुष्कल सामग्री ग्रहण की है; इसलिए नामकरण में भी यहाँ उसी परम्परा का अनुवर्तन हुआ। 'शतपथ' के नामकरण में १०० अध्यायों की सत्ता हेतुभूत थी–और 'गोपथ', जिसका अर्थ है इन्द्रियाँ और जिनकी संख्या ११ है, में इन्द्रियों के साम्य से ११ प्रपाठक हैं। इस प्रकार संख्यासाम्य ही गोपथ के नामकरण में निमित्तभूत है। (४) यह मत डॉ॰ सूर्यकान्त का है,[२०८] जो ऋग्वेद के 'सरमा-पणि' संवादसूक्त पर आधृत है। उस सूक्त में

२०६. ऋग्वेदानुक्रमणी, ८.१.१३।
२०७. गोपथ ब्राह्मण, १.१.१३।
२०८. अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण (ब्लूमफील्ड कृत), हिन्दी अनुवाद भूमिका, पृ॰ ९,१९,६४ ई॰।

कहा गया है कि देवशुनी सरमा से प्राप्त सूचना के आधार पर इन्द्र ने पणियों के द्वारा छिपाई हुई गायों का उद्धार किया था। गायों के पथ को ऋषि अङ्गिरस् जानते थे और यह उनका ब्राह्मण है।

इन सभी मतों में अंशत: कुछ-न-कुछ उपादेय हो सकता है, किन्तु अधिक विश्वसनीय प्रथम मत ही प्रतीत होता है कि ऋषि गोपथ के प्रवक्ता होने के कारण इस ब्राह्मण का नामकरण हुआ।

संस्करण–अद्यावधि 'गोपथ ब्राह्मण' के निम्नलिखित मूल, अनूदित और सम्पादित संस्करण उपलब्ध हैं :

(१) राजेन्द्रलाल मित्र तथा हरचन्द्रविद्याभूषण के द्वारा संपादित तथा सन् १८७२ ई० में, कलकत्ता से प्रकाशित संस्करण।

(२) जीवानन्द विद्यासागर के द्वारा सन् १८९१ ई० में, कलकत्ता से ही प्रकाशित संस्करण।

(३) ड्यूक गास्ट्रा (Dieuke Gaastra) के द्वारा सुसम्पादित संस्करण, लाइडेन से १९१९ ई० में प्रकाशित। १९७२ ई० में, इण्डॉलॉजिकल बुक हाउस के द्वारा फोटो-प्रति के रूप में इसी का पुनर्मुद्रण।

(४) क्षेमकरण दास त्रिवेदी के द्वारा १९२८ ई० में हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित संस्करण। इसी का प्रज्ञादेवी के द्वारा पुन: सम्पादित रूप में १९७७ ई० में प्रकाशन हुआ है।

(५) डॉ० विजयपाल विद्यावारिधि के द्वारा सम्पादित तथा सन् १९८० में रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत (हरियाणा) से मुद्रित-वितरित संस्करण। नि:सन्देह उपर्युक्त सभी संस्करणों में यह सर्वश्रेष्ठ है। प्रस्तुत विवरण इसी के सन्दर्भ से दिये गये हैं।

गोपथ ब्राह्मण का स्वरूप–आथर्वण परिशिष्ट 'चरणव्यूह' के अनुसार गोपथ ब्राह्मण में १०० प्रपाठक कभी थे–'तत्र गोपथ: शतप्रपाठकं ब्राह्मणम् आसीत्। तस्यावशिष्टे द्वे ब्राह्मणे पूर्वम् उत्तरं च।'

सम्प्रति गोपथब्राह्मण में दो भाग हैं–पूर्व और उत्तर। पूर्वभाग में पाँच प्रपाठक हैं और उत्तरभाग में छह। इस प्रकार समग्र प्रपाठकों की संख्या केवल ११ है। पूर्वभाग के पाँचों प्रपाठकों की कुल कण्डिकाएँ १३५ हैं और उत्तर भाग में १२३।

गोपथ ब्राह्मण का आदान–ब्लूमफील्ड ने गोपथ ब्राह्मण के उत्तरभागस्थ उन अंशों को रेखाङ्कित करने की चेष्टा की है,[२०९] जो उन्हें पूर्ववर्ती साहित्य से गृहीत प्रतीत हुए हैं। नि:सन्देह उत्तरभाग में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनका विपुल साम्य कौषीतकि ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण तथा ऐतरेय ब्राह्मण के सन्दर्भित अंशों से है। कुछ स्थलों पर तैत्तिरीय संहिता और मैत्रायणी संहिता की प्रतिच्छाया भी उन्हें प्रतीत हुई है, लेकिन वास्तव में ये वे अंश हैं, जो ब्रह्मवादियों के मध्य, यज्ञस्वरूप के प्रसंग में अत्यन्त प्रचलित थे और सभी की साझी सम्पत्ति समझे जाते थे। इनके आदान का प्रयोजन अपने प्रतिपाद्य को पूर्णता भर प्रदान करना था। गहराई से सन्धान करने पर ऐसे आदान के कुछ-न-कुछ अंश सभी ब्राह्मणों में दिखाई दे जाते हैं–इन्हीं के आधार पर कुछ विद्वानों ने 'मूलवेद' के साम्य पर किसी 'मूल ब्राह्मण ग्रन्थ' का विचार भी प्रकट किया है।

२०९. अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ २१३ से २२०। संस्करण–१९६४ ई०।

ब्लूमफील्ड के समय तक ब्राह्मणग्रन्थों का अनुशीलन प्रारम्भिक स्थिति में था, इसलिए उनके लिए 'गोपथ ब्राह्मण' के प्रति समुचित न्याय कर पाना असंभव ही था। स्वयं 'गोपथ ब्राह्मण' का ही कोई सुसम्पादित संस्करण उनके सामने नहीं था। वास्तव में, विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थों में विद्यमान समान स्थल, किसी ब्राह्मण विशेष की चौर्यकला नहीं, पारस्परिक संवादशीलता के परिचायक हैं। ब्राह्मणग्रन्थों के प्रवक्ताओं का मुख्य उद्दिष्ट यज्ञों की अङ्गविकलता से रक्षा करना ही था–न कि अपनी मौलिकता अथवा रचना-कौशल की प्रतीति कराना। इस दृष्टि से, गोपथ ब्राह्मण के प्रवक्ता श्लाघा के आस्पद ही सिद्ध होते हैं।

अथर्ववेदीय संहितेतर साहित्य की आनुपूर्वी–इस सन्दर्भ में भी ब्लूमफील्ड की यह अवधारणा कि अथर्व-साहित्य में ब्राह्मण, श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र के संकलन का कालगत सम्बन्ध उलट जाता है तथा कौशिक गृह्यसूत्र वैतान श्रौत सूत्र से पहले रचा गया था और वैतान श्रौतसूत्र गोपथ ब्राह्मण से पहले,[२१०] अग्राह्य प्रतीत होती है। वस्तुत: वैतान श्रौतसूत्र गोपथ ब्राह्मण के उत्तरभाग पर ही आश्रित दिखलाई देता है। इसी प्रकार 'कौशिक सूत्र' के 'संहिता-विधि' होने का तात्पर्य भी भिन्न है। संहिता-विधि का प्रयोजन ऋत्विकों के लिए दैनन्दिन कर्मकाण्डीय आवश्यकता की पूर्ति रहा है, जो श्रौतसूत्र अथवा गृह्यसूत्र ही कर सकते हैं। आगे चलकर, यह स्थान पद्धतियों ने ले लिया। ब्राह्मण ग्रन्थों की विषय-विवेचना में विधि के साथ ही अर्थवाद, हेतुवाद, आख्यान तथा निर्वचनादि भी अनिवार्यतया समाविष्ट रहे हैं, इसलिए वे दैनन्दिन अनुष्ठान-विधियों के सुबोध प्रस्तावक नहीं हो सकते थे। इस कार्य के लिए तो कल्प ही उपादेय हो सकता था। जहाँ तक विषय-वस्तु की व्यापकता का प्रश्न है, कौशिक ही नहीं, अन्य वेदों के गृह्य सूत्र भी कभी-कभी अपनी गृह्य कर्मों की सीमा से निकलकर श्रौत एवं अभिचार कर्मों के प्रतिपादन में संलग्न दिखलाई देते हैं। यहाँ भी इस तर्क का आश्रय लिया जा सकता है कि ब्लूमफील्ड के समय में वैदिक कर्मानुष्ठानों का अध्ययन शैशवावस्था में था अत: उनका भ्रान्तिग्रस्त होना भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इसीलिए कीथ और कालन्द-सदृश मनीषियों ने ब्लूमफील्ड के द्वारा प्रस्तावित आनुपूर्वी से वैमत्य प्रकट करते हुए गोपथ ब्राह्मण की पर्याप्त प्राचीनता के प्रति आस्था व्यक्त की है। सन्दर्भित मतों के तारतम्य की विवेचना के प्रसंग में अधिक-से-अधिक यह स्वीकार किया जा सकता है कि गोपथ ब्राह्मण-काल के अन्तिम चरण की रचना है।

गोपथ ब्राह्मण में प्रतिपादित विषय-वस्तु–अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों की अपेक्षा, 'गोपथ ब्राह्मण' में निरूपित विषय-वस्तु अत्यन्त व्यापक है। पूर्व भाग के प्रथम प्रपाठक में, सर्वप्रथम अथर्ववेद के अनुसार सृष्टि-प्रक्रिया का निरूपण है। तदनुसार सृष्टि की कामना से स्वयम्भू ब्रह्म का तप, जल-सृष्टि, जल में रेत:स्खलन, शान्त जल के समुद्र से भृगु, अथर्वा, आथर्वण ऋषि, अथर्ववेद, ओङ्कार, लोक और त्रयी का आविर्भाव वर्णित है। अशान्त जल के समुद्र से वरुण, मृत्यु, अङ्गिरा, आङ्गिरस ऋषि, आङ्गिरस वेद, जगत्, वेद, व्याहृतियों, शम्, चन्द्रादि तथा यज्ञ की उत्पत्ति बतलाई गई है। देवयज्ञों के संरक्षक रूप में अथर्वाङ्गिरसों तथा दक्षिणा का भी यहीं वर्णन है। तदनन्तर 'प्रणवोपनिषद्' है जिसमें पुष्कर में ब्रह्म के द्वारा ब्रह्मा की सृष्टि, ओङ्कार दर्शन तथा ओङ्कार की

२१०. वही, पृष्ठ २१३।

मात्राओं से आथर्वणिक तत्त्वों, देवों, वेदों, इतिहासादिवाङ्मय, ओङ्कार-जप का फल, प्रश्नोत्तर रूप में निरूपित है। इसके पश्चात् 'गायत्र्युपनिषद्' है, इसमें गायत्री मन्त्र की अत्यन्त विशद व्याख्या प्राप्त होती है। इस प्रपाठक के अन्त में आचमन-विधि वर्णित है।

द्वितीय प्रपाठक की प्रथम आठ कण्डिकाओं में ब्रह्मचारी के महत्त्व और कर्त्तव्यों का निरूपण किया गया है। तदनन्तर यज्ञ में होता प्रभृति चारों ऋत्विकों की भूमिका का विचार है। विचारक काबन्धि का उल्लेख करते हुए देवयानादि यज्ञीय तत्त्वों की विशद् मीमांसा की गई है।

तृतीय प्रपाठक का विषय भी यज्ञ-विवेचन ही है–इसमें ब्रह्मा का महत्त्व विशेष रूप से निरूपित है। दर्शपूर्ण मास, ब्रह्मोद्य, अग्निहोत्र, अग्निष्टोम प्रभृति का विचार बड़े व्यापक पटल पर किया गया है।

चतुर्थ प्रपाठक में गवामयनादि सत्रयागों की मीमांसा की गई है। यही क्रम पञ्चम प्रपाठक में भी चलता रहता है। इसमें यज्ञ-क्रम, विभिन्न ऋत्विकों को वाणी आदि की प्राप्ति, अंगिरा की उत्पत्ति, ऋत्विकों के कृत्यों की विवेचना है। अन्त में बहुसंख्यक कारिकाएँ भी दी गई हैं जिनका प्रयोजन यज्ञ-क्रम के स्मरण को सुगम बनाना है।

उत्तर भाग में, प्रथम प्रपाठक का आरम्भ ब्रह्माख्य ऋत्विक् की प्ररोचना से होता है। तदनन्तर १२वीं कण्डिका तक दर्शपूर्णमास का वर्णन है। इसके पश्चात् चार कण्डिकाओं (१३-१६ तक) में काम्येष्टियों का निरूपण है। तदनन्तर १० कण्डिकों (१७ से २६ तक) में आग्रयण, अग्निचयन और चातुर्मास्यों का विवरण है। द्वितीय प्रपाठक की प्रथम कण्डिका में काम्येष्टियों का उल्लेख है। तत्पश्चात् क्रमशः तानूनप्त्रेष्टि (२-४), प्रवर्ग्येष्टि (५-६), यज्ञ-शरीर के भेद, दूसरे के सोमयाग के ध्वंस और सोमस्कन्द-प्रायश्चित (७-१२) का वर्णन है। आगे स्तोमभाग (१३-१५), आग्नीध्र विभाग, प्रवृत्ताहुतियों, सदसजन्यकर्म, प्रस्थित ग्रहों तथा दर्शपूर्ण मास (१६-२३) का निरूपण है। तृतीय प्रपाठक की विषय वस्तु क्रमशः यह है–वषट्कार और अनुवषट्कार (१ से ६), ऋतुग्रहादि (७-११), एकाह-प्रातः सवन (१२-१९), एकाह-माध्यान्दिनसवन (२०-२३)। चतुर्थ प्रपाठक में पूर्वक्रम का अनुवर्तन करते हुए एकाह के तृतीय सवन का निरूपण करने के अनन्तर षोडशियाग का विधान है। इसी क्रम में पञ्चम और षष्ठ प्रपाठकों की सामग्री भी है, जिनमें अतिरात्र (१-५), सौत्रामणी (६-७), वाजपेय आप्तोयमि (९-१०), अहीन और सत्रयाग निरूपित हैं।

याग-मीमांसा–'अग्निर्यज्ञं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्'[२११] इस आथर्वण श्रुति का आधार लेकर गोपथ ब्राह्मणकार ने यज्ञ के २१ प्रभेद बतलाये हैं :

सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञा हविर्यज्ञाः सप्त तथैकविंशतिः। सर्वे तै यज्ञा अङ्गिरसोऽपि यन्ति नूतना यानृषयो सृजन्ति ये च सृष्टा पुराणैः।।'[२१२]

इनका पृथक-पृथक उल्लेख भी किया गया है :

२११. अथर्ववेद (पैप्पलाद) ५.२८.१।

२१२. गोपथ ब्राह्मण १.५.२५।

सायं प्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च यः।
बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुः।।

इत्येते पाकयज्ञाः अग्न्याधेयमग्निहोत्रं पौर्णमास्यमावास्ये।
नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्र सप्तमः।। इत्येते हविर्यज्ञाः।

अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशिमांस्ततः।
वाजपेयोऽतिरात्रश्चाप्तोर्यामात्र सप्तमः। इत्येते सुत्याः।।[२१३]

अकुशल ऋत्विकों से यज्ञ नष्ट हो जाता है–'यद् वै यज्ञेऽकुशला ऋत्विजो भवन्त्यचरितिनो ब्रह्मचर्यमपराघ्र्या वा, तद् वै यज्ञस्य विरिष्टामित्याचक्षते।'[२१४]

अथर्ववेदियों के बिना सोम-यागों का सम्पादन नहीं हो सकता–'नर्ते भृग्वङ्गिरोविद्भ्यः सोमः पातव्यः। ऋत्विजः पराभवन्ति, यजमानो रजसापवध्स्यति, श्रुतिश्चापध्वस्ता तिष्ठति।'[२१५]

यज्ञ का स्वरूप, गति और तेज यदि ऋक्, यजुष् और साम पर निर्भर हैं, तो माया भृग्वाङ्गिरसों अर्थात् आथर्व वेद पर।[२१६] इसी प्रकार ऋग्वेदीय मण्डलों से यज्ञ के पार्थिव रूप का, अन्तरिक्ष रूप का यजुष् से और सामवेद से द्युलोक का आप्यायन होता है–अथर्ववेद से जलरूप का।[२१७] ब्रह्मा अथर्ववेदीय मन्त्रों से यज्ञ के हानिकारक तत्त्वों को शान्त करता है–'तद् यथेमां पृथिवीमुदीर्णां ज्योतिषा धूमायमानां वर्षं शमयति, एवं ब्रह्मा भृग्वङ्गिरोभिव्यहितिभिर्यज्ञस्य विरिष्टं शमयति।'[२१८] विभिन्न इन्द्रियों की दृष्टि से भी ब्रह्मा के वैशिष्ट्य का निरूपण गोपथ ब्राह्मण में हुआ है। तदनुसार होता वाणी से, अध्वर्यु प्राण और अपान से उद्गाता नेत्रों से तथा ब्रह्मा मन से यज्ञ का सम्पादन करता है–'मनसैव ब्रह्मा ब्रह्मत्वं करोति।'[२१९]

'चत्वारि श्रृङ्गा॰' प्रभृति सुप्रसिद्ध मन्त्र की यज्ञपरक व्याख्या गोपथ ब्राह्मणकार ने की है। 'महो देवः' की व्याख्या करते हुए यज्ञ को ही महान् देवता बतलाया गया है।[२२०] यज्ञ के अशान्त अश्व को तीन वेद शान्त नहीं कर सके, तब उसे अथर्ववेद से ही शान्त किया जा सका।[२२१] ब्रह्मा की प्ररोचना गोपथ में सर्ववेत्ता के रूप में की गई है–'एष हवै विद्वान् सर्वविद् ब्रह्मा यद् भृग्वङ्गिरोविदिति ब्राह्मणम्[२२२]।'

२१३. वही १.५.२३।
२१४. वही १.१.१३।
२१५. वही १.१.२८।
२१६. वही १.२.९।
२१७. वही।
२१८. गोपथ ब्राह्मण १।२।९।
२१९. वही १।२।११
२२०. वही १।२।१६
२२१. वही १।२।१८
२२२. वही

मानव-शरीर के विभिन्न अंगों से यज्ञ की समानता प्रदर्शित करने की ब्राह्मण ग्रन्थों की परम्परा का अनुपालन गोपथ ब्राह्मणकार ने भी किया है। ब्लूमफील्ड का यह आरोप भी सही नहीं प्रतीत होता कि गोपथ ब्राह्मण के पूर्व भाग में किसी यज्ञ-क्रम का पालन नहीं हुआ है। वास्तव में पूर्वभाग का प्रयोजन विभिन्न यागों की सामान्य बातों, इष्टियों और अन्तर्निहित तत्त्वों का उपपादन ही है, लेकिन जहाँ क्रम की आवश्यकता अनुभव हुई है, उसकी ओर गोपथ ब्राह्मणकार ने दुर्लक्ष्य नहीं किया है। 'अथातो यज्ञक्रमा:' से प्रारम्भ कर एक सम्पूर्ण कण्डिका में अग्न्याधेय से लेकर सर्वमेध तक विभिन्न यागों के क्रम-निर्धारण का कार्य उसने किया है।[२२३] सहस्र संवत्सर साध्य याग का अनुष्ठान कैसे किया जाये–इस ओर सभी ब्राह्मणों का विशेष ध्यान रहा है। गोपथ ब्राह्मण में भी इसके समाधान की चेष्टा दिखलाई देती है।[२२४] यज्ञ के द्रव्यात्मक रूप की तुलना में आध्यात्मिक रूप को वरीयता देते हुए उसके प्रतिपादन की परम्परा का आरम्भ-बिन्दु यदि शतपथ ब्राह्मण में है, तो इसके विकास का शिखर गोपथ ब्राह्मण में दिखलाई देता है। इसे न समझ पाने के कारण ही पश्चिमी विद्वान् गोपथ ब्राह्मण की याग-मीमांसा के प्रति न्याय नहीं कर सके हैं।

पूर्वभाग की अपेक्षा गोपथ ब्राह्मण का उत्तर भाग यज्ञों के व्यावहारिक अनुष्ठान पर अधिक केन्द्रित प्रतीत होता है–'वैतान श्रौतसूत्र' के लिए, इसी कारण उसका अनुगमन स्वाभाविक और सुगम था।

गोपथ ब्राह्मण में निरूपित यागेतर आध्यात्मिक तत्त्व-सम्पत्–आथर्वण परम्परा का पालन करते हुए गोपथ ब्राह्मण में, आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रचुरता से निरूपण हुआ है। ओङ्कार, महाव्याहृतियों, गायत्री (सावित्री) मन्त्र और मानसिक संयम पर इस ब्राह्मण ग्रन्थ में विशेष बल दिया गया है। ओङ्कार के सहस्रवार जप से समस्त कामनाएँ पूरी हो जाती हैं–'तदेतदक्षरं ब्राह्मणो यं काममिच्छेत्, त्रिरात्रोपोषित: प्राङ्मुखो वाग्यतो बहिर्ष्युपविश्य सहस्रकृत्व आवर्त्तयेत्। सिद्ध्यन्त्स्यार्थाः सर्वकर्माणि चेति ब्राह्मणम्।'[२२५] ओङ्कार के बिना वेद-मन्त्रों का पाठ नहीं होता–वह ऋचा, यजुष्, साम, प्रत्येक सूत्र ग्रन्थ, ब्राह्मण ग्रन्थ और श्लोक में अनुस्यूत है–'... .न यामनीरयित्वा ब्राह्मणा ब्रह्म वदेयु:, यदि वदेयु: अब्रह्म तत् स्यात्। तस्मादोङ्कारः पूर्वमुच्यते। ओङ्कार ऋचि ऋग्भवति, यजुषि यजु:, साम्नि साम, सूत्रे सूत्रं, ब्राह्मणे ब्राह्मणम्, श्लोके श्लोकः, प्रणवे प्रणव इति ब्राह्मणम्।'[२२६]

भू:, भुवः, स्व:–इन व्याहृतियों के साथ गायत्री की भी इसमें विभिन्न दृष्टियों से विशद विवेचना की गई है। स्वरूप से देवों की गायत्री एकाक्षरा और श्वेत वर्णा है–'गायत्री वै देवानामेकाक्षरा श्वेतवर्णा च व्याख्याता।'[२२७] 'क: सविता ? का सावित्री ?'[२२८] (सविता कौन है और सावित्री क्या

२२३. वही १।५।७।
२२४. वही १।५।१०।
२२५. गोपथ ब्राह्मण १.१.२२।
२२६. वही, १.१.२३।
२२७. वही १.१.२७।
२२८. वही १.१.३२–३३।

है ?)–इस रूप में प्रश्न उठाकर सावित्री की बहुविध व्याख्या की गई है। तदनुसार मन सविता है और वाणी सावित्री। दूसरे उल्लेख के अनुसार अग्नि सविता है और पृथिवी सावित्री। इसी प्रकार के अन्य अनेक युग्मों–वायु और अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यु, चन्द्रमा और नक्षत्र, दिन और रात्रि, ग्रीष्म और शीत, मेघ और वर्षा, विद्युत् और गर्जना, प्राण और अन्न, वेद और छन्द, यज्ञ तथा दक्षिण–इत्यादि के माध्यम से सविता और सावित्री का विवेचन किया गया है। पूर्व भाग के प्रथम प्रपाठक की ३१वीं कण्डिका से ३८वीं कण्डिका तक मौद्गल्य और मैत्रेय के आख्यान के माध्यम से, गायत्र्युपनिषद् के अन्तर्गत सावित्री पर जितनी सामग्री मिलती है, वह अत्यन्त उपादेय है।[२२९]

प्रजापति का उल्लेख यद्यपि गोपथ ब्राह्मण में है, किन्तु 'ब्रह्म' का महत्त्व सर्वोपरि है। सृष्टि उसी से प्रादुर्भूत हुई। 'कैवल्य' की अवधारणा का उल्लेख भी इसमें है।[२३०]

सृष्टि-प्रक्रिया और आचार-दर्शन–सृष्टि का प्रारम्भ ब्रह्म के श्रम और तप से हुआ। भृगु और अथर्वाप्रभृति ऋषियों ने भी श्रम और तप का अनुष्ठान किया। श्रम और तप से ही देव-सृष्टि और लोक-सृष्टि सम्भव हुई। इसी से तीनों वेदों और महाव्याहृतियों का निर्माण हुआ।[२३१]

गोपथ ब्राह्मण के अनुसार मन का बहुत महत्त्व है–आदमी मन से जो सोचता है, वही होता है–'स मनसा ध्यायेद्, यद् वा अहं किञ्च मनसा ध्यास्यामि तथैव तद् भविष्यति। यद्ध स्म तथैव भवति।'[२३२] ब्राह्मणकार ने आधे-अधूरेपन से कार्य करने का भी निषेध किया है।

द्वितीय प्रपाठक में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का विस्तार से निरूपण है। ऐन्द्रिक रागों और आकर्षणों से उसे बचना चाहिए। स्त्री-सम्पर्क, दूसरों को कष्ट पहुँचाने, ऊँचे आसन पर बैठने से उसे बचना चाहिए। संरक्षित धर्म ही उसकी रक्षा करता है–'धर्मो हैनं गुप्तो गोपायति'[२३३]। सम्भवतः यही गोपथ ब्राह्मणोक्त सूक्ति लौकिक संस्कृत में 'धर्मो रक्षितः' में परिणत हो गई।

यज्ञ-दीक्षा के प्रकरण में अनेक नैतिक नियमों का उल्लेख है। श्रेष्ठ बुद्धि से युक्त व्यक्ति को ही 'दीक्षित' माना गया है–'श्रेष्ठां धियं क्षियतीति। तं वा एतं धीक्षितं सन्तं दीक्षित इत्याचक्षते परोक्षेण।'[२३४]

आचार की दृष्टि से गोपथ ब्राह्मण का स्तर अत्यन्त उच्च और उदात्त है।

निर्वचन-प्रक्रिया–अन्य ब्राह्मणों की तरह गोपथ में भी अनेक रोचक निर्वचन प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए 'धारा' शब्द, धारण करने से, जन्म देने के कारण 'जाया', 'वरण' से वरुण,

२२९. वेदमाता गायत्री का उपासक अनन्त पुण्य, श्री एवं कीर्त्ति का भाजन बनता है–'पुण्यां च कीर्त्तिं लभते सुरभींश्च गन्धान्। सोऽपहतपाप्मा। अनन्तां श्रियमश्नुते य एवं वेद, यश्चैवं विद्वानेवमेता वेदानां मातरं सावित्रीं सम्पदमुपनिषदमुपास्ते'–१.१.३८।

२३०. गो० ब्रा० १.१.३०।

२३१. वही १.१.१ से ६ तक।

२३२. वही १.१.९।

२३३. वही १.२.४।

२३४. गोपथ ब्राह्मण १.३.१९।

'मुच्च' से मृत्यु, प्रजापालन के कारण 'प्रजापति', भरण करने के कारण 'भृगु', 'अथ' और 'अर्वाक्' के योग से 'अथर्वा', 'अङ्ग' और 'रस' के योग से अंगरस् या अंगिरस्, की निरुक्ति निरूपित है। 'रस' और 'रथ' का समीकरण भी विलक्षण प्रतीत होता है–'तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते परोक्षेण।'[२३५]

गोपथ ब्राह्मण की अन्य विशेषताएँ

(१) अथर्ववेद और उसके भृगु, अंगिरा, अथर्वा प्रभृति ऋषियों के आविर्भाव पर गोपथ से विशिष्ट प्रकाश पड़ता है।

(२) ऋग्वेद में वरुण आकाश के देवता हैं, लेकिन धीरे-धीरे वे जल से कैसे सम्बद्ध हो गये, इसका ज्ञान गोपथ ब्राह्मण से होता है।[२३६]

(३) परिनिष्ठित वेदों के साथ ही सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद और पुराण वेदों का उल्लेख पाँच इतर वेदों के रूप में किया गया है।[२३७]

(४) ब्रह्मा के ४८ हजार वर्षों तक, सलिल-पृष्ठ पर शिव के तपस्या करने का उल्लेख है।[२३८]

(५) दोषपति, जिसकी मान्यता बौद्धकालिक रूप में है, की इसमें चर्चा है।[२३९]

(६) व्याकरण की उस शब्दावली, जिसका विकास सूत्र-काल में हुआ, का यहाँ उल्लेख है। धातु, प्रतिपदिक, विभक्ति, प्रत्यय विकार, विकारी, स्थानानु प्रदान–ऐसे ही कुछ शब्द हैं।[२४०] 'अव्यय' की वह परिभाषा भी प्राप्त होती है, जो अद्यावधि प्रचलित है–'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्।'

(७) ऋषियों–वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि, गौतम, भारद्वाज, गुंगु, अगस्त्य, कश्यप प्रभृति–के आचार्यों के आश्रमों के रूप में विपाशा नदी, वसिष्ठ शिला,[२४१] प्रभव, गुंगुवास, अगस्त्यतीर्थ, कश्यपतुङ्ग इत्यादि भौगोलिक महत्त्व के स्थानों का उल्लेख है।[२४२]

(८) जनपदों में कुरु, पाञ्चाल, अङ्ग, मगध, काशी, कौशल, शाल्व, मत्स्य, सवश, उशीनर और वत्स के नाम दिये गये हैं।[२४३]

२३५. वही १.२.२१।
२३६. वही १.१.७।
२३७. वही १.१.१०।
२३८. वही १.२.८।
२३९. वही १.१.२८।
२४०. वही १.१.२५-२७।
२४१. पं० भगवद्दत्त के अनुसार वसिष्ठशिला आधुनिक व्यासकुण्ड और कुल्लु के पास के स्थान हैं–वैदिक वाङ्मय का इतिहास (ब्राह्मण ग्रन्थ), पृष्ठ २९, १९७४ ई०।
२४२. गोपथ ब्राह्मण १.२.८।
२४३. वही १.२.१०।

(९) राजाओं में परीक्षित पुत्र ज़नमेजय तथा सार्वभौम राजा यौवनाश्व मान्धाता के नामों का उल्लेख है।[२४४]

(१०) 'स्वाहा' की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए गोपथ ब्राह्मण ने उसको लामगायनों को सगोत्रीय बतलाया है।[२४५] ये लामगायन अन्यत्र सामवेद की शाखाओं के प्रसंग में उल्लिखित हैं। निष्कर्ष यह कि अपनी अनेक विलक्षणताओं के कारण गोपथ ब्राह्मण समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों के मध्य विशेष महत्त्व का आस्पद है।

ब्राह्मण ग्रन्थ : एक समग्र मूल्याङ्कन

उपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थों में से प्रत्येक का पृथक्-पृथक् आकलन करने के अनन्तर यह निष्कर्ष स्वत: है कि इतिहास, धर्म, संस्कृति, प्राचीन विज्ञान, सृष्टि-प्रक्रिया, आचार-दर्शन, आख्यायिकाओं और भाषाशास्त्रीय तत्त्वों की दृष्टि से यह विशाल साहित्य भारतीय वाङ्मय की विशिष्ट शेवधि है।

शबरस्वामी,[२४६] पितृभूति, शंकराचार्य,[२४७] भट्ट कुमारिल,[२४८] भवस्वामी, देवस्वामी,[२४९] विश्वरूप[२५०], मेधातिथि,[२५१] कर्क, धूर्तस्वामी, देवत्रात, वाचस्पति मिश्र, राजशेखर,[२५२] रामानुज, उव्वट, मस्करी[२५३] और सायणाचार्य[२५४] सहित सभी महान् आचार्यों और भाष्यकारों ने मन्त्र-संहिताओं के साथ ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेदरूप में स्वीकार किया है। आधुनिक युग में, स्वामी दयानन्द और उनके आर्य-समाज में दीक्षित विद्वानों ने, अवश्य, उन्हें वेद न मानकर वेद-व्याख्यानग्रन्थ भर माना है। इन विचारकों की दृष्टि में पशु-हिंसा और कहीं-कहीं यागगत अश्लील कृत्यों का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों को अपौरुषेय वेद की श्रेणी में सम्मिलित करने में बाधक हैं। इस विवाद के उल्लेख के बिना भी यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि इन ग्रन्थों को मन्त्र-संहिताओं की तुलना में वेद नहीं तो 'वेदकल्प' की मान्यता तो मिलनी ही चाहिए। आरण्यक और अधिकांश उपनिषद्ग्रन्थ ब्राह्मणग्रन्थों के ही अन्तिम भाग हैं। भारतीय दर्शन का विशाल प्रासाद उपनिषदों की ही आधार-भित्ति पर निर्मित है। ब्रह्मसूत्र, गीता और अन्य आस्तिक दार्शनिक सूत्र-ग्रन्थ पग-पग पर इनके प्रामाण्य पर अवलम्बित हैं।

२४४. वही।
२४५. वही १.३.१६।
२४६. मन्त्राः ब्राह्मणञ्च वेदः-मीमांसा-शाबरभाष्य २.१.३३।
२४७. वेदानुवचनेन-मन्त्रब्राह्मणाध्ययने-बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य ४.४.२२।
२४८. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद इति नामधेयंषडङ्गमेक इति-तन्त्रवार्तिक १.३.१०।
२४९. विष्णुगूढ़ भट्टोपाध्याय-कृत 'सिद्धान्तविवृति'।
२५०. वेदसंहिता मन्त्रब्रह्मणमित्यर्थः-याज्ञवल्क्यस्मृति-भाष्य।
२५१. वेदशब्देनर्ग्यजुः सामानि ब्राह्मणसंहितान्युच्यन्ते-मनुस्मृति (२.६) पर भाष्य।
२५२. श्रुतीनां साङ्गशाखानामितिहासपुराणयोः-काव्यमीमांसा।
२५३. वेदो मन्त्रब्राह्मणाख्यो मन्त्रराशिः।
२५४. मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः-तैत्तिरीय संहिता भाष्योपक्रमणिका।

ब्राह्मणग्रन्थों की सर्वाधिंक उपादेयता यज्ञ-संस्था के उद्भव और विकास को समझने की दृष्टि से है। यज्ञों के स्वरूप और सूक्ष्मातिसूक्ष्म कार्य-कलाप की कार्य-कारण मीमांसा ब्राह्मणग्रन्थों की अपनी विशिष्ट उपलब्धि है। यज्ञ-संस्था वैदिक धर्म की धुरी है। शबर स्वामी ने याग के अनुष्ठाता को ही धार्मिक कहा है।[२५५] सम्पूर्ण वैदिक मन्त्रराशि (आम्नाय) को क्रियार्थक सिद्ध करने में ही ब्राह्मण ग्रन्थों और पूर्वमीमांसा ने अपनी सार्थकता समझी है। एक दिन से लेकन सहस्र संवत्सर-साध्य यागों के विस्तृत विधि-विधान की प्रस्तुति में ब्राह्मण ग्रन्थों के योगदान का पूर्ण आकलन दुःसाध्य ही है। आज श्रौतयागों के सम्पादन का वातावरण भले ही न हो, लेकिन युग विशेष में उनके प्रचुर प्रचलन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आज भी, विज्ञान की मान्यताओं के सन्दर्भ में उनकी उपादेयता को प्रबुद्ध वर्ग स्वीकार कर ही रहा है। कालान्तर से, यज्ञों के द्रव्यात्मक रूप के साथ ही स्वाध्याय और जप-यज्ञ की अवधारणाएँ भी सम्मिलित हो गईं। समय के परिवर्तन के साथ ही, अनेक वैदिक यज्ञों में तान्त्रिक क्रियाओं का समावेश भी होता रहा। ब्राह्मणग्रन्थ इन सभी परिवर्तनों के साक्षी हैं।

गंगा, यमुना की अन्तर्वेदी और सरस्वती के तटों पर निवास करने वाले जन-समुदाय की सम्पूर्ण धार्मिक आस्थाओं की संचिकाएँ हैं ब्राह्मण ग्रन्थ। धर्म का यज्ञ-यागात्मक स्वरूप आज सरस्वती की धारा के समान ही इंगितवेद्य हो चुका है। विद्वानों का विचार है कि भक्ति आन्दोलन की प्रबलता ने भी व्ययसाध्य यज्ञों के सम्पादन के स्थान पर अन्य क्रियाओं को प्रोत्साहन दिया। धर्म के द्वितीय स्वरूप जिसका निर्माण स्वाध्याय, मन्त्र-जप, तीर्थ-दर्शन और व्रत-उपवासों से हुआ है, को भी ब्राह्मणग्रन्थों में अभिव्यक्ति मिली। गंगा की निर्मल धारा के समान धर्म का यह रूप आज भी जन मानस का सबसे बड़ा सम्बल है। धर्म के तृतीय रूप में टोने-टोटके, अभिचार कृत्य और झाड़-फूंक आते हैं। यह समाज के निम्नवर्ग में अत्यन्त प्राचीन काल से ही प्रचलित रहा है। यमुना की नील-शबल जलराशि से इसकी समानता प्रतीत होती है। अथर्ववेद के अन्तर सामविधान और षड्विंश ब्राह्मण प्रभृति ब्राह्मण ग्रन्थों ने इन धार्मिक आस्थाओं को भी ऋचाओं और सामों की उदात्तता से मण्डित करने की चेष्टा की। ब्राह्मण ग्रन्थों में विद्यमान इस त्रिविध स्वरूप का ही उपबृंहण कालान्तर से स्मृतियों तथा इतिहास और पुराण-साहित्य में हुआ।

प्राचीन भारतीय इतिहास, भूगोल और आचार-व्यवहार की दृष्टि से भी ब्राह्मण ग्रन्थों की उपादेयता असन्दिग्ध है।

महर्षि यास्क ने 'निरुक्त' में जिस 'धात्वर्थवाद' को पल्लवित किया, उसका बीजारोपण ब्राह्मणों में ही हो चुका था।

सम्प्रति मैक्समूलर और उनके अनुयायियों की वह धारणा निर्मूल सिद्ध हो चुकी है, जिसके अनुसार ब्राह्मणग्रन्थों में कलात्मक चेतना के अवशेष नहीं हैं।

२५५. यो हि यागमनुतिष्ठति, त धार्मिक इति समाचक्षते। यश्च यस्य कर्त्ता, स तेन व्यपदिश्यते, यथा पाचको लावक इति। तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति, स धर्मशब्देन उच्यते। न केवलं लोके, वेदेऽपि यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् (ऋ० सं० १०.९०.१६) इति यजतिशब्दवाच्यमेव धर्मं समामनन्ति-मीमांसाशाबर भाष्य।

ब्राह्मणग्रन्थों के गम्भीर अनुशीलन से अब यह प्रोद्भासित हो चुका है कि अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से ब्राह्मणग्रन्थों में उत्कृष्ट साहित्यिक सौष्ठव सन्निहित है। इनकी अभिव्यक्ति-भंगिमाओं की रमणीयता पाठक हृदय को पुलक-पल्लवित कर देती है।

ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन यद्यपि काव्यात्मक सौन्दर्य के उन्मीलन-हेतु नहीं हुआ है और उनका प्रमुख प्रतिपाद्य भी काव्य नहीं, याग ही है, तथापि इनके रचयिताओं का अन्त:करण नि:सन्देह कलात्मक चेतना से अनुप्राणित रहा है। याग के सुनिश्चित व्यापारों की प्रस्तुति करते समय भी उन्होंने कल्पना-प्रवणता का परिचय दिया है। सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थों को, इस सन्दर्भ में, निदर्शनरूप में रखा जा सकता है जिनमें स्तोमों और विष्टुतियों की योजना करते हुए केवल दृष्ट और अदृष्ट पुण्य-लाभ की ही दृष्टि नहीं रही है। उनके सम्मुख स्तोत्रक्लृप्ति के सन्दर्भ में यह दृष्टि भी स्पष्ट रूप से रही है कि गानों की प्रस्तुति में कलात्मकता रहे, परिवेश श्रुति-मधुर हो उठे, पुनरुक्ति न हो और क्रियमाण साम-गान सम्पूर्ण वातावरण को सरस बना दे। इस सन्दर्भ में 'जामि' और 'यातयामता' सदृश शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनका अभिप्राय है कि एक ही गान की पौन: पुन्येन उसी तारतम्य में, उसी स्वर-मण्डल में आवृत्ति से अप्रिय और अरुचिकर वातावरण हो जाता है। इसके परिहार के लिए ब्राह्मणग्रन्थकारों ने निरन्तर सजगता रखी है। साम-गान के मध्य में वीणा-वादन की झनकार और नृत्य का विधान भी इसी दृष्टि से है।

ब्राह्मणग्रन्थों में रस-निष्पत्ति और भाव-व्यंजना के स्थल भले ही पुष्कल न हों, किन्तु मानवीय मनोभावों की ब्राह्मण ग्रन्थकारों को गहरी पहचान है। अर्थवादों का वैविध्यपूर्ण वितान वस्तुत: मानवीय मनोविज्ञान की आधार-शिला पर ही प्रतिष्ठित है। मनुष्य के अन्तर्तम में निहित वासनाओं, कामनाओं और आकांक्षाओं को समझे बिना प्रशस्ति या निन्दा के माध्यम से याग की प्रेरणा ही नहीं उत्पन्न की जा सकती। अतएव चेतना के निगूढ़ स्तरों में सुप्त अथवा अर्धसक्रिय संस्कारों से अनुस्यूत विभिन्न कामनाओं–प्रिय पत्नी, वशंवद पुत्र, सामाजिक प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य, अप्रिय व्यक्तियों और शत्रुओं के विनाश, मरणोत्तर सुखद जीवन और अन्त में वासनाओं के उपशम–को ध्यान में रखकर ही अर्थवाद का समानान्तर संसार ब्राह्मण ग्रन्थकारों ने रचा है। साहित्य में स्थायी भावों की योजना जिन मूल मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों–राग, क्रोध, भय, विस्मय, घृणा और विराग–के आधार पर की गई है, उनकी ब्राह्मण ग्रन्थकारों को गहरी प्रतीति है।

काव्यात्मक रमणीयता का दूसरा पक्ष अभिव्यक्तिमूलक है, जिसके सन्दर्भ में, ब्राह्मणग्रन्थों में लाक्षणिकता, उपमा और रूपक-विधान, पदावृत्ति तथा अक्षरावृत्ति जन्म लालित्य एवं संश्लिष्ट प्रस्तुति मुख्यत: दिखलाई देती है। इनके आलोक में ब्राह्मणों के प्रतिपाद्य को प्रभावोत्पादक सम्प्रेषणीयता प्राप्त हुई है।

ब्राह्मणग्रन्थों में विद्यमान लाक्षणिक प्रवृत्ति की ओर सर्वप्रथम हमारा ध्यानाकर्षण निरुक्तकार यास्क ने किया। उनका कथन है–'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि' (निरुक्त ७.२४)। अभिप्राय यह कि ब्राह्मण ग्रन्थों में, देवताओं के विषय में, भक्ति अथवा गुण-कल्पना के माध्यम से बहुविध तात्त्विक अन्वेषण हुआ है। अर्थवादों के तीन भेद हैं–गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। इनमें से गुणवाद लक्षणा के अत्यन्त निकट है। परवर्ती मीमांसकों और काव्यशास्त्र के आचार्यों ने दोनों को एक ही मानकर विवेचन किया है। गुणवाद के सन्दर्भ में ब्राह्मणग्रन्थों में प्राप्त उदाहरण इस

प्रकार हैं–'स्तेनं मन:', 'आदित्यो यूप:', 'श्रृणोत ग्रावाण:' इत्यादि। इनकी सीधे-सीधे अभिधाशक्ति से व्याख्या नहीं की जा सकती। 'पत्थर सुनें !'–यह कथन आपातत: उन्मत्त प्रलाप के सदृश प्रतीत होता है। इसी कारण इस प्रकार के वाक्यों में मीमांसकों ने लक्षणा का आश्रय लिया है, जिसका अभिप्राय प्रातरनुवाक की मार्मिकता का द्योतन है। जिसे प्रस्तर भी तन्मयता से सुनते हैं, फिर विद्वानों और सहृदयों की बात ही क्या! नदी की स्तुति के सन्दर्भ में प्राप्त विशेषणों–'चक्रवाकस्तनी', 'हंस-दन्तावली', 'काशवस्त्रा' और 'शैवालकेशिनी' की व्याख्या शाबरभाष्य में भी लाक्षणिक दृष्टि से की गई है। उनका कथन है–'असतोऽर्थस्य अभिधायके वाक्ये गौणस्य अर्थस्य उक्तिर्द्रष्टव्या।'[२५६]

साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में, लक्षणा-निरूपण के प्रसंग में, आचार्यों ने इसीलिए 'सिंहो माणवक:', 'गौर्वाहीक:' प्रभृति लौकिक उदाहरणों के साथ ही 'यजमान: प्रस्तर:', आदित्यो यूप:' प्रभृति ब्राह्मणग्रन्थोक्त उदाहरण उन्मुक्तता से दिये हैं।

उपमा और रूपकों के विधान से भी ब्राह्मण ग्रन्थों की सम्प्रेषणीयता अत्यन्त प्राणमयी हो उठी है। षड्विंश ब्राह्मण से उपमा के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं :

(१) विधि-विधान से परिचय प्राप्त किये बिना होम करना वैसे ही है, जैसे अंगारों को हटाकर राख में आहुति डालना :

स य इदमविद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मानि जुहुयात् तादृक् तत् स्यात्।[२५७]

(२) जैसे क्षुधित बालक माता के पास जाते हैं, वैसे ही कष्ट में पड़े प्राणी भी अग्निहोत्र करते हैं।[२५८]

ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार[२५९] यज्ञ में अध्वर्यु प्रमुख ऋत्विक् वैसे ही बहिष्पवमान में प्रसर्पण करते हैं, जैसे अहेरी मृग को पकड़ने के लिए आगे बढ़ता है–मन्द-मन्द गति से बिना आहट किये।

ब्राह्मण ग्रन्थों में रूपक-विधान की उपादेयता पर प्रकाश डाला है मीमांसकों ने। मीमांसासूत्र 'अभिधानेऽर्थवाद:' (१.२.४६) की व्याख्या के प्रसंग में कुमारिल भट्ट का कथन है कि रूपक के द्वारा यज्ञ की स्तुति अनुष्ठान-काल में ऋत्विकों और यजमानों तथा अन्य समवेत व्यक्तियों में भी उत्साह भाव का संचार करती है :

रूपकद्वारेण याग-स्तुति: कर्मकाले उत्साहं करोति।

ब्राह्मण ग्रन्थों में रूपकों की विशाल राशि विद्यमान है। सर्वाधिक रूपक नर-नारी सम्बन्ध पर आधृत हैं। लौकिक जीवन में मिथुन भाव के प्रति मानव-मन में सहज और स्वाभाविक आकर्षण देखा जाता है। अदृष्ट और अपूर्व की अवधारणाओं को कुछ क्षणों के लिए परे रखकर यदि विचार किया जाये, तो कहा जा सकता है कि मानवीय अभिरुचि को ध्यान में रखकर ही

२५६. ऋग्भाष्यभूमिका (सायण) में उद्धृत।

२५७. षड्विंशब्राह्मण ५.२४.१।

२५८. वही ५.२४.५।

२५९. ताण्ड्य ब्राह्मण ६.७.१०।

ब्राह्मणग्रन्थकारों ने युग्मजीवन के रूपकों को याग-क्रिया के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। ताण्ड्य ब्राह्मण (२५.१८०) में एक बहुत ही लम्बा रूपक मिलता है। तपस्या, सत्य, ओज, यश, प्राणशक्ति, आशा, बल, वाक् आदि की इस विश्व-सृष्टि में क्या भूमिका है, इसे विश्वस्रष्टा देवों के द्वारा अनुष्ठीयमान यागात्मक रूपक के माध्यम से यों व्यक्त किया गया है–तदनुसार विश्व सृष्टि एक महायज्ञ है, जिसमें तपस्या गृहपति, ब्रह्म (वैदिक ज्ञान राशि) ब्रह्मा, इरा गृहपत्नी, अमृत उद्गाता, भूतकाल प्रस्तोता, भविष्यकाल प्रतिहर्त्ता, ऋतुएँ उपगाता, आर्त्तव वस्तुएँ सदस्य, सत्य होता, ऋत मैत्रावरुण, ओज ब्रह्मणाच्छंसी, त्विषि और अपचिति क्रमशः नेष्टा और पोता, यश अच्छावाक, अग्नि अग्नीत्, भग ग्रावस्तुत, अर्क उन्नेता, वाक् सुब्रह्मण्य, प्राण अध्वर्यु, अपान प्रतिप्रस्थाता, दिष्टि विशास्ता, बल ध्रुवगोप, आशा हविष्य, अहोरात्र इध्मवाह और मृत्यु शमितास्वरूप हैं। आशारूप हविष्य पर चलने वाले जीवन-यज्ञ की कितनी प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति है! इस प्रकार के रूपकों की रमणीय सृष्टि ब्राह्मणग्रन्थकारों की साहित्यिक प्रतिभा के प्रति हमें आश्वस्त करने के लिए पर्याप्त है।

ब्राह्मण-साहित्य का गम्भीर अनुशीलन इसलिए भी आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि वह वैदिक और लौकिक साहित्य के मध्य सेतु-स्वरूप है।

चतुर्थ अध्याय

आरण्यक साहित्य

पृष्ठ भूमि

स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म के प्रति आकर्षण स्वभावत: उत्पन्न हो जाता है। श्रौतयागों के सन्दर्भ में भी, जनमानस में, विशेष रूप से प्रबुद्ध वर्ग में, इसी प्रकार का आकर्षण शनै: शनै: उत्तरोत्तर अभिवृद्ध हुआ। यज्ञ के द्रव्यात्मक स्वरूप के बहुविध स्वरूप-विस्तार में, जब उसका वास्तविक मर्म ओझल होने लगा, तो यह आवश्यकता गहराई से अनुभव की गई कि श्रौतयागों की आध्यात्मिक एवं प्रतीकात्मक व्याख्या की जाए। ब्राह्मण ग्रन्थों के उत्तरार्द्ध में, इसी दृष्टिकोण को प्रधानता प्राप्त हुई और उसमें वैदिक यागों के अन्तर्तम में निहित गम्भीर अर्थवत्ता, वास्तविक मर्म और आध्यात्मिक, रहस्यों के सन्धान के लिए जिस चिन्तन को आकार मिला, उसी का नामकरण आरण्यक-साहित्य के रूप में हुआ।

आरण्यकग्रन्थ ब्राह्मणग्रन्थों एवं उपनिषदों के मध्य की कड़ी हैं। उपनिषदों में जिन आध्यात्मिक तत्त्वों को हम अत्युच्च शिखर पर आरूढ़ देखते हैं, उनकी पृष्ठभूमि आरण्यकों में ही निहित है। वेदोक्त सामाजिक व्यवस्था में, आश्रम-प्रणाली का विशेष महत्त्व है। ब्राह्मणग्रन्थोक्त श्रौतयागों के अनुष्ठान के अधिकारी गृहस्थाश्रमी माने गये हैं। इसके पश्चात् वानप्रस्थाश्रम में प्रविष्ट व्यक्तियों के लिए, वैदिक वाङ्मय में, आरण्यक-साहित्य विशेष उपादेय समझा गया है। पचास वर्ष से अधिक अवस्था वाले ऐसे व्यक्तियों में जो श्रौतयागों के स्थूल द्रव्यात्मक स्वरूप से सुपरिचित थे, अब इस स्वरूप के वास्तविक मर्म की जिज्ञासा स्वभावत: अधिक थी-इन्हीं की बौद्धिक जिज्ञासाओं के शमन के लिए आरण्यक साहित्य का प्रणयन हुआ।

नामकरण और महत्त्व

'आरण्यक' नाम से स्पष्ट है कि इन ग्रन्थों का घनिष्ठ सम्बन्ध अरण्य अथवा वन से है। अरण्यों के एकान्त वातावरण में, गम्भीर आध्यात्मिक रहस्यों के अनुसन्धान की चेष्टा स्वाभाविक ही नहीं, सुकर भी थी। आरण्यकों में सकाम कर्मानुष्ठान तथा उसके फल के प्रति आसक्ति की भावना विद्यमान नहीं दिखलाई देती। इसी कारण इनका आध्यात्मिक महत्त्व ब्राह्मणग्रन्थों की अपेक्षा अधिक है। उपनिषदों के तत्त्वज्ञान को समझने के लिए भी आरण्यकों का पहले अनुशीलन आवश्यक है। उपनिषदों में बहुसंख्यक ऐसे प्रसंग हैं, जिनके यथार्थ परिज्ञान के लिए उनके उन मूलाधारों

को जानना आवश्यक है; जो आरण्यकों में निहित हैं। भाषा की दृष्टि से भी आरण्यक-साहित्य महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इनका प्रणयन वैदिकी और लौकिक संस्कृत की मध्यवर्तिनी भाषा में हुआ है। कर्मकाण्ड की दृष्टि से ब्राह्मण एवं आरण्यक परस्पर अत्यधिक सम्बद्ध हैं, इसलिए 'बौधायन धर्मसूत्र' में, आरण्यकों को भी 'ब्राह्मण' आख्या से संयुक्त किया गया है :

विज्ञायते कर्मादिष्वेतैर्जुहुयात् पूतो देवलोकान्।
समश्नुते इति हि ब्राह्मणमिति हि ब्राह्मणम्। (३.७.७.७.१६)।

तैत्तिरीयारण्यक भाष्य की भूमिका में सायणाचार्य का कथन है कि अरण्यों अर्थात् वनों में सम्पन्न हुआ :

अरण्याध्ययनादेतदारण्यक मितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते।। (श्लोक षष्ठ)

ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करने वाला ही इन ग्रन्थों के अध्ययन का अधिकारी है :

'एतदारण्यकं सर्वं नाव्रती श्रोतुमर्हति'
(सायण-कृत तैत्तिरीयारण्यक-भाष्य भूमिका, नवम श्लोक)

महाभारत में कहा गया है कि जैसे दधि से नवनीत, मलयगिरि से चन्दन और औषधियों से अमृत प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार वेदों से आरण्यक ले लिया जाता है :

नवनीतं यथा दध्नो मलयाच्चन्दनं यथा।
आरण्यकं च वेदेभ्य औषधिभ्योऽमृतं यथा। (३३१.३)

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'आरण्यक' शब्द 'अरण्य' में 'वुञ्' (भवार्थक) प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है–इस प्रकार इसका अर्थ है अरण्य में होने वाला–'अरण्ये भवमिति आरण्यकम्।' बृहदारण्यक में भी इसी का समर्थन किया गया है–'अरण्येऽनूच्यमानत्वात् आरण्यकम्।'

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि आरण्यकों का अध्ययन सामान्यत: वनों में ही किया जाता था, किन्तु यह अनिवार्यता नहीं थी। तैत्तिरीयारण्यक के कुछ अंशों से विदित होता है कि वैदिक युग में, वनों के साथ ग्रामों में भी पावन अन्त:करण से इनका अध्ययन हो सकता था–इस दृष्टि से दिन और रात का भी कोई बन्धन नहीं था[1]–यही नहीं, चलते हुए, बैठे हुए, लेटे हुए तथा निद्रोन्मुख स्थितियों में भी कोई इनका अध्ययन कर लेता था[2]–इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ में, आरण्यकों का अनुशीलन सर्वत्र किया जाता था, किन्तु कालान्तर से इन्हें वनों में ही पढ़े जाने को अधिक श्रेयस्कर माना जाने लगा।

१. ग्रामे मनसा स्वाध्यायमधीयीत दिवा नक्तं उतारण्येऽबल उत वाचोत तिष्ठन्नुत व्रजन्नुतासीन उत शयानोऽधीयीतैव स्वाध्यायम्-तैत्ति० आर० २.१२.२।

२. य एवं विद्वान् महारात्र उषस्युदिते व्रजंस्तिष्ठन्नासीन: शयानोऽरण्ये ग्रामे वा यावत्तरसं स्वाध्यायमधीतेसर्वांल्लोकां जयति सर्वांल्लोकाननृणोऽनुसञ्चरति–वही २.१५.१।

पाश्चात्य विद्वानों का मन ब्राह्मणग्रन्थों में यद्यपि कम रमा है, किन्तु उन्होंने भी आरण्यकों की प्रशंसा उन्मुक्त हृदय से की है। ओल्डेनबर्ग और मैक्डॉनेल जैसे मनीषी इन पवित्र ग्रन्थों की गरिमा से पूर्णतया आश्वस्त प्रतीत होते हैं।[३]

आरण्यकों का ब्राह्मणों के साथ सम्बन्ध–आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों की ही शृङ्खला में, वस्तुतः उनके उत्तरार्द्ध भाग में संकलित हैं। कर्मकाण्ड के साथ दोनों का ही सम्बन्ध है, इसलिए ये एक ही परम्परा से अनुस्यूत हैं। राजा जनक के द्वारा सर्वश्रेष्ठ तत्त्ववेत्ता को १०० गायें देने की आख्यायिका शतपथ ब्राह्मण के साथ ही बृहदारण्यक में भी उपलब्ध होती है। बृहदारण्यक में केवल इतनी विशिष्टता है कि उसमें याज्ञवल्क्य और तत्कालीन अन्य तत्त्वचिन्तकों के मध्य हुआ दार्शनिक तत्त्वों पर विशद विचार-विमर्श भी सम्मिलित है। इससे स्पष्ट है कि आरण्यक भाग ब्राह्मणग्रन्थों पर निर्भर है। इस सन्दर्भ में, इतना और ज्ञातव्य है कि आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मणग्रन्थों के विशद तथा दार्शनिक स्वरूप के परिचायक हैं। डॉ॰ राधाकृष्णन् के अनुसार ब्राह्मणग्रन्थों में उन कर्मकाण्डों का विवेचन है, जिनका विधान गृहस्थ के लिए था, किन्तु वृद्धावस्था में जब वह वनों का आश्रय लेता है, तो कर्मकाण्ड के स्थान पर किसी अन्य वस्तु की उसे आवश्यकता होती थी और आरण्यक उसी विषय की पूर्ति करते हैं।[४] आरण्यकों का समावेश भी ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तर्गत है, इसे हम आगे देखेंगे। आरण्यकों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय भी याज्ञिक कर्मकाण्ड के दार्शनिक पक्ष का उद्घाटन है। दुर्गाचार्य ने निरुक्त-भाष्य (१.४) में 'ऐतरेय के रहस्य ब्राह्मणे' कह कर आरण्यकों के लिए 'रहस्य ब्राह्मण' नाम का प्रयोग किया है। गोपथ ब्राह्मण (२.१०) में भी 'रहस्य' शब्द का व्यवहार इस सन्दर्भ में दिखलाई देता है।

आरण्यकों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय

आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार आरण्यक यज्ञ के गूढ़ रहस्य का प्रतिपादन करते हैं। 'रहस्य' शब्द से अभिहित की जाने वाली ब्रह्मविद्या की भी इसमें सत्ता है। आरण्यकों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्राणविद्या तथा प्रतीकोपासना है। वे प्राणविद्या को अपनी अनोखी सूझ नहीं बतलाते, प्रत्युत ऋग्वेद के मन्त्रों (६.१६४.३१; १.१६४.३८) को अपनी पुष्टि में उद्धृत करते हैं, जिससे प्राणविद्या की दीर्घकालीन परम्परा का इतिहास मिलता है।[५]

३. A further development are the Aranyakas or 'forest treatises' the later age of which is indicated both by the position they occupy at the end of the Brahmanas and by theosophical character. These works are generally represented as meant for the use of pious men who have retired to the forest and nolonges perform sacrifices. According to the view of Prof. Oldenberg they are, however rather treatise, which, owing to the superior to mystic sanctity of their contents, were intended to be communicated to the pupil by his teacher—Macdonell, *A History of Sanskrit Literature*, p. 172-173 pp

४. भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ ५९।

५. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ॰ २३४-३५, (पंचम संस्करण)।

उपनिषदों के समान आरण्यक ग्रन्थ भी एक ही मूल सत्ता को मानते हैं, जिसका विकास इस सृष्टि के रूप में हुआ है–विभिन्न वस्तुओं में एक ही तत्त्व कैसे अनुस्यूत है, इसका निरूपण ऐतरेयारण्यक में इस प्रकार हुआ है :

'एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगा एतमस्यामेतं दिव्येतं वायावेतमाकाश एतमप्स्वेतमोषधीष्वेतं वनस्पतिष्वेतं चन्द्रमस्येतं नक्षत्रेष्वेतं सर्वेषु भूतेष्वेतमेव ब्रह्म इत्याचक्षते।'

तैत्तिरीय आरण्यक में काल का निदर्शन बहुत सुन्दरता से किया गया है। काल निरन्तर प्रवहमान है। अखण्ड संवत्सर के रूप में हम इसी पारमार्थिक काल के दर्शन करते हैं। व्यावहारिक काल अनेक तथा अनित्य है। व्यवहार की दृष्टि से उसके अनेक भाग मुहूर्त्त, दिन, रात, पक्ष, मास इत्यादि रूपों में किये जाने पर भी वस्तुतः वह एकरूप अथवा एकाकार ही रहता है। इस सन्दर्भ में नदी का दृष्टान्त दिया गया है, जो अक्षय्य स्रोत से प्रवाहित होती है, जिसे नाना सहायक नदियाँ आकर पुष्ट बनाती हैं, तथा जो विस्तीर्ण होकर कभी नहीं सूखती–यही स्थिति काल के सन्दर्भ में संवत्सर की है :

नदीव प्रभवात् काचिदक्षय्यात् स्यन्दते यथा।
तां नद्योऽभिसमायान्ति सोरुः सती न निवर्तते।।
एवं नाना समुत्थानाः कालाः संवत्सरं श्रिताः। (तैत्ति॰ आर॰ १.२)

प्राणविद्या के महत्त्व का निरूपण आरण्यकों में विशेष रूप से है। ऐतरेय आरण्यक का यह विशिष्ट प्रतिपाद्य है। तदनुसार प्राण इस विश्व का धारक है, प्राण की शक्ति से जैसे यह आकाश अपने स्थान पर स्थित है, उसी प्रकार सर्वोच्च प्राणी से लेकर चींटी तक समस्त प्राणी इसी प्राण के द्वारा प्रतिष्ठित हैं :

सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, तद्यथायमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्' (ऐत॰ आर॰ २.१.६)

प्राण ही आयु का कारण है, कौषीतकि उपनिषद् से भी इसकी पुष्टि होती है :

यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः।

अन्तरिक्ष और वायु से प्राण का सम्बन्ध पितृवत् है–प्राण ने ही दोनों की सृष्टि की है–इसलिए जैसे पुत्र अपने सत्कर्मों से पिता की सेवा करता है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष और वायु भी प्राण की सेवा में संलग्न रहते हैं :

प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च। अन्तरिक्षं वा अनुचरन्ति अन्तरिक्षमनुशृण्वन्ति। वायुरस्मै पुण्यं गन्धमावहति। एवमेतौ प्राणपितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं वायुश्च (ऐत॰ आर॰)

सभी ऋचाएँ, यहाँ तक कि सभी वेद और ध्वनियाँ प्राण में ही सन्निहित् हैं :

सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषाः एकैव व्याहृतिः
प्राण एव प्राण ऋच इत्येवं विद्यात् (ऐत॰ आर॰ २.२.२)

प्राण के विभिन्न रूपों के ध्यान से ध्याता को विभिन्न फलों की प्राप्ति होती है। अहोरात्र के

रूप में प्राण कालात्मक है। प्रातः काल प्राण का प्रसरण दिखलाई पड़ता है। सायंकाल इन्द्रियों में जो संकोच आता है, वह भी प्राण के कारण ही है। हिरण्यदन नामक ऋषि ने प्राण की देवात्मक रूप में उपासना की थी। ऐतरेय आरण्यक में ही प्राणों की ऋषिरूप में भी उपासना निर्दिष्ट है। गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ प्रभृति सभी ऋषि प्राण ही हैं। 'गृत्समद' नाम में विद्यमान 'गृत्स' और 'मद' का, इस सन्दर्भ में, पृथक्-पृथक् निर्वचन करते हुए कहा गया है कि प्राण ही शयन के समय वक्, चक्षु इत्यादि इन्द्रियों का निगरण करने के कारण 'गृत्स' है और रति-क्रिया के समय वीर्यस्खलन रूप 'मद' को उत्पन्न करने के कारण 'मद' कहलाता हैं इस प्रकार 'गृत्समद' का तात्पर्य है प्राण और अपान का संयोग। प्राण ही विश्वामित्र है, क्योंकि समस्त विश्व इस प्राण देवता का भोग्य होने के कारण मित्र है–'विश्वः मित्रं यस्य असौ विश्वामित्रः।' 'वामदेव' नामगत 'वाम' शब्द प्राण की वन्दनीयता, भजनीयता और सेवनीयता का द्योतक है। समस्त विश्व को पाप से बचाने के कारण अत्रि भी प्राण ही है–'सर्वं पाप्मनोऽत्रायत इति अत्रिः।' 'भरद्वाज' के सन्दर्भ में कहा गया है कि गतिसम्पन्न होने से मानव-देह 'वाज' है और प्राण इस शरीर में प्रवेश करके निरन्तर उसका भरण करता है। 'वसिष्ठ' भी प्राण ही है, क्योंकि इस शरीर में इन्द्रियों के निवास करने का कारण प्राण ही है। इस प्रकार ऋषि-भावना से प्राणोपासना का निर्देश आरण्यकों में अत्यन्त विस्तार से उपलब्ध होता है। मैत्रायणी आरण्यक में प्राण, अग्नि और परमात्मा शब्दों को समानार्थक बतलाया गया है–'प्राणोऽग्निः परमात्मा' (मै० आर० ६.९)।

ऐतिहासिक सन्दर्भों में उपादेय अनेक नवीन तथ्यों का परिज्ञान भी आरण्यकों से होता है। तदनुसार यज्ञोपवीत का सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक में है। वहाँ कहा गया है कि यज्ञोपवीत-धारण करके जो व्यक्ति यज्ञानुष्ठान करता है, उसका यज्ञ भली-भाँति स्वीकार किया जाता है–ऐसा यज्ञोपवीतधारी व्यक्ति जो कुछ भी पढ़ता है, वह यज्ञ ही है :

प्रसृतो ह वै यज्ञोपवीतिनो यज्ञोऽपसृतोऽनुपवीतिनो यत्किञ्च ब्राह्मणो यज्ञोपवीत्यधीते यजत एव तत्' (२.१.१)।

'श्रमण' शब्द का प्रयोग तैत्तिरीय आरण्यक में तपस्वी के अर्थ में हुआ है–कालान्तर से, बौद्ध-काल में, यह शब्द बौद्ध-भिक्षुओं का ज्ञापक बन गया :

वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभुवुस्तानृषयोऽर्थमायंस्ते निलायमचरंस्तेऽनुप्रविशुः कूष्माण्डानि तांस्तेष्वन्वविन्दञ्छ्रद्धया च तपसा च (२.७.१)।

इसी आरण्यक में एक सहस्र धुरों वाले, बहुसंख्यक चक्रों वाले तथा सहस्र अश्वों वाले एक विलक्षण रथ का वर्णन है।

काण्वशाखीय बृहदारण्यक में संन्यास का विधान स्पष्ट शब्दों में है। कहा गया है कि आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही कोई मुनि होता है। इसी ब्रह्मलोक की इच्छा से संन्यासी संन्यास धारण करते हैं :

'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एवमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (४.४.२२)।

ब्रह्म, आत्मा और पुनर्जन्म का इस आरण्यक में विशद वर्णन है।

मैत्रायणीय आरण्यक में आर्यावर्त के प्राचीन अनेक चक्रवर्ती राजाओं के नामों का उल्लेख है। शांखायन आरण्यक में भी अनेक प्राचीन जनपदों के नाम मिलते हैं।

आरण्यकों के प्रवचनकर्त्ता–अधिकांश आरण्यक ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तिम भाग हैं, इसलिए उन ब्राह्मणों के प्रवचन कर्त्ता ही, कतिपय अपवादों को छोड़कर, आरण्यकों के भी प्रवचनकर्त्ता हैं। उदाहरण के लिए ऐतरेय आरण्यक परम्परा के अनुसार, ऐतरेय ब्राह्मण का अन्तिम भाग है। इसलिए ऐतरेय ब्राह्मण के प्रवक्ता महिदास ऐतरेय को ही ऐतरेय आरण्यक (तृतीय आरण्यक तक) का भी प्रवचनकर्त्ता माना जाता है–इस प्रकार का उल्लेख भी ऐतरेय आरण्यक में है–'एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः' (२.१.८)। यद्यपि प्रो॰ कीथ इस उल्लेख को ही आधार मानकर महिदास को ऐतरेयारण्यक की रचना का श्रेय नहीं देते,[६] किन्तु अधिकांश विद्वान् उनसे अहसमत हैं।[७] इसलिए यह निश्चित है कि ऐतरेय आरण्यक के तृतीय आरण्यकान्त भाग के प्रवचनकर्त्ता महिदास ऐतरेय ही हैं–इनका विशद परिचय ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत दिया जा चुका है। ऐत॰ आर॰ के अन्तर्गत चतुर्थारण्यक के प्रवचनकर्त्ता आश्वलायन तथा पञ्चम के शौनक माने जाते हैं। ऐतरेयारण्यक के भाष्य में सायण की भी यही धारणा प्रकट हुई है :

अतएव पञ्चमे शौनकेनोदाहृताः।
ताश्च पञ्चमे शौनकेन शाखान्तरमाश्रित्य पठिताः।

शांखायन आरण्यक के द्रष्टा का नाम गुण शाङ्खायन है–इनके गुरु का नाम था कहोल कौषीतकि, जैसाकि इस आरण्यक के १५वें अध्याय में सुस्पष्ट उल्लेख है–'नमो ब्रह्मणे नम आचार्येभ्यो गुणाख्याच्छाङ्खायनादस्मभिरधीतं गुणाख्यः शाङ्खायनः कहोलात्कौषीतकेः।'

बृहदारण्यक के प्रवचनकर्त्ता, परम्परा से, महर्षि याज्ञवल्क्य माने जाते हैं, क्योंकि वही सम्पूर्ण शतपथ ब्राह्मण के प्रवक्ता हैं और बृहदारण्यक शतपथान्तर्गत ही है।

सायणाचार्य के अनुसार तैत्तिरीय आरण्यक के रूप में प्रख्यात कृष्णयजुर्वेदीय आरण्यक के द्रष्टा ऋषि कठ हैं–इस प्रकार इसे काठक आरण्यक के नाम से अभिहित किया जाना चाहिए :

कठेन मुनिना दृष्टं काठक परिकीर्त्यते।
सावित्रो नाचिकेतश्च चातुर्होत्रस्तृतीयकः।।
तुर्यो वैश्वसृजस्तद्वद् वह्नि रारुणकेतुकः।
स्वाध्यायब्राह्मणं चेति सर्वं काठकमीरितम्।।'

(भाष्योपक्रमणिका, १०-११ श्लोक)

मैत्रायणीय आरण्यक ही मैत्रायणीय उपनिषद् के रूप में प्रख्यात है। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण, सामवेद के अन्तर्गत, 'तलवकार आरण्यक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अन्त में कश्यप से गुप्त लौहित्य तक ऋषि-नामों की सुदीर्घशृङ्खला दी गई है।

६. ऐतरेय आरण्यक (कीथ-संपादित तथा अनूदित) पृ॰ २१०।
७. पं॰ भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास (ब्राह्मण खण्ड)।

आरण्यकों का देश-काल–आरण्यक ग्रन्थों का देश-काल वही है, जो ब्राह्मण ग्रन्थों का है। तैत्तिरीयारण्यक में गंगा-यमुना का तटवर्ती मध्यदेश अत्यन्त पवित्र तथा मुनियों का निवास बतलाया गया है :

नमो गङ्गायमुनयोर्मध्ये ये वसन्ति ते मे प्रसन्नात्मानश्चिरं जीवितं वर्धयन्ति नमा गङ्गायमुनयोर्मुनिभ्यश्च (तैत्ति॰ आर॰ २.२०)।

इसी आरण्यक में आगे कुरुक्षेत्र तथा खाण्डववन का वर्णन है, जिससे ज्ञात होता है कि इसका सम्बन्ध कुरु पाञ्चाल जनपदों से रहा है। शांखायन आरण्यक में उशीनर, मत्स्य, कुरु-पाञ्चाल और काशी तथा विदेह जनपदों का वर्णन है :

'अथ ह वै गार्ग्यो बालाकिरनूचानः संस्पृष्ट आस सोऽवसदुशीनरेषु स वसन्मत्स्येषु कुरुपाञ्चालेषु काशिविदेहेश्विति' (६.१)।

मैत्रायणीय आरण्यक में तत्कालीन भारत के अनेक प्रतापी सम्राटों के नाम मिलते हैं :

अथर किमेतैर्वा पदेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः। केचित् सुद्युम्न भूरिद्युम्न-इन्द्रद्युम्न-कुवलयाश्व-यौवनाश्व-वध्र्यश्व-अश्वपति-शशबिन्दु-हरिश्चन्द्र-अम्बरीषननक्तु-शर्याति-ययाति-अनरणि-अक्षसेनादयः' (मै॰ आर॰ ६.८)।

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि आरण्यक ग्रन्थों का प्रदेश प्राचीन भारत का प्रायः मध्यभाग है।

आरण्यकों की भाषा एवं शैली–आरण्यकों की भाषा सामान्यतः ब्राह्मणों के सदृश ही है। ऐतरेय आरण्यक में, अनेक स्थलों पर, ऐत॰ ब्राह्मणों के वाक्य भी ज्यों के त्यों उद्धृत हैं। प्रायः यह वैदिकी और लौकिक संस्कृत के मध्य की भाषा है। जैमिनीय शाखा के तलवकार आरण्यक की भाषा में अन्य आरण्यकों की अपेक्षा, अधिक प्राचीन रूप सुरक्षित हैं। शैली में वर्णनात्मकता अधिक है। मन्त्रों के उद्धरणपूर्वक अपने प्रतिपाद्य का निरूपण करने की शैली आरण्यक ग्रन्थों में प्रायः पाई जाती है। आरण्यकों के उन भागों में, जो आज उपनिषद् के रूप में प्रतिष्ठित हैं, संवादमूलक संप्रश्न शैली भी दिखलाई देती है।

उपलब्ध आरण्यकों का परिचय

सम्प्रति केवल छह आरण्यक ही उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद के दो आरण्यक हैं–ऐतरेय और शांखायन। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध बृहदारण्यक हैं जो काण्व और माध्यन्दिन दोनों शाखाओं में प्राप्य है। कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय और काठक शाखाओं का एक ही प्रतिनिधि आरण्यक है–तैत्तिरीयारण्यक। मैत्रायणीयारण्यक नाम से मैत्रायणी शाखा का आरण्यक पृथक् से उपलब्ध है। सामवेद की कौथुम शाखा में, छान्दोग्योपनिषद्' के अन्तर्गत आरण्यक भाग भी मिला हुआ है, किन्तु पृथक से उसका आरण्यक-रूप में अध्ययन प्रचलित नहीं है। विषयवस्तु की दृष्टि से, प्राणविद्या का भी उसमें विशद वर्णन है। तलवकार आरण्यक (जैमिनिशाखीय) का कौथुमशाखीय संपादित संस्करण ही है छान्दोग्योपनिषद्। अथर्ववेद का पृथक् से कोई आरण्यक

यद्यपि प्राप्त नहीं होता, लेकिन उससे सम्बद्ध गोपथ ब्राह्मण के पूर्वार्ध में बहुत-सी सामग्री ऐसी है, जो आरण्यकों के अनुरूप ही है।

ऐतरेय आरण्यक

इसमें पाँच अध्याय हैं–जो पृथक्-पृथक् आरण्यक ग्रन्थ के रूप में मान्य हैं। प्रथम आरण्यक में महाव्रत का वर्णन है, जो गवामयन संज्ञक सत्रयाग का उपान्त्य दिन माना जाता है। महाव्रत के अनुष्ठान में प्रयोज्य शस्त्रों की व्याख्या इसमें आध्यात्मिक और प्रतीकात्मक ढंग से की गई है। द्वितीय प्रपाठक (अथवा आरण्यक) के प्रथम तीन अध्यायों में उक्थ या निष्केवल्य तथा प्राणविद्या और पुरुष का वर्णन है। इस प्रपाठक के चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ अध्यायों में ऐतरेय उपनिषद् है। तृतीय प्रपाठक अथवा आरण्यक 'संहितोपनिषद्' के रूप में भी प्रसिद्ध है। इसमें संहिता, पद-क्रमपाठों तथा स्वर-व्यञ्जनादि के स्वरूप का निरूपण है। इस खण्ड में शाकल्य तथा माण्डूकेय प्रभृति आचार्यों के मतों का उल्लेख है। चतुर्थ आरण्यक में महानाम्नी ऋचाओं का संग्रह है। ये ऋचाएँ भी महाव्रत में प्रयोज्य हैं। पञ्चम आरण्यक अथवा प्रपाठक में महाव्रत के माध्यन्दिन सवन के निष्केवल्य शस्त्र का वर्णन है।

द्वितीय प्रपाठक के प्रारम्भ में कहा गया है कि वैदिक अनुष्ठान के मार्ग का उल्लंघन करने वाले पक्षी, पौधे तथा सर्प प्रभृति रूपों में जन्म लेते हैं और इसके विपरीत, वैदिक मार्ग के अनुयायी अग्नि, आदित्य, वायु प्रभृति देवों की उपासना करते हुए उत्तम लोकों को प्राप्त करते हैं।

ऐतरेयारण्यकगत प्राण-प्ररोचना का विवरण पहले दिया जा चुका है। पुरुष को प्रज्ञा-सम्पन्न होने के कारण इसमें विशेष गौरव प्रदान किया गया है–

'पुरुषे त्वेवाविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमो विज्ञातं विदति विज्ञातं पश्यति'

(ऐत० आर० २.३.२)।

ऐत० आर० में आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा गया है कि जो पुरुष सब प्राणियों में विद्यमान अश्रुत, अदृष्ट और अविज्ञात है, किन्तु जो श्रोता, मन्ता, द्रष्टा, विज्ञाता इत्यादि है, वही आत्मा है :

'स योऽतोऽश्रुतोऽगतोऽमतोऽनतोऽदृष्टोऽविज्ञातोऽनादिष्टः श्रोता मन्ता द्रष्टाऽऽदेष्टा घोष्टा विज्ञाता प्रज्ञाता सर्वेषां भूतानामान्तरपुरुषः स म आत्मेति विद्यात्' (३.२.४)।

'महाव्रत' संज्ञक कृत्य के नामकरण की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इन्द्र-वृत्त-युद्ध की आख्यायिका इसके मूल में है। वृत्र इन्द्र को मारकर महान् हो गये–इसीजिए इसे 'महाव्रत' कहा गया (ऐत० आर० १.१.१)।

ऐत० आर० से ज्ञात होता है कि उस समय समाज में स्त्रियों को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। कहा गया है कि पत्नी को प्राप्त करके ही पुरुष पूर्ण होता है–'पुरुषो जायां वित्त्वा कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते' (१.३.५)।

नैतिकता पर, इसमें, विशेष बल दिया गया है। कहा गया है, सत्यवादी लौकिक सम्पत्ति तो प्राप्त करता ही है, वैदिकानुष्ठानों में कीर्तिभाजन भी हो जाता है–'तदेतत् पुष्पं फलं वाचो यत्सत्यं स हेश्वरो यशस्वी कल्याण-कीर्तिर्भवितोः पुष्पं हि फलं वाचः सत्यं वदति' (२.३.६)

शांखायन आरण्यक

यह भी ऋग्वेदीय ही है। इसमें पन्द्रह अध्याय हैं। इसके तृतीय से लेकर षष्ठपर्यन्त अध्याय कौषीतकि उपनिषद् कहलाते हैं। सप्तम और अष्टम अध्याय संहितोपनिषद् के रूप में प्रसिद्ध हैं। प्रथम दो अध्यायों में ऐतरेयारण्यक के सदृश महाव्रत का विवेचन है। नवमाध्याय में प्राण की श्रेष्ठता का वर्णन है। दशम अध्याय में आन्तर आध्यात्मिक अग्निहोत्र का विशद तथा सर्वाङ्गीण निरूपण है। इस सन्दर्भ में कहा गया है कि सभी देवता पुरुष में प्रतिष्ठित हैं, यथा–वाणी में अग्नि, प्राण में वायु, नेत्रों में आदित्य, मन में चन्द्रमा, श्रवण में दिशाएँ तथा वीर्य में जल–जो इसे जानकर स्वयं खाता-पीता तथा खिलाता-पिलाता है, उससे सभी देवों के निमित्त आहुतियाँ पहुँच जाती हैं–(१०.१)। ११वें अध्याय में मृत्यु के निराकरण के लिए एक विशिष्ट याग विहित है। इसी अध्याय में स्वप्नों के फल उल्लिखित हैं। अनिष्ट-निवारण के लिए होमरूप शान्तिकर्म विहित है। १२वें अध्याय में पूर्ववत् आशीर्वाद की प्रार्थना तथा फल-कथन है। समृद्धिकामी व्यक्ति के लिए बिल्व के फल से एक मणि बनाने की प्रक्रिया दी गई है। १३वें अध्याय में बतलाया गया है कि व्यक्ति पहले विरक्त होकर अपने शरीर का संस्कार करे, तदनन्तर श्रवण, मनन, निदिध्यासन का अभ्यास करे। इस संक्षिप्त अध्याय में तपस्या, श्रद्धा, शान्ति और दमनादि उपायों के अवलम्बन का निर्देश है। अन्त में उसे 'यदयमात्मा स एष तत्त्वमसीत्यात्माऽवगम्योऽहं ब्रह्मास्मि' रूप में अनुभूति करनी चाहिए। १४वें अध्याय में केवल दो मन्त्र हैं–प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि उपर्युक्त 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य ऋचाओं का मूर्धा है, यजुषों का उत्तमाङ्ग है, सामों का शिर है, और आथर्वणमन्त्रों का मुण्ड है, इसे समझे बिना जो वेदाध्ययन करता है, वह मूर्ख है। वह वास्तव में वेद का शिरच्छेदन कर उसे धड़ भर बना देता है। दूसरा वह सुप्रसिद्ध मन्त्र इस अध्याय में है, जिसके अनुसार अर्थ-ज्ञान के बिना वेदपाठ करने वाला व्यक्ति ठूंठ के समान है। इसके विपरीत, अर्थज्ञ व्यक्ति सम्पूर्ण कल्याण की प्राप्ति करते हुए अन्त में स्वर्ग-लाभ कर लेता है:

> स्थाणुरयं भारहारः किलाभूद–
> धीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
> योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते
> नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।।'

१५वें अध्याय में आचार्यों की वंश-परम्परा दी गई है। तदनुसार स्वयंभू ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, विश्वामित्र, देवरात, साकमश्व, व्यवश्व, विश्वमना, उद्दालक, सुम्नयु, बृहद्दिवा, प्रतिवेश्य, प्रतिवेश्य, सोम, सोमपा, सोमापि, प्रियव्रत, उद्दालक आरुणि, कहोल कौषीतकि और अन्तिम आचार्य गुण शांखायन का उल्लेख है। शांखायन आरण्यक की ज्ञान परम्परा इन्हीं गुण शांखायन से प्रवर्तित हुई।

बृहदारण्यक

इस शुक्लयजुर्वेदीय आरण्यक की विशेष प्रसिद्धि उपनिषद् के रूप में है। आत्मतत्त्व की इसमें विशेष विवेचना की गई है। उपनिषदों के प्रकरण में इसकी विशद समीक्षा है।

तैत्तिरीयारण्यक

प्रस्तुत आरण्यक में दस प्रपाठक हैं। इन्हें सामान्यतया 'अरण' संज्ञा प्राप्त है। प्रत्येक प्रपाठक का नामकरण इनके आद्य पद से किया जाता है, जो क्रमश: इस प्रकार हैं–भद्र, सहवै, चिति, युञ्जते, देव वै, परे, शिक्षा, ब्रह्मविद्या, भृगु तथा नारायणीय। इनमें से प्रथम प्रपाठक को 'भद्र' नाम से अभिहित किया जाता है, क्योंकि उसका प्रारम्भ 'भद्रं कर्णेभि: श्रृणुयाम देवा:' मन्त्र से हुआ है। सप्तम, अष्टम और नवम प्रपाठकों को मिलाकर तैत्तिरीय उपनिषद् सम्पन्न हो जाती है। दशम प्रपाठक की प्रसिद्धि 'महानारायणीय उपनिषद्' के रूप में है। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से मूल आरण्यक छह प्रपाठकों में ही है। प्रपाठकों का अवान्तर विभाजन अनुवाकों में है। प्रथम छह प्रपाठकों की अनुवाक-संख्या इस प्रकार है–३२+२०+२१+४२+१२+१२=१३९। प्रथम प्रपाठक में आरुणकेतुक नामक अग्नि की उपासना तथा तदर्थ इष्टकाचयन का निरूपण है। द्वितीय प्रपाठक में स्वाध्याय तथा पञ्चमहायज्ञों का वर्णन है। इसी प्रसंग में, सर्वप्रथम यज्ञोपवीत का विधान है। द्वितीय अनुवाक में सन्ध्योपासन विधि है। इस प्रपाठक के अनेक अनुवाकों में कूष्माण्डहोम और उससे सम्बद्ध मन्त्र प्रदत्त हैं। देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ संज्ञक पाँच महायज्ञों के दैनिक अनुष्ठान का निर्देश है–'पञ्च वा एते महा यज्ञा: सतति प्रतायन्ते सतति सन्तिष्ठन्ते।' देवयज्ञ का अभिप्राय है अग्नि में होम-यदि पुराडाशादि उपलब्ध न हों, तो केवल समिधाओं से होम कर देना चाहिए। पितरों के लिए स्वधा तथा बायसादि के निमित्त बलिहरण क्रमश: पितृयज्ञ तथा भूतयज्ञ हैं। एक ही ऋचा या साम के अध्ययन से स्वाध्याय यज्ञ सम्पन्न हो जाता है। ११वें अनुवाक में ब्रह्मयज्ञ की विधि दी गई है। तृतीय और चतुर्थ प्रपाठकों में क्रमश: चातुर्होत्र चिति तथा प्रवर्ग्य होम में उपादेय मन्त्र संगृहीत हैं। चतुर्थ में ही अभिचार-मन्त्रों (छिन्धि, भिन्धि, खट्, फट्, जहि) का उल्लेख है। पंचम प्रपाठक में यज्ञीय संकेत हैं। षष्ठ प्रपाठक में पितृमेध सम्बन्धी मन्त्र संकलित हैं। ७-९ प्रपाठक तैत्तिरीय उपनिषद् कहलाते हैं। दशम प्रपाठक (महानारायणीय उपनिषद्) खिलकाण्ड के रूप में प्रसिद्ध है।

ब्राह्मणग्रन्थों के समान कहीं-कहीं इसमें निर्वचन भी मिलते हैं। 'कश्यप' का अर्थ है सूर्य। इसे वर्ण व्यत्यय के आधार पर 'पश्यक' से निष्पन्न माना गया है–'कश्यप: पश्यको भवति। यत्सर्वं परिपश्यति इति सौक्ष्म्यात्–(१.८.८)।'

तलवकार आरण्यक–जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण की प्रसिद्धि सामवेदीय तलवकार आरण्यक के रूप में है, यह पहले कहा जा चुका है। यह चार अध्यायों में विभक्त है। अध्यायों का अवान्तर विभाजन अनुवाकों में है। इसका विशेष महत्त्व पुरातन भाषा, शब्दावली, वैयाकरणिक रूपों और ऐसे ऐतिहासिक तथा देवशास्त्रीय आख्यानों के कारण है, जिनमें बहुविध प्राचीन विश्वास तथा रीतियाँ सुरक्षित हैं। इस आरण्यक में मृत व्यक्तियों के पुन: प्रकट होने तथा प्रेतात्मा के द्वारा उन व्यक्तियों के मार्ग-निर्देश का उल्लेख है, जो रहस्यात्मक शक्तियों के लिए पुरोहितों अथवा साधकों के सन्धान में निरत थे। निशीथ (अर्द्धरात्रि) में श्मशान-साधना से सम्बद्ध उन कृत्यों का भी उल्लेख है, जो अतिमानवीय शक्ति पाने के लिए चिता-भस्म के समीप अनुष्ठेय हैं।

अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण के पूर्वार्द्ध में ओङ्कार, महाव्याहृतियों तथा गायत्री का विशद वर्णन उसकी आरण्यकोचित पृष्ठभूमि का द्योतक है।

आरण्यकों के संस्करण तथा उन पर हुए शोधकार्य का विवरण

सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में, आरण्यकों की समीक्षा अतिस्वल्प हुई है। जो भी कार्य हुआ है, उसका विवरण इस प्रकार है :

(१) ऐतरेय आरण्यक, सायण-भाष्यसहित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली में, पूना से १८९८ में प्रकाशित।

(२) ऐतरेय आरण्यक (अंग्रेजी अनुवाद), अनुवादक प्रो॰ ए॰बी॰ कीथ, लन्दन, सन् १९०९ में प्रकाशित।

(३) ऐतरेय आरण्यक : एक अध्ययन–डॉ॰ सुमनशर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली से सन् १९८१ में प्रकाशित।

(४) शांखायन आरण्यक, सं॰ श्रीधर शास्त्री पाठक, आनन्दाश्रम, पूना से सन् १९२२ में प्रकाशित।

(५) तैत्तिरीयारण्यक, सायण-भाष्यसहित, आनन्दाश्रम, पूना से १९२६ ई॰ में प्रकाशित।

(६) बृहदारण्यक–गीताप्रेस, आनन्दाश्रम इत्यादि से अनेकधा प्रकाशित।

(७) जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण (तलवकार आरण्यक)–(क) सं॰ डॉ॰ रघुवीर तथा लोकेशचन्द्र, नागपुर से १९२१ ई॰ में प्रकाशित। (ख) सं॰ रामदेव, लाहौर से १९२१ ई॰ में प्रकाशित। (ग) सं॰ बी॰ आर॰ शर्मा, तिरुपति से १९६७ ई॰ में प्रकाशित।

आरण्यक-साहित्य : संक्षिप्त मूल्याङ्कन

उपर्युक्त पृष्ठों में आरण्यक-साहित्य की जो विशद समीक्षा की गई, उसे निष्कर्ष रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

(१) यज्ञ-संस्था के आध्यात्मिक और प्रतीकात्मक पक्षों की अभिव्यक्ति की दिशा में यह साहित्य महीयसी भूमिका का निर्वाहक है।

(२) उपनिषदों के तात्विक अनुशीलन के सन्दर्भ में आरण्यक-साहित्य पूर्वपीठिका का निर्माता है।

(३) अनेक नये ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तथ्यों की प्रस्तुति के कारण यह साहित्य विशेष उपादेय है।

(४) ब्राह्मणों और उपनिषदों के मध्य की भाषा और शैली के विकास-क्रम का इससे परिज्ञान होता है।

(५) नैतिकता और आचार-दर्शन की दृष्टि से आरण्यक-साहित्य मानवीय मानस के ऊर्ध्वारोहण में परम सहायक है।

पञ्चम अध्याय

उपनिषद् ग्रन्थ

उपनिषद् का अभिप्राय

भारतीय चिन्तनधारा के विकास-पथ में उपनिषदों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें भारतीय धर्म और दर्शन की सभी परवर्ती पद्धतियों का मूल निहित है। उपनिषदों के विश्रुत अध्येता श्री रानाडे का कथन है: 'मेरा विश्वास है कि उपनिषद् सत्य के उस स्वरूप का निरूपण करने में समर्थ हैं जो मनुष्य की वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा धार्मिक प्रत्याकांक्षाओं की परितुष्टि कर सकता है क्योंकि उपनिषद्-साहित्य ने हमारे समक्ष सत्य का वह सिद्धान्त रखा है जो अपरोक्ष तथा रहस्यात्मक स्वानुभूतिजन्य है, जिसकी ओर कोई भी विज्ञान उँगली नहीं उठा सकता, जिसे सभी दर्शन अपने प्रयासों का अन्तिम लक्ष्य समझते हैं और जो भिन्न पथ होने के कारण विरोधी से प्रतीत होने वाले विविध धर्म-स्वरूपों का एकान्त व्यापक तत्त्व है।'[१]

शाङ्करभाष्य के अनुसार 'उपनिषद्' शब्द की निष्पत्ति 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु से हुई है जिस के विशरण (विनाश), गति (पाना, जानना) और अवसादन (शिथिल होना) अर्थ हैं। उपनिषदों के अनुशीलन से मुमुक्षुओं की अविद्या का विनाश होता है, ब्रह्म की उपलब्धि होती है और दुःख शिथिल हो जाते हैं। जहाँ तक 'उपनिषद्' के शाब्दिक अर्थ का प्रश्न है, वह है–तत्त्वज्ञान के लिए गुरु के समीप सविनय बैठना।

उपनिषदों की संख्या–इस विषय में कोई एक मत नहीं है। उपनिषदों की संख्या १०८ से २०० तक मानी जाती है। मुक्तिकोपनिषद् ने १०८ उपनिषदों का उल्लेख किया है जिनका शाखानुसार विवरण यों है : ऋग्वेद–१०; शुक्ल यजुर्वेद–१९; कृष्णयजुर्वेद–१२; सामवेद–१६; अथर्ववेद–३१। सुब्रह्मण्यशास्त्री ने १८८३ में और उनके बाद तत्त्वविवेचन प्रेस, बंबई ने १०८ उपनिषदों को प्रकाशित भी किया था। ५०-६० उपनिषदों के कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं किन्तु प्राचीन उपनिषदों के रूप में मान्यता केवल १३ उपनिषदों को है। इनमें से १० (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक) पर शंकराचार्य ने भाष्य लिखा है और तीन (कौषीतकि, श्वेताश्वतर और मैत्रायणीय) का उन्होंने उल्लेख किया है।

१. *A Constructive Survey of Upanisdic Philosophy*, प्रथम अध्याय पृष्ठ (हिन्दी अनुवाद) हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

उपनिषदों का कालानुक्रम

मुक्तिकोपनिषद् का क्रम कालानुसारी नहीं है अतः विद्वानों ने भाषा, शैली, शब्दावली, विभक्ति, प्रत्यय आदि के आधार पर उपनिषदों का वर्गीकरण किया है।

डायसन (Deussen) आदि विचारकों का मत है कि प्राचीनतम उपनिषदें गद्य में लिखी गईं, इनसे परवर्ती उपनिषदों की रचना पद्य में हुई तथा इनके अतिरिक्त शेष कुछ उपनिषदें पुनः गद्य में रची गईं। डायसन का वर्गीकरण इस प्रकार से है :

(१) प्राचीनतम गद्य उपनिषदें–बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकि तथा केन उपनिषद्।

(२) प्राचीन पद्य उपनिषदें–कठ, ईश, श्वेताश्वतर, महानारायण।

(३) परवर्ती गद्य उपनिषदें–प्रश्न, मैत्रायणीय, माण्डूक्य।

(४) आथर्वण उपनिषदें–इस श्रेणी में आने वाली उपनिषदों को पुनः सामान्य, योग, सांख्यवेदान्त, शैव, वैष्णव और शाक्त आदि अवान्तर श्रेणियों में विभक्त किया गया है।

रानाडे ने इस विभाजन का खण्डन इस आधार पर किया है कि एक प्राचीन उपनिषद् प्रसाद-शैली में रचित हो सकती है और एक नव्य उपनिषद की शैली प्राचीन हो सकती है।

प्रो॰ कीथ आदि ने उपनिषदों की पुनर्जन्म-कल्पना के विकास के आधार पर उनके क्रम-विधान का प्रयत्न किया है जिसे विद्वानों ने अग्राह्य ठहराया है। इनका कथन है कि किसी उपनिषद् में पुनर्जन्म की कल्पना का अभाव उसकी प्राचीनता का प्रमाण नहीं, क्योंकि हो सकता है कि पुनर्जन्म की कल्पना का उसके वस्तु -तत्त्व से कोई सम्बन्ध न हो। ऐसी स्थिति में उसमें पुनर्जन्म की कल्पना का उल्लेख न होना नितान्त स्वाभाविक है।

उपनिषदों के वर्गीकरण की एक कसौटी और है–अन्तर-अवतरण की। उपनिषदों में प्रायः एक-दूसरे से अवतरणों को उद्धृत किया गया है। बृहदारण्यक के 'पंचीकरण' का उल्लेख तैत्तिरीय उपनिषद् में प्रायः उन्हीं शब्दों में है किन्तु इस कसौटी का व्यापक प्रयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि उपनिषदों में ऐसे अन्तर-अवतरणों की संख्या अति अल्प है।

रानाडे-कृत वर्गीकरण–उपनिषदों के निर्माणमूलक तत्त्व की इकाइयों के आधार पर श्री रानाडे ने १३ उपनिषदों को निम्नाङ्कित ५ समूहों में विभक्त किया है :

(१) बृहदारण्यक और छान्दोग्य।

(२) ईश और केन।

(३) ऐतरेय, तैत्तिरीय और कौषीतकि।

(४) कठ, मुण्डक और श्वेताश्वतर।

(५) प्रश्न, मैत्रायणीय और माण्डूक्य।

सी॰ वी॰ वैद्य ने उपनिषदों के काल-निर्णय के दो मानक रखे हैं :

(१) विष्णु अथवा शंकर का परमदेव के रूप में उल्लेख (२) प्रकृति, पुरुष तथा सत्वादि गुण प्रभृति सांख्य-सिद्धान्तों का निरूपण। प्राचीनतम उपनिषदों में अनाम-रूप ब्रह्म को ही सर्वोच्च बतलाया गया है जबकि परवर्ती उपनिषदों में वैष्णव और शैव सम्प्रदायों ने अपने इष्टदेवों को

परम तत्त्व प्रमाणित करने की चेष्टा की है। इस कसौटी पर छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य उपनिषदें प्राचीनतम सिद्ध होती हैं। विष्णु को परम पद पर प्रतिष्ठित करने की सर्वप्रथम चेष्टा कठोपनिषद् में परिलक्षित होती है; किन्तु यह कसौटी सही नहीं प्रतीत होती। शिव के विषय में तो कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु विष्णु को ज्येष्ठ प्रमाणित करने का प्रयत्न ऐतरेय ब्राह्मण की रचना के आदि युग में ही प्रारम्भ हो गया था–'अग्निर्देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता:' (–ऐत० ब्रा०)।

अत: १३ उपनिषदों के कालानुक्रम की निर्णायिका कोई भी सर्वमान्य कसौटी नहीं है।

उपनिषदों का काल–श्री रानाडे ने यह स्वीकार करते हुए भी कि उपनिषदों के रचना-काल को ठीक-ठीक निश्चित करना कठिन है, उपनिषद्-युग की दो सीमाएँ दी हैं–ईसा के पूर्व १२वीं शताब्दी इस युग की पूर्व सीमा है और छठी शताब्दी को परसीमा माना जा सकता है। इतना तो पूरी तरह निश्चित है कि बौद्ध धर्म और दर्शन के आविर्भाव से पूर्व उपर्युक्त १३ प्राचीन उपनिषदें रची जा चुकी थीं।

उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय का संक्षिप्त विवरण

ईशोपनिषद्

स्वरूपत: यह शुक्ल यजुर्वेद का ४०वाँ अध्याय है। पहले मंत्र 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के आधार पर इसका नामकरण हुआ है। १८ श्लोकों की छोटी-सी परिधि में यह हमें आत्मा का एक महत्त्वपूर्ण रहस्यात्मक वर्णन, एक आदर्श ऋषि का निरूपण जो संसार के विषय, वासना तथा दु:ख-शोकादि में भी स्थितप्रज्ञ रहता है, कर्मयोग का प्रतिपादन और अन्त में कर्म तथा ज्ञान का समुचित समन्वय प्रदान करती है। विद्या-अविद्या तथा व्यष्टि और समष्टि (संभूति-असंभूति) का निरूपण भी बहुत तर्कपूर्ण है। तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त नीतिविषयक अनेक प्रेरक निर्देश ईशावास्योपनिषद् में प्राप्त होते हैं। प्रथम मन्त्र के अनुसार यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वरीय सत्ता से परिव्याप्त है–अतएव सभी को त्यागमय जीवन जीते हुए धन के प्रति प्रलोभित नहीं होना चाहिए :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा: मा गृध: कस्य स्विद् धनम्।।

द्वितीय मन्त्र में कर्मयोग के उस सिद्धान्त की प्रस्तुति है, जिसका सुविशद पल्लवन आगे गीता में दिखलाई देता है। तदनुसार हमें कर्म करते हुए ही १०० वर्षों के जीवन की कामना करनी चाहिए :

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्मलिप्यते नरे।।

आत्म-हत्या के विरुद्ध भी इस उपनिषद् में कठोर चेतावनी दी गई है। आत्म-घात शारीरिक ही नहीं है–अपनी आत्मा के विरुद्ध, अर्थ-काम के प्रलोभनवश कार्य करना भी आत्म-हनन ही

है। सभी प्रकार के आत्मघाती मृत्यु के अनन्तर अन्धकारमय असुर-लोकों में ही पहुँचते हैं, उनकी सद्गति नहीं होती :

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।

ईशोपनिषद् के अनुसार हमें सर्वत्र अपने को ही देखना चाहिए, फिर हमें किसी से घृणा नहीं होगी :

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।

ज्ञान के अनुष्ठान से अमृततत्त्व की उपलब्धि होती है-यह कथन भी इसी उपनिषद् में है-'विद्ययाऽमृतमश्नुते।'

यह उपनिषद् व्यक्ति को किये हुए कार्यों के प्रति सजग रहने के लिए सावधान करती है-'कृतंस्मर' इसी क्रम में उपनिषन्निर्देशानुसार धनोपार्जन सदैव श्रेष्ठ और समाज के द्वारा अनुमोदित ढंग से करना चाहिए :

अग्ने ! नय सुपथा राये अस्मान्।

केनोपनिषद्

शाखा के नाम पर यह 'तलवकार उपनिषद्' कहलाती है। इसमें केवल चार खण्ड हैं-दो पद्य में और दो गद्य में। प्रथम खण्ड में उपास्य ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म में अन्तर, द्वितीय में ब्रह्म के रहस्यात्मक स्वरूप का दिग्दर्शन तथा तृतीय और चतुर्थ खण्डों में उमा-हैमवती के आख्यान के माध्यम से परब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता और देवों की अल्पशक्तिवत्ता को प्रदर्शित किया गया है। इसमें इन्द्र और अप्सरा की रोचक कथा है। प्रो॰ रानाडे के अनुसार इसमें प्रकृति के अन्तस् में सन्निहित अपरिमित शक्ति के अस्तित्व की सृष्टि वैधानिक विवेचना है। यह हमें नम्रता का पाठ पढ़ाती है और बाह्य तथा आभ्यन्तरिक दोनों ही सत्ताओं में, विद्युत् के आलोक और मन की प्रगति में, उसी एक परम सत्य का स्वरूप देखने का उपदेश देती है।

कठोपनिषद्

इसका सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा से है। काव्यात्मक शैली में उच्चतम दार्शनिक तथ्यों का निरूपण करने के कारण यह प्रसिद्ध है। यह परतत्त्वपरक है। इसमें दो अध्याय तथा प्रत्येक अध्याय में ३ वल्लियाँ हैं। यम और नचिकेता की प्रसिद्ध कथा के माध्यम से भौतिक भोगों की क्षणभंगुरता, मरणोत्तर जीवन और आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन इसका प्रमुख विषय है। इसमें शरीर-रथ के प्रसिद्ध रूपक का उल्लेख है; मृत्यु और स्वप्न की कल्पनाओं से संवलित सत्य की मीमांसा है, आत्मा की अमरता विषयक उच्च कल्पनायें तथा आत्मानुभूति के व्यावहारिक साधन-सङ्केत हैं। विश्वजित् याग के अन्त में, वाजश्रवा के पुत्र ऋषि उद्दालक जब ऋत्विकों को

दक्षिणा में बूढ़ी और अनुपयोगी गायें दे रहे थे, तब उनके पुत्र नचिकेता को यह अनुचित लगा। उसने यह सोचकर कि अपने पिता की सबसे अधिक मूल्यवान् सम्पत्ति तो वह स्वयं है, पिता से पूछा–'पिता जी, मुझे आप किसे दे रहे हैं ?' उद्दालक ने पुत्र के प्रश्न की जब उपेक्षा की, तो उसने उसे २-३ बार दोहराया। इस पर खीझकर पिता के मुँह से निकल गया 'तुझे मृत्यु को दूंगा।' अपने वचन की सत्यता की रक्षा के लिए उन्होंने उसे यमराज के पास भेज भी दिया। वहाँ नचिकेता के धैर्य, साहस और जिज्ञासा से प्रसन्न होकर यमराज ने उसे तीन वर दिये। एक से नचिकेता ने पिता की शान्ति (उद्वेगराहित्य) मांगा और शेष से त्रिणाचिकेत अग्निविद्या तथा मृत्यु के रहस्य की जिज्ञासा की। यमराज ने उसे बहुत प्रलोभन दिये, हर तरह से उसे विचलित करने की चेष्टा की, लेकिन नचिकेता अडिग रहा। अन्त में यमराज ने उसे आत्मज्ञान प्रदान किया। वास्तव में नचिकेता उस दुर्निवार्य जिज्ञासु का प्रतीक है, जिसे पुत्र-पौत्र, हाथी-घोड़े, अपार भूमि-सम्पत्ति, वित्त, चिरजीविका, मनोरमा स्त्रियाँ विचलित नहीं कर पातीं।

कठोपनिषद् के अनुसार वित्त से मनुष्य पूरी तरह तृप्त नहीं हो सकता–'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।' इसीलिए मन्दबुद्धि भले ही प्रेय (लौकिक भोगों) की आकांक्षा करे, लेकिन प्रबुद्ध व्यक्ति श्रेय (परम कल्याण) की ही इच्छा करता है–'श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते, प्रेयो मन्दोयोग क्षेमाद् वृणीते–(१.२.२)।'

आत्म-ज्ञान के लिए तर्क, प्रवचन एवं बुद्धिजन्य उपायों को अपर्याप्त समझा गया है। इसके लिए अपने को सुपात्र बनाना पड़ता है, ताकि आत्मतत्त्व स्वयं वरण कर सके। जो मनुष्य विज्ञान (विवेक) सारथि से सम्पन्न और मनरूप लगाम वाला है, वही परम पद को प्राप्त करता है। कठोपनिषद् हमें सावधान करता है कि हम अज्ञान निद्रा से उठें, जागें और श्रेष्ठ पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करें :

> **'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।**
> **क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।।**

प्रश्नोपनिषद्

ऋषि पिप्पलाद के पास आध्यात्मिक ज्ञान-सम्पादन के लिए आने वाले छह ऋषि पिप्पलाद से इस क्रम से प्रश्न करते हैं कि अन्तिम ऋषि सर्वप्रथम अपना प्रश्न रखता है। प्रश्नों का क्रम विविध उत्तरों में पिप्पलाद से एक सुसम्बद्ध सिद्धान्त का रूप ग्रहण कर लेता है। जिन छह प्रश्नों की इसमें विवेचना की गई है वे ये हैं : (१) प्रजा की उत्पत्ति कहाँ से होती है ? (२) प्रजा के धारक और प्रकाशक देवता कौन हैं ? इनमें सर्वश्रेष्ठ कौन है ? (३) प्राणोत्पत्ति, शरीर में आगमन तथा उत्क्रमणादि कैसे होता है ? (४) स्वप्न, जागरण आदि की जिज्ञासा (५) ओङ्कार-उपासना (६) षोडश कलासम्पन्न पुरुष का निरूपण।

मुण्डक उपनिषद्

जैसाकि नाम से ही प्रकट है, इसकी रचना मुण्डित संन्यासियों के निमित्त हुई है। इसमें ३ मुण्डक हैं और प्रत्येक मुण्डक दो खण्डों में विभक्त है। इसमें ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है। परा और अपरा रूप में विद्याओं का वर्गीकरण ही है। यज्ञीय अनुष्ठानों को संसार-संतरण की दृष्टि से अदृढ़ नौका बतलाया गया है। इसमें कर्मकाण्ड की क्षुद्रता और ज्ञान काण्ड की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। इसके सृष्टि-विधान विषयक सिद्धान्त सांख्य तथा वेदान्त के विचारों से अनुभावित हैं।

इसके अनुसार अरण्य में शान्त भाव से रहकर जो विद्वज्जन भिक्षाहार करते हुए संयम रूप तप तथा श्रद्धा का सेवन करते हैं, वे रजोगुण से रहित होकर सूर्य-मार्ग से वहाँ पहुँचने में समर्थ हो जाते हैं, जहाँ अविनाशी पुरुष रहता है :

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्या चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।। (१.२.११)

जीवन्मुक्ति का निरूपण करते हुए एक मन्त्र में कहा गया है कि कर्मानुष्ठान और तपश्चरण परमात्मा का ही स्वरूप है, जो हमारी हृदयरूपी गुफा में निवास करता है–जो इसे जान लेता है, वह मनुष्य शरीर में ही अविद्या से उत्पन्न गाँठ को खोलने में समर्थ हो जाता है :

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य–(२.१.१०)

परब्रह्म रूप लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रणव (ओंकार) ही धनुष है और जीवात्मा बाणरूप है। प्रमादरहित होकर ही उसे वेधा जा सकता है। इस कार्य में उसी तरह तन्मयता होनी चाहिए, जैसे बाण बिना बायें-दायें मुड़े सीधे अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है :

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तत्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।। (–२.२.४)

'द्वा सुपर्णा' प्रभृति सुप्रसिद्ध वैदिक मन्त्र, जो ऋग्वेद (१.१६४.२०) और अथर्ववेद (९.१४.२०) में भी है, इस उपनिषद् में भी आया है :

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य–
नश्ननन्यो अभिचाकशीति–(३.१.१)

–जीवात्मा और परमात्मा रूप दो पक्षी, जो परस्पर सख्य भाव में आबद्ध हैं, सुन्दर पंखों वाले

हैं, एक ही शरीररूप (पीपल के) वृक्ष पर स्थित हैं। इनमें से एक सुख-दु:ख रूप कर्म-फलों का उपभोग करता है और दूसरा उसे केवल देखता रहता है।

इस प्रकार यह उपनिषद् आत्मज्ञान की दिशा में प्रयत्नशील व्यक्तियों के लिए अत्यन्त उपादेय है।

माण्डूक्य उपनिषद्

यह परवर्ती वेदान्त-दर्शन की चिरन्तन मूल-स्थापना करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इसमें केवल १२ खण्ड अथवा वाक्य हैं। यह ॐकार को तीन मात्राओं में विभक्त करती है और साथ ही एक मात्राहीन चौथा भाग भी जोड़ देती है। ॐकार की मात्राओं के अनुरूप ही मानसिक स्थिति की विविध अवस्थायें तथा आत्मा के विभिन्न प्रकार प्रतिपादित हैं। इसकी मौलिक उद्भावना जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय–इन चार मानसिक अवस्थाओं की कल्पना है। माण्डूक्य का अभिमत है कि इन चार मानसिक अवस्थाओं के अनुरूप ही परमात्मा के चार पक्ष हैं–वैश्वानर, तैजस्, प्राज्ञ तथा प्रपंचोपशम रूपी शिव। इनमें अन्तिम ही चरम सत्य है। ऐकान्तिक चरम सत्य की कल्पना ईश्वर की सगुण कल्पना से भी परे है।

तैत्तिरीय उपनिषद्

जैसाकि चतुर्थ अध्याय में कहा जा चुका है, तैत्तिरीय आरण्यक के ही ७-९ प्रपाठक तैत्तिरीय उपनिषद् के रूप में मान्य हैं। प्रपाठकों के नामों में भिन्नता है। यहाँ 'संहितोपनिषद्' (सप्तम प्रपाठक) को 'शीक्षावल्ली' और वारुणी उपनिषद् (८-९ प्रपाठक) को 'ब्रह्मानन्दवल्ली' तथा 'भृगुवल्ली' कहने की परम्परा है। 'सत्यं वद' प्रभृति उपदेश इसी 'शीक्षावल्ली' में हैं। इसके प्रथम प्रपाठक में मस्तिष्क के नीचे की ओर लटकती हुई एक स्तन-शिखराकार मांसग्रन्थि का शरीरवैज्ञानिक वर्णन है, इसे शाश्वत आत्मा का निवास-स्थाना माना जाता है। दूसरे प्रपाठक में विविध सिद्धान्तों का समुच्चय है जिनमें प्रथम बार आत्मा के कोशों का उल्लेख करते हुए आनन्दमय कोश का वर्णन किया गया है। तृतीय प्रपाठक में आत्मा के कोश-विधान को परतत्त्वमूलक सत्ताओं की सोपान-श्रेणी के रूप में उपस्थित किया गया है–अन्त में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की चरम एक रूपता का निदर्शन है।

ऐतरेय उपनिषद्

यह भी ऐतरेयारण्यक का ही एक अंश है जिसका विस्तार आरण्यक के दूसरे अध्याय के चौथे खण्ड से उस अध्याय के अन्त तक है। सम्पूर्ण उपनिषद् तीन अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में विराज के माध्यम से मूल आत्मा के सृष्टि-विधान और द्वितीय मे त्रिजन्मसिद्धान्त की मीमांसा है। इस अध्याय में पुनर्जन्म की कल्पना सुव्यक्त है। तृतीय अध्याय में अद्वैत दर्शन के मूल तत्त्व का विवेचन है जिसके अनुसार समस्त चेतन तथा अचेतन वस्तुओं में एक ही सामान्य चैतन्य की अभिव्यक्ति है।

छान्दोग्य उपनिषद्

यह आठ अध्यायों अथवा प्रपाठकों में विभक्त है। इसका सम्बन्ध सामवेद से है। छठे, सातवें और आठवें अध्यायों का विशिष्ट दार्शनिक महत्त्व है। इसके प्रथम दो अध्यायों में कुछ सृष्टि विषयक चर्चा के साथ ॐकार के महत्त्व और अर्थ, साम के भेद और नाम, प्रणव की उत्पत्ति और उसके कार्य कलाप पर विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय के अन्त में भौतिक उद्देश्य सिद्धि के निमित्त मन्त्र-साधना करने वालों को लक्षित कर एक रोचक व्यंग्यकथा है : एक बार बकदाल्भ्य, जिसका दूसरा नाम ग्लाव मैत्रेय है, वेद पाठ करने के लिए एकान्त में गया। उसे एक श्वेत श्वान दिखा, जिसके चारों ओर शीघ्र ही दूसरे श्वानों के झुण्ड आ गए। वे बहुत भूखे थे अतः उन्होंने श्वेत श्वान से मंत्रपाठ करने की प्रार्थना की क्योंकि उन्हें आशा थी कि मंत्र पाठ से श्वेत श्वान उनके लिए भोजन उत्पन्न कर देगा। सभी श्वान एक दूसरे की पूँछ पकड़कर चक्राकार घूमने लगे, फिर बैठकर मन्त्र पाठ आरम्भ किया–'हिम्! ॐ आओ, खायें; ॐ ! आओ, पियें; ॐ देव ! हमें भोजन दो।' इस श्वान संगीत को 'शौव उदगीथ' कहा गया है। इसमें एक प्रकार से कर्मकाण्ड की भर्त्सना है। तृतीय अध्याय में सूर्य का वर्णन आकाशस्थ महा मधुचक्र के रूप में है। इसके अन्तर्गत गायत्री का वर्णन, शाण्डिल्य-सूत्र, विश्व-मंजूषा, कृष्ण को आंगिरस का उपदेश आदि विषय भी हैं। चतुर्थ अध्याय में रैक्व के दार्शनिक मत तथा सत्यकाम जाबाल और उपकोसल की कथाओं का उल्लेख है। पंचम अध्याय में प्रवाहण जैबलि का परलोक सिद्धान्त विवेचित है। इसी अध्याय में अश्वपति कैकेय के पास ज्ञान-सम्पादनार्थ आये छह तत्त्व-जिज्ञासुओं के सृष्टि विषयक छह पृथक् सिद्धान्तों का कैकेयकृत समन्वय भी है। इस उपनिषद् का छठा अध्याय निःसन्देह सर्वोत्तम है। इसमें आरुणि का, जो इस युग के महान् तत्त्व ज्ञानी हैं, विचारपुष्ट अद्वैतवाद प्रतिपपादित है जिसमें आत्मा और परमात्मा का एकान्त अभेद निरूपित है। सातवें अध्याय में नारद और सनत्कुमार का प्रसिद्ध संवाद हैं जिसमें 'भूमा'–सिद्धान्त का प्रतिपादन है। इसके अनुसार भूमा वह अपरिमित आनन्द है जो चतुर्दिक परमात्मा के ही रूप-दर्शन से समुद्भूत है। भूमा की अनुभूति पहले 'सोऽहमात्मा' की अनुभूति होने पर ही हो सकती है आत्मा सम्पूर्ण वस्तुओं का मूल उद्गम है। आठवें अध्याय में आत्मानुभूति के निमित्त कुछ उपयोगी तथा उत्तम व्यावहारिक साधन निर्दिष्ट हैं। इसी में इन्द्र और विरोचन की प्रसिद्ध कथा भी है। स्त्री-प्रसंग को भी छान्दोग्योपनिषद् में आध्यात्मिक साधना के रूप में प्रस्तुत किया है। तदनुसार पत्नी यज्ञ-वेदी है। छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म के तीन आधारभूत स्कन्ध निरूपित हैं–'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (२.२३.१)। धर्म के प्रतिष्ठाकारक प्रथम स्कन्ध में यज्ञ, अध्ययन और दान सम्मिलित हैं। द्वितीय स्कन्ध तपोमूलक है और तृतीय स्कन्ध आचार्यकुलवासी ब्रह्मचारी की साधना से अनुस्यूत है। शांकर-भाष्य से विदित होता है कि धर्म की प्रस्तुत स्कन्धत्रयी की योजना विभिन्न आश्रमों के अनुरूप हुई है। इस दृष्टि से यज्ञ, अध्ययन् और दान गृहस्थ-साध्य हैं। तपस्या का अनुष्ठान सामान्यतः सभी के लिए कल्याण-साधन होने पर भी मुख्यतः वानप्रस्थियों के द्वारा ही विधेय है।

यागेतर धार्मिक अनुष्ठानों का प्रमुख प्रयोजन विश्वात्मभाव की अनुभूति कराना है। याग के समान अन्य धर्मानुष्ठानों की मूल प्रेरणा आनन्द-प्राप्ति है और वह अन्तःकरण की व्यापकता

तथा उदारता में निहित है। एतदर्थ छान्दोग्योपनिषद् में 'भूमा' शब्द का प्रयोग है, जो स्वयं सुखस्वरूप है–'यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति'–(७.२३.१)। 'भूमा' का अभिप्राय है सबको अपना समझना। ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, बायें-दायें सर्वत्र आत्मभाव की अनुभूति ही 'भूमा' है।

इसके निमित्त छान्दोग्य उपनिषद् में बहुविध उपासनाएँ विहित हैं, जिनमें विद्या, श्रद्धा और योग की आवश्यकता होती है–'यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति'-(१.१.१०)। इनके साथ ही मनन-चिन्तन, विज्ञान और निष्ठा की अपरिहार्यता भी प्रदर्शित है। अभिमत विशेष का प्रमादरहित होकर ध्यान करना ही उपासना है–'ध्यायन्नप्रमत्त:' (१.३.१२)।

छान्दोग्य उपनिषद् में उद्गीथ, ओङ्कार, हिंकार, स्तोभाक्षर तथा बहुविध सामों की उपासनाएँ तो निर्दिष्ट हैं ही, मधु-विद्या, गायत्री-उपासना, प्राणोपासना, नादोपासना, शाण्डिल्यविद्या, विराट् कोशोपासना, जीवन की यज्ञरूप में उपासना, आदित्य, पञ्चाग्नि, वाङ्मयी, दहर-पुण्डरीक प्रभृति उपासनाएँ भी विहित हैं। वास्तव में 'विद्या' शब्द का अर्थ ही उपासना है।

बृहदारण्यक उपनिषद्

इसमें कुल छह अध्याय हैं। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्यायों का दार्शनिक, दृष्टि से विशेष महत्त्व है। प्रथम अध्याय में यज्ञास्व के रूप में हिरण्यगर्भ का कमनीय वर्णन है; इसके अनन्तर मृत्यु के द्वारा समस्त वस्तुजगत् की उत्पत्ति होने का सिद्धान्त प्रतिपादित है। इसी में प्राण की श्रेष्ठता प्रमाणित करने वाला उपाख्यान है। द्वितीय अध्याय में अभिमानी ब्राह्मण गार्ग्य और अजातशत्रु नामक एक शान्तप्रकृति राजा का संवाद है। इसी अध्याय में अपने युग के महान् तत्त्वज्ञानी याज्ञवल्क्य, जो अपनी दोनों पत्नियों में सम्पत्ति-विभाजन कर रहे हैं, तथा महर्षि दध्यंच आथर्वण से परिचित होने का अवसर हमें प्राप्त होता है। यहाँ याज्ञवल्क्य को अपनी आध्यात्मिक सहचरी मैत्रेयी से संलाप करते हुए देखा जा सकता है। तीसरे अध्याय में वे जनक की सभा में वाद-विवाद करते हुए दिखाई देते हैं। याज्ञवल्क्य उपनिषद्काल के नि:सन्देह सबसे बड़े तत्त्वज्ञानी हैं। दार्शनिक तथा आत्मिक ज्ञान के उत्कट जिज्ञासु राजा जनक इस महान् तत्त्वज्ञानी ऋषि के चरणों में अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति समर्पित कर देते हैं किन्तु याज्ञवल्क्य उसे स्वीकार नहीं करते। तृतीय और चतुर्थ अध्यायों में जनक का भी प्रमुख स्थान है। पाँचवें अध्याय में नीतिशास्त्र, सृष्टि विधान और परलोकशास्त्र से सम्बद्ध प्रकीर्ण विचारों के अतिरिक्त अन्य अनेक तत्त्वों का मिश्रण भी है। छठे अध्याय में इन्द्रिय विषयक एक प्रसिद्ध उपाख्यान है। यही महर्षि प्रवाहण जैबलि तथा श्वेतकेतु आरुणेय का दार्शनिक संवाद है। जैबलि की 'पंचाग्नि-मीमांसा' बहुत प्रसिद्ध है। इसी अध्याय में उपनिषदीय ऋषियों की वंश-परम्परा भी दी गई है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के ही याज्ञवल्क्य-मैत्रीय-संवाद के प्रसंग में उस आत्मतत्व का निरूपण है, जिसके कारण पति पत्नी से प्रेम करता है और पत्नी पति से, पिता पुत्रों की कामना करता है और पुत्र पिता की। व्यक्ति धन को धन के लिए नहीं चाहता, अपने लिए चाहता है–...... 'नवा अरे पत्यु: कामाय पति : प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पति : प्रियो भवति। नवा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति, आत्मनस्तु कामाय जाया प्रियो भवति। नवा अरे पुत्राणां कामाय पुत्रा: प्रिया: भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय पुत्रा: प्रिया: भविन्त। नवा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं

भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। ......नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'

इसलिए व्यक्ति को इसी आत्म-तत्त्व के साक्षात्कार, श्रवण, मनन और निदिध्यासन का प्रयत्न करना चाहिए-'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि।'

गार्गी और याज्ञवल्क्य के मध्य जनक की सभा में हुए शास्त्रार्थ का विवरण भी इसी उपनिषद् में है। प्रजापति ने देवों, मनुष्यों और असुरों को उनके कल्याण-हेतु 'द' अक्षर का निमित्त बनाकर क्रमश: इन्द्रिय-दमन, दान और दया का जो उपदेश दिया था, उससे सम्बद्ध आख्यायिका भी इसी उपनिषद में है-'द द द इति दाम्पत्य दत्त दयध्वमिति तदेततृ त्रयं शिक्षेद्दमं दानं दयामिति।'

आध्यात्मिक तत्त्वों के मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किये गये निरूपण के कारण इस उपनिषद् का विशेष महत्व माना जाता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद्

इसमें तत्त्वज्ञान और रहस्यवाद का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। इसकी रचना संभवत: शैव मत का प्रतिपादन करने के लिए की गई। इसके प्रथम अध्याय में आत्मवाद सहित सभी तत्कालीन दार्शनिक सिद्धान्तों की त्रैमूर्त्यात्मक अद्वैत शैव मत के पक्ष में विवेचनात्मक प्रस्तुति है। द्वितीय अध्याय में योग का विस्तृत वर्णन है। तृतीय, चतुर्थ और पंचम अध्यायों में शैव और सांख्य दर्शन की समीक्षा है। पांचवें अध्याय के दूसरे श्लोक में उल्लिखित 'कपिल' शब्द की व्युत्पत्ति है। अन्तिम अध्याय में शुद्ध सगुण ईश्वर का निरूपण तथा गुरु और ईश्वर-भक्ति का आदेश है। इस उपनिषद का, सांख्य और वेदान्त के मूलरूपों का अध्ययन करने की दृष्टि से विपुल महत्त्व है।

कौषीतकि उपनिषद्

इसमें चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में छान्दोग्य और बृहदारण्यक के देवयान तथा पितृयान के वर्णनों का प्रस्तार मात्र है। अन्तिम अध्याय में बृहदारण्यक के बालाकि और अजातशत्रु की कथा की पुनरावृत्ति है। द्वितीय और तृतीय अध्यायों का स्वतन्त्र दार्शनिक महत्त्व है। द्वितीय अध्याय में कौषीतकि, पैंग्य, प्रतर्दन और शुष्कभृंगार ऋषियों के सिद्धान्त संकलित हैं। तृतीय अध्याय में प्रतर्दन इन्द्र से तत्त्वज्ञान सीखता है। इन्द्र और प्रतर्दन के इस संवाद में प्राण प्रथम जीवन का तत्त्व, फिर चैतन्य का तत्त्व, तदनन्तर चरमतत्त्व आत्मा से एकरूप माना गया है। यही आत्मा संसार के समस्त सदसत् कार्यों की कारण है। समस्त पुरुष उसके हाथ में केवल निमित्त मात्र हैं।

मैत्रायणी उपनिषद्

शब्दावली तथा प्रसंग-वैशिष्ट्य के कारण उपनिषदों के मध्य इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें सात अध्याय हैं। मैत्री ऋषि इसके सिद्धान्त-प्रतिपादक हैं। प्रथम चार अध्यायों में विभिन्न दार्शनिक विचार और अन्तिम तीन अध्यायों में शनि, राहु, केतु तथा एक प्रतिवादात्मक दर्शन के विधाता बृहस्पति आदि ज्योतिष सम्बन्धी नाम तथा अष्टांग योग के आधारभूत षडंगयोग का निर्देश है।

विभिन्न साम्प्रदायिक उपनिषदें

प्रमुख उपनिषदों के अन्तर्गत कालान्तर से अनेक साम्प्रदायिक उपनिषदों का अस्तित्व दिखाई देता है। ये योग, वेदान्त, शैव, वैष्णव और शाक्त सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के परिज्ञान के लिए उपादेय हैं। अन्य उपनिषदों के सदृश इन्हें भी विभिन्न वैदिक शाखाओं से सम्बद्ध किया गया है। इन सभी का समय बुद्ध के अविर्भाव से प्राय: पूर्ववर्ती है, क्योंकि वैष्णव उपनिषदों में विष्णु के अन्य अवतारों के साथ बौद्धावतार का वर्णन नहीं है। इन उपनिषदों के विभिन्न संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इनमें सबसे बड़ा संग्रह अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास से उपनिषद् ब्रह्मयोगी की व्याख्या के साथ प्रकाशित हुआ है। विषयानुसार ये इस प्रकार हैं :

योगोपनिषदें

अद्वयतारक, अमृतनाद, अमृतबिन्दु, क्षुरिका, तेजोबिन्दु, त्रिशिख ब्राह्मण, दर्शनोपनिषद्, ध्यानबिन्दु, नादबिन्दु, पाशुपत ब्रह्म, ब्रह्मविद्या, मण्डल ब्राह्मण, महावाक्य, योग कुण्डली, योग चूड़ामणि, योग तत्त्व, योगशिखा, वराह, शाण्डिल्य, हंस तथा योगराजोपनिषद् ।

इनमें योग के विभिन्न अंगों का निरूपण मिलता है। 'अमृतनादोपनिषद्' में पतञ्जलि के अष्टांग योग के स्थान पर षडङ्गयोग की अवधारणा प्रतिपादित है :

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते।।

'तेजोबिन्दूपनिषद्' में योग के कुल १५ अंग निरूपित हैं। ये हैं–यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि। 'यम' का स्वरूप भी वह नहीं है, जो पतंजलि-प्रोक्त है :

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः।।

'त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद्' में योग के वही आठ अंग बतलाये गये हैं, जो पतञ्जलि को अभिमत हैं। 'दर्शनोपनिषद्' में दत्तात्रेय ने अपने शिष्य सांकृति को योग का उपदेश दिया है। नाड़ी-विज्ञान का इसमें विशेष वर्णन है। 'ब्रह्मविद्योपनिषद्' में सुषुम्ना का स्वरूप विशेष रूप से निरूपित है। वह मृणालतन्तु के समान सूक्ष्म, ज्वाला-सी उज्ज्वल और सूर्य के सदृश प्रकाशमयी परा नाड़ी है। 'योगतत्त्वोपनिषद्' में मोक्ष के निमित्त योग और ज्ञान दोनों की महत्ता निरूपित है :

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।।

इसी प्रकार अन्य उपनिषदों में भी विभिन्न योग-तत्त्वों का निरूपण हुआ है।

वेदान्त उपनिषदें

इसके अन्तर्गत निम्नलिखित उपनिषदें विशेष उल्लेखनीय हैं–अक्ष्युपनिषद्, अध्यात्म, अन्नपूर्णा, आत्म, आत्मबोध, एकाक्षर, कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्, गर्भ, निरालम्ब, पैंगल, प्राणाग्निहोत्र, मन्त्रिका, महोपनिषद्, मुक्तिका, मुद्गल, मैत्रायणी, वज्रसूचिका, शारीरिक, शुकरहस्य, सर्वसार, सावित्री, सुबाल, सूर्य और स्कन्द उपनिषद्। इनमें वेदान्त के विभिन्न तत्त्वों का सामान्य दृष्टि से प्रतिपादन हुआ है।

शाक्त उपनिषदें

शक्ति-उपासना के विविध प्रसंग यों तो परिनिष्ठित उपनिषदों में भी प्राप्त होते हैं। जैसे केन उपनिषद् का उमा-हैमवती प्रसंग, श्वेताश्वतर उपनिषद् में त्रिगुणात्मिका प्रकृति एवं माया की अभिन्नता, छान्दोग्योपनिषद्गत तथा महानारायणगत गायत्री-उपासना, और दुर्गा का वर्णन, महालक्ष्मी का आह्वान इत्यादि–किन्तु १८ शाक्त सम्प्रदाय से सम्बद्ध उपनिषदें शक्ति तत्त्व का निरूपण विशेष विस्तार से करती हैं। ये हैं–अल्लोपनिषद्, आथर्वण द्वितीयोपनिषद्, कामराजकीलितोद्धारोपनिषद्, कालिकोपनिषद्, कालीमेधादीक्षितोपनिषद्, गायत्रीरहस्योपनिषद्, गायत्र्युपनिषद्, गुह्यकाल्युपनिषद्, गुह्यषोढान्यासोपनिषद्, पीताम्बरोपनिषद्, राजश्यामलारहस्योपनिषद्, वनदुर्गोपनिषद्, श्यामोपनिषद्, श्रीचक्रोपनिषद्, श्रीविद्यातारकोपनिषद्, षोढोपनिषद्, सुमुख्युपनिषद्, तथा हंसषोढोपनिषद्।

इनमें शक्ति तत्त्व का बहुविध विस्तार किया गया है। 'गुह्यकाली' में कहा गया है कि जैसे बहती हुई नदियां अपने नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार देवी के तात्त्विक स्वरूप का ज्ञाता व्यक्ति नाम-रूप को छोड़कर परा जगन्माता को प्राप्त कर लेता है :

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे
गच्छन्त्यस्तं नाम-रूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः
परात् परं जगदम्बामुपैति।।

'पीताम्बरोपनिषद्' में दस महाविद्याओं के अन्तर्गत भगवती बगलामुखी की ध्यानोपासना-विधि निरूपित है। कलेवर में अत्यन्त विस्तृत है। 'वनदुर्गा' नाम भगवती विन्ध्यवासिनी देवी के लिए आया है। विभिन्न कष्टों से त्राण दिलाने के लिए भगवती के चरणों में की गई यह प्रार्थना अत्यन्त मार्मिक है :

भगवती भवरोगात् पीडितं दुष्कृतौघात्
सुतदुहितृकलत्रोपद्रवैर्प्याव्यमानम्।
विलसदमृतदृष्ट्या वीक्ष्य विभ्रान्तचित्तं
सकल भुवनमातस्त्राहि मां त्वन्नमस्ते।।

श्यामोपनिषद् कालिकोपनिषद् का ही संक्षिप्त रूप है। १५-१६ पंक्तियों की अतिसंक्षिप्त 'श्रीचक्रोपनिषद्' के आरम्भ में श्रीचक्रन्यास का निर्देश है।

शैव उपनिषदें—अनेक उपनिषदों में शिवतत्त्व और विविध शैव-साम्प्रदायिक वस्तुओं का निरूपण हुआ है। ऐसी उपनिषदों में अक्षमालिका अथर्वशिखा, अथर्वशिरस्, कालाग्निरुद्र, कैवल्य, गणपति, जावालि, दक्षिणामूर्त्ति, पञ्चब्रह्म, बृहज्जाबाल, भस्मजाबाल, रुद्रहृदय, शरभ प्रभृति उपनिषदें प्रमुख हैं।

वैष्णव उपनिषदें

इस श्रेणी में अव्यक्तोपनिषद् कीलसन्तरण, दत्तात्रेय, नारायण, कृष्ण, गरुड़, गोपालपूर्वतापिनी तथा उत्तरतापिनी, तारसार, नृसिंहपूर्वतापिनी–उत्तरतापिनी, रामपूर्वतापिनी–उत्तरतापिनी, त्रिपाद्विभूतिमहानारायण, रामरहस्य, वासुदेव, हयग्रीव प्रभृति उपनिषदों की गणना होती है। इनमें से अनेक में विष्णु के विभिन्न अवतारों का वर्णन है। जप के लिए बहुविध वैष्णव मन्त्र मिलते हैं। 'सामरहस्योपनिषत्' सदृश उपनिषदों पर मधुरोपासना अथवा रसिकोपासना की प्रवृत्ति का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। 'रामतापिनी उपनिषद् में 'राम' शब्द की ऐतिहासिक एवं वैयुत्पत्तिक उभयविध व्याख्या की गई है :

> **चिन्मयेऽस्मिन् सहाविष्णौ जाते दशरथे हरौ।**
> **रघोः कुलेऽखिलं रात राजते यो महीस्थितः।।**
> **स राम इति लोकेषु विद्वद्‌भिः प्रकटीकृतः।।**

तथा–

> **रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।**
> **इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते।।**

परवर्ती वैष्णव-सम्प्रदायों के विकास में इन उपनिषदों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

संन्यास उपनिषदें

इस श्रेणी में निम्नलिखित २० उपनिषदों का उल्लेख प्रायः किया जाता है–आरूणि, लघुसंन्यास, कुण्डिका, कठश्रुति, परमहंस, जाबाल, ब्रह्म, आश्रम, मैत्रेय, नारद-परिव्राजक, निर्वाण, भिक्षुक, तुरीयातीतावधूत, वृहत्, संन्यास, परमहंसपरिव्राजक, परब्रह्म, बृहदेवधूत, याज्ञवल्क्य, शाट्यायनीय तथा लघ्ववधूत। इनमें संन्यास आश्रम के विभिन्न धर्मों तथा कृत्यों का प्रतिपादन है।

उपनिषदों की विवेचन–पद्धतियाँ

उपनिषदों में विषय-प्रतिपादन की अनेक पद्धतियाँ अपनाई गई हैं। इनमें पहेली पद्धति, सूत्र पद्धति, व्युत्पत्ति पद्धति, कथा पद्धति, दृष्टान्त पद्धति, संवाद पद्धति, समन्वय पद्धति, आत्मोक्ति पद्धति, प्रयोजन पद्धति, प्रतिगमन पद्धति प्रमुख हैं। पहेली पद्धति का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण श्वेताश्वतर में

है जहाँ सत्य को वर्तुलाकार चक्र की भाँति कहा गया है; तीनों गुण जिसकी कोटियाँ हैं, १६ कलायें जिसके प्रान्त हैं, पंचाशतभाव जिसकी तीलिकायें हैं, आदि। माण्डूक्योपनिषद् में सूत्र पद्धति स्वीकृत है जिससे परवर्ती दार्शनिक सूत्रों में भी इसका अनुगमन हुआ। व्युत्पत्ति-पद्धति ब्राह्मणकालीन ही है। बृहदारण्यक में 'पुरुष' का वास्तविक (निरुक्तिजन्य) अर्थ 'पुरिशय' अर्थात् 'हृदय रूपी दुर्ग में निवास करने वाला' बतलाया गया है। दृष्टान्त-पद्धति के भी बहुत उदाहरण हैं। आत्मा के अस्तित्त्व की अनुभूति-क्रिया के ज्ञान के लिए याज्ञवल्क्य ने दुन्दुभि, शंख, वीणा आदि के दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं। प्रतिगमन पद्धति में प्रश्न-परम्परा का अनुगमन किया जाता है। प्रत्येक नए प्रश्न का उत्तर हमें एक पद पीछे ले जाता है और अन्त में मूल प्रश्न तक पहुँच जाते हैं। बृहदारण्यक में एक बार राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा–'मनुष्य की ज्योति का अधिष्ठान क्या है ?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया–'सूर्य'। प्रश्नों की श्रृङ्खला सूर्य से शशि, शशि से अग्नि, अग्नि से आत्मा तक चली गई जो सब के मूल में स्वतः सर्वथा दीप्त ज्योति के रूप में स्थित है।

उपनिषद् युग के प्रमुख दार्शनिक

इस युग के प्रमुख दार्शनिकों में त्रिशंकु, प्रभात मैत्री, ऋषि, राथीतर, पौरुशिष्टि, नाक मौद्गल्य, महिदास ऐतरेय, कौषीतकि, पैंग्य, प्रतर्दन, शुष्कभृंगार, प्रवाहण जैबाल आदि रहस्यवादी और नीति दर्शक हैं। सृष्टि विचारक और मनोवैज्ञानिक के रूप में उद्दालक, प्राचीनशाल, बुडिल, शार्कराक्ष्य, इन्द्रद्युम्न, सत्यज्ञ दिव्याग्नि, रैक्व, अश्वपति कैकेय, सत्यकाम जाबाल, अजातशत्रु, पिप्पलाद, कबन्धि कात्यायन, स्वप्नमीमांसक सौर्यायणी गार्ग्य, शैव्य सत्यकाम, परतत्त्वचिन्तक सुकेशी भारद्वाज आदि अग्रगण्य हैं। यहीं वामदेव का उल्लेख भी आवश्यक है जिनकी पुनर्जन्म-मीमांसा में विशेष रुचि है। बृहदारण्यक के चौथे अध्याय में जीत्वन शैलिनि, उदक शौल्बायन, वर्कु वार्ष्ण, गर्दभीविपीत भारद्वाज, विदग्ध शाकल्य आदि अनेक परामनोवैज्ञानिकों का उल्लेख है। शाण्डिल्य, दध्यंच, सनत्कुमार, आरुणि, याज्ञवल्क्य आदि परतत्त्ववादी दार्शनिक हैं।

उपनिषदों में दार्शनिक मीमांसा

उपनिषदों में सृष्टिविज्ञान, मनोविज्ञान, परतत्त्वशास्त्र, नीतिशास्त्र और रहस्यवाद आदि प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध बहुत गम्भीर दार्शनिक विवेचन प्राप्त होता है। प्रो॰ रामचन्द्र रानाडे ने अपने भारतीय दर्शन और उपनिषदों के सर्वेक्षण में, इस पर आधुनिक प्राच्य-पाश्चात्य दर्शनों के आलोक में प्रचुर विवेचन किया है। यहाँ केवल निदर्शनार्थ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

(१) **ब्रह्म**–उपनिषदों का यह प्रमुख प्रतिपाद्य है। बृहदारण्यक के अनुसार वह न स्थूल है, न सूक्ष्म, न लघु है और न गुरु; उसमें न रस है और न गन्ध; उसके न आँख है और न कान; वह नित्य है :

'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्.......अरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रौत्रम्.....अस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च'–(बृहदा॰ ३.८.८–११)

केन उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म चक्षु, वाणी, मन आदि की गति से परे हैं; उसी की सत्ता से चक्षु, वाणी, मन, प्राण आदि अपने-अपने कार्य करते हैं :

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासते।। (१.५)

श्वेताश्वतर में ब्रह्म को सर्वव्यापी, कर्म-नियन्ता, साक्षी, चेतन, अद्वितीय और निर्गुण कहा गया है :

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।
(श्वेता॰ ६-११)

छान्दोग्य का मत है कि ब्रह्म के ईक्षण से ही सृष्टि की रचना होती है :
'सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत॰।'
(छान्दोग्य ६.२.२.३)

(२) **माया**–वेदान्त की माया का सर्वप्रथम वर्णन श्वेताश्वतर में हुआ है :

मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्।

(३) **त्रित्ववाद**–ईश्वर, जीव और प्रकृति की सत्ता और गुणों का वर्णन भी त्रित्ववाद के अन्तर्गत इसी श्वेताश्वतर में है :

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि वाकशीति।।

उपनिषदों की लोकप्रियता

वैदिक वाङ्मय में उपनिषद् सर्वाधिक लोकप्रिय रहे हैं। न केवल अपनी ज्ञान-गरिमा से ये स्वधर्मीजनों के कण्ठहार रहे हैं, प्रत्युत विधर्मियों और विदेशियों के लिए भी ये प्रबल आकर्षण सिद्ध हुए हैं। मुगल राजकुमार दाराशिकोह उपनिषदों का अत्यन्त प्रेमी भक्त था। उसने इनका फारसी में अनुवाद किया। उपनिषदों को वह 'दैवी रहस्यों का भण्डार' मानता था, इसीलिए इनके फारसी अनुवाद का नाम उसने 'सिर्र-ए-अकबर' (महान् रहस्य) रखा। वह उपनिषदों को उन तत्त्वों की व्याख्या मानता था, कुरान शरीफ में जिनकी ओर संकेत भर किया गया है–व्याख्या नहीं की गई। इस फारसी अनुवाद को फ्रांसीसी यात्री बर्नियर फ्रांस ले गया। वहाँ इसके फ्रेंच और लैटिन में अनुवाद प्रकाशित हुए।

विदेशों में उपनिषदों की लोकप्रियता सर्वाधिक १७वीं शती के उत्तरार्द्ध और १८वीं शती के पूर्वार्द्ध में बढ़ी। 'ओल्ड टेस्टामेंट' और 'न्यूटेस्टामेंट' से ऊबे बौद्धिक वर्ग को उपनिषदों से ही अपना मानसिक आहार प्राप्त हुआ। जरमन-दार्शनिक शापेनहावर भी उपनिषदों का परम भक्त था। उसका जीवन व्यथा के अतल सिन्धु में डूबा था; उसे शान्ति की अत्यधिक आवश्यकता और खोज थी; वह उसे उपनिषद् के स्वाध्याय से ही प्राप्त हुई। वह नित्य सोने से पूर्व कुछ समय तक उपनिषदों का पाठ करता था। उसने लिखा है कि उपनिषद् मेरे जीवन में शान्ति के साधन रहे हैं और मरणोत्तर काल में भी मुझे इनसे शान्ति प्राप्त होगी :

"It has been the solace of my life and will be the solace of my death."

षष्ठ अध्याय

वैदिक वाङ्मय : काव्य-दृष्टि से

साहित्यिक सौष्ठव की दृष्टि से भी वैदिक वाङ्मय की गुणवत्ता असन्दिग्ध है। काव्यात्मक सौन्दर्य के सन्दर्भ में वेदों के मूल्याङ्कन की प्रक्रिया तो निरुक्त में ही प्रारम्भ दिखलाई देती है, किन्तु विगत अर्धशती में यह अधिक तीव्र हुई है।[१] विद्वानों की यह मान्यता सुदृढ़ होती जा रही है कि वेद स्वयं काव्यरूप है और उसमें काव्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य पाया जाता है। काव्य-सौन्दर्य के आधायक रस, भाव, गुण, रीति और अलंकार प्रभृति सभी तत्त्व मूलरूप में वेदों में पाये जाते हैं। इन सभी का क्रमिक निरूपण करना आवश्यक है।

रस-निष्पत्ति और भाव-विभूति

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र की वैदिक उपजीव्यता को उद्घाटित करते हुए कहा है :

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।

इसके अनुसार ऋग्वेद से संवादों का, सामवेद से गीतों का, यजुर्वेद से अभिनयों का और अथर्ववेद से रसों का ग्रहण कर नाट्य-रचना सम्पन्न हुई। अभिप्राय यह कि अथर्ववेद को रस-स्रोत माना जाना चाहिए और अथर्ववेद में बहुत से ऋग्वेदीय मन्त्र हैं, इसलिए ऋग्वेद में भी रस गर्भ प्रसंग होने चाहिए। यहाँ शंका यह उत्पन्न होती है कि वैदिक काव्य अधिकांशतया मुक्तकात्मक है-इतिवृत्त से रहित और जहाँ कुछ ऐतिहासिक और रूढ़िपरक नाम दिखलाई देते हैं, वहाँ भी प्राचीन मीमांसक और आधिभौतिक व्याख्याकार इतिहास की सत्ता न मानकर उसकी व्याख्या

१. इस दृष्टि से जिन विद्वानों ने विशेष कार्य किया है, उनमें से कुछ ये हैं-कई प्रो. जे. खोण्डा, गेडनर, माइणकर, दिवेकर, पी. एस. शास्त्री, एन. जे. शेंदे, वेलणकर, माइणकर, मातृदत्तत्रिवेदी इत्यादि। कुछ प्रमुख अध्ययन इस प्रकार है :

(i) Der Rigveda, die alteste literature der Inder (A. Kaegi).
(ii) Stylistic Repetition of the Veda (GONDA, Amsterdam).
(iii) Les fleurs de shetorique dans Inde (Diwekar)
(iv) Some poetical aspects of the Rigvedic repetitions तथा 'ऋग्वेद कवि विमर्श' (माइणकर)
(v) Kavi and Kavya in the Atharvaveda (N.J. Shende)
(vi) अथर्ववेद: एक साहित्यिक अध्ययन (मातृदत्त त्रिवेदी)

यौगिक ढंग से प्राकृतिक घटनापरक कर देते हैं। आधुनिक काल में आर्य-समाज के अनुयायियों का भी यही अभिमत है। तात्पर्य यह कि रस-निष्पत्ति के लिए आवश्यक आलम्बन विभाव की स्थिति ही न बन पाने के कारण वैदिक काव्य में रस-निष्पत्ति कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर यह है कि वेद में इतिहास नहीं भी माना जाये, तब भी आलम्बन (नायक के लिए नायिका या नायिका के लिए नायक के रूप में) की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। उदाहरण के लिए पुरूरवा और उर्वशी को यदि वायु और विद्युत् मान लिया जाये, जैसाकि 'वाररुचनिरुक्तसमुच्चय' में नैरुक्तों के नाम से अभिमत प्रकट किया गया है,[२] तब भी रस-निष्पत्ति हो जायेगी–यदि अन्य स्थितियाँ अनुकूल हैं। 'मेघदूत' का यक्ष भी 'कश्चित्' ही है–उसका कोई नाम वहाँ नहीं दिया गया है, तब भी वहाँ रस-निष्पत्ति होती ही है। यदि रस-प्रक्रिया को ध्यान में रखा जाये तो नायक विशेष या नायिका विशेष के अभाव में साधारणीकरण की प्रक्रिया अधिक तेजी से कार्य करती है। निष्कर्ष यह कि वैदिक वाङ्मय में अनेक ऐसे सरस प्रसंग हैं, जिनमें निबिड रस-निष्पत्ति अनुभव होती है।

पुरूरवा और उर्वशी के संवाद में विप्रलम्भ शृंगार के अनेक हृदयद्रावक उदाहरण सन्निहित हैं। उर्वशी पुरूरवा से कहती है कि जैसे नीड से पक्षी उड़ जाते हैं, वैसे ही मैं तुम्हारे सान्निध्य को छोड़ चली हूँ। पुरूरवा ! तुम वापस लौट जाओ, मेरे मन में तो देवता आ समाये हैं :

उदपप्ताम वसतेर्वयो यथा रिणन्त्वा भृगवो मन्यमानाः।
पुरूरवः ! पुनरस्तं परेहि आ मे मनो देवजनाः अयान्त्स्युः।।[३]

प्रणय-प्रसंग में इससे बढ़कर और क्या त्रासदी हो सकती है कि प्रिय और प्रेयसी दोनों एक-दूसरे की मनो-वेदनाओं से परिचित हैं, एक दूसरे के सामने खड़े हैं–किन्तु विचित्र विडम्बना कि एक दूसरे के प्रणयपाश में आबद्ध नहीं हो सकते। इतने पर भी पुरूरवा के दुर्भाग्य का अन्त नहीं! किसी अदृष्ट संकेत से प्रेरित होकर उर्वशी उससे कह रही है कि पुरूरवा ! तुम घर लौट जाओ, मेरे मन में तो देवता आ समाये हैं ! वे देवता, जो पुरूरवा की तुलना में बहुत बौने हैं, वे जो लड़ाई में अपने प्रतिद्वन्द्वी से पिटने पर पुरूरवा की शरण में भागते हैं–वे जो भूमि-पुत्रों की तरह गहराई से प्रेम करना भी नहीं जानते हैं–उन देवताओं के प्रति उर्वशी के आकर्षण को और इस निष्ठुर तथ्य को स्वयं उसके मुख से सुनकर पुरूरवा के हृदय में ग्लानि, अवसाद, घृणा, क्रोध और शोक–कितनी भावनाएँ एक साथ उठी होंगी ! नारी की यह निष्ठुरता उसे कितनी असह्य प्रतीत हुई होगी। उर्वशी की निष्ठुरता से आहत पुरूरवा की स्थिति कितनी विषण्ण हो गई है–स्वयं उसी का कथन है कि हे उर्वशी ! अब मेरा बाण तरकस से बाहर नहीं निकलता, विजयश्री की उपलब्धि अब बहुत दूर की चीज हो गई है। युद्ध-भूमि में मरे योद्धा अब मेरी सिंह-गर्जना नहीं सुन पाते हैं :

२. नैरुक्तवक्षे तु पुरूरवः मध्यमस्थानो वाय्वादीनामेकतः पुरुरौति इति पुरूरवाः। उर्वशी विद्युत्-उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् अश्नुते दीव्यत इति उर्वशी। वर्षाकाले विद्युति विनष्टायां तया वियुक्तः स्तनयित्नु लक्षणं शब्दं कुर्वन् विलपति।
३. ऋग्वेद खिल ३-१९.१।

इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः।
अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः।।[४]

अथर्ववेद के अनेक सूक्तों में संयोग की कामना भी बहुत आवेगपूर्वक व्यक्त हुई है। किसी स्त्री के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करते हुए ऋषि-कवि का कथन है : मैं तेरे मन को अपनी ओर वैसे ही खींचता हूँ, जैसे आगे चलने वाला घोड़ा साथ चलने वाली घोड़ी को :

अहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ठ्यामिव।
रेष्माच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मन।। (६.१०२.२)

प्रेम की ऊष्मा से दग्ध स्त्री अपने प्रियतम को अपने दुपट्टे में बाँधकर रखना चाहती है, जिससे वह दूसरी स्त्रियों की ओर फूटी आँख से भी न देखे :

अभित्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन।। (७.३७)

नवदम्पति की कामना भी एक मन्त्र में बड़ी मनोरमता से व्यक्त हुई है: हम दोनों की आँखें मधुमयी बनें, हमारे ललाट बिन्दी से चमकें, मुझे अपने हृदय में स्थान दो, हम दोनों का मन एक हो जाये:

अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम्।
अन्तः कृणुध्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति।। (७.३६.१)।

शृंगार की ही भाँति वेद में अन्य रसों की भी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इन्द्र की वीरता का वर्णन करते हुए ऋषि गृत्समद का कथन है– इन्द्र के बिना मनुष्य युद्ध में विजय नहीं प्राप्त कर सकता। युद्ध करते हुए सैनिक अपनी रक्षा के लिए उसे टेरते हैं। वह वीरता में अप्रतिम है, अपराजेय व्यक्तियों को भी इन्द्र पराजित कर देता है :

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत स जनास इन्द्रः।।[५]

अथर्ववेद में 'रस' शब्द ३० बार आया है। लाक्षणिक रूप से उसे आलोच्य 'रस' के सन्दर्भ में लिया जा सकता है। रति के अतिरिक्त शोक, भय, क्रोध और विस्मयादि भावों की अभिव्यक्ति भी वैदिक काव्य में स्थान-स्थान पर हुई है। अथर्ववेद के कृत्या सूक्तगत एक मन्त्र में, जो सम्प्रति खिलरूप में है, कहा गया है कि जिस पेड़ पर विद्युत् गिरती है, वह जैसे जड़ से सूख जाता है, वैसे ही कृत्या उस व्यक्ति को सुखा दे, जिसके हृदय में हमारे प्रति पाप-भावना है :

४. ऋग्वेद संहिता १०.९५.३।
५. वही २.१२.९।

यथा विद्युद्धतो वृक्ष आ मूलादनु शुष्यति।
एवं स प्रति शुष्यतु यो मे पापं चिकीर्षति।।

अब यहाँ सूखकर ठठरी मात्र रह गये वृक्ष और तिल-तिल कर सूखते जा रहे मनुष्य के रक्त-मांसविहीन कंकाल की कल्पना मात्र ही रोंगटे खड़े कर देती है।

वैदिक काव्य में शब्द-शक्तियाँ

वैदिक काव्य को शास्त्रकारों ने सामान्यत: शब्द प्रधान कहा है–तदनुसार अभिधा का इसमें प्राधान्य है। लेकिन काव्य में अभिधा का विशेष महत्त्व नहीं होता, इसलिए ऋषि-कवि ने वेद में भी लक्षणा का आश्रय स्थान-स्थान पर लिया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में विद्यमान लाक्षणिक प्रवृत्ति को तो निरुक्तकार यास्क तक ने इंगित किया है–'बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि' (७.२४)। अभिप्राय यह कि ब्राह्मणों ने देवों के विषय में भक्ति अथवा गुण-कल्पना के माध्यम से बहुविध तात्त्विक अन्वेषण किया है। अर्थवाद के तीन भेद हैं–गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। इनमें से गुणवाद लक्षणा के अत्यन्त निकट है। परवर्ती मीमांसकों और काव्यशास्त्र के आचार्यों ने दोनों को एक ही मानकर विवेचन किया है। गुणवाद के सन्दर्भ में प्राप्य वैदिक उदाहरण इस प्रकार हैं–'स्तेनं मन:', 'आदित्यो यूप:', 'श्रृणोत ग्रावाण:' इत्यादि। इनकी सीधे-सीधे अभिधाशक्ति के द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकती। 'पत्थर सुनें !' -यह कथन आपातत: उन्मत्त-प्रलाप-सदृश लगता है–यदि केवल अभिधा पर निर्भर रहा जाये, तो। इसी कारण ऐसे वाक्यों में मीमांसकों ने लक्षणा का आश्रय लिया है, जिसका प्रयोजन प्रातरनुवाक की मार्मिकता का द्योतन है। जिसे पत्थर भी तन्मयता से सुनते हैं, फिर विद्वानों और सहृदयों की बात ही क्या ! नदी की स्तुति के सन्दर्भ में प्राप्त विशेषणों–चक्रवाकस्तनी, हंस-दन्तावली, काशवस्त्रा और शैवालकेशिनी–की व्याख्या शाबरभाष्य में भी लाक्षणिक दृष्टि से की गई है। उनका कथन है–'असतोऽर्थस्य अभिधायके वाक्ये गौणस्य अर्थस्य उक्तिर्द्रष्टव्या' (ऋग्भाष्यभूमिका में सायण के द्वारा उद्धृत)।

साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में, लक्षणा-निरूपण के प्रसंग में आचार्यों ने इसीलिए 'सिंहो माणवक:', 'गौर्वाहीक:' प्रभृति लौकिक उदाहरणों के साथ ही 'यजमान: प्रस्तर:', 'आदित्यो यूप:' इत्यादि वैदिक उदाहरण उन्मुक्तता से दिये हैं। भोजराज ने तो एक पग आगे बढ़कर अर्थवादात्मक लाक्षणिक प्रयोगों में निहित काव्यात्मक चारुता को भी वचन-वक्रता के रूप में पहचानने की चेष्टा की है–'वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति श्रुति:'–(शृंगारप्रकाश)।

जहाँ तक व्यंजना की बात है, वैदिक काव्य में उसके अस्तित्व को मीमांसकों ने मान्यता नहीं दी है।

अलंकार सौष्ठव

वैदिक वाङ्मय में उपमा और रूपक प्रभृति अलंकारों का प्रचुर प्रयोग दिखलाई देता है। वेद से लेकर आज तक इतने व्यापक रूप में और परिमाण में उपमा का व्यवहार हुआ है कि राजशेखर

ने उसे अलंकार शिरोमणि, काव्यसम्पदा की सर्वस्व और कवियों की माता की गरिमा से सम्पन्न बतलाया है :

अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्व काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम।।

अप्पय दीक्षित के अनुसार उपमा एक नर्तकी के समान है, जो काव्य के रंगमंच पर अवतीर्ण होकर अपने चित्र-विचित्र रूपों के द्वारा काव्य-रसिकों के हृदय को विमुग्ध कर देती है :

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्य चित्रभूमिकाभेदेन।
रञ्जयति काव्य-रंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः।। (चित्रमीमांसा)

उपमा का वेद के सन्दर्भ में, सर्वप्रथम विवेचन यास्क ने निरुक्त में किया है। तदनुसार उपमावाचक निपात चार हैं–'इव', 'न', 'चित्' और 'नु'। उपमा को परिभाषित करते हुए यास्क ने पहले गार्ग्य का मत दिया है, जिनके अनुसार उपमा का विषय उपमा से भिन्न होने पर भी उसके सदृश होता है–'यद् अतत् तत्सदृशं तदासां कर्म इति गार्ग्यः।' इसके अनन्तर यास्क का अपना मत है–उपमा में अधिक गुण वाले अथवा अत्यन्त प्रख्यात उपमान के साथ न्यून गुण वाले अथवा अल्प प्रसिद्ध उपमेय का सादृश्य प्रदर्शित किया जाता है

–ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा अप्रख्यातं वा उपमिमीते
(–निरुक्त ३.३.१३)

निरुक्तकार ने उपमा के कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा और लुप्तोपमा संज्ञक भेदों का उल्लेख किया है। भूतोपमा का अर्थ है रूप-परिवर्तन; यथा 'तुम भेड़ का रूप बनाकर आये हो।' कर्मोपमा में 'यथा' का प्रयोग वाचक शब्द के रूप में होता है–'यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।' लुप्तोपमा वस्तुतः रूपक है, जिसका नामान्तर अर्थोपमा भी है।

ऋग्वेदीय उषस् सूक्त (५.८०) के अन्तिम दो मन्त्रों में उषस् की समानता रूपगर्विता लावण्यमयी नारी, खड़ी होकर स्नान करने वाली युवती तथा सुन्दर स्वभाव वाली प्रिया के साथ प्रदर्शित है :

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशयेनो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्।।

–यह उषा किसी रूपगर्विता लावण्यमयी नारी के समान, खड़ी होकर स्नान करने वाली किसी युवती के सदृश इसलिए खड़ी रहती है कि हम दर्शन कर सकें। आकाश की कान्तिमयी कन्या उषा अन्धकार को दूर हटाती हुई अपने मनोरम तेज के साथ आ पहुँची है।

एषा प्रतीची दुहिता दिवो नॄन् योषेव भद्रा निरिणीते अप्सः।

–उषस् पुरुषों के सामने खड़ी होकर किसी सुशीला युवती प्रिया के सदृश अपने वस्त्र को उघाड़ रही है।

'उतत्वः पश्चयन्न ददर्श वाचम्' (ऋ॰ सं॰ १०.७१.४) प्रभृति प्रसिद्ध मन्त्र में वाणी को भी इसी प्रकार अपने को प्रकट करती हुई दिखाया गया है, जैसे सुन्दर वस्त्रों वाली कान्ता पति के सम्मुख अपने को उघाड़ देती है :

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासा।

विश्वामित्र-नदी-संवाद (३.३३) में नदियाँ विश्वामित्र से कहती हैं कि हे कवि ! हम तुम्हारे वचनों को ध्यान से सुनेंगी, क्योंकि तुम बहुत दूर से आये हो ! दूध से भरे हुए स्तनों वाली स्त्री की तरह तथा युवा प्रियतम के सम्मुख आत्म-समर्पण करने वाली कामातुरा कन्या के समान मैं तुम्हारे सामने झुकूंगी :

आते कारो श्रृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते।।

सूर्य उषा का पीछा उसी प्रकार करता है, जैसे कोई युवक किसी युवती का पीछा करता है :

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात् (ऋ॰ सं॰ १.११५.२)

कहीं-कहीं पक्ष और विपक्ष दोनों में ही उपमाएँ व्यवहृत हैं :

अप्रपाणा च वेशन्ता रेवाँ अप्रतिश्चयः।
अयभ्या कन्या कल्याणी त्वो ता कल्पेषु सम्मिता।।[६]

–जैसे बिना पनघट वाला सरोवर और दान न देने वाला धनिक व्यर्थ है, वैसे ही मैथुन की दृष्टि से अयोग्य कन्या व्यर्थ है।

सुप्रपाणा च वेशन्ता रेवां सुप्रतिश्चयः।
सुयभ्या कन्या कल्याणी त्वो ता कल्पेषु सम्मिता।।

–जैसे पनघट सहित सरोवर और दानशील धनिक उपयोगी है, वैसे ही मैथुन की दृष्टि से सुयोग्य कल्याणी कन्या वरेण्य है।

रँभाती हुई गायों का उपमान भी वैदिक कवि को बहुत प्रिय है। इन्द्र ने पर्वतों में रह रहे वृत्र पर जब वज्र से प्रहार किया तो निरुद्ध जल की वेगवती धाराएँ समुद्र की ओर वैस ही जोरों से प्रवाहित हो उठीं, जैसे सायंकाल रँभाती हुई गायें चरागाहों से दौड़ पड़ती हैं :

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यंततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ।। (ऋ॰ सं॰ १.३२.२)

मण्डूक सूक्त (७.१०३) में वैदिक कवि को मण्डूकों की टर्र-टर्र रट्टू तोते शिष्यों के पाठाभ्यास-सी प्रतीत हुई है :

६. ऋग्वेद खिल ५.९.२।

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सुच।।

उपमा के अनन्तर वैदिक काव्य में सर्वाधिक प्रयोग रूपक अलंकार का हुआ है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण निम्नलिखित मन्त्र है :

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।

(ऋग्वेद १.१६४.२०)

इसमें जीव और परमात्मा का निरूपण दो सुन्दर पक्षियों के रूप में एक ही वृक्ष पर समासीन रूप में किया गया है। इनमें से एक स्वादिष्ट फलों का भोक्ता है और दूसरा मात्र तटस्थ द्रष्टा है।

विद्वानों ने इसमें विभावना और विशेषोक्ति अलंकारों की भी उद्भावना की है। साथ ही अनुप्रास भी है। मन्त्रगत 'अनश्नन् अन्यः अभिचाकशीति' (फलास्वादन न करते हुए भी अपने तेज को प्रकट कर रहा है) अंश में विभावना अलंकार है, जिसका लक्षण है–बिना हेतु के कार्य होना (विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते)–फल का भोग ही दैहिक सौन्दर्य या तेज का जनक है, जबकि यह कार्य यहाँ बिना फल-भोग-रूप हेतु के ही हो रहा है। इसी को उलट देने पर विशेषोक्ति हो जाती है–'सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिर्बुधैर्मता'–हेतु के होने पर भी फल का न होना। यहाँ 'अनश्नन्' के रूप में तेज के अभाव का कारण विद्यमान है, किन्तु वह है नहीं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में तो रूपकों का बाहुल्य ही है, क्योंकि कुमारिल भट्ट के कथनानुसार रूपक के द्वारा यज्ञ की स्तुति अनुष्ठान-काल में यजमानों तथा समवेत जनों में उत्साह भावना का संचार करती है :

रूपकद्वारेण यागस्तुतिः कर्मकाले दृढोत्साहं करोति।

नर-नारी सम्बन्ध अथवा मिथुन भाव रूपक-सृष्टि के सन्दर्भ में ब्राह्मणग्रन्थकारों की सर्वाधिक प्रिय थीम है–क्योंकि इसके प्रति मानव-मन में स्वभावतः सर्वाधिक आकर्षण होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् में वामदेव्यसाम और उसकी विभिन्न भक्तियों के सन्दर्भ में कहा गया है कि पुरुष के द्वारा नारी को किया गया संकेत हिंकार है, उसे प्रसन्न करने के लिए मीठी-मीठी बातें कहना प्रस्ताव है, सहशयन उद्गीथ है और प्रत्येक प्रिया से अनुकूल व्यवहार प्रतिहार है–इसी क्रम में मैथुन करना निधन स्वरूप है :

उपमन्त्रयते स हिङ्कारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्री सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनं तद् वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् (२.१३.१)।

यज्ञानुष्ठान के सन्दर्भ में भी नर-नारी सम्बन्धगत रूपक का आश्रय लिया गया है। तदनुसार स्त्री की जननेन्द्रिय समिधास्वरूप है, क्योंकि वह उससे पुत्रादि उत्पन्न करने के लिए समिद्ध होती है। सहवास हेतु पुरुष के द्वारा स्त्री को मनाना (उपमन्त्रण) धूम है, योनि ज्वालारूप है, सहवास की विभिन्न स्थितियाँ अंगाररूप हैं तथा आनन्द स्फुलिंग स्वरूप है।

इसी उपनिषद् में आदित्य का निरूपण देव-मधु के रूप में है। द्युलोक उसका तिरछा बांस है। अन्तरिक्ष छत्र है और किरणें मधुमक्षिका-शिशु हैं (–छा॰ उप॰ ३.१.१)।

वैदिक वाङ्मय का सर्वाधिक सुदीर्घ रूपक ताण्ड्य ब्राह्मण में है, जिसमें विश्वसृष्टि को एक यज्ञ के रूप में उपस्थित किया गया है (तां॰ ब्रा॰ २५.१८.४)।

वैदिक वाङ्मय में लोक-काव्य

वैदिक वाङ्मय में एक विशेष प्रकार का लोक-काव्य प्राप्त होता है, जिसे 'गाथा' कहा गया है। यह गीति-काव्य की श्रेणी में आती है। प्रवाद है कि गाथा मानव से सम्बन्ध रखती है और ऋक् देवताओं से–वास्तव में ही, गाथाओं में मानवीय संवेदना अधिक घनीभूत हो पाती है। एक ऋङ्मन्त्र में गाथा मन्त्रों का वर्गीकरण इस प्रकार है :

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम् (ऋ॰ सं॰ १०.८५.६)

इसके अनुसार रैभी और नाराशंसी इत्यादि गाथाएँ हैं। विण्टरनित्स प्रभृति की सम्मति में नाराशंसी (मनुष्यों की प्रशंसापरक रचनाओं) से ही आगे वीर काव्यों की परम्परा का विकास हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण में शुन: शेप का आख्यान १०० गाथाओं से युक्त (शतगाथम्) माना गया है। 'चरैवैति चरैवेति' प्रभृति अंश गाथाओं के ही हैं। अनेक श्रौतयागों और गृह्यनुष्ठानों में गाथा-गान का विधान है। वेद के ही सदृश अवेस्ता में भी गाथाएँ प्राप्त होती हैं। गाथाओं की विषय वस्तु में दानशीलता, वीरता, परोपकार प्रभृति हैं। अवेस्तागत गाथाओं में जरथुस्त्र के जीवन और कार्यों का वर्णन है। आगे चलकर प्राकृत में भी 'गाहासत्तसई' (गाथा सप्तशती) के रूप में गाथा की परम्परा बनी रही। हिन्दी में, दोहा छन्द में नीति विषयक जो रचनाएँ लिखी गईं–उन पर गाथा-शैली का प्रभाव देखा जा सकता है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'गाथा' एक लोकशैली का काव्यरूप है। गाथाओं का गान करने वालों की एक पृथक श्रेणी वैदिक काल में वैसे ही होती होगी, जैसे आल्ह-खण्ड गाने वाले आज अवध के अंचल में पाये जाते हैं।[७]

पदावृत्ति और अक्षरावृत्ति जन्य काव्य-लालित्य

वैदिक काव्य में पदावृत्ति और अक्षरावृत्तिजन्य एक विशेष प्रकार का लालित्य दिखलाई देता है। वैदिक कवि की यह विशिष्ट रीति अथवा प्रवृत्ति है। खोण्डा[८] और माइणकर ने इसके सन्धान की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के एक सूक्त (८.८५) के प्रत्येक मन्त्र के अन्तिम पाद के रूप में 'मध्व: सोमस्य पीतये' की आवृत्ति की गई है। सूक्त के सभी नौं मंत्रो में यह

७. गाथा के विषय में निम्नलिखित ग्रन्थ अनुशीलनीय हैं : (क) J.M. Chatterjee : Ethical conception of the GATHA. (ख) Taraporewala : Gathas, their philosophy.

८. इनकी पुस्तकों का उल्लेख पहले हो चुका है।

आवृत्ति विद्यमान है। इसी प्रकार त्रित (आप्त्य) के द्वारा दृष्ट एक सूक्त (८.४७) के १३ मन्त्रों के अन्त में 'अनेहसो व ऊतय: सु ऊतयो व ऊतय:' की आवृत्ति की गई है। गृत्समद के द्वारा दृष्ट इन्द्र से सम्बद्ध एक सूक्त (२.१२) के १४ मन्त्रों में अन्त में 'स जनास इन्द्र:' की आवृत्ति उल्लेखनीय है। इन्द्र के ही एक अन्य सूक्त (ऋ० १०.११९) के १३ मन्त्रों के अन्तिम पाद के रूप में 'कुवित् सोमस्यापामिति' की आवृत्ति उल्लेखनीय है। सुप्रसिद्ध 'हिरण्य गर्भ' सूक्त (ऋ० सं० १०.१२१) के नौ मन्त्रों के अन्त में 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' की आवृत्ति हुई है। वरुण के एक सूक्त (७.८९) में, 'मृळा सुक्षत्र मृळ' की आवृत्ति चार मन्त्रों के अन्त में निरन्तर है। नवम मण्डल के एक सोम सूक्त (९.११३) में, ११ मन्त्रों के अन्तिम पाद के रूप में 'इन्द्रायेन्दो परि स्रव' की आवृत्ति हुई है। निर्ऋतिपरक एक सूक्त (ऋ० १०.५९) के प्रथम चार मन्त्रों के अन्त में 'परातरं सु निर्ऋतिर्जिहीताम्' की आवृत्ति हुई है। दशम मण्डल के एक सूक्त (१०.५८) के सभी १२ मन्त्रों में पूरी की पूरी दूसरी पंक्ति 'तत् त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे' को दोहरा दिया गया है। यमी (वैवस्वती) के द्वारा दृष्ट सूक्त (१०.१५४) के पाँचों मन्त्रों में 'अपि गच्छतात्' की आवृत्ति है। अथर्ववेद एवं अन्य संहिताओं में भी यह प्रवृत्ति विद्यमान है। अथर्ववेद के एक प्राणविषयक सूक्त (अथर्ववेद २.१५) में उपमाओं की माला-सी गूँथी गई है। इसमें प्रथम पाद ही प्रत्येक मन्त्र का भिन्न है। अन्तिम दो पाद वही हैं। उदाहरण के लिए सूक्त का प्रथम मन्त्र यों है :

यथा द्यौश्च पृथिवी च न विभीतो न रिष्यत:।
एवा मे प्राण मा विभे:।।

हमारे विचार से इस आवृत्ति का प्रयोजन वर्ण्य-विषय पर बलाघात तो है ही, अभिव्यक्ति की संप्रेषणीयता का संवर्धन भी है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में पदावृत्ति के साथ अक्षरावृत्तिजन्य लालित्य भी उल्लेखनीय है। ताण्ड्य ब्राह्मण का यह अंश उदाहार्य है :

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वा प्रवृदसि
प्रवृते त्वाऽनुवृदस्यनुवृते त्वा सवितृप्रसूता बृहस्पतये स्तुत (१.१०.९-१०)।

निरोहोऽसि निरोहाय त्वा सरोहोऽसि सरोहाय त्वा प्ररोहोऽसि प्ररोहाय त्वाऽनुरोहोऽस्यनुरोहाय त्वा सवितृप्रसूता बृहस्पतये स्तुत (वही)।

आक्रमोऽस्याक्रमाय त्वा संक्रमोऽसि संक्रमाय त्वोत्क्रमोऽस्त्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरसि उत्क्रान्त्यै त्वा सवितृप्रसूता बृहस्पतये त्वा।

उपर्युक्त तीनों अंशों में पदों और अक्षरों की आवृत्ति से नाद सौन्दर्य उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है।

निष्कर्ष

पद्य-भाग के सदृश वैदिक वाङ्मय का गद्यभाग भी काव्यात्मक सौन्दर्य से अनुप्राणित है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि वैदिक काव्य अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टि

से अत्यन्त मनोरम है। संभव है, श्रेण्य संस्कृत-साहित्य की तरह इसमें यमक और श्लेष प्रभृति चमत्कारबहुल अलंकारों का प्रयोग न हो; गौड़ी और पाञ्चाली शैलियों का गद्यबन्ध न हो; 'बृहत्त्रयी' के कवियों-सी कल्पना की ऊँची उड़ान न हो, लेकिन अपनी निश्छल अभिव्यक्ति, स्वाभाविक और सहज अनुभूति तथा प्रसन्न प्रवाह के कारण वैदिक काव्य की गरिमा निरन्तर अपनी ओर हमें आकृष्ट करने में समर्थ है।

वैदिक ऋषि में दैवी दर्शन शक्ति तो है ही, प्रभावपूर्ण वर्णनाशक्ति भी है। वह सच्चे अर्थों में कवि (स्रष्टा) है। 'कवि' और 'काव्य' शब्दों का मन्त्र-संहिताओं में अनेक बार प्रयोग हुआ है। वैदिक कवि धीर और मेधावी तो है ही, साथ ही मनीषी भी है। वेद में कवि के पर्याय रूप में विप्र, कारु, जरितः, गृणत्, स्तुवत्, गायत् और स्तोतृ प्रभृति पदों का प्रयोग हुआ है। इन नामों से उसकी विभिन्न विशेषताओं की जानकारी मिलती है। वेद में काव्य-कर्म के सन्दर्भ में 'गै', 'ह्वे', 'स्तु', 'अर्थ' प्रभृति धातुओं का प्रयोग हुआ है। इसी परम्परा में, वेद में काव्य के समानार्थक शब्दों में से कुछ ये हैं—ऋक्, अर्क, उक्थ, स्तोत्र, स्तोम, धी, मनीषा, शंस, मन्मन्, मति, गाथा, गीः, वाक्, वचस् तथा ब्रह्म इत्यादि। इनसे काव्य की उदात्त स्थिति स्वतः प्रतिध्वनित है। यह वस्तुतः देवता का काव्य है जो न पुराना पड़ता है और न विनष्ट होता है—'पश्य देवस्य काव्यं यो न ममार न जीर्यति' (अथर्ववेद १०.८.३२)।

वास्तव में, काव्य के रूप में वैदिक काव्य की रमणीयता अपने सम्पूर्ण सन्दर्भों में अनुद्घाटित ही है। राजशेखर ने इसकी आवश्यकता का अनुभव बहुत पहले ही कर लिया था। संभवतः इसीलिए उन्होंने अलंकार नामक एक नये (सप्तम) वेदांग का प्रस्ताव भी रखा था :

उपकारकत्वात् अलंकारः सप्तममंगम् इति यायावरीयः
ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानात् वेदार्थानवगतिः।

(का०, द्वि० अ०)

किन्तु राजशेखर का प्रस्ताव किन्हीं कारणों से 'काव्यमीमांसा' तक ही रह गया और इसीलिए वेद-काव्य का सौन्दर्य हम सम्यक् रीति से शायद अब तक पहचान नहीं पाये। वेदों के अनुशीलन की दिशा में विद्वानों की निरन्तर सक्रियता से, इस सन्दर्भ में भी, भविष्य के प्रति, निराशा का कोई कारण समीचीन नहीं प्रतीत होता।

सप्तम अध्याय

वेदाङ्ग साहित्य

कालान्तर से वेद जब दुर्बोध प्रतीत होने लगे, तो उनके अध्ययन-सौकर्य के आग्रहवश विभिन्न वेदाङ्गों की आवश्यकता अनुभव हुई। वेदाङ्गों के रूप में अत्यन्त विशाल साहित्य का प्रणयन तदनुसार सम्पन्न हुआ। वेदाङ्ग वास्तव में वे सहायक तत्त्व हैं, जिनसे वेदों को समझने और उनके कर्मकाण्ड के संपादन में सहायता प्राप्त होती है। 'अंग' शब्द का निर्वचनमूलक अर्थ भी यही है-'अङ्‌ग्यन्ते ज्ञायन्ते एभिः इति अङ्‌गानि।'

वेद-मन्त्रों के सम्यक् उच्चारण, वेदार्थ के समुचित परिज्ञान, वेद-स्वरूप की अवगति तथा यागों के विधिपूर्वक अनुष्ठान के निमित्त छह वेदाङ्गों की योजना दिखलाई देती है। 'शिक्षा' संज्ञक वेदाङ्ग मन्त्रों का साधु उच्चारण सिखलाता है। 'कल्प' का प्रयोजन यज्ञ-विधियों का विधान है-'कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र।' व्याकरण और निरुक्त वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति बतलाते हुए वेदार्थ पर प्रकाश डालते हैं। 'ज्योतिष' वेदाङ्ग कर्मानुष्ठान का कालज्ञापक है और छन्दोमयी वेद-वाणी के छन्दों का ज्ञान छन्दोवेदाङ्ग से होता है। विभिन्न यागों में भिन्न-भिन्न छन्दस्क मन्त्रों का विनियोग है, जिसे छन्दोज्ञान के बिना नहीं क्रियान्वित किया जा सकता।

वेदाङ्गों का सर्वप्रथम उल्लेख 'मुण्डकोपनिषद्' (१.१.५) में है :

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति।

पाणिनीय शिक्षा (४१-४२) में वेदपुरुष का वर्णन करते हुए उसके छह अंगों के रूप में सभी वेदाङ्ग उल्लिखित हैं तदनुसार छन्द वेद पुरुष के पैर, कल्प हाथ, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त कान, शिक्षा नासिका और व्याकरण मुख है :

छन्दः पादौ तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।

इस सन्दर्भ में उल्लेख्य है कि वेदाङ्गों का क्रम मुण्डकोपनिषद्गत रूप में ही मान्य है।

वेदाङ्ग शिक्षा

यह स्वर, वर्ण इत्यादि की उच्चारण-विधि सिखलाती है। सायण के शब्दों में-'स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो

यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा।'[1] उच्चारण के निमित्त स्थान, प्रयत्न, वर्णों की संख्या और प्रकृति आदि के विषय में अभीष्ट ज्ञान इसी वेदाङ्ग से होता है। पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है कि बिल्ली जिस प्रकार अपने बच्चे को दाँत से पकड़ती है–न तो बच्चे गिरते हैं और न उन्हें दाँत गड़ते ही हैं उसी प्रकार सन्तुलन बनाए रखकर अक्षरों का उच्चारण करना चाहिए।[2] सम्यक् उच्चारण के लिए उदात्तादि स्वरों का ज्ञान भी आवश्यक है। ये स्वर अर्थ परिवर्तन के विधायक भी हैं। इस विषय में, स्वर-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन को ज्ञापित करने वाली एक प्रसिद्ध घटना है कि अशुद्ध स्वर के उच्चारण से कितना अनर्थ हो जाता है। इन्द्र को पराजित करने के लिए शुक्राचार्य वृत्रासुर से यज्ञ करा रहे थे। उन्होंने मंत्र-पाठ किया–'इन्द्र शत्रुर्वर्धस्व स्वाहा।' उनका उद्देश्य था कि हे इन्द्र के नाशक (शत्रु) ! तुम बढ़ो। यहाँ तत्पुरुष समास होने के कारण अन्तोदात्त होना चाहिए था, किन्तु भ्रान्तिवश आद्युदात्त का उच्चारण हो गया जो बहुव्रीहि समास में होता है; फलस्वरूप अर्थ हुआ–इन्द्र शत्रु (शातयिता, नाशक) हैं जिसके, वह बढ़े। इस तरह वृत्रासुर ही मारा गया :

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।[3]

वेदाध्ययन में शुद्ध उच्चारण पर बहुत बल रहा है। व्याकरण महाभाष्य से ज्ञात होता है कि गुरु उदात्त के स्थान पर अनुदात्त स्वर का उच्चारण करने वाले शिष्य के मुँह पर चपेटा मारकर उसके उच्चारण में संशोधन कर देता था–'उदात्तस्य स्थाने अनुदात्तं ब्रूते खण्डिकोपाध्यायः तस्मै शिष्याय चपेटिकां ददाति।' पाणिनीय शिक्षा में छः प्रकार के अधम पाठकों का उल्लेख है :

गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः।।

अर्थात् गाकर, शीघ्रतापूर्वक, सिर हिलाकर, लिखे हुए को, बिना अर्थ जाने और अल्पकण्ठ से मंत्रपाठ करने वाले–ये छः निम्नकोटि के पाठक हैं।

शिक्षा वेदाङ्ग का निरूपण उपनिषद्-काल से ही प्रारम्भ हो गया था। तैत्तिरीय उपनिषद्-काल से ही प्रारम्भ हो गया था। तैत्तिरीय उपनिषद् की 'शीक्षावल्ली' में शिक्षा के छः नाम दिए गए हैं : १. वर्ण २. स्वर ३. मात्रा ४. बल ५. साम ६. सन्तान।

शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, सन्तानः, इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।

इनमें पाणिनीय शिक्षा ने ६३ (संवृत अ को विवृत अ से पृथक मानने पर ६४) वर्ण बतलाए हैं–'त्रिः षष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शंभुमते मताः।'

१. ऋग्वेद भाष्य भूमिका, पृ० ४८।
२. व्याघ्री यथा हरेद्पुत्रं दंस्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
३. पाणिनीय शिक्षा, ५२।

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन प्रमुख स्वर हैं इनके अवान्तर भेदोपभेदो का ज्ञान भी आवश्यक है। स्वरों के उच्चारण में लगने वाला काल मात्रा कहलाता है। ये तीन हैं–ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। ह्रस्व को एक मात्रा कालिक, दीर्घ को द्विमात्राकालिक और प्लुत को त्रिमात्राकालिक माना गया है।

वर्णोच्चारण में होने वाले प्रयत्न तथा उनके उच्चारण-स्थान को बल कहते हैं। आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्न हैं तथा कण्ठ और ताल्वादि उच्चारण स्थान हैं।

साम का अभिप्राय स्पष्ट एवं सुन्दर स्वर में उच्चारण है। पाणिनीय शिक्षा में ये छः पाठक के गुण बतलाए गए हैं :

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्य्यं लयसमर्थञ्च षडेते पाठका गुणाः।।

अर्थात् माधुर्य, स्पष्टाक्षर-विन्यास, पदों की पृथकता, सुस्वरता, धैर्य और लय ये छः पाठक के गुण हैं।

संतान का अभिप्राय है संहितापाठ अर्थात् पदपाठ में प्रयुक्त शब्दों में सन्धि-नियमों का सन्निवेश। सन्धि-नियमों का ज्ञान और उनका यथास्थान प्रयोग बहुत आवश्यक है।

शिक्षा ग्रन्थ[४]

पाणिनीय शिक्षा आदि शिक्षा ग्रन्थों में शुद्ध उच्चारण और स्वर-संचार आदि से सम्बद्ध विभिन्न उपयोगी नियम दिए हुए हैं। उपलब्ध शिक्षाओं की संख्या ३४ है जिनमें पाणिनीय शिक्षा और व्यास शिक्षा विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। अन्य शिक्षाओं में याज्ञवल्क्य-शिक्षा, वासिष्ठी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, माण्डव्य शिक्षा, अमोघानन्दिनी शिक्षा, माध्यन्दिनी शिक्षा, वर्णरत्नप्रदीपिका, केशवी शिक्षा, मल्लशर्म-शिक्षा[४] स्वराङ्कन शिक्षा, षोडश श्लोकी शिक्षा, अवसाननिर्णय शिक्षा, स्वरभक्तिलक्षण शिक्षा, प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षा, नारदीया शिक्षा, गौतमी शिक्षा, लोमशी शिक्षा, माण्डूकी शिक्षा, क्रमसन्धान शिक्षा, गलदृक् शिक्षा, मनःस्वार शिक्षा आदि उल्लेखनीय हैं। ये शिक्षायें जिनके नामों से सम्बद्ध हैं, वे इनके रचयिता नहीं हैं। इनकी रचना का श्रेय उनके शिष्यों को ही है। अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है वे इनके पारम्परिक प्रवक्ता हैं। वास्तव में इन ग्रन्थों की बड़ी उपयोगिता है क्योंकि इनमें अनेक महत्त्वपूर्ण ध्वनिवैज्ञानिक निष्कर्ष संचित हैं। वर्णों के भेद-प्रभेद, प्रकृति, साम्य-वैषम्य आदि के साथ ही अन्य आवश्यक तथ्य भी इनमें संकलित हैं। उदाहरण के लिए माण्डव्य शिक्षा में वाजसनेयी संहिता में आगत ओष्ठ्य वर्णों पर विचार किया गया है। वर्णों के स्वरत्व और व्यञ्जनत्व के निर्णय का प्रयत्न भी कहीं-कहीं

४. शिक्षा ग्रन्थों में, विभिन्न शिक्षाओं की अपेक्षा प्रातिशाख्यों में अधिक गम्भीरता है अतः उनका उल्लेख पहले होना चाहिए था किन्तु वस्तुतः प्रातिशाख्य ग्रन्थ शिक्षा, व्याकरण और छन्द इन तीनों वेदाङ्गों से सम्बद्ध है अतः अन्त में ही उनका परिचय समीचीन है।

दिखाई देता है। नारदीय शिक्षा में सामवेदीय स्वरों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

इसी सन्दर्भ में आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमी आदि के शिक्षा-सूत्रों का उल्लेख भी आवश्यक है। इनमें अक्षरों की उत्पत्ति, स्थान, प्रयत्न आदि का विस्तृत विवेचन है।

वेदाङ्ग कल्प

वेदाङ्गों में कल्पसूत्रों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सायण के अनुसार 'कल्प' का अर्थ है यज्ञिय विधियों का समर्थन और प्रतिपादन–'कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र इति व्युत्पत्तेः।' विष्णुमित्र ने वैदिक कर्मों के व्यवस्थित वर्णन को कल्प कहा है–'कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना शास्त्रम्।'[५] इन कल्प सूत्रों में सामयिक आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ब्राह्मणोक्त कर्मकाण्ड को सूत्र-पद्धति से प्रस्तुत किया गया है।

कल्पसूत्रों के चार भेद हैं–श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्ब सूत्र।

श्रौतसूत्र–ब्राह्मणग्रन्थों के काल तक याग-विधियाँ इतनी जटिल और विस्तृत हो गई थीं कि उनके सुव्यवस्थित, संश्लिष्ट, क्रमबद्ध और सुबोधरीति से वर्णन की आवश्यकता याज्ञिकवर्ग तीव्रता से अनुभव कर रहा था। श्रौतसूत्रों की रचना इसी व्यावहारिक उद्देश्य से की गई।[६] इनके प्रणयन का प्रयोजन था वैदिक यज्ञों का यथावत् अनुवर्तन। इन यज्ञों में दर्श और पौर्णमास, विभिन्न सोमयाग, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी, अश्वमेधादि प्रमुख हैं। मैक्डॉनल के इस कथन में[७] सत्यांश नहीं है कि श्रौतसूत्रों को बहुत पवित्रता कभी नहीं प्राप्त हुई, क्योंकि इनका संग्रह अनुष्ठानजन्य आवश्यकताओं के अनुरूप मौखिक परम्परा से हुआ। वास्तव में श्रौतसूत्र ब्राह्मणग्रन्थों से प्रत्यक्षतया सम्बद्ध हैं–इसका उपपादन आगे किया जाएगा।

गृह्यसूत्र–इनमें गृह्याग्निसाध्य सोलह संस्कारों, पाँच महायज्ञों, सात पाकयज्ञों तथा गृह-निर्माण, गृह-प्रवेश, पशु-पालन, कृषि-कर्म एवं रोगनाशिनी विविध विधियों का निरूपण है। वस्तुतः गृहस्थ-जीवन से सम्बद्ध सभी संस्कारों और विधियों का इनमें वर्णन है। वैदिक और वैदिकोत्तर भारतीयों के लोक-जीवन और लौकिक दृष्टिकोण को आत्मसात् करने के लिए गृह्यसूत्र वस्तुतः अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं।

धर्मसूत्र–इनमें वर्णाश्रमसाध्य कर्त्तव्यों, आचारों, प्रथाओं तथा सामाजिक जीवन के विधिनिषेधों का विशद निरूपण है। वेदोत्तर काल में, जिस स्मार्त्त धर्म का बोलबाला दिखलाई देता है, उसके मूलाधार में यही धर्म सूत्र-साहित्य निहित हैं।

शुल्बसूत्र–इनमें विभिन्न यज्ञवेदियों की नाम तथा निर्माण-प्रक्रिया से सम्बद्ध नियमों का वर्णन है। ये प्राचीन भारतीय ज्यामिति शास्त्र के उद्‌भव और विकास के भी परिचायक हैं मैक्डॉनल

५. ऋक्प्रातिशाख्य के आरम्भ में वर्गद्वयवृत्ति।

६. Srauta Sutras are manuals compiled for practical purpose — GONDA, J. The Ritual Sutras, p. 489.

७. Macdonell : *A History of Sanskrit Literature*, p. 206.

के कथनानुसार शुल्बसूत्रों में रेखागणित सम्बन्धी ज्ञान बहुत बढ़ा हुआ पाया जाता है।[८] भारत के रेखागणित शास्त्रीय ज्ञान के प्राचीनतम प्रतीक ये ही हैं।

ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों के मध्य सम्बन्ध

यह सुनिश्चित है कि दोनों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है।[९] वस्तुत: श्रौतसूत्रों का मूलाधार ब्राह्मणोक्त विधि-वाक्यों से ही सम्पन्न हुआ है। यद्यपि श्रौतसूत्रोक्त प्रत्येक विधि का मूल ब्राह्मणों में कठिनाई से ही खोजा जायेगा, तथापि सामान्यत: श्रौतसूत्र स्वशाखीय ब्राह्मण ग्रन्थ में विहित विधियों का उपयोग करते हैं, ब्राह्मणों की अपेक्षा श्रौतसूत्रों का कलेवर अधिक व्यवस्थित है। ब्राह्मणोक्त कृत्यों में ब्रह्मवादियों की वैचारिक भिन्नता बहुत बार ब्राह्मणों से श्रौतसूत्रों में भी आ गयी है। उदाहरण के लिए बौधायन श्रौतसूत्र के द्वैध प्रकरण (२०.१) में बौधायन, शालीकि तथा मौद्गल्य के विचारों में भिन्नता का यही कारण है। ये मतभेद पहले से ही चले आ रहे थे।[१०]

श्रौतसूत्र कभी-कभी स्वशाखीय परम्परा की उपेक्षा करते हुए परशाखीय विधियों को स्वीकार कर लेते हैं अथवा परिवर्तित परिस्थितियोंवश कर्मानुष्ठान में नवीन प्रयोगों का समावेश करते हुए दिखलाई देते हैं। उदाहरणार्थ तैत्तिरीय शाखीय सूत्रों ने मैत्रायणी, काठक तथा माध्यन्दिन शाखा के मन्त्रों तथा विधानों तक को अपना लिया है और अनेक सर्वथा नवीन विकल्प प्रस्तुत किये हैं। बहुत बार ब्राह्मणों में अप्रतिपादित प्रायश्चितों का पूर्णतया नई तरह से निरूपण श्रौत सूत्रों में दिखलाई देता है। ब्राह्मण ग्रन्थ में दर्शपूर्णमास इष्टि के अन्तर्गत वत्सापकरणार्थ पलाश की शाखा का विधान है किन्तु श्रौतसूत्रों में शमी की शाखा का वैकल्पिक विधान कर दिया गया है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि ब्राह्मणोत्तर काल में अन्तरालकालिक कुछ नई विधियाँ कर्मकाण्ड में विकसित हो गई थीं, जिन्हें श्रौतसूत्रों में स्थान देना आवश्यक था।

क्रम की दृष्टि से भी कभी-कभी ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में अन्तर दिखलाई देता है। श्रौतसूत्रकारों में से कुछ ने संहिता के क्रम का अवलम्बन किया है और कुछ ने ब्राह्मण-क्रम का। उदाहरण के लिए आश्वलायन श्रौतसूत्र में पहले दर्शपूर्णमास इष्टि का निरूपण किया गया है, जबकि ऐतरेय ब्राह्मण में पहले सोमयागों का प्रतिपादन हुआ है। इसका समाधान कतिपय विद्वानों ने यह कहकर किया है कि सोमयागान्तर्गत दीक्षणीयेष्टि भी अन्तत: एक इष्टि ही है और वह भी 'दर्शपूर्णमास' संज्ञक प्रकृतियाग से सम्बद्ध हो जाती है–'दीक्षणीयेष्टि: पौर्णमासान्तर्गताग्नीषोमीयपुरोडाशस्यैव विकृतिरिति पौर्णमासेष्टिरेव प्रथमं कर्त्तव्या।' इसी प्रकार कात्यायन श्रौतसूत्र अधिकांशत: शतपथब्राह्मणोक्त यागक्रम का ही अनुगामी है–बौधायन श्रौतसूत्र के नियमों को वह 'विभाषा' कहकर ही अपनाता है। कात्यायन ने ब्राह्मणोक्त विधान को 'उपेदश' की आख्या दी है। इस

८. वही, पृष्ठ संख्या २२२-२२३.

९. On the relation between the Brahmanas and the Srautras, in Toyo Banko, Series A Vol. XXXIII, 1953 p. 50.

१०. *The Survey of Srautasutras*, KASHIKAR C. p. 16, 1966.

प्रकार श्रौतसूत्रकारों की दृष्टि में ब्राह्मणग्रन्थों का वही गौरव है, जो व्याकरण के प्रक्रिया ग्रन्थकारों की दृष्टि में पाणिनि और पतञ्जलि का है।

शांखायन श्रौतसूत्र भी अपने उपजीव्य शांखायन ब्राह्मण का अत्यधिक अनुकरण करता है, किन्तु जहाँ कहीं प्रतिपाद्य कर्म में न्यूनता दृष्टिगोचर होती है, वहाँ सूत्र उसकी पूर्ति करने को उद्यत रहता है। इससे आपाततः वह ब्राह्मण के प्रतिपाद्य विषयों का अतिक्रमण करता हुआ प्रतीत होता है। किन्तु वस्तुतः यह अपने उपजीव्य का अतिक्रमण नहीं है। ब्राह्मणों तथा सूत्रों के उद्दिष्ट-भेद के कारण यह भेद सर्वथा स्वाभाविक है। ब्राह्मणों का लक्ष्य कृत्यों का अविकल प्रतिपादन न होकर कर्मों के उद्देश्य, व्याख्यान, अर्थवाद, श्रुतिवाक्यों की व्याख्या प्रभृति अनेक विषयों का प्रतिपादन करना है। इनमें अन्य प्राचीन आचार्यों के मत-मतान्तरों की आलोचना, समर्थन अथवा निराकरणपूर्वक तत्तद्विषय में निर्णायक मत का प्रतिपादन भी है। इसके विपरीत श्रौतसूत्रों का मुख्य उद्दिष्ट कृत्यों का अविकल प्रतिपादन ही है ये विषयान्तरों में न उलझकर तथा मतान्तरों की आलोचना न करके स्वशाखीय परम्परा के अनुसार किसी कर्म के विषय में निर्णायक मत अथवा विकल्पों का अनुमोदन मात्र करके रह जाते हैं।

निष्कर्ष–ऊपर जिन बिन्दुओं की विशद विवेचना की गई है, उनके आलोक में श्रौतसूत्रों का महत्त्व इस प्रकार परिलक्षित होता है :

(१) श्रौतसूत्रों का प्रमुख प्रयोजन वैदिक श्रौत यागों का अविकल, सुबोध और सुग्राह्य रूप में प्रस्तवन है।

(२) सामान्यतः वे अपने ब्राह्मण के विधिवाक्यों का ही आधार-ग्रहण करते हैं, किन्तु कभी-कभी परशाखीय विकल्प भी स्वीकार कर लेते हैं।

(३) ब्राह्मणोत्तरकाल में हुए कर्मकाण्डीय विकास का विवरण भी श्रौतसूत्र सँजोते हैं और इस क्रम में वे तत्सम्बन्धी अन्तराल को भरने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

(४) ब्राह्मणों के अनुगामी होने के कारण श्रौतसूत्र उनकी शब्दावली और अन्य भाषा सम्बन्धी विशेषताएँ तो सुरक्षित रखते ही हैं, कभी-कभी कठिन शब्दों की व्याख्या भी कर देते हैं उदाहरण के लिए कर्मकाण्ड की प्राचीन शब्दावली में 'कुम्बकुटीर' शब्द चला आ रहा था, किन्तु आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में (१०.९.७) में उसे व्याख्या सहित प्रस्तुत किया गया–'जालं कुम्बकुटीरमित्याचक्षते'।

(५) सूत्र-निर्माण का कार्य अत्यन्त कठिन है, जिसके लिए याज्ञिक प्रक्रिया की सूक्ष्मताओं की गहनता के अतिरिक्त भाषा पर भी पूर्ण नियन्त्रण की अपेक्षा रहती है, जिसके प्रमाण सूत्रकारों ने पदे-पदे प्रस्तुत किये हैं। कुछ प्रयोगों में अपाणिनीय प्रवृत्तियाँ यद्यपि दिखलाई देती हैं किन्तु सामान्यतः व्याकरणसम्मत भाषा का ही प्रयोग सूत्रकार करते हैं सूत्र-रचना की दृष्टि से उनका संक्षिप्तता के साथ स्पष्टता पर भी आग्रह दिखलाई देता है। प्रत्येक सूत्रकार की शैली, भाषा और क्षमता समान न होते हुए भी मानना पड़ेगा कि वे बहुश्रुत ऋषि थे।[११]

११. *The Survey of Srautasutras* KASHIKAP C.G. (a) p. 33. (b) आपस्तम्ब श्रौतसूत्र की भूमिका पृष्ठ १३-१४।

(६) यद्यपि श्रौतसूत्रों का परिशीलन अभी शैशवावस्था में ही है, तथापि जिन विद्वानों को भी इनके अनुशीलन का अवसर प्राप्त हुआ है, उन्हें इनमें धार्मिक और कर्मकाण्ड सम्बन्धी विकास के महत्त्वपूर्ण सोपानों की प्रतीति हुई है। यजुर्वेदीय श्रौतसूत्र तो कर्मकाण्ड के विश्वकोष-से हैं।[१२]

वेद-क्रम से उपलब्ध श्रौतसूत्र ये हैं–ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र सुलभ हुए हैं आश्वलायन तथा शांखायन। इनमें श्रौतयागों के होतृ-कर्तृक कृत्यों-हौत्र-का निरूपण हुआ है।

शुक्ल यजुर्वेद की माध्यान्दिन तथा काण्व दोनों शाखाओं का केवल एक ही श्रौतसूत्र है–कात्यायन श्रौतसूत्र। इसमें यज्ञ के अध्वर्युकर्तृक कृत्यों का विवरण है।

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध श्रौतसूत्रों की संख्या सर्वाधिक है। इनमें सर्वप्राचीन श्रौतसूत्र बौधायन है। इसके पश्चात् वाधूल, मानव (मैत्रायणीय), भारद्वाज, आपस्तम्ब, काठक, सत्याषाढ़, वाराह तथा वैखानस संज्ञक श्रौतसूत्रों का स्थान है। इनमें भी यज्ञ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म आध्वर्यव (अध्वर्युकर्तृक कृत्यों–) का वर्णन किया गया है।

सामवेदीय श्रौतसूत्रों में आर्षेय (मशक) कल्प, क्षुद्रकल्प, जैमिनीय श्रौतसूत्र, लाट्यायन श्रौतसूत्र तथा द्राह्यायण श्रौतसूत्र प्रमुख हैं। इनमें सोमयागों में उद्गाता के कार्यों (औद्गात्र) का विशद निरूपण हुआ है। 'निदानसूत्र' और 'उपनिदानसूत्र' भी सोमयागों में सामगान से सम्बद्ध विवरण ही हैं।

अथर्ववेद का केवल एक ही श्रौतसूत्र हैं–वैतान श्रौतसूत्र। परम्परानुसार इसका सम्बन्ध सर्वकर्माभिज्ञ 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विक् से है।

श्रौतसूत्रों की यह विशाल थाती कर्मकाण्ड के विकास का इतिहास जानने के लिए तो उपयोगी है ही, मानवीय मनोविज्ञान और आस्थाओं के ज्ञान के लिए भी अत्यन्त उपादेय है। श्रौतसूत्रों का विशद् विवेचन नृतत्त्वविज्ञान और समाजशास्त्र की बहुविध जटिल ग्रन्थियों के समाधान की दृष्टि से भी हमारे लिए हितकर सिद्ध हो सकता है, यह असन्दिग्ध है। श्रौतसूत्रों का विस्तृत विवरण इस प्रकार है।

ऋग्वेदीय श्रौतसूत्र

ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं–आश्वलायन तथा शांखायन। इनका परिचयात्मक विवरण इस प्रकार है :

आश्वलायन श्रौतसूत्र–टीकाकार गार्ग्य नारायण (आश्व० श्रौ० सू० १.१.१) के अनुसार इसका सम्बन्ध ऋग्वेद की शाकल और बाष्कल शाखाओं के साथ ही निविदों, प्रैषों, पुरोरुचों, कुन्तापसूक्तों, वालखिल्यसूक्तों, महानाम्नी ऋचाओं प्रभृति खिलों से भी है। यों, मूलतः यह ऋग्वेद की

१२. As a domain of philological and religious study this literature is often unduly neglected but its significance as a source for the history of religion in general and of ritualism in particular can not be overrated.
GONDA, J; *The Ritual Sutras*, p. 489 (History of Indian Literature) Netherlands.

आश्वलायनी शाखा का ही प्रतिनिधि रहा होगा। १२ अध्यायों में निबद्ध यह श्रौतसूत्र पूर्वषट्क और उत्तरषट्क के समान भागों में विभक्त है। अध्यायों का अवान्तर विभाजन खण्डों में है, जिनकी कुल संख्या १६४ है। कहीं-कहीं अन्य आचार्यों के मत भी प्रदत्त हैं। इनमें शौनक, गाणगारि, कौत्स तथा तौल्वलि के मत प्रमुख हैं। इसमें प्रतिपादित विषयों का विवरण इस प्रकार है-(प्रथम अध्याय)- दर्शपूर्णमास; (द्वितीय अध्याय)- अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, पिण्डपितृयज्ञ, अन्वारम्भणीयेष्टि, आग्रयणेष्टि, काम्येष्टियाँ तथा चातुर्मास्य; (तृतीय अध्याय)- निरूढ़ पशुबन्ध, सौत्रामणी, प्रायश्चित्तादि; (चतुर्थ अध्याय से षष्ठ अध्यायान्त)- ज्योतिष्टोम; (७-८ अध्याय)- सत्रयाग; (नवमाध्याय)- एकाह; (दशम अध्याय)-अहीन, (ग्यारहवाँ अध्याय, गवामयन - १२वां अध्याय)- अन्य सत्र।

श्रौतसूत्र का उद्दिष्ट उपर्युक्त श्रौतयागों में होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक तथा ग्रावस्तुत संज्ञक होतृ-मण्डल के ऋत्विकों के कार्य-कलाप की प्रस्तुति करना है। यों, ब्रह्मा तथा यजमान के कर्त्तव्यों पर भी प्रकाश डाला गया है। ऋग्वैदिक मन्त्र प्रतीक रूप में उद्धृत हैं। इसमें ऐतरेय ब्राह्मण में प्रतिपादित कर्मों से अधिक सामग्री संगृहीत है। उदाहरण के लिए अत्यग्निष्टोम को लिया जा सकता है, जो न ऐतरेय में है और न कौषीतकि ब्राह्मण में ही। पुरुषमेध तथा सर्वमेध के विषय में श्रौतसूत्र कोई विवरण नहीं देता। कहा जाता है कि पूर्वषट्क ही ऐतरेय ब्राह्मण से अनुगत है।

आश्वलायन को शौनक का शिष्य माना जाता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र और श्रौतसूत्र दोनों का रचयिता एक ही व्यक्ति प्रतीत होता है।

इस पर देवस्वामी का भाष्य सर्वप्राचीन माना जाता है, लेकिन वह अप्रकाशित है। भवनाग (उद्धरण रूप में), देवत्रात, टिप्पूभट्ट, त्र्यम्बक तथा षड्गुरुशिष्य की व्याख्याएँ भी उपलब्ध, किन्तु अप्रकाशित हैं। प्रकाशित व्याख्या केवल गार्ग्यनारायण की है, जो आनन्दाश्रम से छपी है। श्रौत सूत्र का अन्य संस्करण कलकत्ता से बिब्लियोथिका इण्डिका के अन्तर्गत छपा है।

शांखायन श्रौतसूत्र–इसमें १२ मन्त्र ऐसे हैं, जो शाकलशाखा में नहीं मिलते। अतः इसका सम्बन्ध अन्य शाखाओं से भी है। मूलतः यह कौषीतकि ब्राह्मण पर आश्रित है। इस सूत्र के रचयिता सुयज्ञ शांखायन बतलाए जाते हैं, जैसाकि भाष्यकार वरदत्तसुत ब्रह्मदत्त आनर्तीय का कथन है–'स्वमतस्थापनार्थं सुयज्ञाचार्यः श्रुतिमुदाजहार' (१.२.१८)। निरूपित विषयवस्तु का विवरण यह है :

अध्याय १.१-२-परिभाषा प्रकरण; १.३-१७-दर्शपूर्णमास; २.१-५-अग्न्याधेय तथा पुनराधेय;२. ७-१७-अग्निहोत्र; ३.१-११-शेष इष्टियाँ; ३.१२-आग्रयणेष्टि; ३.१३-१८-चातुर्मास्य; ३.१९-२० प्रायश्चित्त। ३.२१ से ४.२१ तक-ब्रह्मत्व, याजमान, पिण्डपितृयज्ञ, शूलगव इत्यादि। ५-८-अग्निष्टोम; ९--उक्थ्य, षोडशी तथा अतिरात्र; १०-द्वादशाह; ११-चतुर्विंश, अभिप्लवषडह, अभिजित्, स्वरसाम, विश्वजित्, विषुवत्। १२-होत्रक-शस्त्र; १३.१-३-प्रायश्चित्त तथा कतिपय इष्टियाँ, १३, १४, १९-सत्र तथा अयनयाग; १४-हविर्यज्ञ, अग्न्याधेय, पुनराधेय, दर्शपूर्णमास, सव, स्तोम इत्यादि; १५.१-३ वाजपेय; १५.४-बृहस्पति सव; १५.५-८ सोम संस्थाएँ-विशेष रूप से अप्तोर्याम; १५.९.११-यमस्तोम, वाचःस्तोम; १५.१२-२७-राजसूय शुनः शेप आख्यान; १६-अश्वमेध,

पुरुषमेध, सर्वमेध, वाजपेय, राजसूय इत्यादि; १७-१८-महाव्रत।

ब्राह्मणशैली के कारण यह अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। अनेक नवीन सव भी इसमें वर्णित हैं, जो ब्राह्मणों में नहीं मिलते। पुरुषमेध में, अश्वमेध की प्रक्रिया मिलती है। यहाँ तक कि अश्व पुरुष के संज्ञपन का विधान भी है। कुछ अपाणिनीय प्रयोग तथा विचित्र सन्धियां भी प्राप्य हैं। हिल्लेब्राण्ड्ट् का संस्करण प्रसिद्ध है। कुछ नये संस्करण भी हुए हैं। डॉ० लोकेशचन्द्र ने कालन्द-कृत अंग्रेजी अनुवाद की पुनरीक्षा की है।

कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्र

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध श्रौतसूत्र बहुसंख्यक हैं। ये हैं-बोधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी (या सत्याषाढ), वैखानस, भारद्वाज, वाधूल, वाराह तथा मानवश्रौतसूत्र। इनमें से अन्तिम का सम्बन्ध मैत्रायणी शाखा से है और शेष का तैत्तिरीय शाखा से। सभी का परिचय इस प्रकार है :

बोधायन श्रौतसूत्र-प्राचीन श्रौतसूत्रों में यह सर्वोपरि है। जिसकी रचना ब्राह्मणग्रन्थों के सदृश प्रवचन शैली में हुई है। श्रौतसूत्र के ३० प्रश्नों में प्रतिपादित विषयवस्तु यों है-दर्शपूर्णमास, अग्न्याधेय, दशाध्यायिक (पुनराधेय, अग्निहोत्र, आग्रयण और याजमान प्रभृति), पशुबन्ध, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम, प्रवर्ग्य, अग्निचयन, वाजपेय, राजसूय, इष्टिकल्प, औपानुवाक्य, अश्वमेध, द्वादशाह, उत्तरातति (अतिरात्र आदि), उत्तरातति (एकाह), काठक चयन, द्वैध, कर्मान्त, प्रायश्चित्त, शुल्ब तथा प्रवर। प्रत्येक प्रश्न अनेक कण्डिकाओं में विभक्त है। अग्निष्टोम की उक्थ्य, षोडशी तथा अतिरात्र इन तीन संस्थाओं का ही वर्णन है। वाजपेय याग में, सोम के अतिरिक्त सुरा भी विहित है। आपस्तम्ब में ऐसा नहीं है। राजसूय में द्यूत का विधान भी है। औपानुवाक्य में याग के अनुष्ठानों का रहस्यात्मक एवं दार्शनिक दृष्टि से भी विचार किया गया है। नाभानेदिष्ठ, मनु, राष्ट्रभृतों, वशिष्ठ और इन्द्र की आख्यायिकाएँ भी उल्लिखित हैं। सौत्रामणी के प्रसंग में समावर्तन (गृह्यकर्म) का विधान भी है। सवों में मृत्युसव का विधान उल्लेख्य है। यह राजसूय के समान लगता है। शत से लेकर परार्द्ध तक के संख्यावाचक शब्द उल्लिखित हैं। परम्परा सम्पूर्ण बोधायन कल्प की रचना का श्रेय बोधायन को देती है। बोधायन का काल ई० पू० ९०० से ८५० ई० पू० माना जा सकता है। बोधायन श्रौ० सू० पर भवस्वामी की व्याख्या प्राचीनतम मानी जाती है। अन्य व्याख्याएँ आंशिक हैं, यथा दर्शपूर्णमास भाग पर सायणकृत, चयन तथा एकादर्शिनी (दशम एवं १७वें प्रश्नों) पर वासुदेव दीक्षित रचित 'महाग्निसर्वस्व' कर्मान्तसूत्र पर वेङ्कटेश्वरकृत तथा २७वें से ३० प्रश्नों पर द्वारकानाथयज्वाकृत व्याख्याएँ हस्तलेखों के रूप में उपलब्ध हैं। इसका बिब्लि० इं० के अन्तर्गत कालन्द के द्वारा संपादित संस्करण प्रसिद्ध है।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र-भारद्वाजकल्प के साथ इसकी बहुत समानता दिखलाई देती है। आपस्तम्बकल्प के ३० प्रश्नों में से २४ तक श्रौतसूत्र है। शेष प्रश्नों में मन्त्रपाठ, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र निरूपित है। श्रौतसूत्र में ५८८ कण्डिकाएँ तथा ७५९ सूत्र हैं। निरूपित विषयवस्तु इस प्रकार है-प्रश्न १-४ दर्शपूर्णमास, ५-अग्न्याधेय, ६-अग्निहोत्र, ७-निरुढपशुबन्ध, ८-चातुर्मास्य, ९-प्रायश्चित्त, १०-१३ अग्निष्टोम, १४-उक्थ्य तथा अन्य सोम संस्थाएँ, १५-प्रवर्ग्य, १६-१७

अग्नियचन, १८ वाजपेय तथा राजसूय, १९-सौत्रामणी, काठकचयन, काम्यपशु तथा काम्येष्टियाँ, २०-अश्वमेध, पुरुषमेध तथा सर्वमेध। २१-द्वादशाह, गवामयन, उत्सर्गिणामयन, २२ एकाह तथा अहीन याग, सव, २३ सत्र, २४ परिभाषाएँ, प्रवर तथा हौत्रक। शाखान्तरीय विधियाँ, मन्त्र तथा उद्धरण नि:सङ्कोच ले लिये गये हैं। इसमें परिभाषाओं का व्यवस्थितरूप से पृथक् विवरण है। आपस्तम्ब को बोधायन का शिष्य बताया गया है।[13] कात्यायन श्रौतसूत्र से भी इसकी बहुत समानता है। अनेक अपाणिनीय प्रयोग भी इसमें मिलते हैं, यथा–क्रव्याद:, दार (एकवचन), सालावृकी, अष्टभ्य: (-अष्टाभ्य: के स्थान पर), उदञ्च: (उदीच: के स्थान पर), परिधित (परिहित के स्थान पर) इत्यादि। ई० पू० ७वीं शती में आपस्तम्ब का काल माना जा सकता है। इस पर धूर्तस्वामी का प्रसिद्ध भाष्य उपलब्ध है। आंशिक रूप में कपर्दिस्वामी, रुद्रदत्त कृत व्याख्याएँ भी हैं। श्रौतसूत्र पर आधृत अनेक प्रयोग और पद्धतियाँ भी उपलब्ध हैं। इनमें, १४वीं शती में रचित चौण्डपाचार्य कृत 'आपस्तम्बप्रयोगरत्नमाला' विशेष प्रसिद्ध है। इसके चार संस्करण हुए हैं : (१) गार्बे-संपादित और कलकत्ता से सन् १८८२ से १९०२ तक प्रकाशित। (२) कालन्दकृत जरमन अनुवाद ३ भाग, १९२१ से १९२८ तक गाटिंजन तथा एम्सटर्डम से प्रकाशित। (३) नृसिंहाचार्य के द्वारा धूर्तस्वामी कृत भाष्य सहित संपादित तथा मैसूर से प्रकाशित। (४) चिन्नस्वामिशास्त्री के द्वारा संपादित तथा गायकवाड़ सीरीज में, बड़ौदा से २ भागों में प्रकाशित।

हिरण्यकेशी या सत्याषाढ श्रौतसूत्र–इसमें आपस्तम्ब के अनेक सूत्र शब्दश: अनुवर्तित हैं। इसमें २९ प्रश्न हैं। कुछ भिन्नताओं को छोड़कर निरूपित विषयवस्तु प्राय: उपर्युक्तवत् ही है। पहली बात यह कि श्रौतकृत्यों के मध्य गृह्यसूत्र इसमें उल्लिखित है। दूसरा तथ्य यह कि पितृमेधसूत्र से पूर्व धर्मसूत्र का समावेश है। इससे पूर्व शुल्बसूत्र दिया गया है। अश्वमेध-प्रकरण में, अश्वरक्षकों को अपने भोजनादि के निमित्त अश्वमेध कर्म से अनभिज्ञ ब्राह्मणों को लूटने का निर्देश दिया गया है। अश्व के संज्ञपनार्थ श्यामूल (कम्बल) के प्रयोग का विधान है। आंशिक रूप से इस पर महादेवदीक्षित कृत 'वैजयन्ती', गोपीनाथ दीक्षित कृत 'ज्योत्सना', महादेवशास्त्रीरचित 'प्रयोगचन्द्रिका', महादेव कृत 'उज्ज्वला', प्रभृति व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं। अनेक प्रयोग और पद्धतियाँ मिलती हैं। आनन्दाश्रम (पुणे) से इसका एक संस्करण प्रकाशित हुआ है।

वैखानस श्रौतसूत्र–श्रौतसूत्रों के मध्य यह अपेक्षाकृत अर्वाचीन माना जाता है। वैखानस वैष्णवों का वह सम्प्रदाय है, जो विशिष्टाद्वैतवादी है। वैखा० श्रौ० सू० के व्याख्याकार श्रीनिवास दीक्षित ने इसे 'औखेय सूत्र' भी कहा है। 'आनन्दसंहिता' में भी वैखानस और औखेय का एक ही अर्थ है। वैखानस गृह्यसूत्र में रचयिता का नाम 'विखनस' दिया गया है। वैखानस कल्प का १२-३२ प्रश्नात्मक भाग ही श्रौतसूत्र है। वर्णित विषय-वस्तु इस प्रकार है–अग्न्याधेय, पुनराधेय, अग्निहोत्र, अग्निभ्य: प्रवास, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढ पशुबन्ध, सौत्रामणी (चरक), परिभाषाएँ (यज्ञायुधानि), अग्निष्टोम, उक्थ्य–षोडशी-अतिरात्र, अप्तोर्याम, वाजपेय, अग्निचयन, प्रायश्चित्त (इष्टिविषयक), प्रायश्चित्त (सोमविषयक)। इसमें अश्वमेध का निरूपण नहीं हुआ है–यद्यपि नाम्ना उसका उल्लेख है। वैष्णव सम्प्रदाय के अनुरूप यजमान को गार्हपत्य की भस्म

१३. भाष्यकार यज्ञेश्वर का कथन।

से चार अंगुल ऊँचा पुण्ड्र शरीर के अंगों पर लगाने का विधान है तथा उसे नारायण-परायण होकर बैठने का निर्देश है। विष्णु के ध्यान का भी बहुधा विधान है। व्याकरण से असम्मत प्रयोगों के साथ ही इसमें प्रयुक्त अनेक शब्दों के अर्थ अस्पष्ट भी हैं–यथा–'अग्निरूप्र' (१०.८), अवकाविल (१२.६), कुडुव (१.७) इत्यादि। कालन्द के द्वारा संपादित वैखानस श्रौतसूत्र कलकत्ता से १९४१ में प्रकाशित है।

भारद्वाज श्रौतसूत्र–यह १५वें प्रश्न की पञ्चमकण्डिका तक ही उपलब्ध है। विषय-विवरण यों है–दर्शपूर्णमास, अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, आग्रयण, निरूढपशुबन्ध, चातुर्मास्य, पूर्वप्रायश्चित्त तथा ज्योतिष्टोम। लुप्त अंशों में दाक्षायण यज्ञ तथा अश्वमेधादि के निरूपण की जानकारी अन्य श्रौतसूत्रों से होती है। बोधायन से, कुछ अंशों में इसकी समानता है। डॉ॰ रघुवीर ने लाहौर से इसको अंशतः सम्पादित कर प्रकाशित कराया था। तत्पश्चात् डॉ॰ चिन्तामणि गणेश काशीकर ने वैदिक संशोधनमण्डल (पूना) के संस्करण का संपादन तथा अनुवाद (आंग्ल) किया है।

वाधूल श्रौतसूत्र–यह बौधायन के सदृश ही प्राचीन माना जाता है। इसमें मन्त्रों का सकल पाठ ही दिया गया है। रचना शैली बौधायन के ही अनुरूप है। इसमें १५ प्रपाठक हैं, जिनका अनुवाकों और पटलों में अवान्तर विभाजन है। निरूपित विषयवस्तु इस प्रकार है–अग्न्याधेय, पुनराधेय, अग्निहोत्र, अग्न्युपस्थान तथा प्रवासोपस्थान; पुरोडाशी; याजमान, आग्रयण तथा ब्रह्मत्व; चातुर्मास्य, पशुबन्ध, जयोतिष्टोम, अग्निचयन, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध; अप्तोर्याम, पवित्रेष्टि; अग्निष्टोम के याजमानादि; अहीन; एकाह। यह अभी ही पूर्णतया प्रकाशित है।*

वाराह श्रौतसूत्र–इसमें मैत्रायणी शाखा के मन्त्रों को प्रायः उद्धृत किया गया है। इसके तीन प्रमुख खण्ड हैं–प्राक् सौमिक, अग्निचयन तथा वाजपेयादिक–इनमें क्रमशः ७, १ तथा ४ अध्याय हैं। प्राक्सौमिक के अन्तर्गत परिभाषा, याजमान, ब्रह्मत्व, दर्शपूर्णमास, अग्न्याधेय, पुनराधेय, अग्निहोत्र, अग्न्युपस्थान, आग्रयण, पशुबन्ध तथा चातुर्मास्य निरूपित हैं। अग्निचयन में नाम के अनुरूप ही सामग्री है। वाजपेयादिक में वाजपेय, द्वादशाह, गवामयन, उत्सर्गाणामयन, महाव्रत, एकादशिनी, सौत्रामणी, राजसूय तथा अश्वमेध का वर्णन है। इसमें अपत्नीक को भी अग्न्याधान का अधिकार दिया गया है। इस पर कोई व्याख्या उपलब्ध नहीं है। कालन्द और रघुवीर के द्वारा संपादित इसके संस्करण का प्रकाशन १९३३ में मेहरचन्दलक्ष्मणदास, (लाहौर) के यहाँ से हुआ था।

मानव श्रौतसूत्र–इसका सम्बन्ध मैत्रायणी शाखा से है। संपादक के अनुसार मूल मानव श्रौतसूत्र इन पाँच भागों में विभक्त रहा होगा–प्राक् सोम, इष्टिकल्प, अग्निष्टोम, राजसूय तथा चयन। इनमें क्रमशः ८, २, ५, ६ एवं ५ अध्याय रहे होंगे। सम्प्रति इसमें निरूपित विषयवस्तु इस प्रकार है–दर्शपूर्णमास, अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, अग्रयण, पुनराधेय, चातुर्मास्य, पशुयाग, अग्निष्टोम, प्रायश्चित्त, प्रवर्ग्य, इष्टिकल्प, चयनकल्प, वाजपेय, अनुग्राहिक, राजसूय, अश्वमेध, एकाह, अहीन, सत्र, गोनामिक, शुल्बसूत्र, उत्तरेष्टक, वैष्णव, परिशिष्ट, प्रवराध्याय तथा श्राद्ध। इसमें कुल ११ भाग अथवा अध्याय हैं। इसका रचनाकाल आपस्तम्ब से प्राचीन माना जाता है। मीमांसक प्रवर

*डॉ चौबे ने इसे होशियारपुर से सम्पादित कर प्रकाशित किया है।

कुमारिल भट्ट की व्याख्या प्राक्सोम भाग पर उपलब्ध है। अग्निस्वामी का 'अग्निष्टोम-भाष्य' अभी तक अप्रकाशित है। १-५ भाग का संपादन फ्रीड्रिख क्नावर ने किया था। अब सम्पूर्ण श्रौतसूत्र जे॰ एम॰ फान गेल्डर के द्वारा संपादित रूप में दिल्ली से प्रकाशित हो चुका है। गेल्डर महोदया ने ही इसका अंग्रेजी में अनुवाद भी किया है।

शुक्लयजुर्वेदीय कात्यायन श्रौतसूत्र

यह वाजसनेय संहिता की काण्व और माध्यान्दिन दोनों शाखाओं से सम्बद्ध है, किन्तु विनियुक्त मन्त्र अधिकांशतया काण्व शाखा से ही गृहीत हैं। तीन (२२-२४) अध्याय सामवेदीय ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुरूप हैं–शेष शतपथ से प्रभावित हैं। वर्णित विषयवस्तु इस प्रकार है–परिभाषा, दर्शपूर्णमास, पिण्डपितृयज्ञ, दाक्षायण यज्ञ, अन्वारम्भणीयेष्टि, आग्रयणेष्टि, अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध, अग्निष्टोम, द्वादशाह, गवामयन, वाजपेय, राजसूय, अग्निचयन, सौत्रामणी, (कौकिली), अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध पितृमेध, एकाह, अहीन, प्रायश्चित्त तथा प्रवर्ग्य। सम्पूर्ण श्रौतसूत्र २६ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय का अवान्तर विभाजन कण्डिकाओं में है। पूर्वमीमांसासूत्रों का इस पर बहुत प्रभाव है। उसके श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन छह प्रमाणों का भी उल्लेख है। अश्वमेध की दक्षिणा में यजमान राजा के द्वारा विभिन्न रानियों के ऋत्विकों के निमित्त दान का भी इसमें विधान है। विकल्प में रानियों की अनुचारियां भी दी जा सकती हैं। परम्परा इसके प्रणयन का श्रेय कात्यायन को देती है। यह पाणिनि से उत्तरवर्ती काल की रचना मानी जाती है।

कात्यायन श्रौ॰ सू॰ पर अनेक व्याख्याएँ मिलती हैं, जिनमें भर्तृयज्ञ की व्याख्या सर्वप्राचीन है। दूसरी प्रमुख व्याख्या कर्काचार्य की है। यह भाष्य चौखम्बा, वाराणसी से प्रकाशित है। अनन्तदेव-कृत भाष्य के हस्तलेख उपलब्ध हैं। पं॰ विद्याधर गौड़ ने आधुनिक युग में इस पर 'सरला' वृत्ति की रचना की है। इस पर अनेक पद्धतियाँ भी उपलब्ध हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि यजुर्वेद से सम्बद्ध बहुसंख्यक श्रौतसूत्रों के होने पर भी सम्प्रति आपस्तम्ब और कात्यायन श्रौतसूत्रों का ही सर्वाधिक उपयोग होता है।

सामवेदीय श्रौतसूत्र

अन्य सामवेदीय-साहित्य के सदृश इसके श्रौतसूत्रों की संख्या और स्वरूप भी अत्यन्त व्यापक है। वास्तव में ये सामलक्षणात्मक प्रकृति के हैं। अद्यावधि सामवेद से सम्बद्ध जिन प्रमुख श्रौतसूत्रों का प्रकाशन हो चुका है, उनमें आर्षेयकल्प, लाट्यायन श्रौतसूत्र, द्राह्यायण श्रौतसूत्र और जैमिनीय श्रौतसूत्रों के नाम उल्लेख्य हैं। इनके अतिरिक्त कल्पानुपद सूत्र, उपग्रन्थ सूत्र, निदानसूत्र, अनुपदसूत्र और उपनिदानसूत्र भी महत्त्वपूर्ण हैं। इन सभी का क्रमिक परिचय इस प्रकार है :

आर्षेयकल्प या मशक कल्पसूत्र–सामान्यतः श्रौतसूत्रों और विशेषरूप से साम-लक्षण ग्रन्थों के मध्य इसका अत्यन्त सम्मानपूर्ण स्थान है। कालन्द के अनुसार यह लाट्यायन एवं द्राह्यायण

श्रौतसूत्रों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है।[१४] इसके रचयिता मशक या मशक गार्ग्य माने जाते हैं। परिमाण की दृष्टि से इसमें एकादश अध्याय है, जिनमें विभिन्न सोमयागों में गेय स्तोमों की क्लृप्तियाँ दी गई हैं, जिनसे यागों का औदगात्र पक्ष सम्पन्न हो जाता है। वस्तुत: सोमयाग त्रिविध होते हैं–एकाह (एक सुत्यादिवसवाले) याग, अहीन (दो से ग्यारह सुत्यादिवसों वाले) तथा सत्रयाग (१२ से लेकर तीन सौ इकसठ दिनों में साध्य)। आर्षेयकल्प में, एकाह से लेकर सहस्र संवत्सर साध्य सोमयागों से सम्बद्ध विविध सामों और उनकी स्तोत्रीय ऋचाओं की सूची मात्र प्रदत्त है, जो किसी सीमा तक याग-परम्परा में रुचि न रखने वाले को नीरस भी प्रतीत हो सकती है। प्रारम्भ गवामयन से हुआ है। आर्षेयकल्प पूर्णतया ताण्ड्य ब्राह्मण के क्रम का अनुसर्त्ता है। ३६१ दिनों में सम्पद्यमान गवामयन सत्र के अनन्तर इसमें एकाह, अहीन और सत्रयागों से सम्बद्ध विवरण दिया गया है। श्येन, इषु, संदंश और वज्र प्रभृति अभिचार यागों के निरूपण में, जो पंचविंश ब्राह्मण में न निरूपित होकर षड्विंश ब्राह्मण में विहित हैं, आर्षेयकल्प यजुर्वेदीय क्रम का अनुयायी है, जहाँ श्येन का उल्लेख साद्यस्क्र के रूप में, इषु का बृहस्पति सव के तथा संदेश और वज्र का एकाह यागों के अनन्तर हुआ है। सोमयागों में गान-विनियोग प्रायेण नियमत: ऊह और ऊह्य ग्रन्थों से हुआ है, किन्तु इसके कतिपय अपवाद भी हैं, जहाँ ग्रामेगेय और अरण्येगेय गानों से भी गान विहित हैं। आर्षेयकल्प में बतलाया गया है कि तत्तत् सोमयागों के विभिन्न स्तोत्रों में किन सामों का गान किया जाना चाहिए और उनकी स्तोत्रगत ऋचाएँ कौन-कौन हैं ? प्रतीक ऋक के प्रथम पाद से उल्लिखित हैं। किन्तु वे उस प्रतीक से प्रारम्भ होने वाले सम्पूर्ण तृच के द्योतक हैं। कल्पकार जब यह अनुभव करते हैं कि ताण्ड्य ब्राह्मण में कोई किसी याग की विस्तार से स्तोम कलृप्ति दी गई है तब वे वहां पुनरुक्ति नहीं करते। हाँ, भाष्यकार वरदराज अवश्य उस स्थल पर आवश्यक और अपेक्षित विवरण जुटाकर न्यूनता की पूर्ति का प्रयत्न करते हैं।

सोमयागों में साम-गान की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है–इसलिए यहाँ उसका आंशिक परिचय दे देना आवश्यक है। साम-गान दो भागों में विभक्त हैं–पूर्वगान और उत्तरगान। पूर्वगान में ग्रामेगेयगान और अरण्येगेयगान नाम से दो भाग हैं। इन्हें प्रकृतिगान भी कहते हैं। सोमयागों में उत्तरगान का ही मुख्यतया व्यवहार होता है–ये सामवेद के उत्तरार्चिक पर आधृत हैं। जिसके २० अध्यायों पर ऊह और ऊह्यगान प्राप्त होते हैं। उत्तरगानों के 'ऊह' और 'ऊह्य' नाम इनके विचारपूर्वक गान होने की सूचना देते हैं। सोमयागों में उद्गातृ-मण्डल इनका पाञ्च अथवा साप्त भक्तिरूप में आगान करता है। ये पाँच विभक्तियाँ क्रमश: इस प्रकार हैं–प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। इन्हीं में ओङ्कार और हिङ्कार का समावेश करने से इनकी संख्या सात हो जाती है। प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता और उद्गाता अपने-अपने भागों का गान करते हैं। अन्तिम निधन भक्ति का गान समवेत स्वर में होता है। किसी सामविशेष में कितना-कितना भाग किस ऋत्विक् के द्वारा गेय है, यही विचार वस्तुत: 'ऊह' है। वह आधारभूत ऋचा, जिस पर साम (गान) आधृत होता है, 'योनि' या 'सामयोनि' कहलाती है। ऊह और ऊह्यगानगत तृच की प्रथम स्तोत्रीय ऋक् ग्रामेगेयगान या अरण्ये गेयगान के एकर्च गान के सदृश होती है और अन्य दो स्तोत्रीय ऋचाओं

१४. *Pancavimsha Brahmana*, Eng. Trans, Introduction, Page IX.

में वही गान अपनाया जाता है, जो प्रथम स्तोत्रीय ऋचा में होता है। इस प्रकार उत्तरगान में सामान्यतः एक स्तोत्र का सम्पादन तीन ऋचाओं से होता है। इसे ही 'प्रगाथ' भी कहा जाता है। इन्हीं तृच रूप स्तोत्रों का आवृत्तिपूर्वक गान 'स्तोम' है–'आवृत्तियुक्तं तत्साम स्तोम इत्यभिधीयते'।[१५] स्तोमों की कुल संख्या नौ है–त्रिवृत्, पञ्चदश सप्तदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश, चतुर्विंश, चतुश्चत्वारिंश तथा अष्टचत्वारिंश। स्तोमों के विभिन्न प्रकारों को 'विष्टुति' कहा जाता है। 'पञ्चपञ्चिनी', 'उद्यति', 'कुलायिनी' इत्यादि विभिन्न विष्टुतियाँ हैं, जिनका विशेष विवरण ताण्ड्य महाब्राह्मण में है। इस प्रकार याग-दृष्टि से साम-गान में सामान्यतः बहिष्पवमानादि ३३ प्रमुख स्तोत्र, नौ स्तोम और २८ विष्टुतियाँ व्यवहृत होती हैं। ऋचा को गानरूप देने के लिए कतिपय परिवर्तन होते हैं, जिन्हें 'विकार' कहा जाता है। इनमें 'स्तोम' (ऋग्भिन्न औहोवा, 'हाउ' इत्यादि अक्षर) मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त पुष्पसूत्र में आइत्व, प्रकृति भाव इत्यादि २० भावविकार भी बतलाये गये हैं। साम-गान की सांगीतिक प्रक्रिया के विशेष ज्ञान के लिए लेखक की कृति 'सामवेदीय ब्राह्मणों का परिशीलन' अवलोकनीय है।[१६]

चतुःसंस्थ सोमयागों का नामकरण इन्हीं सामों और स्तोमों के आधार पर सम्पन्न हुआ है। अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी तथा अतिरात्र नाम वस्तुतः विभिन्न स्तोत्रों और स्तोमों के ही उपलक्षक हैं। उदाहरण के लिए सभी सोमयागों के प्रकृतिभूत याग 'अग्निष्टोम' का नामकरण 'यज्ञायज्ञा वो अग्नये' (ग्रामेगेयगान, १.४.३५-४) इस आग्नेयी ऋचा में उत्पन्न 'याज्ञयज्ञीय अग्निष्टोम' संज्ञक साम से समाप्त होने के कारण हुआ है। इसी प्रकार 'उक्थ्य' संज्ञक तीन विशेष स्तोत्रों (साकमश्वसाम, सौरभसाम तथा नार्मेध साम) का एक विंशस्तोम में प्रयोग उक्थ्यसंस्थ ज्योतिष्टोम में होता है।

अध्याय-क्रम से 'आर्षेयकल्प' में प्रतिपादित विषयों का विवरण इस प्रकार है :

प्रथम दो अध्यायों में 'गवामयन' सत्र का निरूपण है, जो वास्तव में विभिन्न एकाहों के निश्चित क्रम में अनुष्ठान से सम्पन्न होता है। पूर्वपक्ष के पहले दो दिनों में अतिरात्र तथा प्रायणीयेष्टि का अनुष्ठान होता है। तदनन्तर पाँच मासों तक विभिन्न अभिप्लव षडहों (ज्योति, गौ, आयु, तथा ज्योति संज्ञक एकाहों) तथा पृष्ठ्य षडहों का अनुष्ठान किया जाता है। षष्ठ मास में तीन अभिप्लवषडहों, एक अभिजित् तथा तीन स्वरसामों का अनुष्ठान होता है। अन्तिम दिन 'विषुवत्' संज्ञक होता है। उत्तरपक्ष के सप्तम मास में तीन स्वरसाम, एक विश्व जित्, तीन अभिप्लवषडह अनुष्ठेय हैं। अष्टम से एकादश मास तक पृष्ठ्य तथा अभिप्लव षडहों का ही अनुष्ठान होता है। १२वें मास में तीन अभिप्लवषडह, एक आयु, एक गौष्टोम तथा द्वादशाह के १० दिन अनुष्ठेय हैं। अन्त में 'महाव्रत' का अनुष्ठान विहित है, जिसकी कल्पना पक्षी के विभिन्न अवयवों के रूप में की गई है। यह हास-परिहास तथा मनोरंजन से संवलित कृत्य है।

तृतीय अध्याय में ज्योति, गौः, आयु प्रभृति एकाहों के साथ ही श्येन और इषु सदृश अभिचार यागों तथा संस्कारविहीन व्रात्यों को शुद्ध करने के लिए चार व्रात्यस्तोमयागों का भी विधान है।

१५. ताण्ड्य ब्राह्मण पर सायण-भाष्य की उपक्रमणिका।

१६. भारत भारती अनुष्ठानम्, ३४६, कानूनगोयान, बाराबंकी (उ.प्र.) से प्रकाशित।

इसी अध्याय में 'सर्वस्वार' नामक विलक्षण (याग जो सुत्या के दिन मृत्यु-कामना करने वाले के द्वारा अनुष्ठेय है) का विधान भी हुआ है।

चतुर्थ अध्याय में चातुर्मास्यों का विशद विवरण है। इनके साथ ही उपहव्य, ऋतपेय, दूणाश, वैश्यस्तोम, तीव्रसुत, वाजपेय तथा राजसूय संज्ञक यागों का निरूपण भी हुआ है। पञ्चम अध्याय में राज, विराज्, औपशद्, पुनःस्तोम, द्विविध चतुष्टोम, उद्भिद्, बलभिद्, अपचिति, ज्योति, ऋषभ प्रभृति का वर्णन हुआ है। 'गोसव' संज्ञक विलक्षण याग जिसमें एक वर्ष तक सभी क्रियाएँ पशु के सदृश की जाती हैं, का तथा 'संदंश' और 'वज्र' संज्ञक अभिचार यागों का प्रतिपादन भी इसी अध्याय में हुआ है।

षष्ठ से अष्टम अध्याय तक विभिन्न अहीन यागों (दो सुत्यादिवसों से लेकर ११ सुत्यादिवसों से युक्त) का निरूपण किया गया है। इनमें आंगिरस, चैत्ररथ तथा कापिवन संज्ञक द्विरात्र हैं; गर्ग, अश्व, वैद, छन्दोमपवमान, अन्तर्वसु तथा पराक संज्ञक त्रिरात्र हैं; अत्रि, जामदग्न्य, वासिष्ठ और वैश्वामित्र संज्ञक चतुरात्र हैं; देव, पञ्चशारदीय और व्रतमध्य नामक पञ्चरात्र हैं; तीन षडह हैं; सात सप्तरात्र हैं; एक अष्टरात्र हैं; दो नवरात्र हैं, चार दशरात्र हैं और एक एकादशरात्र हैं। नवम अध्याय में ४८ सत्रयागों का विवरण है। दशम तथा एकादश अध्याय विभिन्न 'अयन' संज्ञक यागों के विधि-विधान के प्रस्तावक हैं। इनमें आदित्यों, अङ्गिरसों, दृतिवातवानों, कुण्डपायियों, तपश्चितों के अयनों के साथ ही सारस्वत, दार्षद्वत, सर्परात्र त्रिसंवत्सर, प्राजापत्य (सहस्रसंवत्सरसाध्य) तथा विश्वसृजामयन प्रमुखतया उपपादित हैं।

कतिपय अपवादों को छोड़कर 'आर्षेयकल्प' सामान्यतः ताण्ड्य महाब्राह्मण का अनुवर्तन करता है।

व्याख्या--'आर्षेयकल्प' पर वरदराज की वैदुष्यपूर्ण विवृति नाम्नी व्याख्या उपलब्ध है। आरम्भ में लगभग ९० पृष्ठों का उनका उपोद्घात सोमयागों के स्वरूप के परिज्ञान के लिए अत्यन्त उपादेय है। व्याख्या की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि वरदराज के पिता का नाम वामनार्य तथा पितामह का अनन्त नारायण यज्वा था। वे तमिलनाडु के निवासी तथा श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे। सामवेदीय राणायनीय शाखा से उनका विशेष सम्बन्ध था।

संस्करण–(१) कालन्द के द्वारा सम्पादित तथा १९०८ में लीप्जिग से प्रकाशित–'Des Arseya Kalpa des Samaveda.' इसमें 'अध्याय' के स्थान पर 'प्रपाठक' शब्द का व्यवहार हुआ है। (२) प्रो० बेल्लिकोत्तु रामचन्द्र शर्मा के द्वारा सम्पादित 'विवृति' युक्त संस्करण विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर से १९६७ में प्रकाशित। उपुर्यक्त विवरण का आधार यही संस्करण है।

क्षुद्रकल्पसूत्र–यह भी मशक गार्ग्य-कृत है और वस्तुतः आर्षेयकल्प का द्वितीय भाग है, जिसे कालान्तर से, अन्य सामवेदीय ग्रन्थों की भाँति व्याख्याकारों ने स्वतन्त्र ग्रन्थ मान लिया। 'निदानसूत्र' तथा 'उपग्रन्थ सूत्र' से भी इसी तथ्य का समर्थन होता है। व्याख्याकार श्रीनिवास ने इसे 'उत्तरकल्पसूत्र' कहा है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन प्रपाठकों तथा छह अध्यायों में विभक्त है। जैसाकि नाम से स्पष्ट है, इसमें क्षुद्र श्रौत यागों-सोमयागों-का निरूपण है। प्रथम प्रपाठक के अन्तर्गत प्रथम और द्वितीय अध्यायों

में विभिन्न प्रकार के काम्ययाग और प्रायश्चित्त वर्णित हैं। द्वितीय प्रपाठक (द्वितीय और तृतीय अध्यायों) में वर्णकल्प उभयसामयज्ञ, प्रवर्हयाग तथा अग्निष्टोम, चतुर्थ अध्याय में पृष्ठ्यषडहानुकल्प द्वादशाहानुकल्प और तृतीय प्रपाठकगत पञ्चम तथा षष्ठ अध्यायों में विभिन्न द्वादशाहगत विकल्प याग निरूपित हैं। इस प्रकार क्षुद्रकल्पसूत्र में ८५ एकाहयागों, २२ पृष्ठ्यषडहों तथा अनेकविध द्वादशाहों का वर्णन है। ताण्ड्य ब्राह्मण का अनुसरण इसमें केवल काम्य और प्रायश्चित्त-निरूपण के सन्दर्भ में ही है। प्रायश्चित्त यागों के सन्दर्भ में नराशंस और उपदंशन सदृश कतिपय याग छूट भी गये हैं।

आर्षेय की तुलना में, क्षुद्रकल्प में विस्तार से याग-क्लृप्ति दी गई है। इसमें विष्टुतियों और सम्पत् (विभिन्न छन्दस्क सामों की अक्षर-गणना) का भी उल्लेख है। इस सन्दर्भ में इसका साम्य सामवेदीय ब्राह्मणों से परिलक्षित होता है। उल्लेख्य है कि क्षुद्रकल्पसूत्र में प्रायश्चित्त यागों की कल्पसम्पत्तिजन्य विवरण देने के पश्चात् किसी अन्य शाखा का भी अनुसरण किया गया है–'अतः परं क्षुद्रतन्त्रोक्तानां साम्नां शाखान्तरानुसारेण कल्पमाह'।[१७]

इसमें कतिपय ऐसे यागों का विवरण है, जो समान्यतः अन्य श्रौतसूत्रों में अनुल्लिखित हैं, यथाऋत्विगपोहन,[१८] पुरस्तात् ज्योतिः तथा शुक्रजातयः इत्यादि।

भाषा और वर्णन-शैली की दृष्टि से 'क्षुद्रकल्पसूत्र' विशेष रूप से उसका अन्तिम भाग, सूत्रग्रन्थों के सदृश न होकर ब्राह्मणग्रन्थों के समान है। सूत्रों के समान संश्लिष्टता, संक्षिप्तता, वचोभङ्गी तथा वाक्यविन्यास की प्राप्ति इसमें नहीं होती। इसमें अनेक स्थलों पर छान्दस प्रयोग भी दिखलाई देते हैं, यथा–'जामितायै' ('जामितायाः' के स्थान पर)। 'क्षुद्रकल्पसूत्र' पर शतक्रतुकुमार ताताचार्य के आत्मज श्रीनिवास की विशद व्याख्या उपलब्ध है। कुमार ताताचार्य तंजौर (तंजावुर) के राजा अच्युत राय (सन् १५६१ ई० से १९६४ ई०) के कृपापात्र थे। ताताचार्य ने स्वरचित नाटक 'पारिजातहरण' में सूचना दी है कि उनके सात पुत्र थे, जिन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। श्रीनिवास ने कर्मकाण्ड के एक अन्य ग्रन्थ 'पञ्चकाल क्रियादीप' का प्रणयन भी किया था। इस वंश के विषय में 'नावलक्कं ताताचार्याः', 'शतक्रतुचतुर्वेदिनः' प्रभृति विरुद् अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। कृष्णयजुर्वेद के अध्येता होने पर भी श्रीनिवास सर्वशाखीय कर्मकाण्ड में निष्णात प्रतीत होते हैं।

संस्करण–इसका सम्पादन भी प्राध्यापक कालन्द तथा बेल्लिकोत्तुराम० शर्मा ने किया है। डॉ० शर्मा का संस्करण विश्वेश्वरानन्द-संस्थान, होशियारपुर से सन् १९७४ में प्रकाशित है।

लाट्यायन श्रौतसूत्र

'गोभिलगृह्यकर्म-प्रकाशिका' के अनुसार कौथुमशाखीय सामवेदीय श्रौतसूत्रों में इसका तृतीय स्थान है। इसमें १० प्रपाठक हैं। सप्तम प्रपाठक में १३ खण्डिकाएँ हैं और दशम में २०। शेष प्रपाठकों में से प्रत्येक में १२ खण्डिकाएँ हैं। इस प्रकार लाट्यायन श्रौतसूत्र में कुल १२९ खण्डिकाएँ हैं। कुमारिल भट्ट के कथनानुसार 'लाट्यायन' का नाम लाट प्रदेश (गुजरात) के आधार पर है। तदनुसार

१७. क्षुद्रकल्पसूत्र (होशियारपुर संस्करण) पृ० ९८।

१८. वही २.८।

किसी लाटीय व्यक्ति के द्वारा निर्मित होने के कारण यह लाट्यायन कहलाता है (तन्त्रावार्तिक १.३.११)।

'कल्पानुपद' तथा 'द्राह्यायण श्रौतसूत्र' में लाट्यायन का उल्लेख है। प्रपाठक-क्रम से प्रतिपाद्य का विवरण अधोलिखितवत् है :

प्रपाठक १–परिभाषाएँ तथा ऋत्विग्वरण।

प्रपाठक २–अग्निष्टोम एवं इससे सम्बद्ध याग।

प्रपाठक ३–षोडशिविषयक द्रव्य-विधान।

प्रपाठक ४–वाजिभक्षण।

प्रपाठक ५–चातुर्मास्य, वरुणप्रघास तथा सोमचमस।

प्रपाठक ६–सामविधान तथा द्वयक्षर-प्रतिहार।

प्रपाठक ७–चतुरक्षर प्रतिहार तथा गायत्रगान।

प्रपाठक ८–एकाह, अहीन तथा वाजपेय याग।

प्रपाठक ९–राजसूय।

प्रपाठक १०–सत्रयाग तथा उसकी परिभाषाएँ।

इसमें २६४१ सूत्र हैं।

याग-क्रम को छोड़कर विषयवस्तु की दृष्टि से यह ताण्ड्यब्राह्मण का प्रायः अनुसरण करता है। इसीलिए ब्राह्मणोक्त विधियों के स्पष्टीकरण के लिए सायणाचार्य सदृश भाष्यकार प्रायः इसी को उद्धृत करते हैं। लाट्यायन श्रौतसूत्र में ताण्ड्य के अतिरिक्त धानञ्जय्य, शाण्डिल्यायन, गौतम, शौचिवृक्षि, क्षैरकलम्भि, कौत्स, वार्षगण्य, लामकायन, राणायनी-पुत्र, शाट्यायनि तथा शालङ्कायनि नामक आचार्यों के मतों का उल्लेख हुआ है। कुमारिल भट्ट का कथन है कि इसमें 'स्तुवीरन्' जैसे अपाणिनीय प्रयोग पाये जाते हैं।

व्याख्याएँ–इस श्रौतसूत्र पर अग्निस्वामि-कृत प्राचीन भाष्य प्राप्त होता है। अग्निस्वामी का अनेक प्राचीन व्याख्याकारों ने उल्लेख किया है। अस्को परपोला के अनुसार अग्निस्वामी मगधनिवासी थे, क्योंकि उन्होंने कुमारगुप्त का उल्लेख किया है।[१९] दूसरी व्याख्या रामकृष्ण दीक्षित उपाख्य नानाभाई (१७वीं शती) की है। अग्निष्टोम भाग पर मुकुन्द झा बख्शी की व्याख्या भी प्रकाशित हुई है।

संस्करण–आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीश के द्वारा सम्पादित अग्निस्वामि-भाष्यसहित सम्पूर्ण लाट्यायन श्रौतसूत्र 'बिब्लियोथिका इण्डिका' ग्रन्थमाला में सन् १८७०-७२ में प्रकाशित हुआ था। अग्निष्टोमान्त प्रकरण चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला वाराणसी से सन् १९३२ ई० में प्रकाशित हुआ था। आज भी इसके शोधपूर्ण संस्करण की आवश्यकता निरन्तर बनी हुई है।

द्राह्यायण श्रौतसूत्र

इसका सम्बन्ध राणायनीय शाखा से है। द्राह्यायण श्रौतसूत्र के नामान्तर हैं–छान्दोग सूत्र, प्रधानसूत्र

१९. *Srautasutras of Latyayan and Drahyayana* —A. Parpola Helsinki, 1968.

तथा वासिष्ठसूत्र। राणायनीय शाखा के अनुयायी आज कर्नाटक के शिमोगा, उत्तरी कनारा जिलों में, तमिलनाडु में ताम्रपर्णी नदी के तटवर्ती क्षेत्रों, उत्तरी आन्ध्र और उड़ीसा के सीमान्त भाग में ही अधिकांशतया पाये जाते हैं। उनके अतिरिक्त दक्षिण के कौथुम शाखीय सामवेदियों ने भी, प्रो० बेल्लिकोत्तु रामचन्द्र शर्मा की सूचनानुसार[२०], द्राह्यायण श्रौतसूत्र को ही स्वीकार कर लिया है। अस्को परपोला ने भी यह इंगित किया है कि दक्षिण में लाट्यायन श्रौतसूत्र के हस्तलेख कम ही मिले हैं। इसके विपरीत द्राह्यायण श्रौत सूत्र के हस्तलेख प्राय: मिल जाते हैं।[२१] दोनों ही श्रौतसूत्रों की एकता में सबसे बड़ी भूमिका सामलक्षण ग्रन्थों ने निभाई है, जो प्राय: समान है। प्रो० शर्मा ने, द्राह्यायण और लाट्यायन श्रौतसूत्रों के मध्य विद्यमान साम्य के आधार पर यह अवधारणा व्यक्त की है कि लाट्यायन श्रौतसूत्र में सुरक्षित किसी प्राचीन सूत्र को ही द्राह्यायण ने पुन: सम्पादित रूप में प्रस्तुत किया है। द्राह्यायण श्रौतसूत्र में, खण्डों का विभाग बहुधा स्वाभाविक प्रवाह को बाधित कर देता है।

द्राह्यायण श्रौतसूत्र ३१ पटलों में विभक्त है। २२वें और २८वें पटलों को छोड़कर, जिनमें पाँच-पाँच खण्ड हैं, शेष पटलों में प्राय: चार-चार खण्ड हैं। २७वां पटल भी अपवाद है–इसमें छ: खण्ड हैं। कुछ हस्तलेखों में पटल के स्थान पर अध्यायात्मक विभाजन भी मिला है जिसका समर्थन डॉ० रघुवीर ने किया है।

प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से द्रा० श्रौ० सू० के प्रथम सात पटलों में ज्योतिष्टोम (अग्निष्टोम) का ही निरूपण हुआ है। अष्टम से एकादशान्त पटलों में गवामयन (सत्रयाग) का विवरण है। १२वें से २१वें तक ब्रह्मा के कार्यों, हविर्यागों और सोम यागों से सम्बद्ध सामान्य कार्य-कलापों का निरूपण है। २२वें से २५वें पटल तक एकाहयागों का विवरण है। २६-२७ पटलों में अहीनयागों का वर्णन है। २८-२९ पटलों में सत्रयागों तथा ३०-३१ पटलों में अयनयागों का निरूपण है। वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध सदृश बहुचर्चित यागों का वर्णन क्रमश: २४वें, २५वें तथा २७वें पटलों में है।

जैसाकि पहले कहा गया, द्राह्यायण की दृष्टि में लाट्यायन श्रौतसूत्र उपजीव्य रहा है। विषय-प्रतिपादन में प्राय: समानता है। सूत्रों के क्रम तथा उनके विभाजन में अवश्य कहीं-कहीं भिन्नता है। द्राह्यायण श्रौतसूत्र में अपेक्षाकृत कुछ वृद्धि भी दिखलाई देती है। परपोला के अनुसार लाट्यायन श्रौतसूत्र में केवल १३ सूत्र ऐसे हैं, जिनके समानान्तर द्राह्यायण श्रौतसूत्र में कोई सूत्र नहीं है–जबकि द्राह्यायण श्रौतसूत्र में २५० से अधिक ऐसे सूत्र हैं, जिनके समानान्तर लाट्यायन श्रौतसूत्र में सूत्र उपलब्ध नहीं हैं।

व्याख्याएँ–रुद्रस्कन्द की कृति 'औद्गात्रसारसंग्रह' के अतिरिक्त अग्नि स्वामी तथा धन्विन् ने मखस्वामी की प्राचीन व्याख्या का उल्लेख किया है। यह अप्रकाशित उपलब्ध और प्रकाशित व्याख्या है धन्विन्-कृत 'दीप'। धन्विन् ने पुष्पिका में जो श्लोक दिये हैं तदनुसार वे सामवेदीय औद्गात्र तन्त्र के गम्भीर विद्वान् ही नहीं, स्वयं भी सोमयागों के अनुष्ठाता थे :

२०. द्राह्यायण श्रौतसूत्र, भूमिका, पृष्ठ १७-१८ प्रयाग, १९८३.

२१. This Srautasutras of LSS & DSS, 1968.

निदानकल्पोपग्रन्थब्राह्मणानि पुनः पुनः।
समीक्ष्य धन्वी मेधावी दीपमारोपयत् स्फुटम्।।
इति छन्दोगसूत्रस्य सुतसोमेन धन्विना।
आरोपितः प्रदीपोऽयं प्रीयतां पुरुषोत्तमः।।

कुछ मातृकाओं में 'काश्यपगोत्रेण सुतसोमेन' पाठ मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि धन्विन् कश्यपगोत्रीय थे।

संस्करण–(१) जे॰ एन॰ रियूटर ने १९०४ में धन्विभाष्यसहित प्रथम चार पटलों को प्रकाशित कराया था। (२) डॉ॰ रघुवीर ने ११-१५ पटलों को १९३४ में, 'जर्नल ऑफ वैदिक स्टडीज' (भाग–१) में प्रकाशित किया था। (३) धन्वि-भाष्य सहित सम्पूर्ण द्राह्यायण श्रौतसूत्र के सर्वाङ्गशुद्ध संस्करण का सम्पादन प्रो॰ बी॰ आर॰ शर्मा ने किया है, जो अनेक उपयोगी अनुक्रमणियों के साथ गंगानाथ झा के॰ सं॰ विद्यापीठ, प्रयाग से १९८३ में प्रकाशित हुआ है।

कल्पानुपदसूत्रम्

इसमें दो प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक १२ पटलों में विभक्त है। कालन्द के अनुसार यह आर्षेयकल्प और क्षुद्रसूत्र का परिशिष्ट है, क्योंकि इन दोनों ग्रन्थों से प्राय: बिना नाम का उल्लेख किये उद्धरण दिये गये हैं। केवल एक बार मशक के नाम का उल्लेख है। सम्भवत: अद्यावधि इसका प्रकाशन नहीं हो सका है।[२२]

उंपग्रन्थ सूत्रम्

इसमें चार प्रपाठक हैं। कल्पसूत्र सदृश स्वरूप वाले इस ग्रन्थ में विभिन्न श्रौतयागों में विनियुक्त सामों की सम्पत्-सिद्धि, प्रायश्चित्त, पृष्ठानुकल्प आदि का निरूपण है। प्रो॰ बी॰ आर॰ शर्मा के अनुसार यह पूर्वोत्तर भाग सहित आर्षेयकल्प द्राह्यायण और लाट्यायन श्रौतसूत्रों को मिलाकर बने किसी श्रौतसूत्र का परिशेष प्रतीत होता है। 'प्रतिहारसूत्र' इसी का अन्तिम भाग अर्थात् चतुर्थ प्रपाठक है जिसमें प्रतिहार भक्ति पर विशेष रूप से विचार किया गया है और जिसे सुदीर्घकाल से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की मान्यता प्राप्त है। इसके रचयिता कात्यायन माने जाते हैं, जैसाकि सायण का कथन है–'अयं त्रिष्टुप्सम्पत्तिप्रकारो भगवता कात्यायनेनोपग्रन्थे प्रदर्शितः' (ताण्ड्य ब्राह्मण ७.४.८ पर सायण-भाष्य)। प्रतिहार भाग पर वरदराज-कृत 'दशतयी' व्याख्या प्राप्त होती है। इसका प्रथम बार सम्पादन पं॰ सत्यव्रत सामश्रमिभट्टाचार्य ने किया था। जिसका प्रकाशन 'उषा' पत्रिका में हुआ था। प्रो॰ बी॰ आर॰ शर्मा ने केवल अन्तिम भाग 'प्रतिहारसूत्रम् का सम्पादन किया है, जिसका प्रकाशन केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति से हुआ है।

२२. आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपनी कृति 'वैदिक साहित्य एवं संस्कृति' (पञ्चम संस्क. पृष्ठ ३७१) में सूचना दी है कि काशी से यह प्रकाशित हुआ है। मुझे गोदत ग्रन्थ नहीं मिला।

अनुपदसूत्र

इसमें १० प्रपाठक हैं। कालन्द का कथन है कि यह ताण्ड्य ब्राह्मण पर एक प्रकार की वृत्ति (Running Commentary) मात्र है।

निदान सूत्र

'नि' उपसर्गपूर्वक 'दा' धातु से निष्पन्न 'निदान' शब्द का अर्थ है आदिकारण। ऋग्वेद संहिता के अनेक स्थलों पर यही अर्थ मान्य है, किन्तु प्रकृत सन्दर्भ में इसका अर्थ बौद्ध वाङ्मयगत 'निदानसूत्र' में अभीष्ट अर्थ से, (यद्यपि उससे इसका कोई सम्वन्ध नहीं है), साम्य रखता है। वहाँ इसका प्रयोग किसी विशेष विषय का विवेचन करने वाले सूत्र ग्रन्थ के सन्दर्भ में है। 'परीक्षा' अर्थ भी सुसंगत है–क्योंकि इसमें छन्दों, गानों, उक्थ्यों और स्तोमों की परख करके उनका विवरण दिया गया है। अनेक आधिकारिक ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के मतों की प्रस्तुति के कारण श्रौतयागों के विवेचन की दृष्टि से इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कालन्द ने व्याकरण और कोश की दृष्टि से भी इसकी उपादेयता स्वीकार की है।[२३]

सायण ने ताण्ड्यब्राह्मण-भाष्य में पतञ्जलि के नाम से जो उद्धहरण दिया है,[२४] वह निदानसूत्र में है।[२५] इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थ के रचयिता पतञ्जलि हैं। 'निदानसूत्र' १० प्रपाठकों में विभक्त है। प्रथम प्रपाठक को छन्दोविचिति नाम से भी जाना जाता है। 'छन्दोविचिति' के विभिन्न हस्तलेखों में अनेक प्रकार से 'निदानसूत्र' को पतञ्जलि-प्रणीत बतलाया गया है।[२६] विभिन्न व्याख्याकारों तथा कालन्द प्रभृति सम्पादकों ने भी यही माना है।[२७]

बृहद्देवता[२८] तथा वसिष्ठ धर्मशास्त्र[२९] के वचनों के आधार पर कालन्द ने इसका सम्बन्ध भाल्लवि शाखा से होने की सम्भावना व्यक्त की है किन्तु 'गृह्यकर्मप्रकाशिका' से ज्ञात होता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में ही इसे कौथुमशाखीय रूप में मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। वहाँ इसकी गणना कौथुमशाखीय ५२ ग्रन्थों के मध्य की गई है।

याग-निरूपण की दृष्टि से ताण्ड्य ब्राह्मण के साथ 'निदानसूत्र' घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। 'एवमिव ब्राह्मणम्' तथा 'यथा ब्राह्मणम्' कहकर 'निदानसूत्र' में ताण्ड्य ब्राह्मण के उद्धरण दिये गये हैं। निदानसूत्र में कतिपय यागों के वे सभी प्रभेद नहीं दिये गये, जो ताण्ड्य ब्राह्मण में प्राप्त होते हैं, यथा चतूरात्र के अत्रि, जमदग्नि, वसिष्ठ और विश्वामित्र के नामों पर ताण्ड्य में प्राप्त

२३. कालन्द-सम्पादित 'आर्षेयकल्प' की भूमिका।

२४. जिरालम्बकमता भगतता पतञ्जलिनोक्तम्-सप्तमेऽहन्यर्कःकृताकृतो भवत्यब्राह्मणविहित वाद इति–तां. ब्रा. १६-५-१२ पर सायण भाष्य।

२५. निदानसूत्रम् ४.७।

२६. 'निदानं पतञ्जलि-कृत सूत्रम्' इत्यादि।

२७. 'छन्दोविचिति' के व्याख्याकार हृषीकेश का कथन है–'सामगानां निदानस्था पतञ्जलिकृता हिसा।'

२८. एष एव परामृष्टो भाल्लवि ब्राह्मेण निदानसंज्ञके ग्रन्थे छन्दोगानामिति श्रुतिः।। बृहद्देवता ५.२३।

२९. अथापि भाल्लविनो निदाने गाथमुदाहरन्ति वसिष्ठ धर्मसूत्रम्।

प्रभेद निदानसूत्र में नहीं हैं। लाट्यायन श्रौतसूत्र के विपुलांशों से इसका साम्य है। धानञ्जय्य, गौतम, वसिष्ठ, भारद्वाज और शाण्डिल्यायन प्रभृति नामों का उल्लेखकर उनके मतों को प्रस्तुत किया गया है। इसमें सोमयागगत साम-गान की प्रक्रिया पर बहुत ही गम्भीरता से विचार किया गया है।

'निदानसूत्र' के प्रथम पटल पर नारायण के पुत्र हृषीकेश शर्मा की व्याख्या उपलब्ध है। इसी अंश तक तातप्रसाद-प्रणीत 'तत्त्वसुबोधिनी' वृत्ति भी प्राप्त होती है।

संस्करण–(१) सत्यव्रत सामश्रमी के द्वारा सम्पादित तथा 'उषा' पत्रिका में कलकत्ता से १८९६ में प्रकाशित। (२) 'इंदिशे स्तूदियन' में वेबर के द्वारा सम्पादित-प्रकाशित। (३) कैलासनाथ भटनागर के द्वारा सम्पादित तथा १९३९ में लाहौर से प्रकाशित, जिसका १९७१ में दिल्ली से पुनर्मुद्रण हुआ है।

जैमिनीय श्रौतसूत्र

सामवेद की जैमिनीय शाखा अत्यन्त समृद्ध है। इसके गान, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र एवं गृह्यसूत्रादि सभी ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

जैमिनीय श्रौतसूत्र तीन खण्डों में विभक्त है–सूत्र, कल्प तथा पर्याध्याय या परिशेष, जो पुनः १८ अध्यायों में विभाजित है। सूत्रखण्ड अत्यन्त लघु है, जिसमें लम्बे-लम्बे वाक्यों से युक्त २६ कण्डिकाओं में ज्योतिष्टोम, अग्न्याधान तथा अग्निचयन से सम्बद्ध सामों का विवरण प्रदत्त है।

कल्पखण्ड कौथुमीय मशककल्प के समानान्तर प्रणीत प्रतीत होता है। इसमें अनेक, उपखण्ड हैं। स्तोमकल्प में विभिन्न स्तोत्रों के लिए स्तोमों का विवरण है। समस्त सोमयागों के याग-दिवसों और यज्ञानुष्ठान के क्रम का वर्णन भी है। प्रकृतिकल्प (अथवा प्राकृत) में एकाहों, अहीनों तथा सत्रयागों की प्रकृतियों (क्रमशः ज्योतिष्टोम, द्वादशाह तथा गवामयन) में प्रयोज्य सामों का विवरण है। 'संज्ञाकल्प' में पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या की गई है। 'विकृति कल्प' में एकाहों, अहीनों और सत्रयागों की विकृतियों का सामगान की दृष्टि से निरूपण है।

पर्याध्याय या परिशेष खण्ड के १२ अध्यायों में यज्ञीय दिनों का तन्त्र, सामगान के विभिन्न नियमों (आविर्गान, छन्नगान तथा लेशगान) साम-गान की विभिन्न विभिक्तियों, विभाग्य सामों, ऊहन-प्रक्रिया इत्यादि का विवरण है।

इस प्रकार जैमिनीय श्रौतसूत्र में सोमयागों के समग्र कर्मकाण्ड की विशद प्रस्तुति दिखलाई देती है।

परम्परा से यह जैमिनिप्रणीत माना जाता है। इसकी शैली ब्राह्मणग्रन्थों के सदृश है। कौथुमशाखीय श्रौतसूत्रों के व्याख्याकारों ने भी इसे बहुधा उद्धृत किया है। बौधायन श्रौतसूत्र के साथ जैमिनीय श्रौतसूत्र का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। अद्यावधि जैमिनीय अपने पात्रों में बौधायनशाखीय अध्वर्यु को ही स्थान देते हैं। ताण्ड्य को भी जैमिनीय श्रौतसूत्र में उद्धृत किया गया है।

जैमिनीय श्रौतसूत्र पर भवत्रात की वृत्ति प्राचीनतम होने के साथ ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है। भवत्रात के पिता मातृदत्त हिरण्यकेशियों के श्रौत एवं गृह्यसूत्रों के प्रतिष्ठित व्याख्याकार हैं।

भवत्रात स्वयं 'वृत्ति' पूर्ण नहीं कर सके थे। यह कार्य जयन्त भारद्वाज ने किया जो उनके भागिनेय, शिष्य और जामाता भी थे।

भवत्रात की व्याख्या के अतिरिक्त जैमिनीय श्रौतसूत्र पर कतिपय कारिका-ग्रन्थ (–वैनतेयकारिका–२१५कारिकाओं से युक्त–तथा ११६ कारिकाओं) से युक्त अन्य ग्रन्थ प्रयोग और पद्धतियाँ भी उपलब्ध हैं।

संस्करण–(१) ड्यूक गास्ट्रा ने १९०६ ई० में, डच भाषा में अनुवाद के साथ अग्निष्टोमान्त प्रकरण को प्रकाशित कराया था। (२) प्रेमनिधि शास्त्री ने भवत्रात-कृत वृत्ति को सरस्वती विहार ग्रन्थमाला, दिल्ली से १९६६ ई० में प्रकाशित कराया है।

प्रो० अस्को परपोला ने सम्पूर्ण जैमिनीय श्रौतसूत्र के सूत्रपाठ की उपलब्धि की सूचना दी है। आशा की जा सकती है कि प्रो० परपोला शीघ्र ही इसे सम्पादित-प्रकाशित कराने में रुचि लेंगे।

अथर्ववेदीय वैतान (श्रौत) सूत्र

इसका नामकरण प्रथम सूत्र 'अथ वितानस्य' के आधार पर सम्भवत: हुआ है। अन्य श्रौतसूत्र जहाँ अपने गृह्यसूत्रों के पूर्ववर्ती माने जाते हैं, वहीं यह अपने गृह्यसूत्र 'कौशिकसूत्र' पर आधृत बतलाया जाता है। हस्तलेखों की पुष्पिकाओं में इसे 'कौशिकीय सूत्र' ही कहा गया है। इसमें आठ अध्याय और ४३ कण्डिकाएँ हैं। एक हस्तलेख में १४ अध्याय भी हैं–किन्तु अन्तिम अध्याय वस्तुत: 'प्रायश्चित्तसूत्र' हैं। सोमादित्य-कृत 'आक्षेपानुविधि' संज्ञक भाष्य भी आठ अध्यायों पर ही है।

वैतानसूत्र में प्रतिपादित विषय-वस्तु का विवरण इस प्रकार है–परिभाषा, दर्शपूर्णमास, अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, आरम्भणीयेष्टि, पुनराधेय, आग्रयणीयेष्टि, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, वाजपेय, अप्तोर्याम, अग्नि-चयन, सौत्रामणी, गवामयन, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, एकाह, अहीन याग तथा काम्येष्टियाँ। श्रौतसूत्र में विनियुक्त अधिकांश मन्त्र प्राय: शौनकशाखीय अथर्ववेद के २०वें काण्ड से गृहीत हैं। कुछ मन्त्र अथर्वसंहिता से इतर भी हैं। गार्बे की गणनानुसार वैतानसूत्र में ऋग्वेद के १६, वाजसनेययजुर्वेद के ३४, तैत्तिरीय संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक के १९ निर्देश हैं कौशिकसूत्र का प्रभाव तो सुस्पष्ट ही है। जहाँ कौशिक सूत्र में किसी कर्म का विशद निरूपण है, वहीं वैतानसूत्र केवल आद्यन्त के उल्लेख से संकेत भर कर देता है, यथा–'अपां सूक्तैरित्याद्युपस्पर्शनान्तम्'। दोनों ही सूत्रों में अनेक वाक्यांशों के प्रयोग में भी साम्य है। विद्वानों की सामान्य धारणा यह है कि ये दोनों ही रचनाएँ कौशिक[३०] या उनके वंशजों में से किसी के द्वारा[३१] रचित हैं। सोमादित्य ने भी कौशिक सूत्र को 'संहिताविधि'

३०. M. Bhattacharya, *Materials for further Study of the Vaitana Sutra*, Our Heritage V, p.1.
३१. आचार्य विश्वबन्धु, वैतानसूत्र की भूमिका पृष्ठ १९।

बतलाते हुए उसी अनुक्रम में वैतानसूत्र को रखा है–'अथेति संहिताविधिसापेक्षत्वद्योतनाय तदानन्तयार्थः।' वैतानसूत्र के पूर्वार्ध पर कात्यायन श्रौतसूत्र का भी बहुत प्रभाव परिलक्षित होता है।

रिचर्ड गार्बे के द्वारा संपादित और जरमन भाषा में अनूदित रूप में वैतानसूत्र लन्दन और स्ट्रासबर्ग से १८७८ में प्रकाशित हुआ था। १९६७ में आचार्य विश्वबन्धु ने सोमादित्य के भाष्यसहित इसका संपादन कर विश्वेश्वरानन्द संस्थान से प्रकाशित किया था।

गृह्यसूत्र : विकास के विभिन्न आयाम

ऊपर गृह्यसूत्रों में निरूपित विषयवस्तु का संक्षिप्त उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ इनकी प्रमुख सामान्य विशेषताओं का विवरण प्रदेय है, जो इस प्रकार है :

(१) वैदिक आर्यों के प्राचीन सामाजिक तथा गृह्यजीवन पर ये महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। (२) प्रो॰ विण्टरनित्स के अनुसार गृह्यसूत्रों में अनेक क्रियाकलाप ऐसे निरूपित हैं जो अन्य भारोपीय समुदायों में भी प्रचलित थे। यूनानियों, रोमनों, जरमनों और स्लावों के विवाह-संस्कारों के तुलनात्मक अनुशीलन से विदित होता है कि भारोपीय आर्यों में परस्पर गहरे सामाजिक और धार्मिक सम्बन्ध विद्यमान थे। उदाहरण के लिए विवाह के समय अग्नि की परिक्रमा, लाजा-होम, पाणिग्रहण, सप्तपदी इत्यादि कृत्य सभी में प्रायः मिल जाते हैं।[३२] (३) गृह्यसूत्रों में जनपदों और ग्रामों में प्रचलित लोकधर्म पर विशेष बल दिया गया है। उदाहरण के लिए आश्वलायन गृह्यसूत्र में कहा गया है कि विवाह के सन्दर्भ में जनपदों और ग्रामों में प्रचलित बहुविध धर्मों का अनुसरण करना चाहिए–'अथ खलु उच्चावचाः जनपदधर्माः ग्रामधर्माश्च, तान् विवाहे प्रतीयात्' (१.५.१-२)। आपस्तम्ब और पारस्कर ने भी अनेक लौकिक कृत्यों का समावेश किया है। उनकी जानकारी ग्राम की वृद्धा स्त्रियों से प्राप्त करनी चाहिए। (४) गृह्यसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों में प्रचीनतम मन्त्र भी हैं और नये भी। (५) श्रौतसूत्रों के सदृश गृह्यसूत्रों की सामग्री भी ब्राह्मण ग्रन्थों में मिल जाती है। उदाहरण के लिए शतपथ ब्राह्मण में उपनयन, गर्भाधान, सोष्यन्ती कर्म, आयुष्यकर्म, मेधाजनन प्रभृति गृह्यकर्मों का उल्लेख है। (६) गृह्यकर्म आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों के लिए अनुष्ठेय हैं। (७) श्रौतयागों के अनुष्ठान के लिए जहाँ अनेक ऋत्विकों की आवश्यकता होती है, वहीं गृह्यकर्मों का संपादन यजमान स्वयं ही कर सकता है।

ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र

ऋग्वेद के सम्प्रति तीन गृह्यसूत्र उपलब्ध हैं–आश्वलायन, शांखायन और कौषीतकि।

आश्वलायन गृह्यसूत्र–इसमें चार अध्याय हैं, जिनकी विषय-वस्तु इस प्रकार है–प्रथम

३२. Winternitz, On a Comparative Study of Indo-European customs with special reference to marriage customs - International Folk Congress 1891, Papers and Transactions, p. 267-291.

अध्याय–पाक यज्ञ, सायंप्रात: सिद्धहविष्य होम, विवाह, पार्वण स्थालीपाक, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, अन्नप्राशन, चौलकर्म, गोदान, उपनयन, ब्रह्मचर्यव्रत, मधुपर्क। द्वितीय अध्याय–श्रवणाकर्म, आश्वयुजी, अष्टका, वास्तुनिर्माण तथा गृह-प्रवेश। तृतीय अध्याय–पञ्चमहायज्ञ, ऋषि-तर्पण, वेदाध्ययन, उपाकर्म, समावर्तन तथा राजसन्नाहन। चतुर्थ अध्याय–दाहकर्म, श्राद्ध तथा शूलगव।

गृह्यसूत्र के रचयिता आश्वलायन शौनक के शिष्य थे। इस गृह्यसूत्र को प्राचीनतम सूत्रकाल की रचना माना जाता है। इसी के साथ, यह शांखायन की अपेक्षा भी प्राचीन प्रतीत होता है। इसमें विनियुक्त मन्त्रों का संकलन 'आश्वलायन मन्त्र-संहिता' में किया गया है, किन्तु बहुत-से मन्त्र उसमें उपलब्ध नहीं होते। अन्य गृह्यसूत्रों की अपेक्षा आश्वलायन गृह्यसूत्र में विहित विवाह, पुंसवन, जातकर्म प्रभृति संस्कारों का विधान सरल प्रतीत होता है। अन्त्येष्टि संस्कार में अन्यों की अपेक्षा कुछ विलक्षणता है।

इस पर नारायण-कृत 'विवरण' टीका उपलब्ध है। देवस्वामी ने नारायण से भी पहले अपने भाष्य की रचना की थी, किन्तु वह अमुद्रित है। तीसरी टीका है 'अनाविला', जिसके रचयिता हरदत्त मिश्र हैं। यह वैयाकरण के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुमारिल-कृत कारिकाएँ भी आश्वलायन गृह्यसूत्र पर प्रकाशित हो चुकी हैं।

इस गृह्यसूत्र के 'गृह्यपरिशिष्ट' सहित चार संस्करण कलकत्ता और बंबई से प्रकाशित हो चुके हैं।

शांखायन गृह्यसूत्र–कहा जाता है कि इसका सम्बन्ध ऋग्वेद की बाष्कल शाखा से है।[३३] सुयज्ञ इस गृह्यसूत्र के रचयिता हैं, जिनका उल्लेख ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रों में है।[३४] इसमें कुल छह अध्याय हैं। वृत्तिकार नारायण के अनुसार पञ्चम अध्याय परिशिष्ट है।[३५] गृह्यसूत्र में निरूप्य विषयवस्तु चतुर्थ अध्याय तक पूर्ण हो जाती है। पञ्चम अध्यायगत उद्यान, कूप एवं तडाग की प्रतिष्ठा जैसे विषय वास्तव में पुराणों तथा धर्मसूत्रों की परिधि में आते हैं। विषयवस्तु का विशद विवरण इस प्रकार है :

प्रथम अध्याय–पाकयज्ञ, दर्शपूर्णमास, ब्रह्मयज्ञ, विवाहयोग्य कन्या के गुण, प्रातिश्रुत्क होम-विधान, समञ्जनप्रभृति वैवाहिक कृत्य, चतुर्थीकर्म, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, मेधाजनन, अन्नप्राशन, चूडाकरण।

द्वितीय अध्याय–(विभिन्न शैक्षणिक संस्कार)–उपनयन, वेदाध्ययन, शुक्रिय, शाक्वर, व्रातिक तथा औपनिषद् व्रत, वैश्वदेव बलि, मधुपर्क।

तृतीय अध्याय–समावर्तन, वास्तोष्पति के निमित्त होम, आग्रयणेष्टि, वृषोत्सर्ग तथा अष्टकाएँ।

चतुर्थ अध्याय–पार्वण श्राद्ध, एकोद्दिष्ट, सपिण्डीकरण तथा आभ्युदयिक, उपाकरण, उत्सर्ग (अनध्याय), देव-ऋषि-पितृतर्पण, स्नातक का आचार, क्षेत्रकर्षण, श्रावण होम, आश्वयुजी, आग्रहायणीयेष्टि, प्रत्यवरोहण।

३३. Sacred Books of East (Series), Part 29th p. 3.

३४. आश्व. गृ० सू० ३.४। शांखा. गृ० सू० ४.१० तथा कौषीतकि गृ० सू० की आचार्य वंशावली।

३५. शां० गृ० सू० १.८.३; १०.२।

पञ्चम अध्याय–अग्निहोत्र से निवृत्ति, तडाग-कूप और उद्यान प्रभृति की प्रतिष्ठा, विभिन्न प्रायश्चित्त तथा सपिण्डीकरण।

षष्ठ अध्याय–विभिन्न वैदिक भागों (आरण्यकों, शक्वरी ऋचाओं, उपनिषदों तथा संहिताओं) के अध्ययन के नियम।

प्राय: इनका प्रतिपादन आश्वलायन गृह्यसूत्र के सदृश है। अनेक उद्धृत श्लोक मनुस्मृति के श्लोकों के समान हैं। कौषीतकि और पारस्कर गृह्यसूत्रों से भी इसकी समानता है। अन्त्येष्टि अथवा पितृमेध का निरूपण शांखायन शाखा के श्रौतसूत्र में है, न कि गृह्यसूत्र में। ओल्डेनबर्ग ने इसका जरमन में अनुवाद किया है। रत्नगोपाल भट्ट के द्वारा 'कौषीतक गृह्यसूत्र' के नाम से, बनारस से भी एक संस्करण सम्पादित और प्रकाशित हुआ है। तीसरा संस्करण सीताराम सहगल के द्वारा संपादित है जो १९६० में दिल्ली से प्रकाशित हुआ है।

कौषीतकि (अथवा शाम्बव्य) गृह्यसूत्र–इसका पञ्चम अध्याय (अन्त्येष्टि निरूपणपरक) शांखायन गृह्यसूत्र से भिन्न है–शेष में उसका पदश: अनुकरण है। भवत्रात (जैमिनीय श्रौतसूत्र-भाष्य) के अनुसार शाम्बव्यकल्प में २४ पटल थे। हरदत्त (एकाग्निकाण्ड भाष्य) तथा अरुणगिरिनाथ (रघुवंश ६.१५ तथा कुमार सम्भव ७.१४ की टीकाओं में) ने शाम्बव्य का उल्लेख किया है। शांखायन का सपिण्डीकरण प्रकरण भी इसमें नहीं है। दोनों के ऋषि-तर्पण विधान की प्रासंगिकता में भी अन्तर है। फिर भी दोनों के मध्य विद्यमान घनिष्ठ सम्बन्ध की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसके संस्करणों में टी॰ आर॰ चिन्तामणि के द्वारा मद्रास विश्वविद्यालय से संपादित-प्रकाशित संस्करण मुख्य है। दूसरा संस्करण काशी संस्कृत सीरीज में (पं॰ रत्नगोपाल के द्वारा संपादित) छपा है।

शुक्ल यजुर्वेदीय पारस्करगृह्यसूत्र

यह शुक्लयजुर्वेद की दोनों शाखाओं का प्रतिनिधि एकमात्र गृह्यसूत्र है। इसमें तीन काण्ड हैं–प्रत्येक काण्ड का अवान्तर विभाजन कण्डिकाओं में है। कण्डिकाओं की कुल संख्या (१९ + १७ + १५ =) ५१ है। इसके प्रयणन का श्रेय परम्परा आचार्य पारस्कर को देती है। सामान्यत: ई॰ पू॰ २०० से पहले इसकी रचना हुई।[३६] पारस्कर गृ॰ सू॰ में प्राय ६६ विषयों का निरूपण है जिनका काण्ड-क्रम से विवरण इस प्रकार है :

प्रथम काण्ड–होम के साधारण धर्म, आवसथ्याग्नि की आधान-विधि, अर्ध-विधि, विवाह-विधि, औपासन होम, चतुर्थी कर्म, पक्षादि कर्म, पर्वनिर्णय, आवृत्तियोग्य कर्म, गर्भ-धारण के हेतु नस्यविधि, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, सुखप्रसवार्थ कर्म, जातकर्म (मेधाजनन और आयुष्यकरण) रक्षा-विधि, नामकरण, निष्क्रमण, सूर्यावेक्षण, प्रवास से लौटने पर कर्म, अन्नप्राशन।

द्वितीय काण्ड–चूडाकरण, केशान्त, उपनयन, समिदाधान, भिक्षाचरण, दण्ड और

३६. पारस्करगृह्यसूत्र के चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित संस्करण (संपादक तथा हिन्दी व्याख्याकार डॉ॰ ओमप्रकाश पाण्डेय) की विशद् भूमिका में रचयिता रचना-काल तथा प्रतिपादित विषय-वस्तु की विस्तृत समीक्षा की गई है।

अजिन-धारण, ब्रह्मचारी के व्रत, समावर्तन का काल, उपनयन के लिए अन्तिम सीमा, पतितसावित्रीक जनों के प्रायश्चित्त, स्नान (समावर्तन)-विधि, स्नातक के व्रत, पञ्चमहायज्ञ, उपाकर्म, अनध्याय, उत्सर्गोत्तर जप, उत्सर्ग-विधि, लाङ्गल-योजन, श्रवणाकर्म, इन्द्रयज्ञ, पृषातक और सीतायज्ञ।

तृतीय काण्ड—नवान्नप्राशन, आग्रहायणी कर्म, अष्टका, शालाकर्म, मणिकावधान, शिरोवेदना की चिकित्सा, उतूलपरिमेह (दास का मनोनिग्रह) शूलगव, वृषोत्सर्ग, दाहविधि, शाखापशुविधि, अवकीर्णिप्रायश्चित्त, सभाप्रवेश, रथारोहण तथा हस्त्यारोहण। परिशिष्ट में वापी-कूप-तडागप्रतिष्ठाविधि, शौचसूत्र, नित्यस्नानसूत्र, ब्रह्मयज्ञविधि, तर्पणविधि, श्राद्धसूत्र, सपिण्डीकरण तथा काम्यश्राद्ध सम्मिलित हैं। प्रायः सम्पूर्ण उत्तर भारत में (बंगाल को छोड़कर) इसी के आधार पर निबद्ध पद्धतियों से गृह्यकर्मों का अनुष्ठान होता है। इतने विस्तृत भूभाग में कोई भी गृह्यसूत्र प्रचलित नहीं है। इस पर संस्कृत में कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर और विश्वनाथ के पाँच महाभाष्य प्रकाशित हुए हैं। वासुदेव, गंगाधर, हरिहर और रेणु दीक्षित ने भी इस पर अपने भाष्य रचे थे। अन्य व्याख्याओं और पद्धतियों का विवरण इस प्रकार है—नन्दपण्डित (अमृतव्याख्या, समय १५५० ई॰), भास्कर के द्वारा प्रणीत 'अर्थभास्कर', शिवरूप दीक्षित के पुत्र वेदमिश्र के द्वारा लिखित 'प्रकाश', रामकृष्ण-रचित 'संस्कारगणपति' इत्यादि।

इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं—(१) गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई से प्रकाशित—पञ्चभाष्य समन्वित संस्करण; (२) चौखम्बा से प्रकाशित। अंग्रेजी में ओल्डेनबर्ग ने, जर्मन में स्टेञ्जलर ने तथा हिन्दी में स्वयं इन पंक्तियों के लेखक ने अनुवाद किया है।

कृष्णयजुर्वेदीय गृह्यसूत्र

श्रौतसूत्रों के सदृश, कृष्णयजुर्वेद के गृह्यसूत्र भी बहुसंख्यक हैं।

बौधायन गृह्यसूत्र—विद्वानों के अनुसार ९०० ई॰ पूर्व के आस-पास इसका रचनाकाल माना जा सकता है। शामशास्त्री के द्वारा संपादित मैसूर-संस्करण में चार प्रश्न हैं। कुछ हस्तलेखों में दस प्रश्न भी हैं। प्रतिपाद्य का विवरण यों है—विवाह, गृह्यालङ्कार, उपसंवेशन, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकर्म, उपनिष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, उपनयन, समावर्तन, शूलगव, वैश्वदेव, पञ्चमहायज्ञ, प्रत्यवरोहण, अष्टका-होम, होतृ-शुक्रिय व्रतचर्या, उपनिषद्व्रतचर्या, गोदान, सम्मितव्रत, अवान्तर दीक्षा, वास्तुशमन, सर्पबलि, मासिकश्राद्ध, विविध प्रायश्चित्त। इसके पश्चात् गृह्यपरिभाषासूत्र प्रारम्भ हो जाता है, जिसमें इन विषयों की व्याख्या की गई है—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, पुण्याह, पाकयज्ञ प्रशंसा, वैवाहिक श्राद्ध, स्नातक के धर्म, आग्रयण-स्थालीपाक, पशुबन्धप्रतिनिधि, श्रौतोक्त स्मार्त्तकृत्य, अपूर्वहोमविधि, यज्ञोपवीतधारण के प्रकार, पञ्चमहायज्ञ, अतिथिसत्कार के प्रकार तथा पुत्र के निमित्त होम। तदनन्तर गृह्यशेषसूत्र है—यह भी गृह्यकर्मों में आंशिक परिवर्तन या परिवर्धन का विधायक है।

इस गृह्यसूत्र का प्रसारक्षेत्र दक्षिण भारत रहा है। इसमें दक्षिण भारत में प्रचलित ममेरी-फुफेरी बहनों से विवाह की आलोचना की गई है। इस पर अभी तक किसी व्याख्या का प्रकाशन नहीं हुआ है। मैसूर-संस्करण का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है।

मानवगृह्यसूत्र–यह मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध है। इसके भाष्यकार अष्टावक्र ने इसे मानवाचार्य के द्वारा विरचित 'पूरण' कहा है। अध्यायों की संज्ञा 'पुरुष' है, जिसके अवान्तर भेद 'खण्ड' कहे गये हैं। इनके अन्त में 'पूरण' शब्द का व्यवहार है। इसमें चक्रपूजन, वधूस्वप्न, वस्त्रालङ्कारदान प्रभृति कुछ ऐसे विषय निरूपित हैं, जो अन्य गृह्यसूत्रों में नहीं मिलते। चार विनायकों की पूजा का विधान भी इसकी विशेषता है। उपनयन संस्कार में वर्णगत विकल्प नहीं है। मानव, काठक और वाराह गृह्यसूत्रों में परस्पर बहुत साम्य है। इस गृह्यसूत्र में कुल दो अध्याय (पुरुष) हैं–जिनमें ४१ खण्ड हैं। इसमें ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का विवरण पहले है। प्रतिपादित विषयों का समग्र विवरण इस प्रकार है–ब्रह्मचारी के नियम, समिदाधान, सन्ध्योपासन, नैष्ठिक ब्रह्मचारी के कृत्य, समावर्त्तन संस्कार, स्नातकनियम, प्रायश्चित्त, उपाकर्म, वेदाध्ययनविधि, अनध्याय, वेदोत्सर्गविधि, वेदभागविशेष का अध्ययन, उपाकर्मोत्तर अन्तरकल्पकर्म, होमविशेष, वेदाध्ययन के योग्य विद्यार्थी, विवाह, वैवाह्यकन्या के लक्षण, बाह्य तथा शौल्क विवाह, वधू की गृहप्रवेश विधि, प्राजापत्य स्थालीपाक, पिण्डपितृयज्ञ, दम्पती का ब्रह्मचर्य, गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अभ्यंजन, आदित्यदर्शन, अन्नप्राशन, चौलकर्म, गोदान, उपनयन, चातुहत्र की दीक्षा, अग्नि की दीक्षा, आश्वमेधिकी दीक्षा, अवमथ्य अग्न्याधान, स्थालीपाक, स्मार्त अग्निहोत्र, पक्षयाग, आश्वयुजी याग, नवान्नेष्टि, पशुयाग, शूलगव, ध्रुवाश्वकल्पयाग, आग्रहायणी कर्म, स्मार्तचातुर्मास्य, अष्टकाएँ, फाल्गुनी याग, हलाभियोग शालाकर्म, मणिकाधान, वास्तोष्पत्ययाग, पञ्चमहायज्ञ, धनलाभार्थ षष्ठी-कल्प, विनायक-शान्ति (–शालिकटङ्कट, कूश्माण्डराजपुत्र, उस्मित तथा देवयजन–इन चार राक्षसों की शान्ति), अद्भुतोपात प्रायश्चित्त, सर्पबलि कपोतपद प्रायश्चित तथा उलूकपद प्रायश्चित पुत्रेष्टि याग तथा सामान्य परिभाषाएँ। इसके चार संस्करण प्रकाशित हैं :

(१) Freidrich Knauer के द्वारा सेंट पीटर्सबर्ग से अष्टावक्रभाष्य के उद्धहरणों सहित प्रकाशित।

(२) विनयतोष भट्टाचार्य के द्वारा संपादित सभाष्य सम्पूर्ण ग्रन्थ–गायकवाड़ सीरीज में प्रकाशित।

(३) रामकृष्ण हर्षे द्वारा संपादित।

(४) पं० भीमसेन-कृत हिन्दी अनुवाद सहित।

भारद्वाज गृह्यसूत्र–इस गृह्यसूत्र का सम्बन्ध तैत्तिरीयों की भारद्वाज शाखा से है, जो खण्डिकीय शाखा के पाँच उपभेदों में से एक है। इसकी रचना में एक युक्तिसंगत क्रम का अभाव है–स्वयं इसके भाष्यकार ने इसका उल्लेख किया है। निरूपित विषय (उपलब्ध क्रम से) इस प्रकार हैं–उपनयन (मेधाजनन, गोदान) विवाह, सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, क्षिप्रसुवन, विजातारक्षण, जातकर्म, नामकरण, विप्रोष्य कर्म, अन्नप्राशन, चौड़, श्रवणाकर्म, आग्रहायणी, हेमन्तप्रत्यवरोहण, शालाकर्म, आगारप्रवेश, श्वग्रहप्रायश्चित्त, शूलगव, मासिश्रद्ध, अष्टका, स्नान, अर्घ्य, संवादजयन, सुभृत्यगुप्ति, भार्यागुप्ति, रथारोहण, हस्त्यारोहण, प्रायश्चित्त, अद्‌भुत प्रायश्चित्त, औपासनकल्प, व्रतादेश विसर्जन, अवान्तरदीक्षा, उपाकरण, विसर्जन, वैश्वदेव, नान्दीश्राद्ध, सपिण्डीकरण तथा गृह्यप्रायश्चित्त। इसमें अनेक नवीन मन्त्र विनियुक्त हैं। इसकी रचना-शैली सरल और स्वाभाविक है। बौधायन गृ० सू० से इसकी अधिक निकटता प्रतीत होती है। कात्यायन ने भारद्वाज के मत का उल्लेख किया है,

जिससे सिद्ध है कि भारद्वाज कात्यायन से पूर्ववर्ती हैं। इसका एच॰ डब्ल्यू॰ सालोमन्स के द्वारा संपादित तथा लीडेन से प्रकाशित संस्करण उपलब्ध है। इसके भाष्यकार का नाम अज्ञात है।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र–आपस्तम्ब कल्प के ३० प्रश्नों में से २७वें में गृह्यकर्मों का वर्णन है। २५वें तथा २६वें प्रश्नों में विनियोज्य मन्त्रों का विवरण है। सम्पूर्ण गृह्यसूत्र आठ पटलों तथा २३ खण्डों में विभक्त है। प्रतिपादित विषय ये हैं–परिभाषा, अग्निमुखनिरूपण, दर्वीहोम, पाकयज्ञ, विवाह-प्रकरण, वधू का गृहप्रवेश, स्थालीपाक यज्ञ, पार्वणस्थालीपाक, औपासन होम, वैश्वदेव कर्म, उपाकरण, त्रिरात्रव्रत, ऋतुसमावेशन, दम्पति-प्रीतिकरकर्म, पतिवश्यकर कर्म, सपत्नीबाधनकर्म, भार्या-क्षयरोगनिवारण उपनयन, गायत्र्युपदेश, दण्डधारण, स्मृतवाचन, आदित्योपस्थान, ब्रह्मचर्यनियमविधि, समिदाधान, उपाकर्मोत्सर्जन, पितृदेवताऋषितर्पण, समावर्तन, मधुपर्क, सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, क्षिप्रसुवन, जरायुपतन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, गोदान, गृह-निर्माणकर्म, गृहप्रवेशविधि, बालग्रह का उपचार, सर्पबलि, बलिहरण–अन्न का भक्षण, आग्रयणकर्म, हेमन्तप्रत्यवरोहण, ईशानबलि, ईशान आवाहन, होम, स्विष्टकृत्, क्षेत्रपति का स्थालीपाक, मासिश्राद्ध, अष्टकापाकयज्ञ, अपूपहोम, वपाहोम, मांसौदनहोम, पिष्टान्नहोम, अन्वष्टकाकर्म, रथारोहण, अश्वारोहण, इस्त्यारोहण, भार्या के परपुरुषसम्बन्ध का प्रतिरोधक कर्म, भृत्यप्रीतिजनककर्म, नैमित्तिक कर्म तथा अद्भुत प्रायश्चित्त।

इस गृह्यसूत्र में गृह्यकर्मों का प्रतिपादन स्थूलरूप में ही है। हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। विनियोज्य मन्त्रों का संग्रह 'मन्त्रपाठ' के अन्तर्गत है। ओल्डेनबर्ग के अनुसार मन्त्रपाठ में केवल दीर्घाकार मन्त्र हैं और ह्रस्वाकार मन्त्र गृह्यसूत्र में ही हैं। विण्टरनित्स दोनों की रचना का श्रेय एक व्यक्ति को नहीं देते । इसमें कहीं-कहीं सन्धिविषयक भिन्नताएँ हैं, यथा 'विद्यया' के स्थान पर 'विद्या' का प्रयोग। इस पर दो व्याख्याएँ हैं–(१) हरदत्तमिश्रकृत 'अनाकुला' तथा सुदर्शनाचार्य-कृत 'तात्पर्यदर्शन'। सम्प्रति इसके चार संस्करण उपलब्ध हैं–(क) उपर्युक्त दोनों व्याख्याओं के सहित विण्टरनित्स के द्वारा संपादित तथा वियेना से सन् १८८७ में प्रकाशित; (ख) हरदत्त की व्याख्या सहित, महादेवशास्त्री के द्वारा संपादित तथा मैसूर से १८९३ में प्रकाशित; (ग) दोनों व्याख्याओं सहित, चिन्नस्वामिशास्त्री के द्वारा संपादित, १९२८ में प्रकाशित; (घ) दोनों व्याख्याओं तथा हिन्दी अनुवाद सहित चौखम्बा से प्रकाशित संस्करण–हिन्दी व्याख्याकार डॉ॰ उमेशचन्द्र पाण्डेय।

आपस्तम्ब यज्ञपरिभाषासूत्र तथा आपस्तम्बीय एकाग्निकाण्ड भी आपस्तम्बकल्प में गृह्यकर्मों से सम्बद्ध हैं।

काठक गृह्यसूत्र–प्रो॰ कालन्द (Caland) के अनुसार लौगाक्षिगृह्यसूत्र इसी का नामान्तर है। 'कठ' शाखा का उल्लेख व्याकरण-महाभाष्य में सम्मानपूर्वक है–'कठं महत् सुविहितमिति' (पा॰ सू॰ ४.२.६६ पर भाष्य)। कभी इसका प्रचार गाँव-गाँव में था–'ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकञ्च प्रोच्यते' (पा॰ सू॰ ४.३.१०१ पर भाष्य)। इसमें पाँच अध्याय तथा ७५ कण्डिकाएँ हैं। वर्ण्यविषय अध्याय क्रम से ये हैं–(१म)–ब्रह्मचारी के व्रत, समावर्तन, उपाकर्म; (२य)–पाकयज्ञ, विवाह, गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन; (३य)–पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, आदित्यदर्शन, चन्द्रदर्शन, अन्नप्राशन, चूडाकरण; (चतुर्थ अध्याय)–उपनयन, वेदाध्ययन, चातुर्होतृक, गोदान, अग्न्याधान, होम, पशुकल्प,

शूलगव। (पञ्चम अध्याय)—स्वस्त्ययन, अष्टका तथा श्राद्ध। मानव तथा वाराह गृह्यसूत्रों से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। अनेक स्थलों पर तो शब्दशः साम्य है। इसका कारण है कठों और मैत्रायणीयों में समान परम्परा की सद्भावना क्योंकि दोनों ही चरकों की उपशाखाएँ हैं। मधुपर्क में मांसाहार के स्थान पर काठक ने घृतौदन का विधान किया है। इस पर तीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं—(१) आदित्यदर्शनरचित 'विवरण', ब्राह्मणबल कृत 'गृह्यपद्धति', तथा देवपाल-प्रणीतभाष्य। सन् १९२२ में कालन्द के द्वारा संपादित तथा लाहौर से प्रकाशित।

लौगाक्षिगृह्यसूत्र—पं० भगवद्त्त और डॉ० सूर्यकान्त के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने काठकगृह्यसूत्र के साथ इसकी अभिन्नता सिद्ध की है। विषयवस्तु भी एक ही है। पं० मधुसूदन कौल के द्वारा संपादित तथा कश्मीर सीरीज में प्रकाशित।

आग्निवेश्य गृह्यसूत्र—तैत्तिरीयशाखान्तर्गत वाधूल शाखा की चार उपशाखाएँ कही गई हैं—कौण्डिन्य, आग्निवेश्य, गालव और शांख। आग्निवेश्य गृह्यसूत्र में प्रतिपादित विषय ये हैं :

प्रथम प्रश्न—उपनयन, अध्यायोपाकर्म, अध्यायोत्सर्जन, अवान्तरदीक्षा, स्नातकव्रतसमावर्तन, विवाह, गृह-प्रवेश, स्थागरालंकार, (नववधू के मस्तक पर एक विशेष चिह्न की रचना), वैश्वदेवबलि, दर्शपूर्णमास स्थालीपाक, आग्रयणस्थालीपाक।

द्वितीय प्रश्न—पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, क्षिप्रसुवन, मेधाजनन, नामकरण, नक्षत्रहोम, उपनिष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौलकर्म, नान्दीश्राद्ध, शालानिर्माण, वास्तुहोम, तटाककल्प, कूष्माण्डहोम, गणहोम, वायसबलि, यज्ञोपवीतविधि, रविकल्प (सूर्य की १२ चित्रित मूर्त्तियों का पूजन), गृहयज्ञ, अद्भुतशान्ति, आयुष्यहोम, अपमृत्युञ्जयकल्प, विष्णुबलि, शूलगव, पर्जन्यकल्प, भूतबलि, देवयज्ञ, मधुपर्क, भोजन-शयन-शौचस्नानविधियाँ, पुनरूपनयन, पुनराधान, द्विभार्याग्निसंयोगविधि, अवकीर्णि-प्रायश्चित्त, ऋतुसंवेशन, ब्रह्मकूर्चोदक, नैमित्तिकप्रायश्चित्त, गृह्यप्रायश्चित्त, वानप्रस्थविधि, संन्यासविधि।

तृतीय प्रश्न—अष्टकाश्राद्ध, अन्त्येष्टि, भूतबलि, एकोद्दिष्ट श्राद्ध, सपिण्डीकरण, नारायणबलि, श्राद्धभुक्तिप्रायश्चित्त तथा शकलहोम।

इस गृह्यसूत्र में अनेक नवीन विषयों का प्रतिपादन हुआ है, यह उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है। मूर्ति-पूजा का विधान भी इसकी विशेषता है। हिरण्यकेशि, बौधायन तथा भारद्वाज गृह्यसूत्रों से इसका बहुत साम्य है। तान्त्रिक शब्दावली तथा तान्त्रिक यन्त्रों का भी इसमें उल्लेख है। भाषागत अनेक नये प्रयोग भी इसमें मिलते हैं।

त्रिवेन्द्रम से एल० ए० रविवर्मा द्वारा संपादित रूप में यह १९४० में प्रकाशित है।

हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र—यह कृष्णयजुर्वेदीय खण्डिकीय शाखाओं में से एक से सम्बद्ध है। हिरण्यकेशिकल्प के दो प्रश्न (१९-२०) गृह्यसूत्र कहलाते हैं। प्रत्येक प्रश्न में आठ पटल हैं। भारद्वाज तथा आपस्तम्ब गृ० सू० से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसमें सूत्रशैली का विकसित रूप दिखलाई देता है। प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार हैं :

प्रथम प्रश्न—उपनयन, समावर्तन, अर्घ्य, अमात्यान्तेवासिगुप्ति, दारगुप्ति, पण्यसिद्धि, क्रोधविनयन, प्रायश्चित्त, विवाह, शालाकर्म।

द्वितीय प्रश्न—सीमन्तोन्नयन, पुंसवन, जातकर्म, मेधाजनन, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म,

श्वग्रहप्रायश्चित्त, शूलगव, बौद्व्यविहार, मासिक श्राद्ध, अष्टका, श्रवणाकर्म, आग्रहायणी, उपाकरण तथा उत्सर्जन।

इस पर मातृदत्त की व्याख्या मिलती है, जिसके उद्धरण जे॰ किर्स्ते ने वियेना से प्रकाशित अपने संस्करण में दिये हैं। ओल्डेनबर्ग ने इसका सैक्रेड बुक्स ऑफ ईस्ट में अंग्रेजी-अनुवाद किया है। 'हिरण्यकेशीय स्मार्तसूत्र' नाम से इसका एक संस्करण आनन्दाश्रम (पूना) से भी प्रकाशित हुआ है।

वाराहगृह्यसूत्र—यह मैत्रायणीय संहिता की वाराह शाखा से सम्बद्ध है। इसमें सत्रह खण्ड हैं। इसका आरम्भ वाराह श्रौतपरिशिष्टों से हुआ है, जो इसकी एक विशेषता है। इसमें निरूपित विषय खण्डशः इस प्रकार हैं—मैत्रायणीसूत्रपरिशिष्ट संख्यानम् तथा पाकयज्ञ, जातकर्म, नामकरणदन्तोद्गमन-अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयन, व्रतानि, वेदव्रत, उपाकरण, अनध्याय, उत्सर्जन, उपनिषद्, गोदान-समावर्तन-स्नातकधर्म, कन्यावरण, मधुपर्क, अलङ्करण, प्रवदनकर्म, विवाह, गृह-प्रवेश, गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्तोन्नयन, वैश्वदेवकर्म।

मानवगृह्यसूत्र से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों के ही अनेक सूत्रों और संस्कारों में सर्वथा समानता है। दन्तोद्गमन संस्कार का निरूपण इसका वैशिष्ट्य है। इसमें विवाह के समय गाजे-बाजे बजाने पर विशेष बल दिया गया है। इस पर व्याख्या तो कोई भी नहीं मिली है—किन्तु दो पद्धतियाँ अवश्य मिलती हैं। एक का सम्बन्ध गंगाधर से बतलाया गया है और दूसरी का वसिष्ठ से। इसके दो संस्करण उपलब्ध है—एक डॉ॰ शामशास्त्री के द्वारा संपादित (मैसूर से १९२० में प्रकाशित) है तथा दूसरा डॉ॰ रघुवीर के द्वारा संपादित (तथा लाहौर से सन् १९३२ में प्रकाशित) है।

वैखानस गृह्यसूत्र—तैत्तिरीयशाखान्तर्गत औरवीय शाखा के कल्प का रचयिता विखनस् को माना जाता है। इसके प्रतीकशः निर्दिष्ट मन्त्र 'वैखानसीया मन्त्रसंहिता' से गृहीत हैं। इस गृह्यसूत्र में सात प्रश्न तथा १२० खण्ड हैं। उनमें निरूपित विषय इस प्रकार हैं :

संस्कार—इनकी संख्या १८ है, जिन्हें शारीर कहा गया है। ये हैं—निषेक (ऋतुसंगमन), गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तकर्म, विष्णुबलि, जातकर्म, उत्थान, नामकरण, अन्नप्राशन, प्रवासागमन, पिण्डवर्धन, चौडक, उपनयन, पारायण, व्रतबन्धविसर्ग, उपाकर्म, समावर्तन तथा पाणिग्रहण। **यज्ञ**—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ तथा मनुष्ययज्ञ। **पाकयज्ञ**—स्थालीपाक, आग्रयण, अष्टका, पिण्डपितृयज्ञ, मासिश्राद्ध, चैत्री, आश्वयुजी। **हविर्यज्ञ**—अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयणेष्टि, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणी। **सोमयज्ञ**—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, अप्तोर्याम। इनके अतिरिक्त इसमें आचमनाविधि, नान्दीमुख श्राद्ध प्रभृति का वर्णन भी किया गया है। विवाह के प्रसंग में, इसमें नग्निका (८-९ वर्ष की अवस्था वाली) कन्या से विवाह का विधान किया गया है। विवाहयज्ञपूर्वक सम्पन्न पैशाच विवाह को ब्राह्मण के लिए भी मान्यता की गई है। विद्वानों का विचार है कि भाषा, रचनाशैली और विषय-प्रतिपादन से यह स्पष्ट है कि प्रकृत गृह्यसूत्र अपेक्षाकृत परवर्तीकाल की रचना है।

इस पर अनेक व्याख्या तथा पद्धतिग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें से कतिपय ये हैं—माधवाचार्य (नृसिंहाग्निचित् के पुत्र)-कृत भाष्य (तेलुगु अक्षरों में उपलब्ध), प्रयोगवृत्ति तथा दर्पण (नृसिंहवाजपेययाजी रचित), सुन्दरराज-प्रणीत 'वैखानसगृह्यप्रयोग' (तेलुगु अक्षरों में उपलब्ध)।

कालन्द ने इसका सम्पादन तथा अंग्रेजी में अनुवाद किया है–इनका प्रकाशन कलकत्ता से क्रमशः १९२७ तथा १९२९ में हुआ है।

सामवेदीय गृह्यसूत्र

सामवेद के गोभिल, खादिर, द्राह्यायण तथा जैमिनीय गृह्यसूत्र उपलब्ध हैं। 'कौथुमगृह्य' नाम से भी डॉ॰ सूर्यकान्त ने एक गृह्यसूत्रसदृश ग्रन्थ संपादित किया है। इनका विशद विवरण इस प्रकार है :

गोभिल गृह्यसूत्र

यह चार प्रपाठकों एवं ३९ खण्डों में विभक्त है। प्रथम प्रपाठक में ९ खण्ड हैं तथा अन्यों में १०-१०। प्रपाठक-क्रम से ये वर्ण्यविषय हैं :

प्रथम प्रपाठक–सर्वकर्म सामान्यविधान, होमाधिकारि-निर्णय, अग्न्याधान, नित्यहोम-काल, उपवीक्षविधि, आचमनविधि, वैश्वदेवविधि, बलि-हरण, दर्शपौर्णमास तथा यागान्त्य कर्म।

द्वितीय प्रपाठक–विवाहकाल-निरूपण, कन्या-परीक्षण, जाति-कर्म, परिणयविधि, पाणिग्रहण, उत्तरविवाह, वध्वानयन, चतुर्थीकर्म, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तकरण, सोष्यन्ती होम, जातकर्म, मेधाजनन, निष्क्रमण, नामधेय, पौष्टिक कर्म, मूर्द्धाभिघ्राण और उपनयन।

तृतीय प्रपाठक–गोदान, ब्रह्मचारि-कृत्य, उपाकर्म, अनध्यायविधि, अद्‌भुत विधि (अपूर्व घटना घटित होने पर प्रायश्चित्त-विधान), स्नातकविधि, समावृत्तविधि, गोपालनविधि, श्रवणाकर्म, आश्वयुजीकर्म, नवयज्ञ, आग्रहायणीकर्म, अष्टकाविधि, अन्वष्टक्य।

चतुर्थ प्रपाठक–पिण्डपितृयज्ञ, शाकाष्टका, वपा-होम, ऋणहोम, हलाभियोग, ब्रह्मवर्चसादिजन्य काम्यकर्म, वस्तुनिर्माणकर्म वास्तुयाग, प्रसादकामकर्म, स्थण्डिल होम, यशस्कामकर्म, पुरुषाधिपत्यादिकाम्यकर्म, स्नातक स्वस्त्ययनकर्म, विष्टरादिग्रहणविधि, बद्धगोमुक्तिप्रकार और अर्हणीयपरिगणन। इस प्रकार प्रथम प्रपाठक में अनुष्ठानों की केवल सामान्य विधियों का ही उल्लेख है। द्वितीय प्रपाठक में संस्कारों का विधान प्राप्य है। यशस्काम कर्म, पुरुषाधिपत्यकर्म, वृत्त्यविच्छित्तिकामकर्म और पौष्टिक कर्म आदि कुछ ऐसे कर्मों का इसमें वर्णन है जो अन्य गृह्यसूत्रों में नहीं आये हैं। अतः यह स्पष्ट है कि वर्ण्यविषयों की दृष्टि से इस गृह्यसूत्र का विषयफलक अत्यन्त व्यापक है। गृह्यसूत्रों के मध्य इसे अत्यन्त प्राचीन गृह्यसूत्र माना जाता है। इसमें विनियुक्त मंत्र मंत्रब्राह्मण में संगृहीत हैं।

हेमाद्रि ने अपने 'श्राद्धकल्प' में गोभिल का उल्लेख राणायनीय सूत्रकार के रूप में किया है। यों 'गोभिल गृह्यकर्मप्रकाशिका' में इसे कौथुम शाखीय ही माना गया है। इस सन्दर्भ में डॉ॰ सूर्यकान्त का मत है कि कभी कौथुम शाखा का अपना कौथुमगृह्यसूत्र रहा होगा। कालान्तर से अपनी सुव्यवस्था के कारण गोभिल गृह्यसूत्र ने कौथुम शाखा में अपना स्थान बना लिया होगा।[३७]

३७. कौथुमगृह्यम् की भूमिका, पृ. ४।

इसके अनेक संस्करण कलकत्ता, मुजफ्फरपुर तथा काशी से प्रकाशित हुए हैं। अंग्रेजी, जरमन और हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध हैं।

खादिरगृह्यसूत्र—यह राणायनीय शाखा से सम्बद्ध माना जाता है। प्रो॰ कालन्द और डॉ॰ सूर्यकान्त के मतानुसार यह मूलत: गोभिल गृह्यसूत्र का संक्षिप्त रूप है।[३८] इस पर रुद्रस्कन्द की वृत्ति प्राप्त होती है। कतिपय विद्वान् गोभिल गृह्यसूत्र को इसका विस्तार मानते हैं। इसके रचयिता आचार्य खादिर माने जाते हैं। इस पर रुद्रस्कन्द की व्याख्या है, जिन्होंने अपने विषय में कहा है :

नारायणस्य पुत्रेण मखवाटनिवासिना।
रुद्रस्कन्देन संक्षेपाद् व्याख्यातं गृह्यशासनम्।।

खादिर गृह्यसूत्र चार पटलों में विभाजित है, जिसके वर्ण्यविषय ये हैं :

प्रथम पटल—गृह्यकर्मसमुद्देश, सामान्य अनुष्ठानकाल, यज्ञोपवीत, आचमन, दर्भासन, दिग्विधि, होमस्थान, स्नान, हस्त, मन्त्र, पाकयज्ञ, ब्रह्मा, उपलेपनादि, प्रपदान्त प्राक्होमीय कर्म, विवाह, गर्भाधान, गृह्याग्नि और वैश्वदेव।

द्वितीय पटल—दर्शपूर्णमास, आग्नेय स्थालीपाक, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, सोष्यन्तीहोम, निष्क्रमण, नामकरण, चौल, उपनयन, गोदानादिव्रत।

तृतीय पटल—आप्लवन (स्नान), पुष्टिकाम का उपदेश, उपाकर्म, अनध्याय, आश्वयुजीकर्म, आग्रहायण, अष्टकाएँ।

चतुर्थ पटल—ब्रह्मवर्चसादिपरक काम्यकर्म, पुष्टिकामार्थक कर्म, मधुपर्कयोग्य व्यक्तियों का उल्लेख। महादेवशास्त्री के द्वारा संपादित रूप में इसका प्रकाशन मैसूर से हुआ है।

जैमिनीयगृह्यसूत्र—इसमें दो अध्याय हैं; प्रत्येक अध्याय में अनेक कण्डिकाएँ हैं। इनकी कुल संख्या ३३ है। प्रथम अध्याय में संस्कार निरूपित हैं और दूसरे में श्राद्ध अष्टकाएँ, अन्त्येष्टि और शान्तिकृत्य हैं यह गोभिल गृह्यसूत्र से अनेक रूपों में सम्बद्ध हैं। उद्धृत मन्त्रों की संख्या बड़ी है और उनमें से कुछ ही मन्त्र ब्राह्मण में प्राप्त होते हैं। इस पर श्रीनिवासाध्वरी द्वारा रचित 'सुबोधिनी' नाम्नी टीका प्राप्त होती है।

कौथुमगृह्यम्—इसका सम्पादन डॉ॰ सूर्यकान्त ने किया है और प्रकाशन एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता से हुआ है। वर्ण्यविषयों के क्रम की दृष्टि से यह गोभिल से बहुत भिन्न है। गोभिल गृह्यसूत्र के प्रारम्भ में जहाँ अनुष्ठान के सामान्य धर्मों का उल्लेख है, वहीं इसमें प्रायश्चित्त-कर्म उल्लिखित हैं—'अथात: प्रायश्चित्तानि'। यह गृह्यसूत्र बहुत संक्षिप्त है, पाठ भी अत्यन्त भ्रष्ट है, अत: विद्वानों का विचार है कि यह किसी लुप्त पद्धति का भ्रष्टरूप है।

द्राह्यायण गृह्यसूत्र—खादिर गृह्यसूत्र से इसका पूर्णतया साम्य है। आनन्दाश्रम (पूना) तथा मुजफ्फरपुर से इसके संस्करण छपे हैं।

३८. Kauthuma Grihyam, Intro., p. 39.
Introduction to P.B., p. 19.

सामवेद के अप्रकाशित गृह्यसूत्र–गौतम गृह्यसूत्र और छान्दोग्य गृह्यसूत्र नामक दो सामवेदीय गृह्यसूत्र अद्यावधि अप्रकाशित बतलाये जाते हैं।

अन्य गृह्य-स्मार्त्त साहित्य–(१) कर्मप्रदीप (अथवा कात्यायन स्मृति)–इसमें ३ प्रपाठक हैं। (२) गृह्यसंग्रह–दो प्रपाठक हैं। इसका सम्पादन पहली बार एम॰ ब्लूमफील्ड ने और तदनन्तर सत्यव्रत सामश्रमी ने किया। (३) गोभिल गृह्यकर्मप्रकाशिका। (४) द्राह्यायणगृह्य परिशिष्ट।

इनके अतिरिक्त अनेक पद्धतियाँ, श्राद्धकल्प, सन्ध्यासूत्र, स्नान-विधि, गौतमपितृमेधसूत्र तथा गौतमस्मृति आदि भी सामवेद से सम्बद्ध हैं।

अथर्ववेदीय कौशिक गृह्यसूत्र

इसके स्वरूप में अन्य गृह्यसूत्रों की अपेक्षा कुछ भिन्नता तथा विचित्रता है। इसमें कुछ गौण श्रौतकर्मों के साथ ही टोने-टोटकों, मन्त्र-तन्त्रों, रोगनाशक उपायों, पुष्टिसमृद्धि, अभयकर्मों, जय-पराजय के उपायों तथा माण्डलिक राजा के अभिषेकादि का भी वर्णन है। वस्तुत: यह आथर्वण क्रिया-कलापों का प्रस्तावक अधिक है, गृह्यानुष्ठानों का कम। मूलत: इसका स्वरूप आभिचारिक ही प्रतीत होता है। इसकी रचना अथर्ववेदीय श्रौतसूत्र (वैतान सूत्र) से पूर्वकालिक मानी जाती है विद्वानों के अनुसार यह वैतान सूत्र का उपजीव्य है। केशवकृत पद्धति के अनुसार कौशिकसूत्र अथर्ववेद की सभी शाखाओं के कर्मकाण्ड का प्रतिपादक है।

इसके १४ अध्यायों तथा १४१ कण्डिकाओं में निरूपित विषयवस्तु इस प्रकार है :

प्रथम अध्याय–पाकयज्ञपरिभाषा, दर्शपूर्णमास तथा शान्त्युदक।

द्वितीय अध्याय–मेधाजनन, ब्रह्मचारी के व्रतों की सफलता के लिए कर्म, ग्रामसम्पद सर्वसम्पद, साम्मनस्य परक कर्म वर्चस्यानि, सांग्रामिक कर्म, पदच्युत राजा के पुनरागमन तथा माण्डलिक राजाओं के अभिषेकजन्यकृत्य, परमेश्वराभिषेक।

तृतीय अध्याय–निर्ऋतिनिवारक कर्म, चित्राकर्म, समुद्रकर्म, अष्टका, हल-चालन, वपनकर्म, रसकर्म, नवशालानिर्माण, यात्रा, वृषोत्सर्ग, आग्रहायणीय इष्टि, धर्म धनादि प्राप्तिकारक कर्म।

चतुर्थ अध्याय–भैषज्याणि-विविध रोगों के लिए मन्त्र-तन्त्र तथा विषनिवारण; स्त्रीकर्माणि–सन्तानोत्पत्ति, पुंसवन, गर्भाधान, सीमन्तकर्म, वशीकरण, सपत्नीजयकर्म, स्वापन, पति-पत्नी क्रोध निवारण, दौर्भाग्यकरण, सौभाग्यकरण, ईर्ष्याविनाशन तथा मन्युविनाशन।

पञ्चम अध्याय–विज्ञानकर्माणिलाभालाभ, जय-सुख-दु:ख, उत्कर्ष-अपकर्षादि के पूर्वज्ञान के उपाय, दुर्दिन-विनाशन, अशनि-निवारण, विवाद-विजय, पौरुषशक्तिसंवर्धन, वर्षाकारक कर्म, अभिचार-निवारण, नदीप्रवाहविधि, सौमनस्यस्थापन, प्रायश्चित दु:स्वप्नदर्शनहेतुक शान्तिकर्म, पापनक्षत्र में उत्पन्न हुए व्यक्ति की शान्ति, ज्येष्ठ भ्राता के अविवाहित रहते हुए अन्य भाइयों का विवाह, आधानदीक्षा जन्य शान्ति, कौआ बैठ जाने के दोष की शान्ति शकुनशान्ति प्रभृति।

षष्ठ अध्याय में मरणादि अभिचार कर्म वर्णित हैं।

सप्तम अध्याय–स्वस्त्ययन कर्म, मंगलार्थक कर्म, भयमुक्तिपरक कर्म, बहुविध कल्याण कारक एवं अरिष्टनिवारक कर्म, आयुष्यकर्म, चूडाकरण, उपनयन, मेधाजनन, नामकरण, अन्नप्राशन

और काम्यकर्म। अष्टम अध्याय में सवयागों, नवम में गृह्याग्नि के आधानादि, दशम में विवाह, ११वें में अन्त्येष्टि तथा पिण्डपितृयज्ञ, १२वें में अतिथिजन्य मधुपर्कादि, १३वें में अद्भुत कर्मों तथा १४वें में आज्यतन्त्र, अष्टकातन्त्र, वेदारम्भ, इन्द्रमहोत्सव और अनध्याय का निरूपण हुआ है।

यह शौनकीय शाखा से सम्बद्ध प्रतीत होता है। इसकी भाषा में अनेक नवीन प्रयोग दिखलाई देते हैं। उदाहरण के लिए चूहों के द्वारा खोदी गई मिट्टी के लिए 'आखु किम्' शब्द का प्रयोग हुआ है।

विद्वानों का विचार है कि इसकी रचना यास्क से पूर्व हुई। इस पर प्रथम अड़तालिस कण्डिकाओं तक दारिल का भाष्य उपलब्ध है। केशव-कृत 'केशवी पद्धति' भी प्राप्त है। एक अज्ञातकर्तृक 'आथर्वण पद्धति' भी उपलभ्य है। एम॰ ब्लूमफील्ड ने इसका संपादन व्याख्याओं के उद्धरणों सहित किया था; जिसका पुनः प्रकाशन १९७२ ई॰ में मोतीलाल बनारसीदास ने किया है। दिवेकर द्वारा संपादित संस्करण (दो भागों में) तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूना से प्रकाशित हुआ है।

धर्मसूत्र

कल्पान्तर्वर्ती धर्मसूत्रों के द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों, नियमों तथा व्यवस्थाओं का परवर्ती धर्मग्रन्थों, विशेषरूप से स्मृति-साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ा। ऋग्वेद (१.१८७.१) के सन्दर्भ में 'धर्म' शब्द संधारक तथा सम्भारक अर्थ का द्योतक है। आगे धार्मिक कृत्य, आदेश अथवा विधान का भी वाचक हो गया। वाजसनेयी संहिता (२.३; ५.२७) में यह 'आचरण के नियम' का सूचक है। अथर्ववेद (११.९.१७) में यह कर्मानुष्ठानजन्य पुण्यपरक है। छान्दोग्य उपनिषद् (२.२३) में यज्ञ, अध्ययन, तथा आश्रम का द्योतक है। आगे, म॰ म॰ काणे के अनुसार यह 'मनुष्य के कर्त्तव्यों और अधिकारों तथा वर्णविशेष और आश्रम विशेष से सम्बन्धित व्यक्ति के रूप में उसके आचारों और व्यवहारों' का ज्ञापक हो गया।

तन्त्रवार्तिककार भट्टकुमारिल का कथन है कि सभी धर्मसूत्र वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्यों का उपदेश करते हैं। इनकी परिधि में 'व्यवहार धर्म' तथा 'राजधर्म' भी सम्मिलित हो गये। इनमें 'सामयाचारिक धर्म' (समय अथवा परम्परा पर आधृत धर्म) की विशेष व्याख्या की गई। 'स्मृति' इसी का नामान्तर है, अतएव 'स्मार्त धर्म' भी इसे कहा जा सकता है। गौतम धर्मसूत्र (१.१-२) का मत है कि वेद-वेदज्ञों का आचरण तथा उनकी परम्परा धर्म के मूल हैं–'वेदो धर्ममूलम्। तद्विदाञ्च स्मृतिशीले।' इसी की पुष्टि आपस्तम्ब तथा अन्य धर्मसूत्रों ने भी की है :

'धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च' (आप॰ ध॰ सू॰ १.१.२-२) तथा–'श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्।' मनु प्रभृति धर्मशास्त्रियों ने वेद-वेदज्ञों के साथ ही शिष्ट तथा साधु पुरुषों के आचरण को भी धर्म की कोटि में सम्मिलित कर दिया है। शिष्ट श्रेणी में स्वार्थहीन और निःस्पृह व्यक्तियों को ही रखा गया है–'शिष्टः पुनरकामात्मा।' धर्मसूत्रों में प्रतिपादित जो विषय वर्तमान मन्त्र-संहिताओं में नहीं मिलते, उनका प्रामाण्य लुप्तशाखाओं के आधार पर स्वीकार किया जाता है।

विकासशील समाज की बढ़ती हुई धार्मिक-सामाजिक समस्याओं की जटिलता के समाधान की चेष्टा धर्मसूत्रों में परिलक्षित होती है। इसीलिए इनमें समयानुकूल परिवर्तन, परिवर्धन और

मत-मतान्तरों के स्वीकार की दृष्टि भी दिखलाई देती है। उत्तरकालिक स्मृतियों तथा स्मृतिग्रन्थों पर लिखी गई टीकाओं में पूर्वगामी आधार के परित्याग के बिना ही नये सिद्धान्तों और नियमों के प्रवर्तन तथा उपपादन का प्रयत्न किया गया है। बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी और वैखानस गृह्यसूत्रों के नियमों का अनुसरण इनके धर्मसूत्र पूर्णतया करते हैं। धर्मसूत्रों का क्षेत्र गृह्यसूत्रों की अपेक्षा अधिक व्यापक है। धर्मसूत्र अपनी शाखा के सीमित दायरे से बाहर निकलकर सम्पूर्ण समाज की समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। जहाँ सम्पूर्ण कल्प विद्यमान है, वहाँ श्रौत, गृह्य और धर्मसूत्रों के मध्य एक विशिष्ट समानता दिखलाई जाती है। क्योंकि सभी का रचनाकार एक है।

उपलब्ध धर्मसूत्रों का पृथक-पृथक परिचय इस प्रकार है :

गौतम धर्मसूत्र–यह प्रचीनतम धर्मसूत्र है। मनुस्मृति (३.१६) के अनुसार गौतम उतथ्य के पुत्र हैं। सामवेद से इनका सम्बन्ध है। गौ० ध० सू० का २६वां अध्याय सामविधान ब्राह्मण के सदृश है। लाट्यायन (१.३.३ तथा १.४.१७) तथा द्राह्यायण श्रौतसूत्रों ने गौतम के प्रामाण्य को स्वीकार किया है। इस धर्मसूत्र में २८ अध्याय तथा १००० सूत्र हैं। शैली सूत्रात्मक है। भाषा प्राय: पाणिनीय व्याकरणसम्मत है। धर्मशास्त्रकारों ने बहुलता से इसे उद्धृत किया है। इसमें वर्णित विषय ये हैं :

१–धर्म के स्रोत, उपनयन, शौच, आचमनादि; २–ब्रह्मचारी के व्रत, शिष्यानुशासन, अध्ययन-काल; ३–चार आश्रम, ब्रह्मचारी, भिक्षु और वैखानस के कर्त्तव्य; ४–गृहस्थ-व्रत, विवाह, विवाह के अष्टविध प्रकार; ५–गर्भाधान के नियम, पञ्चमहाव्रत, मधुपर्क, वर्णानुसार अतिथि-सत्कार; ६–माता-पिता का सत्कार, गुरु जनों तथा सम्बन्धियों का सत्कार; ७–ब्राह्मण की वृत्ति, आपत्कालीन वृत्ति, अविक्रेय वस्तुएँ; ८–चालीस संस्कार, आठ प्रकार के आध्यात्मिक गुण; ९–चारों वर्णों के विशिष्ट धर्म, राज-कर्त्तव्य, कर, स्वत्व के स्रोत, अवयस्क की सम्पत्ति-रक्षा; १०–राजधर्म, राजपुरोहित के गुण इत्यादि; ११–अपवाद (गाली, आक्रमण, व्यभिचार, बलात्कार, चोरी इत्यादि) विषयक दण्ड-विधान; १२–साक्षी तथा साक्ष्यविषयक नियम; १३–अशौच; १४–श्राद्ध के प्रकार तथा श्राद्ध में अयोग्य ब्राह्मण; १५–उपाकर्म तथा अनध्याय; १६–भक्ष्याभक्ष्य-विचार; १७–स्त्री-धर्म, नियोग तथा उसके नियम, नियोगज पुत्र; १८–प्रायश्चित्त तथा शुचित्वकारक व्रत-जप-मन्त्रादि; १९–प्रायश्चित्त; २०–विविध प्रकार के पातक; २१–ब्रह्महत्यादि जन्य प्रायश्चित्त; २२– सुरापानादिजन्य प्रायश्चित्त; २३–महापातकों के गूढ़ प्रायश्चित्त, २४–प्रवञ्चना, अपवाद, इत्यादि परक प्रायश्चित्त, २५–कृच्छ्रादि व्रत; २६–चान्द्रायण व्रत; २७–पिता की सम्पत्ति का विभाजन, दाय-भाग। इसमें दिव्यों की व्यवस्था नहीं है। इस पर हरदत्त-कृत 'मिताक्षरा' व्याख्या उपलब्ध है। अनुपलब्ध व्याख्याओं में भर्तृयज्ञ और असहाय प्रणीत व्याख्याएँ हैं। इसके अनेक संस्करण उपलब्ध हैं।[३९]

३९. (क) स्टेञ्जलर के द्वारा संपादित, लन्दन से प्रकाशित।
(ख) जीवानन्द विद्यासागर के द्वारा संपादित, कलकत्ता से प्रकाशित।
(ग) मैसूर-संस्करण मस्करि की व्याख्या सहित।
(घ) नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली से प्रकाशित।

बौधायन धर्मसूत्र–बौधायन कल्प के ४६-४९ प्रश्न धर्मसूत्र माने जाते हैं इन चार प्रश्नों में प्रतिपादित विषय ये हैं :

प्रथम प्रश्न–१. धर्म के स्रोत; उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रथाएँ; वर्णसङ्कर प्रदेश। २. उपनयन; ब्रह्मचारि-व्रत तथा नियम; ३. स्नातक-व्रत; ५. शौच, सपिण्ड तथा सकुल्य की व्याख्या, दाय-भाग, भक्ष्याभक्ष्य; ६. यज्ञ की दृष्टि से शुचिता; ७. यज्ञीय उपकरणों का महत्व; ८. चातुर्वर्ण्य-विचार; ९. वर्णसङ्कर; १०. राजा के कर्त्तव्य; पाँच महापाप उनके दण्ड, साक्षी। अष्ट प्रकार के विवाह तथा अनध्याय।

द्वितीय प्रश्न–प्रथम अध्याय-महापातकों के प्रायश्चित्त तथा कृच्छ्रादि व्रत; २. सम्पत्ति-विभाजन; नियोगादि; ३. गृहस्थ के दैनिक कृत्य; ४. सन्ध्यादि; ५. स्नानादि; ६. पञ्चमहायज्ञादि; ७. भोजन; ८. श्राद्ध; ९. पुत्र-प्रशंसा; १०. संन्यास के नियम।

तृतीय प्रश्न–इसके दस अध्यायों में शालीन तथा यायावर गृहस्थों की जीविका, षण्णिवर्तनी वृत्ति, वानप्रस्थ, व्रतभंग पर प्रायश्चित्त, अघमर्षण, यावककर्म, कूष्माण्डहोम, चान्द्रायण, वेदमन्त्रोच्चारण के नियम, शौच-विचार हैं।

चतुर्थ प्रश्न–इसमें आठ ही अध्याय हैं। जिनमें विविध प्रायश्चित्तों, जप-होमादि तथा मन्त्रादि का वर्णन है। म० म० काणे ने चतुर्थ प्रश्न को प्रक्षेप माना है। इसकी शैली पद्यात्मक है। आपस्तम्ब की अपेक्षा बौधायन पूर्ववर्ती हैं और गौतम की अपेक्षा परवर्ती।

इस पर गोविन्दस्वामी की 'विवरण' नाम्नी व्याख्या प्रकाशित है। लीप्ज़िग (१८८४), आनन्दाश्रम, पूना (१९२९) मैसूर (१९०७) तथा दिल्ली से इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र–आपस्तम्बकल्प के ३० प्रश्नों में से अन्तिम दो धर्मसूत्र माने जाते हैं। सम्पूर्ण कल्प का एक ही व्यक्ति असन्दिग्ध रूप से रचयिता है। दोनों प्रश्नों में ११-११ पटल हैं। जिनमें क्रमशः ३२ तथा २९ खण्डिकाएँ हैं। इसमें बीच-बीच में पद्य भी हैं। इसमें कण्व, कौत्स, हारीत, श्वेतकेतु प्रभृति १० पूर्वाचार्यों के मतों का उल्लेख है। यह एकमात्र ऐसा धर्मसूत्र है, जिसमें मीमांसा के अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। श्रुति, अङ्ग, विधि इत्यादि ऐसे ही शब्द हैं। अभिप्राय यह कि आपस्तम्ब ध० सू० के काल तक मीमांसाशास्त्र का विकास हो चुका था। इस धर्मसूत्र में पैशाच तथा प्राजापत्य संज्ञक विवाह-प्रकार अवैध कहे गये हैं। नियोगप्रथा की भी निन्दा की गई है। सूद-ब्याज के ग्रहण पर प्रायश्चित्त का विधान है। साक्षी के कथन पर सन्देह होने की स्थिति में दिव्य-परीक्षा का विधान किया गया है। वर्ण्यविषय प्रायः पूर्ववत् ही हैं, लेकिन उनके क्रम में भिन्नता है। शैली ब्राह्मणग्रन्थों से मिलती है। हरदत्त मिश्र-कृत 'उज्ज्वला' व्याख्या इस पर उपलब्ध है। बम्बई (१९३२, बुहलर-संपादित), बनारस (१९३२, ए० सी० शास्त्री तथा ए० आर० शास्त्री के द्वारा संपादित), पूना (मगनलालशास्त्री संपादित), मैसूर (महादेवशास्त्री) से इसके संस्करण प्रकाशित हुए हैं।

वासिष्ठ धर्मसूत्र–इसके विभिन्न प्रकाशित संस्करणों तथा उपलब्ध पाण्डुलिपियों में, स्वरूपगत विपुल भिन्नता दिखलाई देती है। जीवानन्द के संस्करण में २० अध्याय सम्पूर्ण रूप से तथा २१वां अध्याय अंशतः मुद्रित है। आनन्दाश्रम तथा फ्यूहरर के संस्करणों में ३०-३० अध्याय

हैं। कुछ पाण्डुलिपियों में केवल छः अथवा दस अध्याय ही हैं। कुमारिल (तन्त्रवार्तिक) के अनुसार यह ऋग्वेदियों का साम्प्रदायिक ग्रन्थ है। काणे ने उद्धृत मन्त्रों के आधार पर इसे वेद की सभी शाखाओं के अनुयायियों के लिए उपादेय माना है। ऋग्वेदीय गृह्यसूत्रों से इसका बहुत साम्य है। पारस्कर गृ० सू० के साथ भी इसकी कुछ समानता है। इसके २५-२८ अध्याय पद्यात्मक हैं। २९-३० में सूत्र तथा पद्य दोनों है। अनेक विषयों की पुनरुक्ति भी है। षष्ठ अध्याय में म्लेच्छ भाषा के अध्ययन का निषेध है। विषयवस्तु वही है जो धर्मसूत्रों में सामान्यरूप से प्राप्य है। २६-२७ अध्यायों में प्राणायाम की प्रशंसा और गायत्री-जप का विधान है। कुसीद की निन्दा इसमें भी की गई है। इसके बनारस-संस्करण में कृष्णपण्डित धर्माधिकारी की 'विद्वन्मोदिनी' व्याख्या प्रकाशित है। इसके बम्बई (फ्यूहरर के द्वारा संपादित), लाहौर (हिन्दी अनुवाद सहित), पूना इत्यादि स्थानों से अनेक संस्करण निकले हैं। इस धर्मसूत्र में आचार पर बहुत बल दिया गया है :

आचारः परमोधर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचार परीतात्मा प्रेत्य चेह च नश्यति।।

हारीत धर्मसूत्र—इसे बौधायन, आपस्तम्ब तथा वासिष्ठ धर्मसूत्रों ने उद्धृत किया है। इसके प्राप्त हस्तलेखों में ३० अध्याय हैं—लेकिन प्राचीन धर्मशास्त्रियों के द्वारा गृहीत उद्धरण इसमें नहीं है। पद्यात्मक वचन भी इसमें हैं। अष्टविध विवाहों में, इसमें आर्ष और प्राजापत्य के स्थान पर 'क्षात्र' और 'मानुष' नाम दिये गये हैं। हारीत के वचनों के कई संग्रह प्रकाशित हैं। जीवानन्द ने 'लघु हारीत स्मृति' और 'वृद्ध हारीत स्मृति' नाम से दो संग्रह प्रस्तुत किये हैं। पहले में ७ अध्याय और २५० पद्य हैं। द्वितीय में आठ अध्याय तथा २६०० पद्य हैं। आनन्दाश्रम संस्करण में, 'वृद्धहारीत' नाम से १० अध्याय हैं। जीवानन्द संस्करण के प्रथम दो अध्याय पाँच अध्यायों में विभक्त हैं।

धर्मसूत्र-साहित्य के अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं : १. हिरण्यकेशि धर्मसूत्र (हिरण्यकेशि कल्प के २६-२७ प्रश्न, जो आपस्तम्ब धर्मसूत्र की ही प्रतिलिपि हैं), २. शंखलिखित-धर्मसूत्र (जीवानन्द के स्मृति-संग्रह में इसके १८ अध्याय, शंख-स्मृति के ३३० पद्य तथा लिखित-स्मृति में ९३ पद्य हैं—आनन्दाश्रम-संस्करण में भी यही स्थिति है), ३. वैखानस धर्मप्रश्न (त्रिवेन्द्रम से सन् १९१३ में प्रकाशित), ४. विष्णुधर्म सूत्र (विष्णुस्मृति के नाम से भी प्रसिद्ध १०० अध्याय, जीवानन्द-संपादित धर्मशास्त्र-संग्रह के अन्तर्गत)।

धर्मशास्त्रीय-साहित्य के अन्तर्गत अत्रि, उशना, कर्ण्व, कश्यप, गार्ग्य, च्यवन, जातूकर्ण्य, देवल, पैठीनसि, बृहस्पति, भारद्वाज तथा सुमन्तु प्रभृति धर्मसूत्रकारों के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

अन्त में, कहा जा सकता है कि सामयिक परिवर्तनों से प्रभावित भारतीय समाज की धर्मसूत्रकारों ने विविध चरणों में एक सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था देने का प्रयत्न किया। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-प्रणाली, विवाह, आह्निक कृत्यों, पञ्चमहायज्ञों, संन्यास, राजधर्म शुद्धि अथवा शौच तथा पापों और उनके प्रायश्चित्तों के विषय में, दैनन्दिन आवश्यकता के अनुरूप अपनी धारणाएँ एवं व्यवस्थाएँ प्रस्तुत कीं। यद्यपि महामहोपाध्याय काणे प्रभृति महामनीषियों ने

इनका पर्याप्त आलोडन-विलोडन करके महनीय आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रस्तुत किए हैं, तथापि इनके सुसम्पादन और अनुवाद की आवश्यकता अद्यावधि यथावत् बनी है।

शुल्बसूत्र

यह कहा जा चुका है कि शुल्बसूत्र प्राचीन भारतीयों के प्रौढ़ ज्यामितीय वैदुष्य के परिचायक ग्रन्थ हैं। 'शुल्ब' शब्द का वाच्यार्थ है रस्सी, जो सम्भवत: माप-पट्टिका (नापने का टेप या फीता) का द्योतक है।

गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि तथा दक्षिणाग्नि (अन्वाहार्य पचन) की स्थापना के लिए यज्ञ-वेदियों का निर्माण अपेक्षित है। वेदि-निर्माण की विधियाँ शुल्ब सूत्रों में प्रदत्त हैं। इस विषय के विशेषज्ञ शुल्बविद्, शुल्बपरिपृच्छक, संख्याज्ञ, परिमाणज्ञ तथा समसूत्रनिरञ्छक कहे गये हैं। वेदियों के अनेक प्रकार इन ग्रन्थों में वर्णित हैं–उदाहरण के लिए गार्हपत्याग्नि वेदि वृत्ताकार या समचतुरस्र होनी चाहिए और आहवनीय-वेदि समचतुरस्र के साथ दक्षिण अर्धवृत्ताकार रूप में वांछित है। समचतुरस्र का वृत्त या अर्धवृत्त में कैसे परिवर्तन किया जाये, इसका समाधान इन्हीं ग्रन्थों में है। आज जिस प्रमेय को पाइथागोरस के नाम से जाना जाता है और जो 'समचतुरस्र के करण पर बनाये हुए समचतुरस्र का क्षेत्रफल मूल समचुतरस्र से दोगुना होता है' रूप में प्रसिद्ध है, उसके आविष्कार का श्रेय वास्तव में बौधायन शुल्बसूत्रकार को ही है। वेदियों के निर्माण में शुल्बसूत्रकारों ने पक्षियों के आकारों से भी प्रेरणा प्राप्त की है। 'छन्दश्चित्' और 'श्येनचित्' संज्ञक वेदियाँ इसी कोटि की हैं। शुल्बसूत्रों में दो या अधिक समचतुरस्रों के परिमाण का एक समचतुरस्र बनाना, अथवा विषम चतुरस्र का समचतुरस्र में परिवर्तन अथवा समचतुरस्र के परिमाण के त्रिभुज अथवा वृत्त के निर्माण के अत्यन्त व्यावहारिक प्रयोग उपलब्ध होते हैं। वेदि (अग्नि)–चयन की पाँच क्रमिक सोपान होते हैं, इन्हें 'चिति' कहा जाता है। चयन में इष्टकाओं का विभिन्न प्रकार से प्रयोग किया जाता है।[४०]

नियमानुसार सभी शाखाओं के शुल्बसूत्र होने चाहिए, किन्तु सम्प्रति केवल यजुर्वेद के ही शुल्बसूत्र उपलब्ध हैं।

शुक्लयजुर्वेदीय शुल्बसूत्र कात्यायन-प्रणीत है। अन्य शुल्बसूत्र ये हैं–बौधायन शुल्बसूत्र, आपस्तम्ब शु॰ सू॰, मानव शु॰ सू॰, मैत्रायणी शु॰ सू॰ वाराह शु॰ सू॰ तथा वाधूल शु॰ सू॰। ये सभी कृष्णयजुर्वेदीय हैं।

प्रमुख शुल्बसूत्रों का परिचय इस प्रकार से है :

(१) **बौधायन शुल्बसूत्र**–यह ७ परिच्छेदों में विभक्त है। सूत्र-संख्या है ५२५। वर्ण्य विषय ये हैं–प्रथम परिच्छेद के ३-२१ सूत्रों में शुल्ब में प्रयुक्त विविध मान, २२-६२ सूत्रों में याज्ञिक वेदियों के निर्माणार्थ प्रमुख रेखागणितीय तथ्य तथा ६३-११६ सूत्रों में विभिन्न वेदियों के क्रमिक स्थान और आकार-प्रकार; द्वितीय परिच्छेद के १-६१ सूत्रों में सामान्य नियमों का उल्लेख है।

४०. शुल्बसूत्रों के विशेष ज्ञान के लिए विभूतिविभूण दत्त की विद्वत्तापूर्ण कृति 'The science of Sulba' अनुशीलनीय है।

तत्पश्चात् गार्हपत्यचिति और छन्दश्चिति की रचना-प्रक्रिया का वर्णन है। तृतीय परिच्छेद में काम्य इष्टियों में व्यवहृत वेदी की रचना का विधान है। इस शुल्बसूत्र पर द्वारकानाथ यज्वा और वेंकटेश्वर की टीकायें हैं जिनके नाम क्रमशः 'शुल्ब दीपिका' और 'शुल्ब-मीमांसा' हैं।

(२) **आपस्तम्ब शुल्ब सूत्र**–इसमें छह पटल हैं। पहले पटल में वेदि-रचना के आधारभूत ज्यामितीय सिद्धान्तों की प्रस्तुति है। द्वितीय में वेदि के क्रमिक स्थान तथा रूपों का विवरण है। शेष पटलों में काम्येष्टि की वेदियों के आकार-प्रकार का निरूपण है। इस पर कपर्दिस्वामी, करविन्दस्वामी (शुल्ब प्रदीपिका), सुन्दरराज (शुल्बप्रदीप) और गोपाल (शुल्ब भाष्य) की टीकायें प्राप्त होती हैं। ये अपने समय के प्रसिद्ध रेखागणितज्ञ थे।

(३) **कात्यायन शुल्ब सूत्र**–यह 'कातीय शुल्ब परिशिष्ट' के नाम स भा प्रसिद्ध है। इसके दो भाग हैं। प्रथम खण्ड सूत्रात्मक है जिसमें ७ कण्डिकाएँ और ९० सूत्र हैं। द्वितीय खण्ड श्लोकात्मक है। इसमें ४८ श्लोक हैं। विषयवस्तु पूर्वोक्त शुल्बसूत्रों के सदृश ही है। इस पर महीधर और राम बाजपेय की टीकायें हैं।

(४) **मानवशुल्बसूत्र**–कुछ नवीन वेदियों की निर्माण प्रक्रिया यह प्रस्तुत करता है। अपर्न. 'सुपर्णचिति' (अपरनाम श्येनचिति) वेदी के विवरण के लिए यह विशेष प्रसिद्ध है। वाराह और मैत्रायणीय शुल्बसूत्रों पर मानव शुल्ब सूत्र का प्रचुर प्रभाव पड़ा है।

शुल्बसूत्रों के संस्करण–बौधायन शुल्बसूत्र का 'शुल्ब दीपिका' सहित थीबो ने संपादन किया था, जो वाराणसी से १८७५ में छपा था। १९६८ में, दिल्ली से उसी की पुनः आवृत्ति हुई है। 'मानवशुल्बसूत्र' १९६१ में, इण्टरनेशनल एकेडेमी ऑफ इण्डियन कल्चर, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। इसके संपादक जे॰ एम॰ गेल्डर हैं। आपस्तम्ब शु॰ सू॰ मैसूर और नई दिल्ली से प्रकाशित है। कात्यायन शुल्बसूत्र, अच्युत ग्रन्थमाला, वाराणसी से प्रकाशित हुआ है।

वेदाङ्ग व्याकरण

जैसे मुख अभिव्यक्ति और विवेचन का सर्वसमर्थ साधन है उसी प्रकार व्याकरण भी पद-स्वरूप और अर्थ का प्रमुख निर्णायक है। प्रकृति-प्रत्यय का विश्लेषण भी इसके बिना नहीं हो सकता। अतः 'व्याकरण' का अर्थ है–'व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्।' व्याकरण के गौरव को ही ध्यान में रखकर निम्नलिखित सुप्रसिद्ध ऋङ्मंत्र का सायण ने व्याकरणपरक अर्थ किया है :

चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्या आविवेश।। (ऋ॰ सं॰ ४.५८.६)

–मनुष्यों में प्रविष्ट इस महान् देवता के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार सींग हैं; वर्तमान, भूत और भविष्य–ये इसके तीन चरण हैं; सुप् और तिङ्–ये इसके दो सिर हैं; प्रथमादि सात विभक्तियाँ इसके सात हाथ हैं; हृदय, कण्ठ और सिर–इन तीन स्थानों पर यह बँधा है।

वररुचि ने अपने वार्तिक में व्याकरण के ५ प्रयोजन बतलाए हैं–१. वेद की रक्षा; २. ऊह–नये पदों की कल्पना और यथास्थान विभक्ति-परिवर्तन; ३. आगम; ४. लघु (संक्षेप में शब्द-ज्ञान); ५. सन्देह-निराकरण। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने उपर्युक्त प्रयोजनों की पुष्टि करते हुए १३ प्रयोजन और बताए हैं–१. अपभाषण से बचना; असुरों की पराजय इसीलिए हुई क्योंकि वे 'हेऽरयः' के शुद्ध उच्चारण के स्थान पर 'हेऽलयः' का अशुद्ध कर रहे थे; अतः अशुद्धोच्चारण से बचने के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। २. अशुद्ध शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न अनर्थ से बचना; ३. अर्थ ज्ञान; ४. धर्मलाभ; ५. नामकरण इत्यादि।

संस्कृत व्याकरण की परम्परा बहुत प्राचीन है; गोपथ ब्राह्मण में धातु, प्रातिपदिक, आख्यातलिंग, विभक्ति, वचन, प्रत्यय, स्वर आदि के विषय में प्रश्न पूछा गया है; प्रातिशाख्यों, निरुक्त और अन्य शिक्षा ग्रन्थों में भी प्रचुर तथ्य निहित हैं; पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती आपिशलि और काश्यप आदि १० वैयाकरणों का उल्लेख किया है; कुछ अन्य प्राचीन ग्रन्थों में ऐन्द्र तथा महेश्वर आदि १५ वैयाकरणों का उल्लेख है; किन्तु पूर्ण और सुव्यवस्थित व्याकरण का निर्धारण पाणिनि के काल से ही हुआ। अमेरिकी भाषा वैज्ञानिक ब्लूमफील्ड ने पाणिनीय व्याकरण को मानवीय प्रज्ञा का महत्तम प्रतीक कहा है।[४१] मैक्डॉनेल के अनुसार भारतीय वैयाकरणों ने जिस परिपूर्ण और अतिविशुद्ध व्याकरण पद्धति को जन्म दिया है, उसकी तुलना विश्व के किसी देश में प्राप्य नहीं है।[४२]

पाणिनीय व्याकरण की परिधि में वैदिक और लौकिक दोनों ही क्षेत्र आ जाते हैं। अष्टाध्यायी में वैदिक व्याकरण से सम्बद्ध प्रायः ५०० सूत्र हैं जो विभिन्न अध्यायों में बिखरे हुए हैं। स्वरप्रक्रिया से सम्बद्ध सभी सूत्र प्रायः षष्ठ अध्याय के प्रथम और द्वितीय पादों में हैं। वेद से सम्बन्धित अधिसंख्य सूत्र अष्टम अध्याय में हैं। सिद्धान्त कौमुदीकार ने 'वैदिकी प्रक्रिया' के अन्तर्गत सभी सूत्रों का विषयानुसार वर्गीकरण कर दिया है।

वेदाङ्ग निरुक्त

अर्थज्ञान के लिए स्वतन्त्र रूप से जहाँ पदों का समूह कहा गया है, वह निरुक्त है–'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्'–(सायण)। निरुक्त में उस वैदिक शब्द समाम्नाय ('गो' से 'देवपत्नी' तक) की व्याख्या की गई है जो निघण्टु के पाँच अध्यायों में संकलित है। निघण्टु एक प्रकार से वैदिक शब्दकोश है जिसमें कुल १३४१ शब्द परिगणित हैं। इसके प्रथम तीन अध्याय 'नैघण्टुक काण्ड' हैं, चतुर्थ अध्याय 'नैगम काण्ड' (ऐकपदिक)[४३] और अन्तिम अध्याय

४१. The grammar of Panini is one of the greatest monuments of human intelligence. It describs with the minutest detail every inflection, derivation and composition, and every syntactic usage of its author's speech. No other language to this day has been so perfactly described. ' anguage, p. 11.

४२. *India's Past*, p. 136.

४३. इसमें अज्ञात या सन्दिग्ध मूलवाले २७८ शब्द हैं। इन्हें यास्क ने ही 'ऐकपदिकम्' कहा है (निरुक्त ४.१)।

'दैवतकाण्ड' कहलाता है। यास्क ने निरुक्त में निघण्टुगत २३० शब्दों का निर्वचन किया है। निघण्टु के सदृश सम्प्रति निरुक्त भी एक ही प्राप्त है यद्यपि यास्क ने अग्रायण औपमन्यव, और्णवाभ, औदुम्बरायण, क्रौष्टुकि कात्थक्यं, गार्ग्य, गालव शाकपूणि तथा स्थौलाष्ठीवि आदि १२ निरुक्तकारों का उल्लेख किया है। निघण्टु पर देवराज यज्वा की एक टीका भी है। निरुक्त के प्रतिपाद्य विषय ५ हैं–वर्णागम, वर्ण-विपर्यय, वर्ण-विकार, वर्ण-नाश और धातुओं का अनेक अर्थों में प्रयोग :

वर्णागमो वर्णविपर्य्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम्।।

वेदार्थ-अनुशीलन के अधिदैवत, अध्यात्म, आख्यान समय, ऐतिहासिक, नैदान, नैरुक्त, परिव्राजक और याज्ञिक आदि अनेक मतों का उल्लेख भी यास्क ने किया है। भाषाविज्ञान, अर्थविज्ञान, शब्द-निर्वचनशास्त्र और शब्दव्युत्पत्ति की दिशा में निरुक्त ने बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। निरुक्त के प्रसिद्ध अध्येता डॉ॰ सिद्धेश्वर वर्मा का कथन है: 'यह सिद्धान्त ऐसी शान्तिप्रद विशेषता रखता है जिससे पता चलता है कि इसकी कई व्युत्पत्तियाँ उन शब्दों से सम्बन्ध रखती हैं जिनका सम्बन्ध या मूल प्राचीन भारतीय भाषा में प्राप्य न हो किन्तु दूसरी भारोपीय भाषाओं में प्राप्त है।'[४४] मैक्समूलर ने तो यह विश्वास व्यक्त किया है कि यास्क ने जितने संतोषजनक रूप से अनेक शब्दों की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला है, उतना आज के वैज्ञानिक युग में भी सन्दिग्ध है।[४५] निरुक्त में मूलत: १२ अध्याय हैं। इनके अतिरिक्त दो अध्याय परिशिष्ट रूप में हैं। अध्यायों का विभाजन पादों में है। इस पर दुर्गाचार्य, स्कन्द महेश्वर और वररुचि की टीकाएँ उपलब्ध हैं। वररुचि की टीका 'निरुक्तनिचय' पद्यात्मक है।

यास्क का दृष्टिकोण–यास्क ने पदों के चार प्रकार माने हैं–नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। 'आख्यात' शब्द क्रियार्थक है। सभी नामों अथवा संज्ञा शब्दों को वे आख्यातज (अथवा धातुज) मानते हैं–'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि।' जब तक क्रिया का क्रम चल रहा है, वह 'भाव' है, किन्तुपूर्ण हो जाने पर वही 'सत्त्व' (अथवा नाम) में परिणत हो जाती है। यास्क के इस सिद्धान्त पर अनेक आपत्तियाँ प्रकट की गई हैं। पाणिनि के सदृश, यास्क भी उपसर्गों को द्योतक ही मानते हैं, अकेले उपसर्गों का कोई अर्थ नहीं है। यास्क ने उपर्युक्त सिद्धान्त को शाकटायन और नैरुक्त परम्परा के नाम से प्रस्तुत किया है, किन्तु इसमें उनकी भी पूर्ण सहमति प्रतीत होती है। उपसर्ग के योग से नाम और आख्यात में क्या परिवर्तन होता है, इसे उन्होंने पृथक्-पृथक् स्पष्ट करने की चेष्टा की है। निपातों के उन्होंने तीन भेद माने हैं–उपमार्थक, कर्मोपसंग्रहार्थक (समुच्चयार्थक) तथा पदपूरणार्थक। शब्द की नित्यता और अनित्यता के विवाद को यास्क ने

४४. But the theory has a palliating feature in the fact that most of the derivations relate only to those words for which relations or origin, though not available in old Indo Aryan are to be found in other Indo European languages. Etymologies of Yaska, p. 25.

४५. I doubt whether even at present, with all the new light which comparative philology has shed on the origin of words questions like these could be discussed more satisfactoriby than they were by yask. A History of Ancient Sanskrit Literature, p. 168.

भी उठाया है किन्तु उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक है। अनित्य होने पर भी यास्क का कथन है कि शब्दों की उपयोगिता है, क्योंकि उन्हीं से वस्तुओं का नामकरण होता है; वे व्यापक हैं तथा वस्तु-बोध कराने के लिए अन्य सभी साधनों की अपेक्षा सूक्ष्मतर हैं।

निरुक्त से प्राचीन भारतीय दायद्यादि व्यवस्थाओं पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। पुत्री को दायाद्य मिलना चाहिए अथवा नहीं, इसकी यास्क ने बड़े प्रामाणिक ढंग से विवेचना की है। 'पञ्चजनाः' शब्द की व्याख्या से सामाजिक और भौगोलिक स्थितियां भी स्पष्ट होती हैं। देवतविषयक यास्क के मत की जानकारी देवता-निरूपण के प्रसंग में विस्तार से दी गई है। निर्वचन की दृष्टि से , यास्क स्वर-विकार (ablaut), कण्ठ्य और तालव्य वर्णों के सम्बन्ध, व्यञ्जनों के दोहरे प्रयोगों, स्वरों तथा व्यञ्जनों के पारस्परिक सम्बन्ध, वर्णों के द्वित्व तथा विभिन्न सन्धि-नियमों से सुपरिचित हैं। निर्वचन की प्रक्रिया में वैज्ञानिक दृष्टि की वे उपेक्षा नहीं करते। अधिकृत और औपचारिक रीति से तो यास्क ने निरुक्त के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद से निर्वचन करना प्रारम्भ से किया है। किन्तु अनौपचारिक रूप से उन्होंने प्रारम्भ से ही, 'निघण्टु' शब्द की व्याख्या के माध्यम से इस कार्य का श्रीगणेश कर दिया है। इस शब्द की व्युत्पत्ति में उन्होंने 'नि' उपसर्गपूर्वक तीन धातुओं (गम्, हन् तथा ह) का उल्लेख किया है। उनकी व्युत्पत्तियां अत्यन्त रोचक भी हैं, उदाहरण के लिए 'श्वः' (आगामी कल) का अभिप्राय है उपाशंसनीय (आशा करने योग्य) काल। 'ह्यः' (बीता हुआ कल) का अभिप्राय है हीन काल। 'हस्त' शब्द 'हन्' धातु से निष्पन्न माना गया है, क्योंकि वह मारने में तेज है। 'कर्ण' 'कृन्त' धातु से बना है, क्योंकि उसका द्वार कटा है। आग्रायण ने इसे 'ऋच्छ' (गमनार्थक) धातु से निष्पन्न माना है, क्योंकि शब्द कानों में जाते हुए से ज्ञात होते हैं। 'नरक' का अभिप्राय है वह स्थान, जहाँ थोड़ा-सा भी रमणीय स्थान न हो। यास्क कहीं-कहीं बड़े विचित्र प्रश्न भी उठाते हैं–'पृथिवी' की व्युत्पत्ति उन्होंने 'प्रथ' (फैलाना) से मानी है। अपने विरोधियों की इस आशंका का, कि उसे किसने कहाँ बैठकर फैलाया होगा, उत्तर देते हुए यास्क कहते हैं कि पृथिवी देखने में तो फैली हुई लगती है न !–भले ही इसे किसी ने न फैलाया हो ! सभी वस्तुओं का नामकरण लोक में देखकर ही तो किया जाता है। अपनी निर्वचन प्रक्रिया पर की गई आपत्तियों का समाधान उन्होंने बहुत तर्कयुक्त ढंग से किया है। 'अश्व' और 'तृण' के निर्वचनों पर आपत्ति करते हुए उनके विरोधी जब यह कहते हैं कि यदि सभी नाम आख्यातज होते, तो जो चीज भी वह काम करती, उसे वैसा ही कह देते। मार्ग को व्याप्त करने वाली सभी वस्तुएँ ऐसी स्थिति में 'अश्व' कहलातीं और तोड़ी जाने वाली प्रत्येक वस्तु तृण। यास्क का उत्तर है कि समानार्थक शब्दों में से कुछ का उस प्रकार से नामकरण होता है और कुछ का नहीं, जैसे सभी लकड़ी काटने वाले 'तक्षा' नहीं कहे जाते और न सभी घूमने वाले 'परिव्राजक' ही कहलाते हैं। इस प्रकार यास्क ने लोक-व्यवहार को निर्वचन-प्रक्रिया में विशेष स्थान दिया है।

यास्क के अनुसार निरुक्त महत्त्वपूर्ण विद्यास्थान तो है ही, व्याकरण का पूरक भी है–'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्यकात्स्र्न्यम् स्वार्थसाधकञ्च' (निरुक्त १.१५)। व्याकरणगत प्रक्रिया को भी कहीं-कहीं उन्होंने सन्देह की दृष्टि से देखने का निर्देश निर्वचनकर्त्ता को दिया है–'न संस्कारमाद्रियेत्। विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति' (निरुक्त २.१)।

अभिप्राय यह कि वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन की दृष्टि से वेदाङ्ग निरुक्त का महत्त्व असन्दिग्ध है। सायण प्रभृति सभी वैदिक भाष्यकारों ने यास्क को प्रमाण माना है।

वेदांग छन्द

वैदिक मन्त्रों के सम्यक् उच्चारण के लिए छन्दोज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। 'सर्वानुक्रमणी' कार कात्यायन के अनुसार जो व्यक्ति ऋषि, देवता और छन्दों को जाने बिना वेदाध्ययन करता है, वह पाप का भाजन होता है :

'यो हवा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्ते वा पात्यते वा पापीयान् भवति' (सर्वानुक्रमणी १.१)।

छन्दोविषयक विवरण तो मन्त्र-संहिताओं से ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है। 'ऋग्यजुष् परिशिष्ट' के अनुसार सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय छन्दोमय ही है :

छन्दोभूतमिदं सर्वं वाङ्मयं स्याद विजानतः।
नाच्छन्दसि न चापृष्टे शब्दश्चरति कश्चन।।

ब्राह्मणग्रन्थों में, विनियोग-विधान के विषय में, द्रव्य, देवता और यजामन के प्रयोजनानुरूप विविध छन्दोविषयक विकल्प प्रदत्त हैं। उदाहरण के लिए गायत्री ब्रह्मवर्चस्, उष्णिक् आयुष्य, अनुष्टुप् स्वर्ग, बृहती श्री, पंक्ति यज्ञ, त्रिष्टुप् शक्ति-सामर्थ्य एवं जगती पशु-प्राप्ति में विशेष सहायक छन्द हैं (ऐत॰ ब्रा॰ १.५)। ब्राह्मणों के अतिरिक्त छन्दोविषयक प्राचीन विवरण शांखायन श्रौतसूत्र, ऋक प्रातिशाख्य, सामवेदीय निदानसूत्र, पिंगल प्रणीत छन्दः सूत्र तथा कात्यायन एवं अन्य आचार्यों के द्वारा प्रणीत छन्दोऽनुक्रमणियों में उपलब्ध है। यों, इनमें सर्वाधिक सामग्री पिंगलाचार्य के 'छन्दः सूत्र' में ही है। ऋक्प्रातिशाख्य के १६वें से १८वें पटल भी विशेष उपादेय हैं। छन्दः सूत्र के आठ अध्यायों में से प्रथम चार अध्यायों (७ वें सूत्र तक) में वैदिक छन्दों के लक्षण दिये गये हैं। छन्दः सूत्र पर भट्ट हलायुध-कृत 'मृतसञ्जीवनी' व्याख्या उपलब्ध है।

एक अक्षर से लेकर १०४ अक्षरों तक के छन्दों का विधान आचार्यों ने किया है। यास्क के अनुसार 'छन्द' शब्द आच्छादनार्थक है–'छन्दांसि छादनात्' (७.१९)। इस दृष्टि से, समस्त सृष्टि ही एक छन्दोमयता की प्रतीक है। छन्दों से वेद को गति मिलती है, क्योंकि इस वेदांग की परिकल्पना वेदपुरुष के पादों के रूप में है।

वैदिक छन्दों का आधार अक्षर-गणना है। गुरु-लघु का नियम इनमें नहीं होता। कात्यायन का कथन है–'यदक्षर परिमाणं तच्छन्दः' (सर्वानु॰ १२.६)। लौकिक छन्दों के विपरीत वैदिक छन्दों में पाद भी चार से अधिक हो सकते हैं। पादों के विषय में ऋक्प्रातिशाख्य में विशद विवेचन उपलब्ध है। मुख्य वैदिक छन्द सात हैं जिनका विवरण निम्नवत् है :

मुख्य वैदिक छन्द

छन्द-नाम	प्रत्येक पाद में अक्षर					योग
गायत्री	८	८	८			२४
उष्णिक्	८	८	१२			२८
अनुष्टुप्	८	८	८	८		३२
बृहती	८	८	१२	८		३६
षङ्क्ति	८	८	८	८		४०
त्रिष्टुप्	११	११	११	११		४४
जगती	१२	१२	१२	१२		४८

वैदिक छन्द में एक या दो अक्षरों की अधिकता अथवा न्यूनता से कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि किसी छन्द के अक्षरों में एक कम हो, तो उससे पहले 'निचृत्' विशेषण तथा एक अक्षर अधिक होने पर 'भुरिक्' विशेषण लगा देते हैं। जैसे गायत्री में २४ अक्षर होते हैं, किन्तु २३ अक्षरों के होने पर उसे 'निचृद्गायत्री' और २५ अक्षरों के होने पर 'भुरिग् गायत्री' कहा जाता है जिनमें दो अक्षर कम होते हैं। उन्हे 'विराट' तथा जिनमें दो अक्षर अधिक होते हैं उन्हे 'स्वराट' विशेषण से युक्त कर देते हैं। उदाहरण के लिए २२ अक्षरों वाली गायत्री 'विराट गायत्री' तथा २६ अक्षरों वाली 'स्वराट् गायत्री' कहलाती है। उपर्युक्त मुख्य छन्दों के अतिरिक्त सात अतिच्छन्द होते हैं, इनमें चार अक्षर अधिक हो जाते हैं यथा अतिजगती-५२ अक्षर शक्वरी-५६ अक्षर –अतिशक्वरी–६० अक्षर, अष्टि–६४ अक्षर, अत्यष्टि–६८ अक्षर, धृति–७२ अक्षर तथा अतिधृति–७६ अक्षर। इनके अतिरिक्त कृति, प्रकति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अभिकृति तथा उत्कृति संज्ञक सात छन्द और होते हैं। इनमें चार-चार अक्षर क्रमशः बढ़ते जाते हैं। उदाहरण के लिए 'कृति' में जहाँ ८० अक्षर होते हैं, वहीं प्रकृति में ८४ अक्षर माने गये हैं। उत्कृति में १०४ अक्षर होते हैं।

लौकिक छन्दों की उत्पत्ति विभिन्न वैदिक छन्दों से ही मानी जाती है। ऋक् प्रातिशाख्यादि ग्रन्थों में इनके अन्य बहुत-से भेद-प्रभेद दिये गये हैं।[४६]

वेदाङ्ग ज्योतिष

शुभ मुहूर्त्त में यज्ञ-सम्पादन के लिए इस वेदाङ्ग की आवश्यकता है। वैदिक यागों में तिथि, नक्षत्र, पक्ष, मास, ऋतु तथा सम्वत्सर का अत्यन्त सूक्ष्म विधान है। 'वेदाङ्ग-जयोतिष' नामक ग्रन्थ में कहा गया है :

४६. वैदिक छन्दों के परिज्ञान के लिए पं॰ युधिष्ठिर मीमांसक कृत 'वैदिक छन्दोमीमांसा' संज्ञक ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानिपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेदसवेद यज्ञम्।।

भास्कराचार्य ने भी इसकी पुष्टि की है। 'वेदाङ्ग ज्योतिष' नामक ज्योतिष का एक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध है जिसका सम्बन्ध यजुर्वेद (याजुष ज्योतिषभाग) तथा ऋग्वेद (आर्च ज्योतिष भाग) से है। 'याजुषज्योतिष' में ४३ श्लोक हैं और आर्च ज्योतिष में ३६। इस ग्रन्थ की रचना का श्रेय लगध को दिया जाता है जैसाकि आर्च ज्योतिष के द्वितीय श्लोक में कहा गया है :

कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः।

इसमें २७ नक्षत्रों को ही गणना का आधार माना गया है जबकि ज्योतिष के अन्य ग्रन्थों में १२ राशियों से गणना बतलाई गई है। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने 'वेदाङ्ग ज्योतिष' का रचना-काल १४०० ई॰ पू॰ माना है। 'अथर्व परिशिष्ट' के रूप में मान्य 'नक्षत्र कल्प' इत्यादि ग्रन्थों में नक्षत्रों की आनुष्ठानिक दृष्टि से विशद मीमांसा की गई है।

प्रातिशाख्य

यद्यपि वैदिक साहित्य के अन्य इतिहासों में वेदाङ्ग शिक्षा के साथ ही प्रातिशाख्यों का परिचय देने की परम्परा है किन्तु यहाँ उसके उल्लङ्घन का कारण यह है कि प्रातिशाख्य-साहित्य केवल शिक्षा का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता प्रत्युत उसमें शिक्षा, व्याकरण एवं छन्द तीनों वेदाङ्गों से सम्बद्ध सामग्री है।

वेदों की प्रत्येक शाखा से सम्बद्ध होने के कारण इन्हें 'प्रातिशाख्य' कहा जाता है। उच्चारण स्वर और सन्धि आदि के विषय में, प्रत्येक शाखा की अपनी स्वतंत्र परम्परायें, मान्यतायें एवं नियम रहे हैं जिनका प्रातिशाख्यों में निरूपण है।

मुख्य प्रातिशाख्य ये हैं–ऋग्वेद की शाकल शाखा का ऋक् प्रातिशाख्य (शौनक-रचित), शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा का शुक्लयजुःप्रातिशाख्य (कात्यायन प्रणीत), कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का तैत्तिरीय प्रातिशाख्य। सामवेद के साम प्रातिशाख्य, पुष्पसूत्र और पञ्चविध सूत्र ये तीन प्रातिशाख्य हैं। अथर्ववेद का अथर्वप्रातिशाख्य (अपर नाम 'चातुरध्यायिका') है।

ऋक् प्रातिशाख्य–यह 'पार्षद् सूत्र' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें १८ पटल हैं। प्रथम पटल में स्वर, व्यञ्जन, स्वरभक्ति आदि पारिभाषिक शब्दों के लक्षण हैं। द्वितीय से नवम पटल तक सन्धि-विवेचन, १०-११ पटलों में क्रमपाठ, १३वें पटल में व्यञ्जनों के रूप, १४वें में उच्चारण-दोष, १५वें में वेद-पाठ की पद्धति और १६-१८ पटलों में छन्दोविषयक विवरण है। इस पर विष्णुमित्र की वर्गद्वयवृत्ति और उव्वट का भाष्य है।[४७]

वाजसनेयि प्रातिशाख्य–इसमें ८ अध्याय हैं। प्रथमाध्याय में पारिभाषिक शब्दों के लक्षण,

४७. डॉ॰ वीरेन्द्रकुमार वर्मा ने 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' एक परिशीलन' के नाम से इसकी विशद विवेचना की है।

द्वितीय में स्वर-मीमांसा, ३-७ तक सन्धि-विचार, पदपाठ, स्वर-विधान आदि है। अन्तिम अध्याय में वर्णों की संख्या और स्वरूप पर विचार किया गया है। इस पर उव्वट और अनन्तभट्ट की व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य–इसमें २४ अध्याय हैं। वर्ण समाम्नाय, शब्द का स्थान तथा उत्पत्ति-प्रक्रिया, विभिन्न सन्धियों, अनुस्वार, अनुनासिक, स्वर तथा संहिता स्वरूप पर इसमें गम्भीर विवेचन प्राप्त होता है।

सामवेदीय पुष्पसूत्र–इसके प्रणेता ऋषि पुष्प हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ १० प्रपाठकों में विभक्त हैं। इसका गान-संहिता से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ऋक्तन्त्र–इसका सम्बन्ध सामवेद की कौथुम शाखा से है। इसे 'ऋक्तन्त्र व्याकरण' भी कहा गया है। इसमें ५ अध्याय और २८० सूत्र हैं। इसकी रचना का श्रेय स्फोटायन को है। यह पाणिनि से पूर्ववर्ती माने जाते हैं।

अथर्व प्रातिशाख्य–इसमें चार अध्याय हैं तथा इसके रचयिता शौनक हैं।

अनुक्रमणियाँ

समय की आवश्यकता के अनुरूप वेद-रक्षा के निमित्त वैदिक ऋषियों, देवताओं और छन्दों की सूचियाँ रची गईं। केवल इतना ही नही, मंत्रों, मंत्रागत पदों और वर्णों की भी गणना अनुक्रमणीकारों ने की। सर्वाधिक अनुक्रमणियों की रचना शौनक और कात्यायन ने की। इनके कारण न तो वेदों में प्रक्षेपांश सम्मिलित किया जा सका और ना ही उनके मूलस्वरूप पर कोई आँच आई।

शौनक ने अपनी आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, देवतानुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी और सूक्तानुक्रमणी में ऋग्वेदीय ऋषियों, छन्दों, देवताओं, अनुवाकों और सूक्तों का क्रमयुक्त विवरण संजोया है। ऋग्विधान और बृहद्देवता भी शौनक-कृत हैं। 'ऋग्विधान' में ऋङ्मंत्रों का विनियोग-विधान है। 'बृहद्देवता' में देवविषयक सामग्री है। इसमें आठ अध्याय हैं। इसमें सूक्त और मंत्र प्रकार, देवता, आख्यान और व्याकरणविषयक विवरण भी पुष्कल है। शौनक के सभी ग्रन्थ (प्रातिशाख्य को छोड़कर) अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध हैं।

कात्यायन-कृत सर्वानुक्रमणी–इसमें ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के प्रथम पद, उसमें ऋचाओं की संख्या; सूक्त के ऋषि का नाम गोत्र, मन्त्रों के देवता और छन्दों का विस्तृत विवरण है। इसकी रचना सूत्र-शैली में हुई है।

माधव की ऋग्वेदानुक्रमणी–इसमें स्वर, आख्यात निपात, शब्द, ऋषि, छन्द, देवता तथा मन्त्रार्थ से सम्बद्ध आठ अनुक्रमणियों का संकलन है।

शुक्लयजुःसर्वानु सूत्र–यह भी कात्यायन प्रणीत माना जाता है। इसमें शुक्ल यजुर्वेद की मध्यान्दिन संहिता के देवता, ऋषि तथा छन्दों का विवरण है।

सामवेद की अनुक्रमणी–स्थानीय ग्रन्थों में से कुछ ये हैं–कल्पानुपदसूत्र, उपग्रन्थसूत्र, अनुपद सूत्र, निदान सूत्र, उपनिदान सूत्र, पञ्चविधान सूत्र लघु ऋक्तन्त्र संग्रह तथा साम सप्तलक्षण आदि।

अथर्ववेदीय अनुक्रमणियों में पञ्चपटलिका, दन्त्योष्ठविधि, बृहत्सर्वानुक्रमणी, नक्षत्रकल्प, आङ्गिरस कल्प, शान्तिकल्प और अन्य अथर्वपरिशिष्ट आदि प्रसिद्ध हैं। इनकी संख्या ७२ मानी जाती है।

इसी सन्दर्भ में शौनक के 'चरणव्यूह' और द्याद्विवेद की 'नीतिमंजरी' का उल्लेख भी आवश्यक है। ये यद्यपि अर्वाचीन ग्रन्थ हैं फिर भी वेदानुशीलन में इनका अपना महत्त्व है। चरणव्यूह के ५ खण्डों में चारों वेदों की शाखाओं का विवरण है।

'नीतिमंजरी' में ऋग्वेदीय आख्यानों का संग्रह है। साथ ही उस आख्यान से प्राप्त होने वाली शिक्षा और उपेदश का उल्लेख भी किया गया है।

खण्ड – ३

अष्टम अध्याय –वैदिक युग के भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जावन की रूपरेखा।

नवम अध्याय –वैदिक देवताओं का स्वरूप तथा भक्ति-भावना।

दशम अध्याय –वैदिक यज्ञों का स्वरूप।

एकादश अध्याय –वैदिक भाषा, स्वरप्रक्रिया और पदपाठ

अष्टम अध्याय

वैदिक युग के भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन की रूपरेखा

आर्यों के मूल निवास-स्थान के विषय में अब विद्वानों में प्राय: इस बात पर साहमत्य दिखलाई देता है कि वैदिक आर्य सप्तसैन्धव प्रदेश के ही मूल निवासी थे। यहीं से, कालान्तर में वे यूरोप और एशिया के विभिन्न स्थानों पर अपनी यायावरी प्रवृत्ति के कारण गये।

सप्तसैन्धव प्रदेश की भौगोलिक स्थिति

ऋग्वेद में हिमालय का नाम्ना उल्लेख है। उसकी मूजवन्त नाम की चोटी पर ही कदाचित् सोमलता मिलती थी। अन्य पर्वत भी उस समय थे। वैदिक वाङ्मय में प्राय: ३१ नदियों का उल्लेख है, जिनमें से २५ के नाम ऋग्वेद में ही दिये गये हैं।[१] सिन्धु तथा सरस्वती नदियों का उल्लेख पौन:पुन्येन है। सरस्वती को अम्बितमे, नदीतमे, देवितमे कहा गया है।[२] सरस्वती की सहायक नदी थी दृषद्वती। वृषभ के सदृश गर्जना करती हुई प्रवाहित होने वाली, अपार जलराशि से युक्त सिन्धु नदी के प्रति वैदिक ऋषियों के हृदय में प्रचुर आकर्षण दिखलाई देता है। यही स्थिति सरस्वती की भी है। इन दोनों के साथ पंजाब की पाँच नदियों को यदि मिला दिया जाये, तो सप्तसैन्धव प्रदेश की नदियों का बिम्ब उभर आता है। ये हैं–शुतुद्रि (सतलज), विपाश (व्यास), परुष्णी (रावी), असिक्नी (चिनाब), तथा वितस्ता (झेलम)। सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदियों में 'रसा', 'कुभा' (काबुल), क्रुमु' (कुर्रम), 'गोमती' (गोमल), 'सुसर्तु' व 'श्वेत्या; (कुभा के उत्तर में), 'मेहत्नु' (कुभा के दक्षिण में), 'सुवास्तु' (स्वात) तथा हरियूपीया के नाम उल्लेखनीय हैं।[३]

१. इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया।
ऋ०सं० १०.७५.५।

२. अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नष्कृधि वही, २.४१.१६।

३. तृष्टामया प्रथमं सजू: सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या। त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे।।
ऋ०सं० १०.७५.६।

गंगा और यमुना के नामों का भी उल्लेख है, लेकिन ये ऋग्वैदिक काल में, वर्तमान विशिष्टता नहीं प्राप्त कर सकी थी। वेदकालीन अधिकांश नदियों की पहचान सम्प्रति हो गई है। प्रो॰ वाकणकर सदृश मनीषियों ने पुरातात्त्विक-प्रक्रिया से सरस्वती और उसकी सहायक दृषद्वती प्रभृति नदियों के प्रवाह मार्ग का अनुसन्धान करने में भी सफलता पा ली है।

पर्वतों और नदियों के उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह माना जा सकता है कि ऋग्वैदिक आर्य आधुनिक अफगानिस्तान, पंजाब, जम्मू-कश्मीर, उत्तर प्रदेश, राजस्थान व सिन्ध प्रदेश में प्रमुख रूप से निवास करते थे। तत्कालीन आर्यों को समुद्र का भी ज्ञान था, क्योंकि भुज्यु नामक समुद्री नाविक की नौका के समुद्र में टूटने का उल्लेख ऋग्वेद में है।

उत्तर वैदिक साहित्य में, विशेष रूप से यजुर्वेद में वैदिक संस्कृति का केन्द्र पूर्व की ओर अग्रसर होते हुए दिखलाई देता है। उसमें उत्तर भारत के अन्तर्गत कुरुपाञ्चाल जनपदों का विशेष उल्लेख है। यह प्रदेश सतलज एवं यमुना का मध्यवर्ती था। पाञ्चाल प्रदेश गंगा और यमुना की अन्तर्वेदी में स्थित था। वैदिक धर्म, संस्कृति और दर्शन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की मीमांसा कुरु-पाञ्चाल जनपदों के ब्रह्मवादियों के ही मध्य हुई। जीवन और जगत् की जटिलताओं का विचारपूर्ण विश्लेषण प्राय: इसी शस्यश्यामला भूमि पर हुआ। अथर्ववेद में एक स्थान पर (अथर्व -वेद ५.२) गांधार, मूजवत, महावृष, बाह्लीक, मगध और अंग प्रदेशों का उल्लेख है।

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि सिन्धु नदी से लेकर वर्तमान बिहार तक आर्यों का निवास-स्थान रहा है। 'स्वश्वा', 'सुवासा', 'वाजिनीवती' और ऊणर्वती प्रभृति विशेषणों से, जिनका प्रयोग सिन्ध क्षेत्र के लिए हुआ है, प्रतीत होता है कि वहाँ के घोड़ों, वस्त्रों और रथों के प्रति आर्यों के हृदय में विशिष्ट आकर्षण विद्यमान था।

आर्यगण जिस विशाल भूखण्ड में रहते थे, उसके उभय तटों पर समुद्र लहराते थे। इनमें से एक पूर्व समुद्र था और दूसरा अपर, जैसाकि एक मन्त्र में कहा गया है :

वातस्याश्वो वायोः सरवाथोदेवेषितो मुनिः।
उभा समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः।। (ऋ॰ सं॰ १०.१३६.५)

डॉ॰ अविनाशचन्द्र दास एवं डॉ॰ सम्पूर्णानन्द प्रभृति विद्वानों ने यह अभिमत प्रकट किया है कि वैदिक युग में पूर्व समुद्र वहाँ था, जहाँ आज उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बंगाल प्रदेश हैं। इसी समुद्र ने गंगा के मैदानों, पाञ्चाल, कोसल, मगध, विदेह, अंग तथा वंग को परिवेष्टित कर रखा था। अपर समुद्र की गति वर्तमान अरब सागर के सदृश ही थी। राजस्थान की अधिकांश मरुभूमि उस समय समुद्र के गर्भ में थी। इसी समुद्र से हिमालय का कुछ भाग भी आविर्भूत हुआ है। इस प्रकार ऋग्वेद में चार समुद्रों का उल्लेख है :

स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्–(ऋ॰ सं॰ १०.४७.२)

यह चौथा समुद्र ही उत्तर में स्थित था। इसी के अवशेषों के रूप में कैस्पियन सी, अराल सागर तथा बाल्कल ह्रद को माना जाता है। यह समुद्र किसी प्राकृतिक परिवर्तन के कारण सूख

गया। वैदिक युग में इसी समुद्र के माध्यम से वैदेशिक व्यापार प्रचलित था।[४] इसी समुद्र के कारण सप्तसिन्धु प्रदेश से दक्षिण भारत विच्छिन्न था। ब्राह्मणग्रन्थों के युग में वैदिक संस्कृति का विस्तार प्रायः समग्र वर्तमान भारत में हो गया।

वेदकालीन भारतीयों का सामाजिक जीवन

वैदिक वाङ्मय में तत्कालीन भारतीय समाज का जो चित्र अंकित है, उसके विश्लेषण से ज्ञात होता है कि वह अत्यन्त सुख-सौमनस्यपूर्ण, समता और समरसतामूलक तथा स्वस्थ विकास की आधारभित्ति पर प्रतिष्ठित था। समाज का वर्गीकरण विभिन्न व्यवसायों के आर्थिक आधार पर किया गया था। परिवार संयुक्त होते हुए भी सबके विकास की भावना से अनुस्यूत थे। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों में कटुता और खींच-तान की प्रवृत्ति न होकर पारस्परिक दायित्व की ग्रहणशीलता और सहयोग की दृष्टि निहित थी। स्त्रियों का स्थान अत्यन्त सम्मानपूर्ण था। बालकों और किशोरों के प्रति वात्सल्य एवं सद्भाव विद्यमान था। समाज के सभी वर्गों में परस्पर प्रेम की भावना थी। इसे विस्तार से यों स्पष्ट किया जा सकता है :

सामाजिक वर्गीकरण

ऋग्वैदिक समाज, श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के अनुरूप, चार भागों में विभक्त दिखलाई देता है। सुप्रसिद्ध पुरुष सूक्त में समाज की परिकल्पना पुरुष के रूप में करके विभिन्न वर्णों की योजना उसके विविध अवयवों के रूप में की गई है। यह मन्त्र है :

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीदबाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत।।[५]

इसी का अनुकरण करके आधुनिक समाजशास्त्रियों ने भी समाज को एक जीवित शरीर माना है।[६] समाजरूपी शरीर के चार अंगों में मुख से ब्राह्मण, भुजाओं में क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्रों को सम्बद्ध किया गया है। वैदिक युग में यह व्यवस्था जन्मना न होकर कर्मणा थी। उपर्युक्त रूपक में यह व्यंजना अत्यन्त स्पष्ट है कि जैसे शरीर के सभी अंग एक-दूसरे से

४. The four seas mentioned in the Rigveda which were navigated by Aryan merchants in quest of wealth, have probab by been regarded as more mythical than real. But geological evidence goes to show that there were actually three seas on the three sides of Sapta-Sindhu viz, the eastern the western and the southern and it now only remains for as to identify the fourth sea. It must have been situated somewhere on the north, beyond the Himalaya, on the confines of the land inhabited by the Aryans. Rigvedic India, A.C. Dass, Page 12, 1920 edition, Calcutta.

५. ऋग्वेद संहिता १०.९०.१२।

६. हर्बर्ट स्पेन्सर इत्यादि।

भलीभाँति सम्बद्ध हैं, शरीर के एक अंग के पीड़ित होने पर उस वेदना की अनुभूति समस्त शरीर में होती है, उसी प्रकार एक वर्ण के कष्ट की अनुभूति दूसरे वर्ण को होना भी स्वाभाविक था। वेदों का अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन ब्राह्मणों के प्रमुख कार्य यद्यपि उस युग में थे, किन्तु ऋषि प्रभृति कार्यों से भी वे उस समय विरत न थे। राज्य-संचालन और यहाँ तक कि युद्धों भाग लेना भी उनके लिए अस्वाभाविक न था। क्षत्रिय वर्ण का कार्य सुशासन-स्थापना तो था ही, अन्य कार्य भी वे करते थे। यही स्थिति वैश्यों की भी थी। पशु-पालन कृषि और वाणिज्य इस वर्ण के मुख्य कार्य थे। शूद्रों का कार्य समाज की सेवा-सुश्रूषा करना कहा गया है। लेकिन उनके प्रति उस युग में घृणा, उपेक्षा या तिरस्कार की भावना नहीं दिखलाई देती है। सम्भवत: यह समाज का वह वर्ग था, जिसे आज की भाषा में 'अकुशल कर्मकार' (unskilled labour) कहा जा सकता है। अथर्ववेद के एक मन्त्र से ज्ञात होता है कि इन्हें समाज में पूर्ण समकक्षता प्राप्त थी।[७] यजुर्वेद में उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार प्रदान किया गया है।[८] धर्मसूत्रों से ज्ञात होता है कि अनेक यज्ञों के अनुष्ठान का अधिकार भी उन्हें प्राप्त था। ऐतरेय ब्राह्मण के रचयिता ऐतरेय महिदास तथा कवष ऐलूष को शूद्र अथवा दासी पुत्र होने पर भी समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। विभिन्न ऋषि कवष ऐलूष के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए दिखलाई देते हैं। कवष ऐलूष के द्वारा साक्षात्कृत वेद-मन्त्रों की भूयसी संख्या हैं।[९] दीर्घतमस् ऋषि का पुत्र काक्षीवत् अथवा काक्षीवान्[१०] भी दासी से उत्पन्न कहा गया है। वह भी बहुसंख्यक ऋङ्मन्त्रों का द्रष्टा है।[११] कक्षीवान् की पुत्री घोषा काक्षीवती भी मन्त्रदृष्टी थी[१२] उसका पुत्र (कक्षीवान का दौहित्र) सुहस्त्य घौषेय भी तीन ऋङ्मन्त्रों का द्रष्टा है[१३] इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि वैदिक युग में शूद्रों तथा दासी पुत्रों को भी आत्मविकास के सभी अवसर समानरूप से सुलभ थे। समाज में उनके प्रति समानता की भावना विद्यमान थी। शतपथ ब्राह्मण में शूद्रों को 'स्व:' (स्वर्ग) से उत्पन्न बतलाया गया है।[१४] वैदिक साहित्य में, राज्याभिषेक के प्रसंग में, जिन नौ रत्नियों का वर्णन है उनमें शूद्र भी सम्मिलित हैं।[१५] वैदिक युग में, एक ही परिवार में, विभिन्न वर्णगत व्यवसायों से सम्बद्ध लोग प्रगाढ़ प्रेम और सौमनस्यपूर्वक निवास करते हुए दिखते हैं।

७. प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।। –अथर्व १९.६२.१

८. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य:।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च . . . . .।
यजुर्वेद संहिता २६.२।

९. ऋ०सं० १०.३०.१-१५; १०.३१.१-११; १०.३२.१ ९; १०.३३.१-९; १०.३४.१-१४।

१०. वही १.१८.१; १.५१.१३; १.११२.११; ४.२६.१; ८.९.१०; ९.७४.८; १०.२५.१०।

११. ऋ०सं० १.११६. १-२५; १०.११७.१-२५ इत्यादि।

१२. वही १०.३९.१-१४; १०.४०.१-१४ इत्यादि।

१३. वही १०.४१.१-३।

१४. शतपथ ब्राह्मण ५.४.६.९।

१५. तैत्तिरीय संहिता १.८.९.१-२; शतपथ ब्राह्मण ५.३.१।

कौटुम्बिक जीवन

वैदिक युग में भारतीय परिवारों में सुख और सौमनस्य का वातावरण दिखलाई देता है। माता-पिता के प्रेमपूर्ण अनुशासन में बालकों और बालिकाओं के स्वाभाविक विकास के अवसर इस परिवेश में सुलभ थे। गृहिणी का परिवार में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान था, जैसाकि 'जायेदस्तम्' (स्त्री ही घर है, ऋ० सं० १.२४.१२-१५) प्रभृति उक्तियों से विदित होता है। गृह की सुव्यवस्था, बच्चों के लालन-पालन के साथ ही अग्निहोत्र में भाग लेती हुई वह पति के धर्मानुष्ठान में भी साहचर्य निभाती थी। इन्द्र-सम्बन्धी एक मन्त्र में कहा गया है कि कल्याणमयी पत्नी के कारण घर स्वर्ग के सदृश आनन्दमय हो जाता है–'कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते' (ऋ० सं० ३.५३.६)। सुन्दर वेशभूषा से विभूषित होकर आनन्दमयी स्मिति बिखेरती हुई वह पति की प्रियतमा तो थी ही, उसके दायित्वों में भी हाथ बँटाती थी, जैसाकि विभिन्न मन्त्रांशों से सुव्यक्त हैं।[१६] माता के रूप में स्त्री का आन्तरिक सौन्दर्य उद्भासित दिखलाई देता है। क्रीड़ानिरत शिशु समुदाय गृह के सर्वाधिक आकर्षण कहे गये हैं।[१७] वैदिक वाङ्मय में वात्सल्यभाव की अभिव्यंजना के व्यापक अनेक मार्मिक स्थल हैं। ऋग्वेद में अंकित गृहिणी स्वयं प्रातःकाल उठकर, सबको निद्रा से जगाती हुई, नित्य कृत्यों से निवृत्त होकर अपने पति के साथ गार्हपत्याग्नि में आहुतियाँ डालती हुई दिखलाई देती है। गोदोहन, भोजन-व्यवस्था तथा भृत्यों और अतिथियों के सत्कार के सन्दर्भ में भी वैदिक गृहिणी का जीवन स्पृहणीय है। वैवाहिक मन्त्रों से गृहिणी के गौरव, दायित्वों और अधिकारों का स्पष्ट स्वरूप उभरता है। वह अपने पति-गृह की वस्तुतः साम्राज्ञी थी।

परिवार में सभी एक-दूसरे से मधुर व्यवहार करते थे। भाइ-बहन परस्पर मीठे वचनों का ही प्रयोग करते थे, जैसाकि अथर्ववेद के निम्नलिखित सुप्रसिद्ध मन्त्र में उल्लिखित है :

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुतस्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।

वैदिक समाज में नारी की स्थिति

वैदिक ऋषियों ने स्त्री और पुरुष को, मानव-जीवन की गाड़ी के दो चक्र समझकर, स्त्री को पुरुष के समकक्ष ही स्थान दिया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पत्नी पुरुष की आत्मा का आधा भाग है :

अर्धो हवा एष आत्मनो यज्जाया (५.२.१.१०)।

पारिवारिक जीवन के प्रसंग में स्त्री के गृहिणी, जननी एवं सहचरी रूपों का आंशिक परिचय दिया गया। ऋग्वेद के सूर्या सूक्त (१०.८५) में स्त्री के गृहिणी-स्वरूप की सम्यक् रीति से समीक्षा की गई है। एक मन्त्र में, नवविवाहित वधू को अपने घर में प्रवेश करने और सब पर शासन करने के लिए आमन्त्रित किया गया है :

१६. ऋ०सं० १.१२२१२; जायेव पत्य उशती सुवासा वही ४.३.२; 'अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याग्यः स्मयमानासो अग्निम् वही ४.५८.९।

१७. ते हर्म्येष्ठा शिशवो न शुभ्रावत्सासो न प्रक्रीडिनः पयोधा ; वही ७.५६.१६।

गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथ मा वदासि

(ऋ० सं० १०.८५.२५)।

गृहस्थी के दायित्त्वों के प्रति गृहिणी को 'गार्हपत्याय जागृहि' (ऋ० सं० १०.२५.२७) कहकर जागरूक रखा गया है। उससे द्विपद प्राणियों के साथ ही चतुष्पदों (पशुओं) के प्रति भी कल्याणमयी होने की अपेक्षा की गई है (ऋ० सं० १०.८५.४३)। सास-ससुर, ननदों और देवरों सहित सम्पूर्ण परिवार के लिए वह 'साम्राज्ञी' के गौरवास्पद पद पर प्रतिष्ठित की गई है :

साम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।। (ऋ० सं० १०.८५.४६)

जननी के रूप में तो नारी को सर्वाधिक उठाया ही गया है वैदिक साहित्य में। 'वीरसू' (वीरपुत्र की जन्मदात्री) के रूप में वह सर्वोपरि स्थान की अधिष्ठात्री है। सहचरी के रूप में भी वह समान स्थान की भाजन रही है। प्रकृति प्रदत्त अपने सौन्दर्य तथा माधुर्य को अपने अर्जित गुणों से सहस्र गुणित कर वैदिक नारी पुरुष की समग्र श्रान्ति-क्लान्ति का अपनयन कर उसे आनन्द के अपार सिन्धु में आत्यायित कराने के लिए भी प्रयत्नशील दिखाई देती है। विवाह के प्रतीकात्मक कृत्यों–अश्मारोहण हृदयालंभन, सप्तपदी, समञ्जन, ध्रुवदर्शन प्रभृति–के माध्यम से उसमें जिन गुणों के आधान की चेष्टा वैदिक ऋषियों ने की है, उनके कारण वह पुरुष के कन्धे-से-कन्धा मिलाकर उसके जीवन-संग्राम में अविचलित भाव से भाग लेती है।

वैदिक युग में स्त्रियाँ पुरुषों के सदृश ही ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्योपार्जन करती थीं। शिक्षित होने पर भी उनका विवाह होता था, जैसाकि अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है–'ब्रह्मचर्येण कन्या विन्दते युवानम् पतिम्' (११.५.१८)। इसीलिए उस युग में अपने वैदुष्य के कारण कितनी ही स्त्रियो को विशिष्ट सम्मान प्राप्त हुआ–इनमें से अनेक को मन्त्रसाक्षात्कार करने में भी प्रतिष्ठा मिली। वैदिक वाङ्मय के विशाल प्रासाद के निर्माण में ऋषिकाओं का योगदान कम नहीं है। उस युग की जिन स्त्रियों ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा अर्जित की थी, उनमें घोषा काक्षीवती, लोपामुद्रा, ममता, अपाला, सूर्या, इन्द्राणी, शची, सार्पराज्ञी, विश्ववारा के नाम उल्लेखनीय हैं। विश्ववारा ने न केवल अग्नि स्तुतिपरक मन्त्रों का साक्षात्कार ही किया था, अपितु यज्ञों में आर्त्विज्य का निर्वाह भी किया था। अपाला ने इन्द्र की संस्तुति में मन्त्रों का साक्षात्कार किया था। अनेक स्त्रियों के युद्ध में भाग लेने का भी विवरण प्राप्त होता है। विश्पला का पैर अपने पति राजा खेल के साथ युद्ध में भाग लेते समय ही कटा था। अश्विनी कुमारों ने बाद में उनको लोहे का पैर लगा दिया था। मुद्गल की पत्नी मुद्गलानी (नामान्तर–इन्द्रसेना) ने अपने पति के धनुष-बाण लेकर दस्युओं का पीछा किया था। वे दस्यु गायें चुराकर भाग रहे थे। मृद्गलानी के द्वारा पराजित दस्युओं ने गायें वापस लौटा दी थीं। ऋग्वेद के एक मन्त्र से विदित होता है कि कभी-कभी स्त्रियाँ सेना में भी भरती होती थीं। मन्त्रांश इस प्रकार है :

स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेनाः

(ऋ० सं० ५.३०.९)

वैवाहिक मान्यताएँ

वैदिक युग में बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी। विवाह वर और कन्या के द्वारा पूर्ण यौवन प्राप्त कर लेने पर ही होता था। ऋग्वेद में सूर्या और सोम के विवाह-वर्णन (१०.८५) से सम्बद्ध मन्त्रों से यह तथ्य सुप्रमाणित है। सगोत्रीय विवाह निषिद्ध थे। कन्या को पति-चयन की स्वतन्त्रता थी। विभिन्न वर्णों के मध्य परस्पर विवाह हो जाते थे। ऋग्वेद सहित वैदिक साहित्य में अनेक प्रणय-प्रसंगों का भी उल्लेख है, जिनसे ज्ञात होता है कि युवकों में स्त्रियों के हृदय पर अधिकार करने के लिए कभी-कभी प्रतिस्पर्धा की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती थी। राजा रथवीति की राजकुमारी के प्रति ऋषिश्यावाश्व के हृदय में प्रणयभावना की उत्पत्ति और बाद में उसके साथ उनके विवाह का प्रसंग ऋग्वेद में चर्चित है (ऋ० सं० ९.६७.१०–१२)। राजा पुरुमित्र की कन्या शुन्ध्यु या कमद्यु के विमद ऋषि से विवाह का प्रकरण भी उल्लेख्य है : 'युवं रथेन विमदाय शुन्ध्युध्वं न्यूहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम्'–(१०.३९.७)। कमद्यु ने विमद को स्वयंवर-सभा में पति चुना था–इस कारण कमद्यु से विवाह कर मार्ग में लौटते समय अन्य राजाओं ने विमद पर आक्रमण भी किया था–उस युद्ध में विमद को अश्विनी कुमारों की सहयता से विजय प्राप्त हुई। अङ्गिरस ऋषि की कन्या शश्वती ने राजा असङ्ग से विवाह किया था (ऋ० सं० ८.१.३२–३४)। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि विभिन्न वर्णों में विवाह उस युग में प्रचलित थे। वैदिक काल में, सामान्यतया एक पत्नी-विवाह ही आदर्श समझा जाता था–किन्तु बहुपत्नी विवाह के उदाहरण भी अपवादस्वरूप प्राप्त हो जाते हैं। ऋग्वेद के साथ ही अथर्ववेद में भी सपत्नी के प्रभाव को कम करने के लिए अनेक आभिचारिक प्रयोगों का उल्लेख है (ऋ० स० १०.१४५.१–६; अथर्ववेद ३.१८.१–६)।

विधवा विवाह

वेदकालीन समाज में विधवा स्त्रियों को पुनर्विवाह की अनुमति प्राप्त थी। ऋग्वेद में एक स्थल पर एक विधवा स्त्री से कहा गया है कि हे नारी! इस मृत पति को छोड़कर पुनः जीवितों के समूह में पदार्पण करो! तुमसे विवाह के लिए इच्छुक जो तुम्हारा दूसरा भावी पति है, उसे स्वीकार करो :

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ।।(ऋ० १०.१८.८)

एक अन्य स्थल पर अश्विनी कुमारों को सम्बोधित करके कहा गया है–'विधवा जिस प्रकार देवर के साथ रहती है, पुरुष स्त्री के साथ रहता है, इस प्रकार तुम दोनों किसके साथ रहे ?' (ऋ० सं० १०.४०.२)। यास्क ने अपने निरुक्त में 'देवर' शब्द का निर्वचन 'द्वितीय वर' के रूप में ही किया है। अथर्ववेद में भी एक स्थान पर विधवा विवाह का उल्लेख है। कहा गया है कि जब स्त्री एक पति के पश्चात् दूसरे पति को प्राप्त होती है और वे दोनों पञ्चौदन अग्नि में डालते हैं, तो उनका वियोग नहीं होता। यदि दूसरा पति अग्नि में अज पञ्चौदन डालता है, तो वह अपनी पुनर्विवाहिता पत्नी के साथ समान लोक में रहता है–'या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दते परम्। पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः। समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः।

योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति'–(अथर्वसंहिता ९.५.२७.२८) इन उल्लेखों से विधवा-विवाह की स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

शिक्षा पद्धति

वैदिक शिक्षा-पद्धति का प्रमुख उद्देश्य मानव की प्राकृतिक शक्तियों को सुविकसित कर उसे जीवन की समस्याओं को सुलझाने में समर्थ बनाना था। ऋग्वेद में ब्रह्मचारी का उल्लेख है[८]–किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम की स्पष्ट अवधारणा की जानकारी अथर्ववेद से होती है। 'ब्रह्म' शब्द वेद, तप और सत्य का वाचक है। तपस्या के अनुष्ठानपूर्वक वेद और सत्य का ज्ञान प्राप्त करना ही विद्यार्थी की चर्या थी, जिससे वह मृत्यु तक पर विजय प्राप्त कर सके। उपनयन संस्कार के माध्यम से गुरु की सन्निधि में पहुँचा छात्र आश्रम में भिक्षा एवं समिधाहरण तथा अग्नि-परिचरण करते हुए श्रम और स्वावलम्बी जीवन की प्रेरणा तो पाता ही था, नगरीय जीवन के आकर्षणों से भी बचा रहता था। उत्तेजक खाद्य-पदार्थ, वेश-भूषा और श्रृंगार-प्रसाधन उसके लिए वर्जित थे। अथर्ववेद के सम्पूर्ण ११वें काण्ड में ब्रह्मचारी के आदर्शों का विशद निरूपण है।

तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली स्मृति, धारणा और बोध तीनों पर आश्रित थी। ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त में केवल तोतारटन्त पद्धति को अपनाने वाले शिष्यों का साम्य वर्षा ऋतु में टर्र-टर्र करने वाले मण्डूकों के साथ प्रदर्शित है। उपनिषदों में संवाद-शैली के साथ ही प्रायोगिक विधियाँ भी शिक्षा-प्रक्रिया में व्यवहृत दिखलाई देती हैं। ब्रह्म सर्वत्र किस प्रकार परिव्याप्त है, इसे समझाने के लिए गुरु ने शिष्य से एक जलपूर्ण पात्र में लवण डालने और थोड़ी देर रखने के लिए कहा। जल में जब लवण पूरी तरह घुल गया, तो गुरु ने जिज्ञासु शिष्य से कहा–'सोम्य ! जैसे इस जल-पात्र में सर्वत्र नमक परिव्याप्त है, यद्यपि वह पृथक् से दिखाई नहीं दे रहा है–इसी प्रकार हमारे जीवन में पृथक् से न दिखाई देने पर भी ब्रह्म सर्वत्र परिव्याप्त है। विद्यार्थी तब तक कुछ नहीं सीख सकता, जब तक उसमें प्रबल जिज्ञासा न हो, लौकिक और वैषयिक प्रलोभनों से बचने का आत्म-बल न हो–इस प्रकार की दुर्दम्य जिज्ञासा से ओतप्रोत उदाहरण है नचिकेता, जो यम-सदृश गुरु के पास मृत्यु का रहस्य सीखने के लिए गया है। यमराज के द्वारा विविध प्रलोभनों से डिगाये जाने पर भी वह सर्वथा अविचलित रहता है और उसकी 'नचिकित्सा वृत्ति' जिज्ञासा-वृत्ति का अनुपम उदाहरण है। ऊसर में जैसे बीजवपन करने से कोई लाभ नहीं, उसी प्रकार जिज्ञासारहित शिष्य को विद्या-दान करने से भी कोई लाभ नहीं–इसीलिए वैदिक युग में आचार्यों की धारणा थी कि विद्या के साथ ही मर जाना श्रेष्ठ है, किन्तु अनुर्वर भूमि में ज्ञान बीज का वपन करना अच्छा नहीं है :

विद्यया सार्धं म्रियेत। न पुनरुषरे वपेत्।

वेदकालीन शिक्षा-प्रणाली में पाठ्य-विषय क्या थे, इसका स्वल्प विवरण छान्दोग्योपनिषद्

८. ऋ०सं० १०.१०८.५।

से प्राप्त होता है। नारद-सनत्कुमार-संवाद में जिन विद्याओं का उल्लेख हुआ है,[१९] वे ये हैं–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, वेदों के अर्थविधायक (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष एवं छन्द) ग्रन्थ, पितृविद्या (मानवशास्त्र–Anthropology), राशिविद्या (गणितशास्त्र), दैवविद्या (भूकम्पादि दैवी उत्पातों के ज्ञान का शास्त्र–Physical Geography), निधिविद्या (खनिजशास्त्र–Minerology), वाकोवाक्य (आधुनिक तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), ब्रह्मविद्या (Spiritual Science), भूतविद्या (प्राणीशास्त्र–Zoology, Anatomy प्रभृति), क्षत्रविद्या (Military Sceince, Political Science), नक्षत्रविद्या (Astronomy), सर्पदेवजनविद्या (विषविज्ञान Toxicology)।

इससे स्पष्ट है कि वैदिक युग में, पाठ्य-सामग्री कितनी वैविध्यपूर्ण और बहुआयामी थी। उस युग में गुरु और शिष्य के मध्य पारस्परिक श्रद्धापूर्ण सम्बन्धों की गम्भीरता भी उल्लेखनीय है। अध्यापित शिष्यों से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने गुरु से कदापि द्रोह न करें। गुरु-द्रोही शिष्यों का ज्ञान आवश्यकता के समय अनुपादेय बन जाता था :

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्नभुनक्ति श्रुतं तत्–(संहितोपनिषद् ब्रा०)।

संहितोपनिषद् ब्राह्मण में ही आदर्श शिष्य के ये लक्षण निरूपित हैं :

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।

–गुरु उसी शिष्य को अपना ज्ञान प्रदान करे जो पवित्र, अप्रमादी, मेधावी, ब्रह्मचारी और ज्ञान का संरक्षक हो। तैत्तिरीय उपनिषद् में दीक्षान्त अवसर पर प्रदेय जो उपदेश उल्लिखित है, वह उन अपेक्षाओं को स्पष्ट करने में समर्थ है, जो विद्या प्राप्ति के अनन्तर छात्र से गुरु करता था। उपदेश इस प्रकार है :

सत्य बोलो, धर्माचरण करो, स्वाध्याय में प्रमाद मत करो। गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर वंश-परम्परा को आगे बढ़ाओ। सत्य, धर्म, कुक्षल-क्षेम, समृद्धि,, देव-पितृकार्यों में कभी प्रमाद न करो। माता, पिता, आचार्य और अतिथि को देवता के समान समझो। गुरुजनों के भी निर्दोष आचरण का ही अनुकरण करो, अन्यों का नहीं। जो कल्याणकारी ब्राह्मण हैं, उनके निकट बैठकर उनमें विश्वास करो। दान श्रद्धा, अश्रद्धा, लज्जा, भय और अनुबन्ध-सभी प्रकार से देना चाहिए। अपने कर्म और आचरण के विषय में किसी प्रकार का सन्देह होने पर विचारशील, सन्तुलित, धर्मात्मा व्यक्तियों के व्यवहार से मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहिए। यही वेदों का रहस्य है। यही अनुशासन है। इसी की उपासना करनी चाहिए।[२०]

१९. 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेद ७ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थ मितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्य ७ राशि दैवं निधिं. वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां ७ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवो ऽध्येमि-छान्दोग्य उपनिषद् ७.१.२।

२०. तैत्तिरीय उपनिषद् ७.११।

विद्या-प्राप्ति के अनन्तर कर्मक्षेत्र में प्रवेश करते समय किसी युवक के लिए इससे अधिक प्रेरणादायक और मार्ग प्रदर्शक उपदेश और क्या हो सकता है?

यह कहा ही जा चुका है कि वैदिक युग में पुरुषों के सदृश स्त्रियाँ भी समान रूप से शिक्षा प्राप्त करती थीं। गार्गी वाचक्नवी और मैत्रेयी प्रभृति नारियों ने तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा के जिन अमिट हस्ताक्षरों को अंकित किया है, उससे कौन आज अपरिचित है?

उत्तरदायित्त्व

तैत्तिरीय संहिता के एक वचन से सिद्ध होता है कि ऋषि-ऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण की अवधारणा संहिता-काल में विद्यमान थी–तदनुसार ब्राह्मण उत्पन्न होते ही तीन प्रकार के ऋणों से युक्त हो जाता है। ब्रह्मचर्य-पालन से ऋषियों के प्रति, यज्ञानुष्ठान से देवताओं के प्रति व सन्तानोत्पादन के माध्यम से वह पितरों के प्रति आनृण्य सम्पादित करता है–'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः। प्रजया पितृभ्यः एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी'–(तैत्ति० सं० ६.३.१०५)।

कालान्तर से सूत्र-काल में, उन ऋणों पर विशेष बल दिया गया, ताकि व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र एवं निर्बन्ध न मानकर उत्तरदायित्त्व की भावना से संयुक्त हो।

दैनिक कर्त्तव्यों में पञ्चमहायज्ञों–ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देव-यज्ञ, भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ–का अनुष्ठान उसके लिए आवश्यक था। ब्रह्मयज्ञ का तात्पर्य है वेदों का स्वाध्याय। पितृयज्ञ के अन्तर्गत तर्पणादि कृत्य सम्मिलित हैं, देवयज्ञ का अभिप्राय सायं–प्रातः अग्नि का अनुष्ठान था। भूतयज्ञ के रूप में, घर में पके भोजन से कुछ अंश श्वानों, वायसों, कृमियों तथा पतित जनों के लिए निकाल देने की प्रथा थी। नृयज्ञ के माध्यम से अतिथि-सत्कार की व्यवस्था थी।

संस्कार

प्राकृत रूप में जन्मे व्यक्ति के जीवन को संस्कृत–परिष्कृत करने तथा समाजोपयोगी बनाने के लिए वेदकालीन समाज में संस्कार विधान प्रचलित था। गृह्यसूत्रों में इन संस्कारों का विशद निरूपण किया गया है। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के ये संस्कार मानव-जीवन के परिष्कारार्थ अत्यन्त उपादेय माने गये हैं।

आवास-व्यवस्था

वेदकालीन समाज ग्रामों और नगरों-दोनों में ही रहता था। बहुत दिनों तक पश्चिमी विद्वान् वैदिक सभ्यता को ग्राममूलक ही समझते रहे, किन्तु अब इस भ्रम का अपनयन हो गया है। कोई भी सभ्यता न केवल ग्रामों में पनपती है और न अकेले नगरों में। वैदिक युग में पुरों (दुर्गों) का अस्तित्त्व था। ये बहुत विशाल हुआ करते थे और अभेद्य भी। इनका निर्माण पत्थरों से किया जाता था। लौह दुर्गों का उल्लेख भी मिलता है (ऋ० सं० ४.३०.२०) ऋग्वेद के दो स्थलों पर सौ दीवारों (शतभुज) वाले दुर्गों का उल्लेख है (ऋ० सं० १.१६६.८)। इन्द्र ने दस्युराज शम्बर के शतावधि किलों को ध्वस्त किया था। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी दुर्गों का अनेकधा उल्लेख है।

'त्रिपुर' (तैत्तिरीय संहिता ६.२३) तथा 'महापुर' (तैत्ति० संहिता ६.२.३.१) शब्द उन नगरों के द्योतक हैं, जिनमें क्रमशः तीन अथवा अधिक रक्षा-पंक्तियों का निर्माण किया गया हो। 'एकादशद्वारं पुरं' तथा 'नवद्वारं पुरम्' शब्दों का उपनिषदों में यद्यपि शरीर के अर्थ में प्रयोग हुआ है, किन्तु इनसे इतना अवश्य व्यक्त हो जाता है कि उस युग में अनेक द्वारों वाले नगर हुआ करते थे। ब्राह्मणग्रन्थों में 'नगरिन' शब्द का प्रयोग व्यक्तिवाचक रूप में हुआ है; इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों के काल में नगर विद्यमान थे। ऋग्वेद में राजा वरुण के बृहदाकार प्रासादों का वर्णन है, जिनमें सहस्रद्वार तथा इतने ही स्तम्भ (सहस्रस्थूण) बतलाये गये हैं।[२१] इससे स्पष्ट है कि वेद-काल में राजाओं के विशालकाय प्रासाद हुआ करते थे। प्रासाद के ही अर्थ में 'हर्म्य' (ऋ० सं० ७.५६.१६) शब्द भी मिलता है। काम्पिल्य, आसन्दीवन्त तथा कौशाम्बी नगरियाँ वैदिककाल में ही राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित हो गई थीं।

वैदिक वाङ्मय में आवास के अर्थ में जो शब्द मिलते हैं, उनमें गृह, आयतन, पस्त्या, वास्तु, हर्म्य और दुरोण प्रमुख हैं। इनका मन्त्रों में जिस प्रकार का वर्णन है, उससे ज्ञात होता है कि वैदिक गृह सभी आवश्यक सुविधाओं से युक्त होते थे। आवासीय गृहों के साथ ही उस युग में भव्य सभा-भवनों का अस्तित्त्व भी था। गृह-निर्माण की सामग्री के रूप में बाँसों, मिट्टी, लकड़ी, पत्थरों तथा पकी ईंटों का प्रमुख रूप से प्रयोग होता था। वैदिक साहित्य में निर्माणाधीन गृह के अंगों का उल्लेख 'उपमित' (काष्ठ-स्तम्भ), 'प्रतिमित' और 'परिमित' (सीधी या आड़ी धरनें), अक्षु (छत पाटने की प्रक्रिया) पलद, तृण, नहन, प्राणाह, सन्दंश, परिष्वञ्जल्य प्रभृति शब्दावली के रूप में है। घर के विभिन्न कक्षों को अग्निशाला, हविर्धान (भाण्डारकक्ष) पत्नी-सदन (अन्तःपुर), सदस् (बैठक), आवसथ (अतिथि-कक्ष) प्रभृति कहा गया है–वास्तव में ये सभी शब्द यज्ञशाला के सन्दर्भ में व्यवहृत हैं, जिन्हें आवासीय गृहों के सन्दर्भ में विद्वानों ने स्वीकार किया है। गृहों के अधिष्ठाता देवता के रूप में वैदिक साहित्य में 'वास्तोष्पति' देव का उल्लेख है।

शय्या प्रभृति गृहोपकरण

वैदिक युग में, बैठने तथा लेटने के लिए बहुविध आसनों का वर्णन प्राप्त होता है। यज्ञानुष्ठान के समय 'प्रस्तर', 'बर्हि' तथा 'कूर्च' प्रभृति कुश अथवा तृणों के आसनों का व्यवहार होता था। अन्तःपुर में स्त्रियाँ तल्प, प्रोष्ठ तथा वह्य पर लेटकर विश्राम करती थीं। 'तल्प' एक विशिष्ट प्रकार का पलंग था। ऋग्वेद (७.५५.८) में 'प्रोष्ठशय्या' का उल्लेख है–यह काष्ठ-निर्मित (तख्त जैसी) शय्या प्रतीत होती है। 'वह्य' आधुनिक पालकी के सदृश सुखद् आसन था। ऋग्वेदोत्तर वैदिक साहित्य में, विशेषरूप से अथर्ववेद (१५.३), वाजसनेयि संहिता (८.५६) और शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों में 'आसन्दी' (कुर्सी) का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

२१. 'राजनावभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे। सहस्रस्थूण आसाते।। ऋ०सं० २.४१.५।
बृहन्तं मानंवरुण स्वधाव : सहस्रद्वारं जगमा गृहंते।।
ऋ० स० ७.८८.५।

गृह-पात्र

मृत्तिका और धातु से निर्मित 'कलश', काष्ठ निर्मित 'द्रोण' और चर्म-निर्मित 'दृति' संज्ञक पात्रों का प्रयोग वैदिक युग में खाद्य और पेय पदार्थों के संरक्षण के लिए होता था। प्याले 'ग्रह' कहे गये हैं। भोजन को पकाने के लिए 'स्थाली' का प्रयोग किया जाता था। यज्ञीय हविष्य 'उरवा' में पकाया जाता था। अनाज पीसने के लिए 'दृषत्' तथा 'उपल' काम में लाये जाते थे। काष्ठरचित 'उलूखली' तथा 'मूषल' से अन्न के साथ ही सोमलता भी कूटी जाती थी। 'शूर्प' (सूप) तथा 'तितउ' (चलनी) का प्रयोग भी प्रचलित था। तैयार अन्न को 'ऊर्दर' नामक पात्र से नापकर 'स्थीबि' (बखारी) में रखा जाता था। भोजन को कुत्तों-बिल्लियों से बचाने के लिए 'शिक्य' (छींका) का प्रयोग भी प्रचलन में था।

भोजन और पेय पदार्थ

जौ, चावल, गेहूँ, मूंग, उड़द आदि धान्यों को कृषि से प्राप्त किया जाता था। इनके अतिरिक्त घी, दूध, दही भी भोजन-सामग्री में सम्मिलित थे। सोमरस का पान भी प्रचलित था ही। गेहूँ की तुलना में, उस युग में यव को विशेष स्थान प्राप्त था। यजुर्वेद के एक मन्त्र में वेदकालीन विभिन्न धान्यों का सुन्दर उल्लेख है :

'व्रीह्यश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मेमुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे पियङ्गवश्च मेऽणवश्चमे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मेमसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्' (यजु॰ सं॰ १८.१२)

'धाना:' (जौ की लाई) का ऋग्वेद में बहुधा उल्लेख है।[२२] पूषन् देव को प्रसन्न करने के लिए पके हुए जौ के आटे को दूध या घी में मिलाकर 'करम्भ' नामक भोज्य-पदार्थ तैयार किया जाता था।[२३] अपूप का निर्माण जौ या चावल के आटे में घृत के सम्मिश्रण से किया जाता था। 'पक्ति' एक प्रकार की रोटी होती थी। ओदन, पुरोडाश (चावल के आटे का पिण्ड) और सत्तू का प्रयोग भी प्रचलित था। गोदुग्ध, मठे (मन्था) और दही को मिलाकर अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ उस युग में बनाये जाते थे।

संहिताओं के युग में आर्यगण पूर्णतया शाकाहारी थे। गाय को तो ऋग्वेद में, स्पष्ट रूप से 'अघ्न्या; कहा गया है। लेकिन ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में, शनैः शनैः मांसाहार का प्रयोग भी कुछ लोग करने लगे थे।

पेय पदार्थों में सोमरस मुख्य था, जिसका वर्णन ऋग्वेद के नवम मण्डल में विस्तार से है। सौत्रामणीयाग में सुरा-पान का उल्लेख यद्यपि मिलता है, लेकिन अनेक मन्त्रों से ज्ञात होता है कि सुरा-पान को वैदिक युग में सामान्यतः ठीक नहीं समझा जाता था। ऐसा ही एक मन्त्र यह है :

२२. ऋ॰सं॰ १.६२.२; ३.५३.३; ३.५२.५; ६.२९.४
२३. वही १.१८७.१६; ३.५२.७; ६.५६.१, इत्यादि।

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता।। (ऋ० सं० ७.८६.६)

उपर्युक्त मन्त्र में एक अपराधी का कथन अंकित है, जिसके अनुसार उसने द्यूत, वञ्चना अथवा सुरापान के प्रभाव में अपराध किया है। इस प्रकार सुरा-पान को अपराध-भावना को प्रोत्साहित करने वाला माना गया है।

वैदिक आर्यों में, सुपक्व फलों का सेवन भी प्रचलित था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इन्द्र के द्वारा कामनाओं को पूर्ण करने वाले धन देने का सादृश्य अंकुश के द्वारा पके फल गिराने से स्थापित है :

वृक्षं पक्वं फलमङ्कीव धूदहीन्द्र सम्पारणं वसु। (ऋ० सं० ३.४५.४)।

उस काल में बेर, उदुम्बर प्रभृति फलों के प्रति विशेष आकर्षण दिखलाई देता है। ऐतरेय ब्राह्मण में प्राप्त एक गाथा में कहा गया है कि निरन्तर चलते रहने वाले अर्थात् कर्म में संलग्न व्यक्ति को स्वादिष्ट गूलर के फल खाने के लिए मिलते हैं :

चरन्वै मधु विन्दति, चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।

वस्त्राभूषण

उस युग में 'वासस्' (अधोवस्त्र) तथा 'अधिवासस्' (उत्तरीय) संज्ञक दो वस्त्र सामान्यरूप से पहने जाते थे। परवर्ती संहिताओं में 'नीवि' (अन्तर्वस्त्र) का उल्लेख भी है। साधारणतया चमड़े, ऊन, कपास इत्यादि के वस्त्र पहने जाते थे। यज्ञादि के विशेष अवसरों पर अजिन तथा कुश निर्मित वस्त्र पहने जाते थे। धनी-मानी लोग रेशमी वस्त्र भी पहनते थे। ऋग्वेद में ऊर्णा (ऊन) का अनेक बार उल्लेख है।[२४] वस्त्रों को जरी आदि के काम से अलंकृत भी किया जाता था, जैसाकि मरुतों के बारे में कहा गया है कि वे सुवर्ण से सुसज्जित वस्त्र पहनते थे-'बिभ्रद्द्रापिं हिरण्ययम्' (ऋ० सं० १.२५.१३)। ऋग्वेद में सुवर्ण-सज्जित वस्त्र को 'पेशस्' कहा गया है, जिसे बुनने का कार्य स्त्रियाँ (पेशस्कारी) करती थीं। स्त्रियाँ पति को आकृष्ट करने के लिए आकर्षक वस्त्र पहनती थीं-'जायेव पत्य उशती सुवासाः' (ऋ० सं० १०.७१.४) इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि दानी आश्रयदाताओं ने सुन्दर वेश-भूषा में विभूषित वधू को भी जीत लिया :

भोजा जिग्युर्वध्वं या सुवासा (ऋ० सं० १०.१०७.९)

परुष्णी तथा सिन्धु नदियों का प्रदेश उस समय ऊन की उपज तथा ऊनी शिल्प के लिए विशेष प्रसिद्ध था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में मरुतों का वर्णन परुष्णी प्रदेश में निर्मित शुद्ध ऊनी वस्त्र पहने हुए किया गया है :

२४. ऋ० सं० २२.२; ५.५२.९।

उत स्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यवः। (ऋ० सं० ५.५२.९)।

कुर्त्ते के सदृश सिले हुए उपरिवस्त्र के लिए 'प्रतिधि' अथर्व सं० १४.१८), शब्द प्रचलित था। सिर के ऊपर पगड़ी (उष्णीष) पहनी जाती थी। 'उष्णीष्' शब्द का अर्थ है गर्मी को मारने वाली। यह्न अनेक प्रकार से बांधी जाती थी। पैरों में जूता पहनने की प्रथा भी उस समय थी।

आभूषणों का प्रयोग, वैदिक काल में स्त्रियों के साथ ही पुरुष भी करते थे। गले में पहनने के लिए सौवर्णाभूषण 'निष्क' का ऋग्वेद में बहुधा उल्लेख है–'अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्' (ऋ० सं० २.३३.१०)। सिक्के के रूप में भी इसका प्रयोग प्रचलित था–इससे प्रतीत होता है कि 'निष्क' गोल या चौकोर होगा, जिसे धागे में पिरोकर माला के रूप में कण्ठ में पहना जाता होगा। 'रुक्म' संज्ञक आभूषण का निर्माण भी स्वर्ण से ही होता था–इसे वक्षःस्थल पर धारण किया जाता था। 'खादि' नामक आभूषण को पैरों, भुजाओं अथवा कलाई में पहना जाता था। कार्णाभूषण 'कर्णशोभन' कहलाते थे। मोतियों और मणियों की मालाएँ भी पहनी जाती होंगी। यजुर्वेद में 'मणिकार' तथा 'हिरण्यकार' (स्वर्णकार) का उल्लेख है, जिनका कार्य बहुविध आभूषणों का निर्माण करना था।

वेदकालीन आर्थिक संरचना

वैदिक युग में, आर्थिक अवस्था अत्यन्त सुविकसित प्रतीत होती है। किसी भी देश की अर्थव्यवस्था को सुचारु गति देने के लिए उस देश की कृषि और खनिज-सम्पदा का विशेष महत्त्व होता है। अथर्ववेदीय पृथिवी सूक्त में पृथिवी का गौरव-गान जिस रूप में ऋषि कवि ने किया है, उससे यह सिद्ध है कि उस युग में, आर्थिक दृष्टि से पृथिवी के प्रतिपूर्ण जागरूकता विद्यमान थी। तत्कालीन आर्यगण इस तथ्य से अवगत हैं कि पृथ्वी वसुधा ही नहीं विश्वम्भरा (सबका भरण-पोषण करने वाली) भी है। वह हिरण्यवक्षा (अपने भीतर स्वर्णादि की खानों को छिपाये हुए) है। उस पृथिवी से मातृवत् पालन करने की प्रार्थना की गई है–'सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः।' पृथ्वी पर पाई जाने वाली अनेक प्रकार की मिट्टी (भूरी, काली, लाल इत्यादि) से भी वे परिचित हैं। पृथिवी की विभिन्न सतहों से विविध वस्तुएँ प्राप्त होती हैं–इसका उल्लेख भी पृथिवी सूक्त में है। अभिप्राय यह कि बहुविध पार्थिव सम्पदा के प्रति अत्यन्त प्रशस्य भावना इस सूक्त में समाविष्ट है।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार : कृषि एवं पशु पालन

उपर्युक्त पृथिवीसूक्त में भूमि को माता तथा पर्जन्य को पिता कहा गया है। कृषि प्रधान देश के कवि के लिए यह स्वाभाविक ही है। वास्तव में यही दोनों कृषि के जीवनाधार हैं। ऋग्वेद में, कृषि-कर्म और उसके उपकृत्यों का वर्णन अनेक स्थलों पर है। वर्षा कृषि की आधार है, जिसका अधिष्ठाता देवता है इन्द्र–उसकी स्तुति ऋग्वेद में सर्वाधिक की गई है। कृष्ट तथा अकृष्ट भूमि के लिए उर्वरा, क्षेत्र, फर्वर प्रभृति शब्दों का प्रयोग है। विविध कृषि-उपकरणों के लिए रास्ते,

फल, लांगल, सीता, सीर तथा अस्र प्रभृति शब्द व्यवहृत हैं। उर्वरा भूमि को सुविधा के लिए छोटी-छोटी इकाइयों (खेतों) के रूप में विभक्त कर दिया जाता था। अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि पृथी (अथवा पृथु) वैन्य ने सर्वप्रथम मनुष्यों के लिए कृषिकर्म के द्वारा फसल उत्पन्न की। उन्होंने ही मानव समुदाय के लिए कृषि की पद्धति प्रशस्त की :

'तां पृथी वैन्योधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक्। ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या उपजीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद'-(अथर्ववेद, ८वां काण्ड)।

ऋग्वेद के अनुसार[२५] अश्विन युग्म ने मनु को बीज बोने की कला सिखाई तथा आर्य्यों को हल की सहायता से कृषि-कर्म सिखलाया। ऋग्वेद में 'हल' के लिए 'सीर' तथा 'लाङ्गल', हल चलाने वाले के लिए 'कीनाश' तथा हल चलाने से बनी रेखा के लिए 'सीता' शब्दों का प्रयोग दिखलाई देता है। सामान्य रूप से हल में दो बैल जोते जाते थे, किन्तु कभी-कभी अधिक बैलों के जोते जाने का उल्लेख भी है। कृषि-कार्य आरम्भ करने से पूर्व क्षेत्रपति की पूजा की जाती थी। अथर्ववेद से[२६] स्पष्ट है कि वैदिक युग में पशु-पुरीषजन्य खाद के महत्त्व की जानकारी थी। फसल-कटाई का उपकरण था 'दात्र' अथवा 'श्रृणी' (हँसिया)। सिंचाई के लिए कुओं और नहरों पर वे निर्भर रहते थे। ऐसे कुओं से, जिनमें पानी कभी कम नहीं होता था, पानी निकालकर प्रणालियों द्वारा खेतों में पहुँचाया जाता था। ऋग्वेद में प्राप्त 'खनित्रिमा आप:' (खोदकर निकाला हुआ पानी) शब्द से नहरों का बोध होता है।

कृषि के साथ ही वैदिक काल में पशु-पालन भी पुष्कल परिमाण में प्रचलित था। पालतू पशुओं की श्रेणी में गायों के साथ ही भैंसें, घोड़े, भेड़ें और बकरियाँ भी सम्मिलित थीं। गायों को बाँधने के लिए ग्रामों में 'गोत्र' एवं 'गोष्ठ' रहते थे। घर के अहातों में भी गायें रखी जाती थीं। पशुओं को चराने के लिए चरागाहों में ले जाया जाता था। इससे पूर्व ही उन्हें दुह लिया जाता था। गायें सामान्यतया तीन बार दुही जाती थीं, पृथक्-पृथक् शब्द प्रचलित थे-प्रात: दोह, सद्‌भव तथा सायं दोह। भेड़ों से ऊन प्राप्त की जाती थी। वैदिक काल में गो सम्पत्ति को विशेष महत्त्व प्राप्त था। गाय को विनिमय के साधन के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता था। यहाँ तक कि सोमलता भी सोम याग में सोमक्रमणी गाय के माध्यम से ही खरीदी जाती थी। आर्षविवाह में, विवाह भी गायें देकर ही हो पाता था। ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल में एक सम्पूर्ण सूक्त (ऋ० सं० ६.२८) के आठों मन्त्रों में गायों का महत्त्व उपवर्णित है। सूक्त का प्रथम मन्त्र यह है :

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्त्रे प्रजावती: पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरूषसो दुहाना:।

-ये गायें हमारे यहाँ आ गई हैं और हमारा कल्याण कर रही हैं। ये हमारे गोष्ठ में रहें और हमारे सान्निध्य से इन्हें आनन्दित होने दो। अनेकानेक उष: कालपर्यन्त इन्द्र के लिए दूध समर्पित करती हुई हमारे यहाँ ये अपनी सन्तान के साथ अनेक वर्ण धारण करती हुई रहें।

२५. ऋ०सं० १.११२.१६।

२६. अथर्व सं. ३.१४.३ तथा ४; १९.३१.३।

अन्य मन्त्रों में कहा गया है कि गायों का विनाश नहीं होता, डाकू उन्हें कष्ट नहीं दे सकते। युद्धभूमि में धूलिधूसरित घोड़ा भी उनके पास नहीं पहुँच सकता।

वैदिक कवि की दृष्टि में गायें तो साक्षात् भाग्य की देवता ही हैं–'गावो भगो गाव इन्द्रो मे।' वे कृश पुरुष को हृष्ट-पुष्ट कर देती हैं; पीले पड़े हुए मनुष्य का चेहरा लाल बना देती हैं–रंभाने वाली गायों से सारा घर मंगलमय बन जाता है। गायों की प्रशंसा विद्वद्गण सभाओं में भी करते रहते हैं :

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिद श्रीरंचित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु।।

वैदिक युग में पशु-पालन वैयक्तिक आधार पर ही नहीं, व्यावसायिक आधार पर भी प्रचलित था। इसीलिए यजुर्वेद (३०.११) में विभिन्न व्यवसायियों के मध्य गोपालों, अजपालों और अविपालों का भी उल्लेख है।

उद्योग एवं शिल्प

वैदिक काल में अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे एवं शिल्प प्रचलित थे। इनमें बाय (कपड़ा बुनने वाले), त्वष्टा या तक्षा (बढ़ई-रथ, चाक, नौका, लकड़ी के पत्रादि बनाने वाले), कर्मार (लुहार–कृषि के उपकरण एवं युद्धों के निमित्त आयुध निर्माता) कुम्हार, माला बनाने वाले, चमड़ा पकाने वाले, नाई, वैद्य, स्वर्णकार प्रभृति मुख्य हैं। विशाल भवनों के निर्माता राजगीर भी होंगे ही। यजुर्वेद (३०.६, ७, ११, १७, २०) में रथकार, तक्षा, कौलाल, कर्मार, मणिकार, इषुकार, धनुष्कार, रज्जुसर्ज, हस्तिप, अश्वप, सुराकार, हिरण्यकार, वणिक् प्रभृति शिल्पियों का उल्लेख है।

व्यापार एवं वाणिज्य

उपर्युक्त शिल्पियों के द्वारा निर्मित वस्तुओं के व्यावसायिक आधार पर वितरण के लिए निश्चित ही वैदिक युग में व्यापार एवं वाणिज्य के लिए अनुकूल वातावरण विद्यमान रहा होगा। यजुर्वेद (३०.१७) में 'वाणिज्' शब्द का सम्बन्ध तुला से स्थापित है–'तुलायै वाणिजम्'। वैदिक काल में द्विविध व्यापार प्रचलित था–आन्तरिक एवं बाह्य। आन्तरिक व्यापार भारत के ही विभिन्न प्रदेशों एवं नगरों में विद्यमान था। विदेशों के साथ नौकाओं एवं जलयानों के माध्यम से बाह्य व्यापार भी उस युग में विकसित स्थिति में था। एक स्थान से दूसरे स्थान पर उत्पादित माल को लाने-ले जाने के लिए व्यापारी वर्ग बैलों, घोड़ों, ऊँटों, कुत्तों तथा गधों का उपयोग करता था। अथर्ववेद में बड़े बाजारों को 'प्रपण' कहा गया है–'येन धनेन प्रपणं चरामि' (अथर्व० सं० ३.१५.५)। विक्रय योग्य वस्तु के मूल्य में मोलभाव का उल्लेख भी ऋग्वेद (४.२४.९) में है।

अनेक व्यापारी समुद्र-मार्ग से व्यापार करते थे।[२७] आजकल के लखपतियों और करोड़पतियों

२७. ऋ०सं० १.२५.७; १.४८.३; १.५६.२; १.११६.३ इत्यादि।

के सदृश वैदिक युग में भी व्यापारियों की आर्थिक हैसियत के अनुसार उन्हें 'शतिन्' और 'सहस्रिन्' कहा गया है।

पणि

ऋग्वेदकालीन व्यापारियों में सर्वाधिक लालची, अलोकप्रिय, कृपण और स्वार्थी व्यापारियों के रूप में पणियों का वर्णन प्राप्त होता है। देवों से प्रार्थना की गई है कि वे पणियों के हृदयों को खण्ड-खण्ड कर दें।[२८] वे यज्ञानुष्ठान से रहित, दुर्वचनों के प्रयोक्ता और असभ्य कहे गये हैं। प्रायः दूसरों की गायें भी चुरा लेते थे। एक बार इनके द्वारा चुराई गई गायों की जानकारी देवशुनी सरमा ने प्राप्त की, तब इन पणियों ने उसके सामने बहुविध प्रलोभन उपस्थित किये, लेकिन सरमा निरन्तर अविचलित रही। पणियों को ऋग्वेद में असुर कहा गया है। अनेक विद्वानों ने पणियों का सम्बन्ध एशिया के पश्चिमी तटवर्ती प्राचीन देश फिनीशिया से स्थापित करने की चेष्टा की है।

विनिमय के साधन

ऊपर यह कहा जा चुका है कि वैदिक युग में गायों का प्रयोग विनिमय के साधन के रूप में किया जाता था। इसके अतिरिक्त सुवर्ण और चांदी के सिक्कों का प्रयोग भी प्रचलित था। सुवर्ण के सिक्कों में 'निष्क' मुख्य था। एक अन्य सिक्का था 'मना', जिसने सीरिया, बेबीलोनिया और यूनान तक की यात्रा की। 'रयि' शब्द निघण्टु में यद्यपि धन के पर्यायों में पठित हैं, किन्तु प्रो० ए० सी० दास जैसे विद्वानों ने इसे चांदी का सिक्का माना है।[२९]

निष्कर्षस्वरूप कहा जा सकता है कि वैदिक युग में अत्यन्त समृद्ध एवं सम्पन्न अर्थव्यवस्था विद्यमान थी। आर्थिक आधार पर समाज में श्रेणियाँ नहीं थीं। समतामूलक, श्रम की प्रतिष्ठाकारक और सांस्कृतिक जीवन के लिए उपादेय वह अर्थव्यवस्था हमें आज भी स्पृहणीय प्रतीत होती है जिसमें धनोपार्जन की केवल शुद्ध, विधिसम्मत और समाज के द्वारा अनुमोदित प्रणाली ही प्रशस्त समझी जाती थी। अग्नि से प्रार्थना करते हुए ऋषि-कवि ने एक ऋङ्मन्त्र में यही कामना व्यक्त की है :

अग्ने नय सुपथ राये अस्मान्।

इस स्वार्जित धन का उपयोग भी व्यक्ति को त्यागपूर्वक ही करना चाहिए। यही दृष्टिकोण इस याजुष श्रुति में व्यक्त हुआ है :

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम्

–हम किसी अन्य के धन की कामना न करें, यह भाव भी इसमें मुखरित है।

२८. वही ६.५३.५ 'परितृन्धिपणीनामारया हृदया कवे। अथेमस्मभ्यं रन्धय।।'

२९. Probably silver coins called 'rayis' were also in vogue in Rigvedic times (Rv. V 33.6) A.C. Dass, *Rigvedic Culture*, p. 141.

वेदकालीन राजनैतिक व्यवस्था

राजनीति मानव-समाज की अपरिहार्यता है। वैदिक युग में एक सुव्यवस्थित, कल्याण-केन्द्रित और सर्वाभिमुखी राजनैतिक व्यवस्था दिखलाई देती है। इसके विभिन्न स्तरों का विवरण इस प्रकार है :

ग्राम, विश् तथा जन

वेदकालीन राजनैतिक व्यवस्था की इकाई ग्राम था। इसका सर्वोच्च अधिकारी 'ग्रामणी' कहलाता था। अनेक ग्रामों के मिलने से 'विश्' बनता था। ग्रामणी नागरिक एवं सैनिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता था। भूमिविवादों का निपटारा करना तथा अपराधियों को दण्डित करना भी उसके कार्यक्षेत्र में था। ग्रामणी की सहायता ग्रामसभा करती थी। यही ग्रामणी का चुनाव भी करती थी। 'विश्' का सर्वोपरि सत्ताधिकारी 'विश्पति' कहलाता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में यम को विश्पति तथा पिता कहकर पुरों का पालक माना गया है–'अत्रा वो विश्पतिः पिता पुराणाम्' (ऋ० सं० १०.१३५.१)। कालान्तर से यह शब्द 'राजा' के लिए व्यवहृत होने लगा।

विभिन्न विशों का समुदाय 'जन' कहलाता था। 'जन' का सर्वोच्च शासक राजा होता था। यह वंशक्रमागत होते हुए भी चुनाव पर निर्भर था। वैदिक वाङ्मय में वरुण के लिए बहुधा 'राजा' विशेषण का प्रयोग हुआ है।[३०] जिस प्रकार नैतिक जगत् में वरुण की सत्ता सर्वोपरि है, वही नैतिक नियमों का नियामक है; उसके गुप्तचरों की गति सर्वत्र निर्बाध रूप से है; वरुण के 'स्पशों' से कोई बच नहीं सकता; पापियों और अपराधियों के लिए उनके पाश निरन्तर प्रसारित रहते हैं; ठीक इसी प्रकार की स्थिति वैदिक कालीन राजा की थी। जनों का निवास जनपदों में था। ऐतरेय ब्राह्मण में 'जनपद' शब्द देश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन्हीं जनपदों को मिलाकर 'राष्ट्र'[३१] का निर्माण हुआ था।

ऋग्वेदकालीन सप्तसिन्धु प्रदेश एवं उसका समीपवर्ती भूभाग विभिन्न आर्य-राज्यों में विभक्त था। इनमें अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश, पूरु, तृत्सु, भरत इत्यादि मुख्य थे। प्रथम चार राज्य सरस्वती की अधोवर्तिनी उपत्यका में स्थापित थे। पुरु राज्य सिन्धु नदी के ऊपरी कछार में स्थित रहकर दस्युओं के आक्रमणों का सामना करता था। तृत्सु राज्य परुष्णी (रावी) नदी के पूर्ववर्ती भूभाग में तथा भरत राज्य सरस्वती और उसकी सहायक नदी दृषद्वती के मध्य में स्थित थे। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद में कतिपय अन्य राज्यों का भी उल्लेख है। इनमें से क्रिवि राज्य सिन्धु तथा असिक्नी (चिनाब) के तट पर स्थित था। कीकट राज्य, यास्क के अनुसार मगध में था–'कीकटो नाम देशोऽनार्यनिवासः' (निरुक्त ६.३२)। चेदि राज्य यमुना नदी तथा विन्ध्यपर्वत के मध्य संभावित है। ऋग्वेद में चेदिराज कशु की दानस्तुति विद्यमान है। सप्तसिन्धु के पश्चिमोत्तर प्रदेश में, सिन्धु तथा कुभा के संगम के निकटवर्ती भूभाग में गान्धार राज्य था। ऋग्वेद में उल्लिखित मत्स्य राज्य

३०. उरुंहि राजा वरुणश्चकार (ऋ०सं० १.२४.८); अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्व (वही १.२४.८) इत्यादि।

३१. राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ऋ०सं० १०.१७३.५।

की संभावना आधुनिक अलवर, भरतपुर तथा जयपुर के पास की गई है। अज, यक्षु, शिग्रु, प्रभृति राज्य भी ऋग्वेद में उल्लिखित हैं–ये भेद के नेतृत्व में सुदास से संघर्षरत हुए थे। एक अन्य राज्य था वृचिवन्त, जिसे सृंजय शासक देववात ने हरियूपीया एवं यव्यावती के निकट युद्ध में जीता था। ऋग्वेद में उल्लिखित 'पर्शु' तथा 'पृथु' राज्यों की पहचान क्रमशः आधुनिक पर्शियन एवं पार्थियन से करने की चेष्टा हुई है। पश्चिमोत्तर प्रदेश में विद्यमान कतिपय अन्य राज्य भी ऋग्वेद में उल्लिखित हैं, जिनमें विषानिन्, शिव, अलीन, पक्थ तथा भलानस संज्ञक राज्य प्रमुख हैं।

उत्तर वैदिक साहित्य में, कुरु, पाञ्चाल, वश एवं उशीनर प्रभृति राज्यों का प्रमुखता से उल्लेख है। अथर्ववेद के कुन्तापसूक्तों में कुरुराज परीक्षित का नाम प्राप्त होता है। कुरुराज्य आधुनिक थानेसर, दिल्ली के आस-पास गंगा और यमुना की अन्तर्वेदी में स्थित था। पाञ्चालराज्य की सीमाएँ इससे मिली हुई थीं। ब्राह्मण ग्रन्थों के युग में कुरु-पाञ्चाल राज्य अपनी समृद्धि और सांस्कृतिक दृष्टि के कारण विशेष प्रसिद्ध थे। उपनिषदों में इन राज्यों के ब्रह्मवादियों और याज्ञिकों का विशेष उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में कोसल एवं विदेह राज्य भी उल्लिखित हैं। कहा गया है कि विदेहराज विदेघ माथव अपने पुरोहित गोतम रहूगण के साथ सरस्वती नदी के तट से यज्ञाग्नि ले गये और सदानीरा के तट पर विदेह राज्य की उन्होंने स्थापना की। उत्तर वैदिक युग में काशी राज्य भी महत्त्वपूर्ण हो गया था। शतपथ ब्राह्मण में काशिराज धृतराष्ट्र के शतानीक सत्राजित् द्वारा पराजित किये जाने का वर्णन है।

ऐतरेय ब्राह्मण के ऐन्द्र महाभिषेक प्रकरण में भारत के विभिन्न राज्यों तथा वहां की शासन-प्रणाली का उल्लेख है। पूर्व में प्राच्य राज्य के राजा सम्राट कहलाते थे। पश्चिम में नीच्य तथा अपाच्य राज्यों के राजा स्वराट् कहलाते थे। उत्तर में हिमालय के पार्श्ववर्ती उत्तर कुरु, उत्तर मद्र प्रभृति राज्यों के राजा विराट् कहलाते थे।

इन राज्यों के अतिरिक्त ऐतरेय ब्राह्मण में आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द तथा मुतिब प्रभृति अर्धसभ्य दस्यु जातियों का उल्लेख है, जो विन्ध्यपर्वत के दक्षिण में बस गई थीं–इनका सम्बन्ध विश्वामित्र से स्थापित किया गया है।

दाशराज्ञ युद्ध

ऋग्वेद (७.१८) में तृत्सुराज सुदास तथा अनु, द्रुह्यु, भरत, यदु, तुर्वश, पूरु, शिंयु, अज, शिशु तथा यक्षु प्रभृति दस राजाओं के मध्य युद्ध का उल्लेख है। सुदास की ओर से परशु, पृथु, अलीन, शक्य, भलानस, शिव, विषाणिन् प्रभृति राजा भी युद्ध में सम्मिलित हुए थे। इतिहासज्ञों का अभिमत है कि विश्वामित्र एवं वसिष्ठ के पारस्परिक मतभेदों के कारण यह युद्ध हुआ था। वसिष्ठ से मतभेद होने के कारण विश्वामित्र सुदास का संरक्षण त्यागकर भरत राज्य में चले गये थे। उनके प्रयत्न से ही तृत्सु के विरुद्ध दस राजा संघबद्ध हुए थे। विश्वामित्र के नेतृत्व में पूर्व की ओर से दस राजाओं का संगठित बल आगे बढ़ा और शुतुद्रि तथा विपाशा को पार कर परुष्णी के दक्षिण में पहुँच गया। सुदास अपने साथियों सहित परुष्णी के उत्तरी तट पर इनका सामना करने के लिए सन्नद्ध था। सुदास की एक सैन्य-टुकड़ी ने रात्रि के अन्धकार में परुष्णी पार कर शत्रु-सैन्य

पर पीछे से आक्रमण किया। दस राजाओं की सेना इस अप्रत्याशित आक्रमण से भयभीत हो गई। उसके सैनिक इधर-उधर पलायन करने लगे। बहुत-से परुष्णी में डूब गये। इन्द्र की सहायता से सुदास इस युद्ध में विजयी हुए। उनके शत्रुओं की विशाल सेना नष्ट हो गई। इसके पश्चात् सुदास ने शत्रु-प्रदेशों पर आक्रमण कर उन्हें विध्वस्त किया। इन आक्रमणों में प्राप्त धन उन्होंने ऋषियों में वितरित कर दिया।

इस युद्ध की घटना से स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक काल में राजा सुदास ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर ली थी।

शासन-प्रणाली

ऐतरेय ब्राह्मण में जिन शासन-प्रणालियों का वर्णन है, वे इस प्रकार हैं–साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, राज्य, पारमेष्ठ्य, माहाराज्य, आधिपत्य इत्यादि। इनमें से कुछ प्रजातन्त्रात्मक थीं और कुछ राजतन्त्रात्मक। वेदकालीन शासन-व्यवस्था पर आलोचनात्मक दृष्टिनिक्षेप करने पर विदित होता है कि उस युग में प्रजातन्त्रमूलक राजतन्त्र विद्यमान था। ऐतरेय ब्राह्मण (१.१४) के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि राजसत्ता का उदय पारस्परिक अनुबन्ध से हुआ–असुरों से विभिन्न दिशाओं में पराजित देवगण आत्मविश्लेषण से इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वे राजा के अभाव में ही बार-बार पराजित हुए! इसलिए उन्होंने सोम को अपना राजा बनाया, जिससे उन्हें विजय प्राप्त हुई। आगे चलकर मनुस्मृति प्रभृति ग्रन्थों में भी इसी सिद्धान्त का विस्तार दिखलाई देता है।

उपनिषदों से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में आत्मानुशासन इतना अधिक था, समाज में अपराधियों का इतना अभाव था कि राजसत्ता की कोई आवश्यकता ही न थी। समाज में धर्म ही सबका नियन्त्रक था। आगे भी राजसत्ता का स्थान धर्म की अपेक्षा गौण ही रहा। वैदिक यज्ञों में से अनेक यज्ञों का प्रयोजन राजा की सत्ता को धार्मिक स्वीकृति प्रदान करना ही प्रतीत होता है। मूर्धाभिषिक्त राजा में दैवी शक्तियाँ स्वयमेव आ जाती थीं। राज्य के विभिन्न कार्यों में राजा की सहायता करने वाले प्रमुख अधिकारियों का उल्लेख यजुर्वेद, शतपथ ब्राह्मण एवं ताण्ड्य महा ब्राह्मण में है। इन्हें वहाँ 'रत्नी' कहा गया है, जिनकी संख्या ११ है। इनका परिगणन इस प्रकार किया गया है–सेनानी, पुरोहित, क्षत्र (राजसत्ता का प्रतिनिधि), महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्ता (अन्तःपुर का अध्यक्ष), संगृहीता (कोषाध्यक्ष), भागदुह (कर-विभाग का प्रमुख अधिकारी), अक्षावाप (आय-व्यय लोकाध्यक्ष) तथा गोविकर्ता (वनविभाग का प्रमुख अधिकारी)। वैदिक राज्य व्यवस्था में उपर्युक्त अधिकारी प्रमुख योगदान करते थे।

सभा एवं समिति

वेदकालीन राज्य-व्यवस्था में 'सभा' एवं 'समिति' नाम्नी दो संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान दिखलाई देता है। अथर्ववेद में सभा तथा समिति को प्रजापति की दो विदुषी पुत्रियाँ कहा गया है। इनमें अच्छे लोग एकत्र होकर उत्तमोत्तम रीति से अपने विचारों को प्रकट करते थे। समिति में प्रत्येक सदस्य की यह आकांक्षा होती थी कि वह श्रेष्ठ वक्ता सिद्ध हो :

'सभा च सा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छ उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः सङ्गतेषु। विद्म ते सभे नाम नरिष्ठा नाम वा असि। ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः' (अथर्व सं० ७.१२.१-२)।

समिति में राजा को भी उपस्थित रहना पड़ता था। वैदिक साहित्य में बहुधा राजा के समिति में सम्मिलित होने का वर्णन है, यथा–'राजा न सत्यः समितीरियानः' (ऋ० सं० ९.९२.६)। ऋग्वेदीय संज्ञान सूक्त के निम्नलिखित सुप्रसिद्ध मन्त्र में, समिति में भाग लेने वालों के सन्दर्भ में वैचारिक एकता पर बल दिया गया है :

'समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्' (ऋ० सं० १०.१९१.३)।

ऋग्वेद (१०.१७३.१) तथा अथर्ववेद (६.८७.१) से ज्ञात होता है कि समिति ही राजा का चुनाव करके उससे समस्त राष्ट्र का भार वहन करने का आग्रह करती थी। चुने हुए राजा से कहा जाता था कि उसे जनता ने राजपद पर चुना है। वह राष्ट्र के कन्धे पर बैठे तथा भौतिक समृद्धि का विकास करे :

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि।।

(अथर्व सं० ३.४२)

ऋग्वेद में सभा का उल्लेख अत्यन्त आदरपूर्वक है। एक मन्त्र में; श्रेष्ठ पुरुष के सभा में पधारने से सभी के प्रसन्न होने का वर्णन है :

'सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः (ऋ० सं० १०.७१.१०)।

सभा में राजा, धनाढ्य एवं विद्वज्जन सभी सम्मिलित होते थे। कुछ भी करने से पूर्व राजा के लिए सभा से विचार-विनिमय करना आवश्यक था।

सभा और समिति के विषय में प्राप्य वेद-मन्त्रों के आलोचनात्मक अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि सभा एक व्यापक आधार पर निर्मित राजनैतिक संस्था थी, जिसकी अपेक्षा समिति का स्वरूप चुने हुए प्रतिनिधियों से निर्मित होता था। इन दोनों की तुलना क्रमशः आधुनिक लोकसभा एवं राज्यसभा (lower house and upper house) से की जा सकती है। इन दोनों के परामर्शों की उपेक्षा वेदकालीन राजा कदापि नहीं कर सकता था। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि वैदिक युग में राजनैतिक दृष्टि से प्रचुर प्रबुद्धता एवं जागृति विद्यमान थी।

नवम अध्याय

वैदिक देवताओं का स्वरूप

वैदिक देवों का स्वरूप अत्यन्त जटिल है। प्राचीन भारतीय वेदानुशीलियों के अतिरिक्त इस युग में भी प्राच्य और प्रतीच्य विपश्चितों ने देवतत्त्व के यथा तथ्य उन्मीलन-हेतु विपुल विचार-मन्थन किया है—विश्व की विभिन्न पुराकथाओं के साथ वैदिक देवाख्यानों की पर्याप्त तुलनात्मक विवेचना भी की है। इस कारण देव विषयक मतों की भारी भीड़ दिखलाई देती है।

वैदिक देवशास्त्र पर विचार करने वाले प्रमुखतया तीन वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं :

(१) मैक्समूलर, कीथ, मैक्डॉनेल, हिल्लेब्राण्ड्ट्, फर्कुआर, रैगोजिन, हॉपकिन्स और ओल्डेन बर्ग आदि पाश्चात्य विद्वान्।

(२) यास्क, शौनक, माधव, सायण, दयानन्द सरस्वती, मधुसूदन ओझा, अरविन्द, सातवलेकर और वासुदेवशरण अग्रवाल प्रभृति भारतीय मनीषी।

(३) समवर्ती—रा॰ ना॰ दाण्डेकर, देवस्थली, क्षेत्रेशचन्द्र चाट्टोपाध्याय, सम्पूर्णानन्द, गयाचरण त्रिपाठी प्रभृति।

इनका क्रमिक विवरण इस प्रकार है :

वैदिक देवता : यास्क और शौनक की दृष्टि में

'बृहद्देवता' के अनुसार प्रत्येक वेद-प्रेमी को मन्त्रगत देवता का ज्ञान सप्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि जो देवतत्त्व से सुपरिचित है, वही वेद के अर्थ को भी जान सकता है। मन्त्रों के देवताओं के सम्यग् ज्ञान के बिना लौकिक अथवा वैदिक संस्कारों का फल नहीं प्राप्त किया जा सकता (–बृहद्देवता १.२;४)। मंत्रगत देवता को जानते हुए जो व्यक्ति किसी कर्म का अनुष्ठान करता है, उसकी हवि को देवगण ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु उसकी हवि को स्वीकार नहीं करते, जो इस विषय में अनभिज्ञ है। अभिप्राय यह कि सभी देवताओं की योग, दक्षता, इन्द्रिय-संयम, बुद्धि पाण्डित्य, तप तथा अभिनिवेश पूर्वक उपासना करनी चाहिए :

मन्त्राणां देवताविद्यः प्रयुङ्क्ते कर्म कर्हिचित्।
जुषन्ते देवतास्तस्य हविर्नादेवताविदः।।
यागेन दक्ष्येण दमेन बुद्ध्या बाहुश्रुत्येन तपसा नियोगैः।
उपास्यास्ताः कृत्स्नशो देवता याः।। (८.१३१; १३०)

अतः वेद-मन्त्रों का अध्ययन करते समय ऋषि, छन्द और विनियोग के समान प्रत्येक मन्त्र के देवता का भी सप्रयत्न परिज्ञान करना चाहिए–'वेदितव्यं दैवतं हि मन्त्रे-मन्त्रे प्रयत्नतः।' इस परिज्ञान की प्रक्रिया का विवेचन ही निरुक्त के दैवत काण्ड का मूल उद्दिष्ट है। महर्षि यास्क-प्रणीत निरुक्त सम्प्रति इस वेदाङ्ग का एकमात्र प्रतिनिधि है, जो तीन काण्डों में विभक्त है। निघण्टु के पञ्चम अध्याय में परिगणित अग्न्यादि देवपत्न्यन्त नामों का निर्वचन इसी दैवत काण्ड में हुआ है–'अग्न्यादि देवपत्न्यन्तं दैवतं काण्डमुच्यते।' अन्य नैघण्टुक और नैगम काण्डों में भी कहीं-कहीं प्रसंगवशात् देवस्वरूप की विशद मीमांसा इन्हीं सप्तम से त्रयोदशान्त अध्यायों में की गई है। देव-तत्त्व की प्रचुर जानकारी शौनकीय 'बृहद्देवता' से भी होती है, किन्तु उसका भी मूलाधार यही दैवत काण्ड है।

यास्क के अनुसार 'देव' शब्द दान देने, चमकने, चमकाने अथवा द्युलोक में रहने के कारण निष्पन्न हुआ–'देवः दानात् वा दीपनात् वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा'–(७.४)।

जिन मन्त्रों में किसी देवता का प्रत्यक्ष उल्लेख है, वहाँ तो कोई समस्या नहीं है–किन्तु जहाँ कोई संकेत नहीं है, वहाँ देवता की पहचान कैसे की जाये ? निरुक्त के अनुसार किसी मन्त्र में ऋषि जिस कामना को लेकर जिस देवता की प्रधानता चाहते हुए स्तुति करता है, उसी देवता का वह मन्त्र होता है–'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति–(७.१)। जिन मन्त्रों में देवता का प्रत्यक्ष या परोक्ष उल्लेख नहीं है, उनमें देवता की परीक्षा-विधि यह है कि जिस देवता का यज्ञ अथवा यज्ञाङ्ग हो, उस मन्त्र को उसी देवता का मानना चाहिए–'यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवताः भवन्ति'। 'बृहद्देवता' में शौनक ने भी इसी से साहमत्य व्यक्त किया है:

अर्थमिच्छन्नृषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति।
प्राधान्येन स्तुवन्भक्त्या मन्त्रस्तद्देव सः।।

जहां प्रत्यक्ष रूप से देवता का उल्लेख नहीं होता, उस स्थल के विषय में शौनक का मत है कि यदि किसी मन्त्र में देवता का नाम मध्यम पुरुष में आता है, तो भी उसी को उस मन्त्र का देवता समझना चाहिए, क्योंकि ऐसे पदों का यही लक्षण है :

प्रत्यक्षं देवतानाम् यस्मिन्मन्त्रेऽभिधीयते।
तामेव देवतां विद्यान्मन्त्रे लखणसम्पदा।।(बृहद्देवता १.११)

यज्ञ के अतिरिक्त अन्य स्थानों में याज्ञिकों के अनुसार प्रजापति तथा नैरुक्तों के अनुसार नराशंस को देवता मानना चाहिए। अपनी भावना के अनुसार भी देवत्व के आरोपण की लौकिक प्रवृत्ति का उल्लेख यास्क ने किया है–'अपि वा सा कामदेवता स्यात् प्रायो देवता वा। अस्ति हि आचारो

बहुलं लोके–देवदेवत्यम्, अतिथिदेवत्यम्, पितृदेवत्यम्।' कहीं-कहीं देव-भिन्न वस्तुओं की भी देवता के समान स्तुति देखी जाती है, जैसे अश्व या विभिन्न औषधियाँ–'अदेवता: देवतावत् स्तूयन्ते। यथा अश्वप्रभृतीनि औषधिपर्यन्तानि।'

वैदिक मन्त्रों में यद्यपि अनेक देव-नाम प्राप्त होते हैं और उनमें से प्रत्येक के पृथक् अस्तित्त्व की भी प्रतीति होती है, किन्तु उन सबके मूल में एक ईश्वर की सत्ता के सन्धान की चेष्टा भी बहुधा दिखलाई देती है। ऋग्वेदीय 'इन्द्रं मित्रं वरुणम्०' प्रभृति मन्त्र 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' का स्पष्ट उद्घोषक है। पाश्चात्य मनीषी मैक्डॉनेल ने इसे 'बहुदेववाद के मूल में निहित एकदेववाद' (Polytheistic Monotheism) की संज्ञा दी है। यास्क का कथन है कि देवता की बड़ी महिमा के कारण एक ही आत्मा का वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखलाई देता है–'माहाभाग्यात् देवताया: एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्य आत्मन: अन्ये देवा: प्रत्यङ्गानि भवन्ति।' इसी की प्रस्तुति शौनकीय 'बृहद्देवता' में इस प्रकार हुई है :

तासामियं विभूतिर्हि नामानि यदनेकशः।
आहुस्तासां तु मन्त्रेषु कवयोऽन्योन्ययोनिताम्।।
तेषामात्मैव तत्सर्वं यद् यद् भक्तिः प्रकीर्यते।
तेजस्त्वेनायुधं प्राहुः वाहनं चैव यस्य तत्।। –बृ० दे० १.७१–७३

यास्क ने देवों की प्रकृति-भिन्नता और उनकी सर्वव्यापकता का भी उल्लेख किया है। वे एक-दूसरे से जन्म लेते हैं, जैसे दक्ष से अदिति और अदिति से दक्ष–'प्रकृतिसार्वनाम्याच्च इतरेतरजन्मानो भवन्ति। इतरेतरप्रकृतय:।'

निरुक्तकार के मत से तीन ही प्रधान देवता हैं–पृथिवी स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्षस्थानीय वायु या इन्द्र तथा द्यु (स्वर्ग) स्थानीय सूर्य। इस विभाजन के मूल में ऋग्वेद का यह मन्त्र सन्निहित प्रतीत होता है, जहाँ तीनों ही स्थानों पर ११-११ देवता माने गये हैं :

ये देवासो दिव्येकादशस्थ पृथिव्यामध्येकादशस्था:।
अप्सुक्षितो महिनैकादशस्थ ते देवा यज्ञमिमं जुषध्वम्।।

इस प्रकार ऋग्वेद और अथर्ववेद के अनेक स्थलों पर भी तेंतीस देवों का उल्लेख है। वाजसनेयि संहिता (३३.७) में देवों की संख्या ३३३९ कही गई है :

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चाऽसपर्यन्।

ब्राह्मणग्रन्थों में ३३ संख्या का ही समर्थन किया गया है। शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मणों में इस संख्या का विभाजन यों किया गया है : ८ वसुगण, ११ रुद्रगण और १२ आदित्य। ३३वें देवता के विषय में ब्राह्मणकारों के मध्य मतभेद है। शतपथ ब्राह्मण जहाँ इस सन्दर्भ में द्यौस् और पृथिवी अथवा इन्द्र और प्रजापति का नाम लेता है, वहीं ऐतरेय ब्राह्मण वषट्कार और प्रजापति का।

निरुक्त में पहले तीन देवता कथित हैं और तत्पश्चात् एक ही (अग्नि) पर बल दिया गया है :

'तिस्र एव देवता: इति नैरुक्ता:। अग्नि: पृथिवी स्थानो वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थान: सूर्यो द्युस्थान:–(निरुक्त ७.५)।

तथा–'स न मन्येतायमेवाग्निरिति। अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अवनी उच्येते'–(वही ७.१६)।

यास्क के अनुसार इन्द्रादिनाम या रूप अग्नि के ही हैं–'इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति' (७.१८)।

यास्क के व्याख्याकार दुर्गाचार्य के शब्दों में भी इसी की पुष्टि है–'इन्द्रं मित्रं वरुणमित्येतैरभिधानै: अग्निमाहु: सत्तत्त्वविद:।'

किन्तु यास्क की अपेक्षा कुछ परवर्ती विचारक शौनक तीन ही वर्गों के पक्ष में हैं :

प्रथमो भजते त्वासां वर्गोऽग्निमिह दैवतम्।
द्वितीयो वायुमिन्द्रं वा तृतीय: सूर्यमेव च।।–(बृहद्देवता १.५)

उपर्युक्त तीनों देवताओं की बड़ी महिमा के कारण इनमें से प्रत्येक के बहुत-से नाम हैं, कर्म अलग-अलग होने के कारण इनकी स्तुतियाँ पृथक्-पृथक् हैं। देवों के अधिकार-क्षेत्र और भोग-क्षेत्र की समानता के सन्धान की चेष्टा भी यास्क ने की है। उनके अनुसार देव-लोक वस्तुत: मनुष्य-लोक के समान ही है–'तत्र एतत् नरराष्ट्रमिवे।'

देवताओं का स्वरूप

निरुक्त में देव-स्वरूप के विषय में द्विविध अवधारणाएँ प्राप्त होती हैं–एक के अनुसार देवगण मनुष्यों के समान हैं, इनकी स्तुति चेतनायुक्त जीवों के समान की जाती है–'पुरुष विधा: स्यु: इत्येकम्, चेतनावत् हि स्तुतयो भवन्ति। अथापि पौरुषविधिकै: अङ्गै: संस्तूयन्ते ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू'–यहाँ इन्द्र की स्तुति में उनकी भुजाओं की प्रशंसा की गई है। कहीं-कहीं मानवीय कर्मों से देवों को संयुक्त भी किया गया है, जैसे–हे सुकर्ण! मेरी प्रार्थना सुनो–'आश्रुत्कर्ण! श्रुधि हवम्।' देवों की मनुष्यरूपता के सम्बन्ध में यास्क के उपर्युक्त कथन से अनेक पश्चिमी विद्वान् भी सहमत प्रतीत होते हैं–उदाहरणार्थ मैक्डॉनेल का मत प्रस्तुत है :

"The true gods of the Veda are glorified human beings inspired with human motives and passions born like men but immortal"

— (*Vedic Mythology*, p. 17)

निरुक्त में प्राप्त दूसरी अवधारणा यह है कि देवस्वरूप मनुष्यों के समान नहीं है। जैसे–अग्नि, वायु, आदित्य, पृथ्वी, चन्द्रमा इत्यादि–'अपुरुषविधा: इत्यपरम्, यास्क ने एक तीसरा पक्ष 'उभयवादियों' का भी दिया है। अनेक अचेतन वस्तुओं में भी चैतन्य का आरोप करके उनकी स्तुतियाँ की गई हैं। निरुक्त में 'आख्यानविदों' के नाम से एक वैयासिक (पौराणिक) मत भी प्रस्तुत किया गया है, जिसके अनुसार पुरुषाकार न होने पर भी देवता कर्मस्वरूप तो है ही–'अपुरुषविधानाम् एवं सतां कर्मातमान एते स्यु:।'

अपुरुषविधवादियों का जो मत दिया गया है वही आगे चलकर मीमांसकों के द्वारा अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया, जहाँ 'मन्त्रमयी देवता' को ही फल देने का अधिकर दिया, विग्रहवती को नहीं–यद्यपि उत्तरमीमांसा के व्याख्याताओं को यह नहीं रुचा और उन्होंने उसे भी फल देने

का अधिकार दिया। वस्तुत: सभी शास्त्रकारों ने अपने-अपने शास्त्र के प्रयोजनानुरूप ही देव-स्वरूप को साक्षात्कृत करने की चेष्टा की है–उससे अन्य पक्ष को व्याघात नहीं पहुँचता। निरुक्त में देवस्वरूप के विषय में प्राय: चार मत प्रदत्त हैं–ऐतिहासिक, नैरुक्त, प्राकृतिक तथा आख्यानपरक। विद्वानों ने स्वयं यास्क को प्राकृतिक व्याख्या का पक्षधर निरूपित करने का प्रयत्न किया है–किन्तु यह यास्क के प्रति न्याय-सम्मत नहीं होगा। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' के अनुसार यास्क ताटस्थ्यवृत्ति का ही अवलम्बन करते प्रतीत होते हैं–यह उपासक की श्रद्धा पर निर्भर है कि वह किस देव-स्वरूप को अपनी रुचि, प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुरूप पाकर उसकी उपासना करे।

निरुक्त के सप्तमाध्याय के तृतीय पाद में अग्नि प्रभृति देवों के विभाग और उनसे सम्बद्ध वस्तुओं का विवरण है, जैसे पृथिवीलोक, प्रात:सवन, वसन्त ऋतु, गायत्री छन्द, रथन्तर साम, अग्नायी और इला आदि स्त्रियाँ–इनका सम्बन्ध अग्नि से है। अग्नि का मुख्य कार्य है हविर्वहन तथा यज्ञार्थ विभिन्न देवों का आवाहन।

इन्द्र से सम्बद्ध वस्तुएँ ये हैं–अन्तरिक्ष लोक, माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्म ऋतु, त्रिष्टुप् छन्द, बृहत्साम, अन्तरक्षिस्थ देवता तथा स्त्रियाँ। उनके मुख्य कर्म हैं रसानुप्रदान, वृत्रवध तथा बल विषयक अन्य कृत्य। आदित्य से सम्बद्ध वस्तुएँ तथा कार्य इस प्रकार हैं–स्वर्गलोक, तृतीयसवन, वर्षा ऋतु, जगती छन्द, वैरूपसाम, स्वर्गगत स्त्रियाँ। उनका मुख्य कार्य है रश्मियों के द्वारा रस-ग्रहण। इन देवों में से कुछ सूक्तभाजन कुछ ऋग्भाजन और कुछ हविर्भाजन हैं–कतिपय देवता निपातभाजन (आकस्मिक) भी हैं।

देवों के विषय में उपर्युक्त यास्कीय विभाजन को प्राय: सभी परवर्ती भाष्यकारों और विद्वानों ने माना है। पश्चिमी विद्वानों ने उपर्युक्त पृथिव्यादि तीन वर्गों के अतिरिक्त भावात्मक (abstract), रक्षक (Tutelary), युग्म, समूहपरक (जैसे मरुद्गण) तथा देवियों के अवान्तर विभाजन और बढ़ा दिये हैं, जिनका अन्तर्भाव निरुक्तकार द्वारा निर्धारित श्रेणियों में ही हो जाता है।

इसी अध्याय के चतुर्थ पाद में अग्नि प्रभृति विभिन्न देवनामों के निर्वचन दिये गये हैं–जैसे अग्नि का नामकरण अग्रणी होने के कारण हुआ–वे यज्ञ में सर्वप्रथम लाये जाते हैं–'अग्नि: कस्मात्? अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते।' पञ्चम, षष्ठ और सप्तम पादों में अग्नि के जातवेदस्, वैश्वानर और आदित्याख्य स्वरूपों का विवरण है।

वैश्वानर का सम्बन्ध अग्नि के वैद्युत स्वरूप से प्रदर्शित करते हुए यास्क ने विद्युत् की वैज्ञानिक प्रक्रिया का विशेष रूप से उल्लेख किया है। अष्टम अध्याय के प्रथम पाद में अग्नि के द्रविणोदा (बल या धनप्रदाता) रूप की विवेचना की गई है। द्वितीय पाद में 'आप्री' संज्ञक सूक्तविशेषों में वर्णित 'आप्रीदेवों' का विवरण है। ये हैं–इध्म (यज्ञ का इन्धन), तनूनपात् (अग्नि या घृत), नराशंस (यज्ञस्वरूप), ईळ, बर्हि (कुशा), द्वार, उषासानक्ता (उषस् और रात्रि), दैव्या होतारा (पार्थिव और मध्यमस्थानीय अग्नियाँ), तीन देवियाँ (भारती, इळा, सरस्वती), त्वष्टा (वायु अथवा शिल्पिविशेष), द्यावापृथिवी, वनस्पति (यूप) तथा स्वाहाकृतियाँ। शाकपूणि (–एक प्राचीन निरुक्ताचार्य–) के अनुसार ये सभी अग्नि ही हैं।

नवमाध्याय के प्रथम तीन, पादों में अश्व, शकुनि, मण्डूक, अक्ष, रथ, दुन्दुभि आदि पार्थिव

जीवों तथा पदार्थों में निहित देवत्व को उद्घाटित किया गया है। इसी क्रम में गंगादि नदियाँ भी हैं, जिनके नाम-निर्वचन अत्यन्त मनोरम हैं। उदाहरण के लिए 'गंगा' का नामकरण 'गमन' क्रिया के आधार पर हुआ है और यमुना का विभिन्न जलों के मिश्रण के कारण। औषधि, रात्रि, आरण्यानी, श्रद्धा, पृथिवी, अप्वा (पापाभिमानिनी देवता), अग्नायी (अग्नि की पत्नी) संज्ञक देवियों के नाम-निर्वचन मन्त्रसहित इसी अनुक्रम में प्राप्त होते हैं। चतुर्थ पाद में उलूखल-मुसल प्रभृति आठ द्वन्द्वों (युग्म देवों) की निरुक्तियाँ उपलब्ध होती हैं।

दशम अध्याय के प्रथम दो पादों में मध्यमस्थानीय देवों–वायु, वरुण, रुद्र, इन्द्र आदि की निर्वचनमूलक स्वरूप-विवेचना की गई है। 'इन्द्र' शब्द 'इरा' (अन्न) को धारण करने के कारण निष्पन्न हुआ। क्षेत्रस्यपति, वास्तोष्पति (गृह-पालक), वाचस्पति (वाणी का परिपालक) आदि के निर्वचन भी इसी क्रम में हुए हैं। तीसरे और चौथे पादों में विश्वकर्मा, तार्क्ष्य (त्वष्टा), मन्यु, दधिक्रा (अश्व), सविता, वेन, असुनीति (मध्यम प्राण), ऋत (यज्ञ, सत्य, जल) आदि के नाम-निर्वचन सुलभ हैं। 'प्रजापति' की विवेचना भी इसी अनुक्रम में है :

प्रजानां पाता (रक्षकः) वा पालयिता वा।

११वें अध्याय में श्येन (लौकिक अर्थ बाज), सोम (सोमलता या सोमरस का अभिमानी देवता), चन्द्रमा (चायन् द्रमति–सबको देखते हुए जाता है अथवा चन्द्रश्चन्दतेः–कान्त्यर्थक), मृत्यु (मध्यम प्राण–जिससे सबकी मृत्यु होती है), मरुतों, ऋभुओं (आदित्य-रश्मियाँ), अङ्गिरसों, पितरों, भृगुओं आदि की विवेचना की गई है। इसी अध्याय के तृतीय पाद में मध्यमस्थानीय स्त्री देवताओं–अदिति (दक्ष की पुत्री-दाक्षायणी), सरमा (मध्यमा वाक्, ऐतिहासिकों के अनुसार देव-कुक्कुरी), सरस्वती, वाक्, अनुमति (पश्चात् मनन करने वाली), पौर्णमासी, सिनीवाली तथा कुहू (देवपत्नियां, अमावास्या) की विवेचना प्राप्त होती है। चतुर्थ पाद में उर्वशी (नैरुक्तों के अनुसार विद्युत् तथा ऐतिहासिकों के अनुसार पुरूरवा की प्रणयिनी), गौरी एवं पथ्या स्वास्ति (अन्तरिक्ष में निवास करने वाली देवी) के नाम-निर्वचन प्रदत्त हैं।

१२वें अध्याय में द्युस्थानीय देवों–अश्विनौ (सम्पूर्ण भुवन को व्याप्त करने वाले, देव-वैद्य, पुण्यकर्मा राजा या अहोरात्र), उषस्, सूर्या (सूर्य की पत्नी–ज्यों-ज्यों सूर्य आगे बढ़ता है, उषा ही सूर्यारूप में परिणत होती जाती है), वृषाकपायी (वृषाकपि–आदित्य की पत्नी), सरण्यू (उषस् का ही अग्रेसर रूप), अज एकपाद (सूर्य) आदि के स्वरूप पर निर्वचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।

१३वें अध्याय में अतिस्तुतियों का विवरण है। इस प्रकार यास्क के अनुसार देव-तत्त्व अत्यन्त व्यापक है। अन्त में उपासक के लिए फल-श्रुति भी दी गई है, जिसके अनुसार निरुक्त-प्रक्रिया का तपस्वी वेत्ता सम्यक् श्रद्धोपासना के बल पर जिस-जिस देवता का निर्वचन करने में समर्थ होता है, मृत्यु के अनन्तर उसी का सायुज्यानुभव करता है–'अथागमो यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्तद्भाव्यमनुभवति।'–(निरुक्त १३.१)

आधुनिक भारतीय मनीषियों की देवविषयक अवधारणा

स्वामी दयानन्द ने अनेक देवतावाद का विरोध किया है। अग्नि, इन्द्र इत्यादि को एक ही परमात्मा के विशेष गुण माना है। उदाहरण के लिए परमात्मा के प्रकाशक गुण का नाम अग्नि है। इसी प्रकार अन्य देवनामों के भी यौगिक और व्युत्पत्तिपरक अर्थ ही उन्हें ग्राह्य हैं। कहीं-कहीं 'देव' शब्द का अर्थ ही उन्होनें 'विद्वान्' भी किया है।

श्री अरविन्द ने भी आध्यात्मिक पक्ष पर ही अधिक बल दिया है। उदाहरण के लिए अग्नि का अभिप्राय अन्तःकरण में स्फुटित होने वाले प्राण हैं। इन्द्र प्रबुद्ध मन के देवता हैं। अश्विनौ के विषय में उनका मत है कि ये दो युगल दिव्य शक्तियाँ हैं, जिनका मुख्य व्यापार है मनुष्य के अन्दर भोग के रूप में वातमय या प्राणमय सत्ता को पूर्ण करना; परन्तु साथ ही वे सत्य, ज्ञानयुक्त कर्म और यथार्थ भोग की भी शक्तियाँ हैं। इन्हें उन्होंने चेतना के समुद्र से उत्पन्न शक्तियाँ बतलाया है।

स्व॰ पं॰ सातवलेकर ने भी देवताओं को पिण्ड और ब्रह्माण्ड में समानान्तर विद्यमान विभिन्न शक्तियों के रूप में निरूपित किया है। उदाहरण के लिए इन्द्र के विषय में उनका कथन है कि जागतिक तत्त्वों का जो अंश हमारे शरीर में रहता है, इन्द्र उन्हीं में से एक है। इस शक्ति का आगे भी विस्तार किया जा सकता है।

डॉ॰ वासुदेव शरण अग्रवाल ने केवल दो ही देवों की मूल सत्ता मानी है–अग्नि और सोम। इन दोनों के ही अन्तर्गत अन्य सभी का अन्तर्भाव कर दिया है। इन्द्र को उन्होंने भी प्राणशक्ति ही माना है।

वी॰ जी॰ रेले ने देवताओं की व्याख्या जैव वैज्ञानिक सन्दर्भों में की है। उनकी पुस्तक का नाम ही है–'वैदिक गाड्स्, ऐज फीगर्स ऑफ बायोलॉजी।' उनके अनुसार सभी वैदिक देवता मनुष्य के स्नायु-संस्थान के विभिन्न चेतना-केन्द्रों तथा क्रियाओं के प्रतीक हैं। मस्तिष्क, सुषुम्ना एवं तंत्रिकाएँ ही देवों के निवास-स्थान हैं।

डॉ॰ सम्पूर्णानन्द के मत का आधार यौगिक प्रक्रिया है। उनका कथन है–'किसी मन्त्रविशेष का जप करने से अर्थात् उस पर चित्त को एकाग्र करने से शक्ति जिस रूप में प्रकट होती है, उसको उस मन्त्र का देवता कहते हैं। यदि विधि से चित्त को एकाग्र करने पर किसी मन्त्र विशेष के द्वारा संहार करने वाली शक्ति उद्बुद्ध हो तो यह कहा जायेगा कि उस मन्त्र के देवता रुद्र

यास्क से लेकर अधुनातन भारतीय मतों के आधार पर देवों के आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक तीनों स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किये जा सकते हैं :

अग्नि–भौतिक अग्नि, संकल्पशक्ति, ब्राह्मण, नेता, मन्त्री।

इन्द्र–विद्युत्, वृष्टिदेव, जीवात्मा, क्षत्रिय, राजा, राष्ट्रपति, अथवा प्रमुख सेनानायक।

मरुद्गण–वृष्टिवात, इन्द्रियां अथवा प्राण, सैनिक।

विष्णु–अग्रगामी सूर्य, प्रगति-भावना, समाजसुधारक।

सविता–प्रकाश, अन्तः प्रेरणा, संन्यासी। वरुण-आकाश, न्याय तथा प्रेम भावना, न्यायविभाग।

सोम–विशिष्ट औषधि, चन्द्रमा, दिव्यानन्द इत्यादि

–लेखक

हैं। इसी प्रकार इन्द्र, विष्णु आदि विभिन्न मन्त्रों के देवता कहे जाते हैं। वहाँ उद्देश्य किसी व्यक्ति से नहीं, शक्ति से होता है, जो उस मन्त्र के द्वारा जागती है। इन्द्र, विष्णु आदि निश्चय ही शक्तियों के नाम हैं। ये देवगण हैं। देवगण पुराने कल्पों के वे प्रचण्ड तपस्वी और योगी हैं, जिन्होंने बहुत-सी शक्तियों पर अपने तप और साधना से अधिकार प्राप्त किया है और अब जगत् के संचालन में भाग लेते हैं।[1]

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार वैदिक देवों की सामान्य विशेषताएँ

(१) वैदिक देवता उन भौतिक घटनाओं के ही अधिक निकट हैं, जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका प्रमुख आधार प्राकृतिक है। यद्यपि पाश्चात्य विद्वान् अद्यावधि अनेक देवताओं के प्राकृतिक स्वरूप का निर्धारण नहीं कर सके हैं। प्रो॰ खोण्डा-सदृश विद्वानों ने तो प्रत्येक वैदिक देवता के उद्गम को प्राकृतिक तत्त्वों में खोजने की प्रवृत्ति की पौनःपुन्येन आलोचना की है।

(२) दीप्तिमत्ता, शक्ति, उपकारशीलता और वैदग्ध्य प्रभृति गुण सभी देवों में समानरूप से सुलभ हैं। युग्म रूप में संस्तुत देवों में गुणों का सम्मिश्रण अधिक है। परिणामस्वरूप किसी एक देवता की विशिष्टता उस स्थिति में भी दूसरे के साथ संयुक्त दिखाई देती है, जबकि वह अकेले ही आता है। ऋग्वेद में इसी कारण एक देव का दूसरे के साथ बहुधा समीकरण है।[2]

(३) ऋग्वैदिक काल की समाप्ति तक एक प्रकार के अनेक देवतावादी एकेश्वरवाद का विकास हो चुका था। इसीलिए इस समय हमें किसी एक देवता की ही औपक्रमिक रूप से सर्वदेववादी धारणा मिलती है और ऐसा देव केवल समग्र देव-समाज का नहीं, प्रत्युत प्रकृति का ही प्रतिनिधित्व करता है।

(४) बहुधा वैदिक कविवृन्द स्तूयमान देवता की प्रशस्ति में अत्यन्त भावविभोर हो उठता है। मैक्समूलर के शब्दों में यह 'हीनोथीज्म' है, जिसके अनुसार पृथक्-पृथक् देवों को बारी-बारी से सर्वश्रेष्ठ मानने के विश्वास के द्वारा वैदिक कविगण उस देवता को, जिसे वह सम्बोधित कर रहे हैं, इस रूप में ग्रहण करके देवत्व के सभी श्रेष्ठतम गुणों को उसी पर आरोपित कर देते हैं—मानो उस समय उनके मन में उपस्थित वही देवता सर्वथा स्वतन्त्र और श्रेष्ठ है। ह्विटनी, हापकिन्स और मैक्डॉनेल ने इसका विरोध किया है। उनके अनुसार कोई भी अन्य धर्म अपने देवों का इतना निकटतम और सम्मिश्रित रूप इतनी अधिक बार नहीं प्रस्तुत करता, जितना वैदिक धर्म। यह प्रवृत्ति यहाँ तक है कि वेदों के सर्वशक्तिमान् देवों को भी अन्य देवों पर निर्भर बतलाया गया है।

(५) वैदिक कवि की दृष्टि में देवों का भी आरम्भ ही हुआ, क्योंकि इन्हें प्रायः आकाश, पृथ्वी तथा अन्य देवों की सन्तान कहा गया है।

१. वेदार्थ प्रवेशिका, पृ॰ ४९।
२. *All India Oriental Conference* (पूना, १९७८) का अध्यक्षीय भाषण।

(६) 'पूर्व्ये' आदि शब्दों से स्पष्ट है कि देवों की अनेक पीढ़ियाँ रही हैं। अथर्ववेद (११.८) में ऐसे १० देवों का उल्लेख है, जिनका अन्य देवों की अपेक्षा पहले से अस्तित्त्व था। मूलत: इन्हें भी मरणशील माना गया है–किन्तु सोम-पान करने से वे अमर हो गये।

(७) देवों के भौतिक स्वरूप पर मानवत्व आरोपित है–किन्तु यह आरोपण इतना क्षीण है, क्योंकि यह केवल देवों के क्रिया-कलापों का वर्णन करने के लिए ही उनके प्राकृतिक आधार पर लक्षणात्मक प्रतिनिधित्व करता है।

(८) आशावान् वैदिक भारतीयों को अग्नि, सूर्य, झंझावात आदि प्रमुख प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिनिधि देवगण विशेष रूप से उपकारी और समृद्धि-संवाहक ही दिखे हैं। इसका अपवाद केवल एक देवता है रूद्र, जिसमें कुछ हानिकर प्रवृत्तियाँ भी हैं।

(९) वैदिक देवों का नैतिक आचरण सामान्यत: उच्च है।

(१०) इच्छाओं की पूर्त्ति देवों की कृपा पर ही निर्भर है।[3]

वैदिक देवताओं का क्रम

यद्यपि मैक्डॉनेल और कीथ ने द्युस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और पृथिवी स्थानीय-देवताओं का यह क्रम प्रस्तावित किया है, किन्तु हमारी दृष्टि में इसे अपनाना अनुपयुक्त है। 'पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ:'–यह क्रम ही ठीक है, क्योंकि यह आरोहात्मक है। इस क्रम में हम पृथ्वी से ऊपर के लोको में जाते हैं, जबकि उपर्युक्त क्रम में द्युलोक से मानो नीचे गिर रहे हैं। निरुक्तकार ने भी आरोहात्मक क्रम ही अपनाया है।

वैदिक देवताओं का वर्गीकरण

यास्क को आधार मानकर देवों की स्थिति के अनुरूप उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :

(क) **पृथिवी स्थानीय देवता**–अग्नि, सोम, बृहस्पति, नदियाँ, पृथिवी, त्वष्टा, देवियाँ, विश्वकर्मा, प्रजापति, अदिति और दिति-इत्यादि।

(ख) **अन्तरिक्ष स्थानीय देवता**–इन्द्र, त्रित आप्त्य, अपांनपात्, मातरिश्वा, अहिर्बुध्न्य, अज एकपाद्, रुद्र, मरुद्गण, वायु (वात), पर्जन्य, आप् (जल) इत्यादि।

(ग) **द्युस्थानीय देवता**–आदित्यगण, सूर्य तथा अन्य सौर देवता, विवस्वान, सावता, पूषा, अर्यमा, मित्र, वरुण, मित्रावरुणौ, अश्विनौ इत्यादि।

'ग्याटरनामेन् के रचयिता जर्मन् मनीषी उजेनर ने आर्यों के देव-मण्डल में देवताओं के स्वरूप-विकास की अवस्थाओं के आधार पर उनका वर्गीकरण तीन श्रेणियों में किया है–क्षणिक देवता, विशेष देवता तथा वैयक्तिक देवता। इस वर्गीकरण को सम्प्रति पूरी तरह अप्रासंगिक माना

३. भारोपीय काल और अवेस्तागत वैदिक देवताओं के स्वरूप परिज्ञान के लिए डॉ॰ गयाचरण त्रिपाठी-कृत ' वैदिक देवता : उद्भव और विकास–शीर्षक कृति अवलोकनीय है। इसके प्रथम खण्ड के प्रथम दो अध्यायों में इस विषय का अच्छा विश्लेषण किया गया है।

जाता है। ब्लूमफील्ड ने वैदिक देवों का विभाजन पाँच वर्गों में किया है :

(१) **प्रागैतिहासिक काल के देवता**–ये वैदिक साहित्य के साथ ही अवेस्ता में भी प्राप्त होते हैं–यथा, द्यौः, वरुण, मित्र, अर्यमा इत्यादि।

(२) **पारदर्शी अथवा स्पष्ट देवता (Transparent gods)**–अपने प्राकृतिक स्वरूप से पर्याप्त विकसित होने पर भी इन देवों का मूल स्वरूप अदृश्य नहीं है। इस श्रेणी में सूर्य उल्लेखनीय है।

(३) **अपारदर्शी अथवा अस्पष्ट स्वरूप वाले देवता (Opaque gods)**–इन्द्र, वरुण एवं अश्विनौ प्रभृति देवता इस संवर्ग में हैं, जिनका मूल रूप आज दुर्ज्ञेय हो गया है।

(४) **अल्प पारदर्शी, अर्धस्पष्ट अथवा धूमिल देवता (Translucent gods)**–इस श्रेणी के प्रतिनिधि देवता विष्णु हैं, जिनका व्यक्तित्व अपने मूल प्राकृतिक स्वरूप (सूर्य) से पृथक् होकर पर्याप्त विकसित हो चुका है–फिर भी अदृश्य नहीं हुआ है और अल्प प्रयत्न से ही जाना जा सकता है।

(५) **अमूर्त्त अथवा भावात्मक देवता** (Abstract gods)–ये किसी क्रिया अथवा भाव विशेष को सूचित करते हैं। प्रजापति, विश्वकर्मा, बृहस्पति, पुरुष, काल, श्रद्धा, काम, निर्ऋति और मन्यु इस श्रेणी में हैं।

विद्वानों को, अनेक प्रबल न्यूनताओं के कारण सम्प्रति इस सिद्धान्त पर भी कोई आस्था नहीं है। इन सब पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर, यास्क का ही उपर्युक्त वर्गीकरण अधिक स्वीकार्य सिद्ध होता है।

प्रमुख वैदिक देवता

वैदिक देवताओं के स्वरूप-निदर्शनार्थ यहाँ कतिपय ऋग्वैदिक देवताओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

अग्नि

यह यज्ञाग्नि के मूर्तरूप हैं। ऋग्वेद के २०० सूक्तों में इनकी स्तुति की गई है। श्री अरविन्द ने अग्नि को मनुष्य की दिव्य संकल्प शक्ति और विवेक का प्रतीक माना है।[४] अग्नि के मानवीकरण में यज्ञात्मक पक्ष को स्पष्ट ही प्रधानता मिली है। अग्नि घृतपृष्ठ, घृतमुख, सुन्दर जिह्वा वाले, घृतकेश, ज्वालकेश या हरितकेश तथा हरी दाढ़ी वाले हैं। इनके जबड़े तीक्ष्ण हैं; दाँत स्वर्णिम,

४. Again first, for without him the sacrificial flame, can not burn on the altar of the soul. That flame of Agni is the seven tongued power of the will, a force of God instinct with knowledge. This conscious and forceful will is the immortal guest in our mortality a pure priest and a divine worker, the mediator between earth and heaven. It carries what we offer to the higher powers and brings back in return their force and light and joy into our humanity'—Hymns to the Mystic Fire, Introduction, Page XXXI.

उज्ज्वल या लोहे के समान हैं। इनके तीन मस्तक और सात रश्मियाँ हैं। घृत अग्नि का नेत्र है। 'सहस्रमुष्क' विशेषण भी इनके लिए आया है।

बलिष्ठ वृषभ, अश्वों, वत्स (बछड़ा) और एक दिव्य पक्षी के समान अग्नि को कहीं-कहीं बतलाया गया है।

अग्नि का भोजन काष्ठ या घृत है और पेय तरल घृत। वे तीक्ष्ण दांतों से वनों को खाते या चबाते हैं। इन्हें वह मुख माना गया है जिससे देवगण हविष्य को ग्रहण करते हैं।

इनकी उज्ज्वलता की प्रचुर चर्चा की गई है। वे अद्‌भुत प्रकाश से प्रदीप्त, उज्ज्वल और स्वच्छ ज्वालाओं वाले हैं। इनकी आभा उषस् और सूर्य-रश्मियों तथा वर्षा-मेघ की विद्युत् के सदृश है। अन्धकार का यह शमन करते हैं। उषाकाल में प्रज्ज्वलित किए जाने के कारण 'उषर्बुध' कहलाते हैं।

अग्नि का भ्रमणपथ काला है। अग्नि धूमकेतु हैं। वे प्रकाशमान रथ पर चलते हैं। उनके रथ को अरुणिम अश्व खींचते हैं। अग्नि के पिता द्यौस् हैं और माँ पृथिवी। कहीं-कहीं यह असुर, जल और इला के पुत्र भी कहे गए हैं। इनका दैनिक पार्थिव जन्म दो अरणियों और १० कन्याओं (अरणिमन्थन करने वाली उंगलियों) से होता है। यह 'सहस:'-(शक्ति) सूनु भी हैं। ये युवा और वृद्ध भी हैं। आकाश अथवा अन्तरिक्ष से अग्नि के जन्म का भी बहुधा उल्लेख है। अग्नि की प्रकृति त्रिगुणात्मक है। कहीं-कहीं वरुण और इन्द्र को अग्नि का सहोदर माना गया है। कहीं-कहीं अग्नि मित्र के साथ भी समीकृत है। एक ऋग्वेदीय स्थल पर अग्नि पाँच देवियों के अतिरिक्त एक दर्जन देवों के साथ समीकृत है। अपने प्रकाश से अग्नि राक्षसों को भगा देते हैं। अग्नि यज्ञ में देवों को लाते हैं और प्राय: यज्ञभाग को देवताओं तक पहुँचाते हैं। ऋत्विक् विप्र आदि विशेषणों का इसीलिए अग्नि के निमित्त बहुल प्रयोग है। पौराहित्य कर्म अग्नि का सर्वाधिक वैशिष्ट्य है। वे शवभक्षक (क्रव्याद) भी हैं। अग्नि प्रथम अङ्गिरस द्रष्टा हैं। 'जातवेदस्' उपाधि भी उनके लिए व्यवहृत है। वे स्तोताओं की शत-शत लौह-प्राचीरों द्वारा रक्षा करते हैं। उन्हें सब प्रकार की समृद्धियाँ प्रदान करते हैं।

लैटिन 'इग्नि-स' और स्लैवोनिक 'ओग्नि' के साथ भी अग्नि का साम्य स्थापित किया जाता है। इनके इन्य प्रमुख विशेषण हैं-वैश्वानर, तनूनपात्, नराशंस, ऋतगोपा, विश्ववेदा, पुरुप्रिय, गातुवित्तम, मधुहस्त्य, विभावसु आदि।

सविता

ऋगवेद के ११ सम्पूर्ण तथा अंशत: अन्य सूक्तों में सविता का वर्णन हुआ है। इनके नाम का उल्लेख १७० बार प्राय: हुआ है। यह प्रमुखतया एक स्वर्णमय देव हैं। इनके सभी अवयवों तथा उपकरणों का वर्णन इसी रूप में है। यह स्वर्णपाद, स्वर्णनेत्र, स्वर्णजिह्व, स्वर्णिम भुजाओं वाले, पीले केशों वाले तथा समन्तात् पिशङ्ग वेशधारी हैं। इनके पास स्वर्णमय रथ है, जिसे दो प्रकाशमय अश्व अथवा दो श्वेतपाद अश्व खींचते हैं। वायु, आकाश और पृथ्वी के समस्त स्थानों को यह आलोकित कर देते हैं। अपनी स्वर्णमयी भुजाओं को ऊपर उठाकर यह समस्त प्राणियों को जागृत कर देते हैं। सभी प्राणियों का निरीक्षण करते हुए सवितृदेव अपने हिरण्यशय्यायुक्त स्वर्णरथ में

बैठकर भ्रमण करते हैं। यह देवों को अमरता और मनुष्यों को जीवनावधि प्रदान करते हैं। इनसे दुःस्वप्नों को नष्ट करने तथा मनुष्यों को निष्पाप करने की स्तुति की गई है।

सविता नियमों के सुदृढ़ पालक हैं। कोई भी प्राणी यहाँ तक कि इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा और रुद्र भी इनके व्रत में बाधा नहीं पहुँचा सकते।

यास्क ने सविता को मध्यम स्थानीय बतलाया है, क्योंकि यह वर्षा कराते हैं। सुप्रसिद्ध सावित्री (गायत्री) मन्त्र में सविता की इसी निमित्त स्तुति की गई है कि वह उपासकों की बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें। 'सविता' शब्द निष्पन्न ही 'सूञ्' (प्रसवे) धातु से हुआ है, जिसका अर्थ है प्रेरित करना, जागृत करना और ऐश्वर्य प्रदान करना।

अनेक स्थलों पर सविता और सूर्य के मध्य अन्तर किया गया है। यास्क के अनुसार सविता उस समय प्रकट होते हैं, जब अन्धकार समाप्त हो चुका होता है। सायण का कथन है कि उदय होने रो पूर्व सूर्य को 'सविता' कहते हैं किन्तु उदय से लेकर अस्त होने तक सूर्य। मैक्डॉनल का मत है कि 'वैदिक कवियों की दृष्टि में यह सूर्य की एक मूर्त्त दिव्य शक्ति है, जबकि स्वयं सूर्य एक अपेक्षाकृत अधिक स्थूल देव हैं और उनकी धारणा में सूर्य-पिण्ड की बाह्य आकृति का अभाव कभी भी अनुपस्थित नहीं है क्योंकि 'सूर्य' नाम तथा भौतिक सूर्य में समानता है। ओल्डेनबर्ग का विचार है कि 'सविता वास्तव में प्रेरणा की एक अमूर्त्त धारणा का प्रतिनिधित्व करता है और इसके चरित्र में सूर्य अथवा किसी भी दशा में सूर्य सम्बन्धी धारणा प्रायः गौण रूप से ही संयुक्त है।' पाश्चात्य देवता 'जेनुस' से इसकी समानता है।

अपने विख्यात गायत्री छन्दःस्क मन्त्र के कारण सविता का वर्तमान भारतीय जीवन में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है और देव के स्थान पर देवी रूप प्राप्त करने की दिशा में तेजी से अग्रसर है।

बृहस्पति

'बृह' (वर्धन) धातु से निष्पन्न 'बृहः' शब्द षष्ठी एकवचन का रूप है–पति के साथ इसका अर्थ है–**प्रार्थना मन्त्रों का स्वामी**। यह देवों के पुरोहित तथा **प्रज्ञा के देवता** हैं–ब्राह्मण ग्रन्थों में इसके अनेक रोचक निर्वचन प्राप्त होते हैं–वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः' (शतपथ १४.४, १.२२); ७ द्युम्नं हि बृहस्पतिः' (वही, ३.१.४.१९), 'बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा–' (वही, १.७.४.२१) इत्यादि।

इनका नामान्तर **ब्रह्मणस्पति** भी हैं। ऋग्वेद के **११ स्वतन्त्र सूक्तों** में और अन्य दो सूक्तों में इन्द्र के साथ इनका वर्णन है। इनके शारीरिक अवयवों का विशेष उल्लेख नहीं है। यह सुवर्ण के समान दीप्तिमय हैं। हाथों में धनुष-बाण तथा स्वर्णिम परशु है। इनके रथ में लाल रंग के अश्व सन्नद्ध हैं। जगत् में यह प्रकाश विकीर्ण करते हैं। गुहा के भीतर विन्यस्त गायों के उद्धार में वह श्रेयोभाजन हैं। उपासकों को दीर्घायु प्रदान करते हैं। कालान्तर से इनके व्यक्तित्व से ही गणपति का विकास हुआ।

ऋग्वेद के एक सूक्त के अनुसार बृहस्पति को देवों ने अपना अग्रणी तभी बनाया जब उनकी शक्ति, गर्जना और सरस वाणी के प्रति वे आश्वस्त हो गये। बृहस्पति के मार्गदर्शन में ही पुरातन

अङ्गिरस ऋषियों ने बल के कारागार में निरुद्ध गायों को मुक्त कराया था। एक मन्त्र के अनुसार बृहस्पति के जन्म के समय, सात मुख और सात ही रश्मियाँ थीं। उन्होंने अपनी ध्वनि से अन्धकार का निवारण कर दिया था। बृहस्पति की कृपा से सुपुत्र, बहुविध सम्पत्ति और प्रभूत सेवक प्राप्त होते हैं। कतिपय मन्त्रों में बृहस्पति का तादात्म्य राज-पुरोहित से भी स्थापित किया गया है।

सोम

ऋग्वेद का सम्पूर्ण नवम मण्डल सोम देवता का है। इसके ११४ सूक्तों के अतिरिक्त अन्य मण्डलों के छह सूक्तों में भी सोम की स्तुति है। यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में भी सोमविषयक लगभग ४० मन्त्र हैं। सोमयाग से सम्बद्ध होने के कारण यह सर्वप्रमुख देवों में से एक है। आवृत्ति की दृष्टि से वैदिक देवों में सोम का स्थान तृतीय है।

सोम का अभिप्राय सोमलता, सोमरस, सोमाधिष्ठातृ देवता और सोम (चन्द्रमा) भी है। यद्यपि हिलेब्राण्ड्ट् का आग्रह नवममण्डल के समस्त मंत्रों को चन्द्रमा को सम्बोधित मानने का है किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता।

पौधे के रूप में सोम की पहचान अभी नहीं हो सकी है। वैदिक विद्वानों के अतिरिक्त वनस्पतिशास्त्रियों ने भी इस समस्या को सुलझाने के लिए अथक चेष्टा की है किन्तु कोई अन्तिम निष्कर्ष नहीं निकल सका है। कुछ गवेषणाएँ ये हैं :

(१) डॉ॰ वाट ने कोंकण, कर्नाटक, सिंहभूम, रांची, पुरी और बंगाल में मिलने वाले तथा आरोही (ट्रेलिंग या ट्वाइनिंग) झाड़ी के रूप में फैलने वाले 'सारकोटेस्टेम्मा एसिडम (रौक्स) वोगृ (मदारकुल)' को सोम बतलाया है।

(२) कुछ विद्वानों ने 'पेरिप्लोका एफाइल्लाडेकने (मदारकुल)' को सोम माना है। पंजाब में इसका नाम 'तरी' तथा बंबई में 'बुराये' है। यह पंजाब के मैदानों में झेलम से पश्चिम की ओर तथा हिमालय के निचले भाग में बिलोचिस्तान तक पाया जाता है। इसके दूधिया रस का प्रयोग सूजन व फोड़े पर किया जाता है।

(३) डॉ॰ उस्मान अली तथा नारायणस्वामी ने 'सिरोपिजिया जाति (मदारकुल)' को सोम का प्रतिनिधि कहा है। केरल में इसका प्रचलन भी 'सोम' नाम से है।

(४) पेशावर विश्वविद्यालय के वनस्पतिशास्त्री एन॰ ए॰ काजिल्वास के अनुसार 'एफेड्रा पैकिक्लाडा बौस (ग्नेटेसी)' तथा इसकी एक अन्य जाति सोम है जो हिन्दूकुश पर्वत, सफेद कोह तथा सुलेमान रेंज में प्राप्त होती है।

(५) डॉ॰ मायर्स ने 'एफेड्रा गिरार्डियाना' को सोम माना है।

(६) डॉ॰ आर॰ एन॰ चोपड़ा ने सोम की पहचान गिलोय एवं 'रूटा ग्रविलोलेसं' से की है।

(७) कहा जाता है कि चीन में प्रयुक्त होने वाली 'गिनसेगं' नामक वनौषधि (पैनेक्स शेनशुगं अरालिऐसीकुल) में भी सोम के सदृश कुछ गुण हैं।

(८) सुप्रसिद्ध अमेरिकी अभिकवकशास्त्री रिचर्ड गार्डन वैसन ने अपने १५ वर्ष के अनुसन्धान के पश्चात् 'फ्लाई आगेरिक' नाम कुकुरमुत्ते की जाति के 'अमानिता मस्कारिया' से सोम की पहचान की है। यह कवक (फफूंद) अफगानिस्तान, एशिया के समशीतोष्णवनीय भाग तथा उत्तरी साइबेरिया

में भोज वृक्ष (बर्च) तथा चीड़ के वनों में मिलता है। इसका सेवन उन्मादक रूप में होता है। कवक के टुकड़े या रस के प्रयोग से शारीरिक शक्ति बढ़ जाती है; दिवास्वप्न दिखाई देने लगते हैं। इसमें मस्केरीन, एट्रोपीन, स्कोपोलेमीन, हाइयो सायेमीन आदि एल्कलायड् पाए जाते हैं। सन् १९७१ में, कैनबरा (आस्ट्रेलिया) में हुए प्राच्यवेत्ताओं के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में जब डॉ॰ वैसन ने सोम को उपर्युक्त मतिविभ्रमकारी फफूंद बतलाया तो डॉ॰ आर॰ एन॰ दाण्डेकर और यादवपुर विश्वविद्यालय के डॉ॰ एम॰ भट्टाचार्य ने उसका वहीं सतर्क खण्डन कर दिया।

ऋग्वेदीय वर्णनों के अनुसार सोम-पौधा मूजवत पर्वत पर उत्पन्न होता था। 'गिरिष्ठा', 'पर्वतावृध' और 'अद्रय:' विशेषणों से यह पुष्ट है। अवेस्ता में भी 'हओम' (सोम) के पर्वतों पर उगने का उल्लेख है। सोम पार्थिव होने पर भी स्वर्गीय है। स्वर्ग से इसे श्येनपक्षी लाते थे।

सोमरस पाने के लिए सोम-पौधे को पत्थरों से दबाया जाता था। दबाया जाने वाला भाग 'अंशु' और शेषांश 'अन्धस्' कहलाता है। पत्थर पर कुचलने के बाद उसे भेड़ के ऊन से बने छनने से छाना जाता था। छनते हुए सोम को 'पवमान' अथवा 'पुनान' (स्वच्छ होकर बहने वाला) कहा गया है। परिष्कृत सोमरस को 'शुद्ध', 'शुक्र' और 'शुचि' नाम दिए गए हैं। तत्पश्चात् उसमें दूध (गवाशिर), दही (दध्याशिर), अथवा जौ (यवाशिर) मिलाकर देवों को अर्पित किया जाता था। सोमाभिषवन प्रतिदिन तीन बार होता था। सोमरस के लिए 'पितु' (पेय), मद (मादक पेय), अन्न, मधु, पीयूष, इन्दु' और 'द्रप्स' आदि नामों का प्रयोग हुआ है। यह रस भूरापन और लालिमा लिए हुए हरे रंग का होता था। देवगण उल्लास और अमरत्व पाने के लिए इसका सेवन करते थे। इसमें औषधिजन्य शक्ति भी है। यह सभी प्रकार के रोगों का शामक है। इसे विचारों का स्वामी, सूक्तों का पिता, नायक और प्रणेता कहा गया है। सोमरस वाक्शक्ति को स्फूर्ति प्रदान करता है।

कालान्तर से सोम के मानवीकृत रूप के साथ, आयुध आदि का उल्लेख भी होने लगा। ऋग्वेद और अवेस्ता दोनों में ही इसे क्रमशः 'वृत्रहन्' और 'वेरेथ्रघन' कहा गया है। सोम वनस्पतियों का अधिपति है।

वैदिकोत्तर साहित्य में सोम नियमित रूप से चन्द्रमा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। श्री अरविन्द ने सोम को आध्यात्मिक आनन्द ही माना है।[५]

अन्तरिक्ष स्थानीय देवता इन्द्र

यह वेदकालीन आर्यों के प्रिय राष्ट्रीय देव हैं। ऋग्वेद में इनके २५० सम्पूर्ण सूक्त आए हैं। ५० सूक्तों में ये अन्य देवों के साथ संस्तुत हैं।

इनके स्वरूप के विषय में प्रचुर विवाद है। यास्क, ग्रे, हापकिन्स और ब्लूमफील्ड ने इन्द्र को वर्षा का देवता माना है। केगी, फर्कुआर और मैक्डॉनेल इन्द्र को युद्ध का अधिष्ठाता मानते हैं। प्रो॰ रैगोजिन वर्षा और युद्ध दोनों का देवता मानते हैं। इसके साथ ही इन्द्र उर्वरता के देवता भी माने जाते हैं। तिलक और मैक्समूलर ने इन्द्र की सूर्य से अभिन्नता प्रतिपादित की है जिसका

५. On the Veda, p. 368.

प्रबल विरोध किया है डॉ॰ दाण्डेकर ने। कार्पेण्टियर ने इन्द्र को जातीय देवता माना है। ग्रिफिथ ने इन्द्र को मरुतों की विशिष्ट जातियों का नेता माना है; प्रो॰ ए॰ बार्थ ने उन्हें आर्य योद्धाओं का आदर्श कहा है। भाष्यकार माधव, यास्क, डी॰ डी॰ कोसाम्बी और दाण्डेकर ने इन्द्र को मानव सदृश ही बतलाया है। यागनिक के अनुसार इन्द्र ब्राह्मण-पुत्र हैं। योगी अरविन्द ने इन्द्र को प्रबुद्ध मन का देवता कहा है।

ह्विटनी, राथ, ग्रासमैन ने इन्द्र को आकाश से सम्बद्ध किया है। ह्यूगोविंकलर और मैकेंजी ने इन्द्र के भारोपीय स्वरूप पर बल दिया है किन्तु प्रो॰ क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का आग्रह इन्द्र को आर्यों के आदिम देश का देवता मानने का ही है। केगी भी यही मानते हैं।

निरुक्त में यास्क ने निघण्टु के उस मत को ही पुरस्कृत किया है जिसके अनुसार इन्द्र अन्तरिक्ष के प्रमुख देवता हैं।

इन्द्र के दैहिक गुणों के अनुसार उनके एक सिर और भुजाएँ हैं। वे सुशिप्र (सुन्दर अधरों वाले) हैं। इनके केश और श्मश्रु हरे हैं। वज्र केवल इन्द्र का ही आयुध है। इन्द्र का रथ स्वर्णिम और वेगवान है जिसे हरे रंग के अश्व खींचते हैं। सोम इन्द्र का प्रिय पेय है, यहाँ तक कि वह व्यसन बन गया है। इसी सोम-पान से इन्द्र को युद्ध करने की स्फूर्ति प्राप्त होती है। यज्ञ के समय इन्द्र अपूप के उपहार सेवन करते हैं। इन्द्र ने अपनी माता के पार्श्वभाग से अप्राकृतिक रूप से जन्म लिया था–यह संभवत: मेघों के किनारों से विद्युत् की चमक के प्रकट होने की धारणा का काव्यात्मक रूप है। पुरुषसूक्त में इन्द्र के विराट् पुरुष के मुख से निकलने का उल्लेख है।

अग्नि इन्द्र के यमज भ्राता हैं, पूषन भी इनके भ्राता हैं। इन्द्र की पत्नी का नाम इन्द्राणी है। 'प्रासहा' और 'सेना' का भी इन्द्र-पत्नियों के रूप में उल्लेख है। मरुद्गाण इन्द्र के प्रमुख सहायक हैं।

इन्द्र की महानता और शक्ति की प्रशंसा निर्बन्ध भाव से की गई है। इन्द्र ने वृत्र का विनाश किया था। निरुद्ध जल-धाराओं को प्रवाहित किया था। उनके द्वारा मारे गए दैत्यों की लम्बी सूची है। इन्द्र ने ९०, ९९ और १०० अन्तरिक्षीय दैत्य-दुर्गों को विदीर्ण किया था। कृपण पणियों ने देवताओं की गायों को बन्दी बना लिया था। इन्द्र ने पणियों को मारकर उन्हें मुक्त किया। सरमा इन्द्र की दूती है जो पणियों के विनाश में अपने दौत्यकर्म से इन्द्र की सहायता करती है। यदु और तुर्वश को सुरक्षित रूप से नदियों के पार इन्द्र ने ही पहुँचाया था। दाशराज्ञ संग्राम में इन्द्र ने सुदास की सहायता की थी।

अन्त में मैक्डॉनेल के शब्दों में हम कह सकते हैं कि इन्द्र एक ऐसे देवता हैं जिनकी शक्तिशाली भुजाएँ विजय अर्जित करती हैं, जिनकी अक्षय उदारता मानवमात्र को श्रेष्ठतम समृद्धियाँ प्रदान करती हैं और जो उल्लासप्रद महान् सोमयागों में आनन्द का अनुभव करते हैं, स्तुतियों को सम्पन्न करने वाले पुरोहित वर्ग पर समृद्धि की वर्षा करते हैं। इन्द्र की विशेषता सक्रिय कृत्य हैं, निष्क्रिय आधिपत्य नहीं।

अवेस्ता में इन्द्र का नाम दो बार आता है–किन्तु एक देवता नहीं, असुर के रूप में।

समग्र दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि इन्द्र के गुणों में आभ्युदयिक प्रभुत्व और नैसर्गिक श्रेष्टता का भाव प्रमुख है।

पर्जन्य

ऋग्वेद में इसकी स्तुति केवल ३ सूक्तों में है। इसका नामोल्लेख भी ३० बार से कम है। अथर्ववेद में पर्जन्य के लिए केवल १ सूक्त ही आया है। पर्जन्य शब्द स्पष्ट रूप से वर्षामेघ का वाचक है। कभी-कभी वृषभ के रूप में पर्जन्य का मानवीकरण भी दिखाई देता है। वाजसनेयि संहिता (१२.६) में 'पर्जन्य' का प्रयोग द्यौस् के अर्थ में तथा शतपथ ब्राह्मण के एक स्थल पर यह 'स्तनयित्नु' की व्याख्या के सन्दर्भ में व्यवहृत है।

वर्षा करना इसकी सर्वप्रथम विशेषता है। सजल स्यन्दन पर पर्जन्य चतुर्दिक उड़ता, जलचर्म (मशक) को शिथिल करता तथा उसे नीचे खींचता है। अपने अश्वों को हाँकते हुए यह एक सारथी की भाँति अपने वर्षण दूतों को प्रदर्शित करता है। गर्जन करते हुए पर्जन्य वृक्षों, दैत्यों और दुष्टों पर प्रहार करते हैं। समग्र विश्व इनके शक्तिशाली आयुध से भयभीत है। वनस्पतियों का यह उत्पादक तथा पोषक है। पर्जन्य केवल पौधों को ही नहीं, प्रत्युत गायों, अश्वियों और स्त्रियों को भी अंकुरित करता है। इसे अनेक बार 'पिता' कहा गया है। पृथ्वी इसकी पत्नी है। पर्जन्य की वात के साथ घनिष्ठता है। अग्नि और मरुतों के साथ भी पर्जन्य का आवाहन किया गया है। इन्द्र और पर्जन्य के प्राकृतिक आधार में बहुत कुछ समानता है फिर भी पर्जन्य का प्राकृतिक आधार के साथ सम्बन्ध अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है।

मैक्डॉनेल ने पर्जन्य को लिथुआनियन गर्जन देवता 'पर्कुनस' के साथ समीकृत किया है जो सर्वांश में ग्राह्य नहीं प्रतीत होता। बृहद्देवता के अनुसार उपयुक्त समय पर आकाश में उत्पन्न आर्द्रता पृथिवी को प्रदान करने, लोकों को प्रसन्न करने तथा समस्त जनों की हितैषिता के कारण पर्जन्य के नाम की सार्थकता है :

यदिमां प्रार्जयत्येको रसेनाम्बरजेन गाम्।
कालेऽत्रिरौर्वशश्चर्षी तेन पर्जन्यमाहतुः।।
तर्पयत्येष यल्लोकाञ्जन्यो जनहितश्च यत्।
परो जेता जनयिता यद्वाग्नेयस्ततो जगौ।।–(बृ० दे० २.३७-३८)

द्युस्थानीय देवता वरुण

ऋग्वेद के द्वादश सूक्त सम्पूर्ण रूप से वरुण के ही स्तावक हैं। अन्य वेदों में इनके लिए ५७ मंत्र आए हैं। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के २४ सूक्तों में वरुण मित्र के साथ संस्तुत हैं।

वरुण की प्राकृतिक पृष्ठभूमि स्पष्ट रूप से सर्वावरक आकाश है। वेदों में आकाश का वर्णन उत्तरसमुद्र के रूप में है, इसलिए वरुण समुद्र के देवता भी हो गए। कालान्तर से वे पार्थिव समुद्र के अधिष्ठाता भी मान लिए गए।

वरुण विश्व में ऋत के देवता हैं। समाज़ और व्यक्ति के सन्दर्भ में वे न्याय और प्रेम के प्रतिनिधि हैं। यास्क ने 'वरुण' का निर्वचन करते हुए कहा है–'वरुणो वृणोतीति सतः।' दुर्गाचार्य के अनुसार वरुण मेघजाल से आकाश को आवृत करते हैं।

वरुण के मानवीकरण में मुख, नेत्र, भुजाएँ, हाथ और पैरों की कल्पना की गई है। सूर्य वरुण का नेत्र है। यज्ञ के समय वरुण फैलाई हुई घास पर बैठते हैं। वे सामपान करते हैं। वरुण देव

एक स्वर्ण-द्रापि और द्युतिमान् परिधान धारण करते हैं। वरुण के उपकरणों में उनका रथ प्रमुख है। वरुण अपने घर (पस्त्यासु) में बैठकर सभी कृत्यों का अवलोकन करते हैं। वरुण का आसन सहस्र स्तम्भों वाला है। वरुण के गुप्तचर (स्पशः) उनके चतुर्दिक बैठकर संसार का अवलोकन करते रहते हैं।

वरुण को बहुधा 'राजा' कहा गया है। वे देवों और मनुष्यों, सभी के सम्राट हैं। वरुण प्राकृतिक नियमों के महान् अधिष्ठाता हैं। इन्होंने ही आकाश में प्रकाश के लिए सूर्य का निर्माण किया; अग्नि की जल में, सूर्य की आकाश में और सोम की पर्वतों पर स्थापना की।

वरुण को अनेक बार ऋतुओं का नियामक भी कहा गया है। वरुण के विधान नित्य सुदृढ़ हैं। वरुण मनुष्यों के पाप-पुण्यों को देखते रहते हैं। पाप कर्म करने तथा इनके विधानों का उल्लंघन करने से इनका क्रोध उद्दीप्त होता है और यह इन कार्यों के लिए कठोर दण्ड देते हैं। अपने पाशों में वे पापियों को बाँध लेते हैं।

अपने उपासकों के साथ वरुण का सम्बन्ध मित्रवत है।

कालान्तर से वरुण का सार्वभौम देववाला रूप विलीन हो गया और वे केवल जल के प्रभु ही रह गए किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋग्वेद के प्राचीनतम मंत्रों में वरुण का स्तवन एक महानतम देव के रूप में हुआ है जो संभवतः महत्त्व की दृष्टि से इन्द्र का सहवर्ती है।

मित्र

ऋग्वेद में स्वतंत्र रूप से मित्र के लिए केवल एक सूक्त ही आया है; अन्यथा प्रायः ये वरुण के साथ ही स्तुत हैं।

अपनी वाणी के उच्चारण द्वारा मित्र देव मनुष्यों में एकता ला देते हैं। यह आकाश और पृथ्वी को पोषित करते हैं, मनुष्यों की पाँच जातियाँ इनकी आज्ञा का पालन करती हैं और यह सभी देवों को आश्रय देते हैं। मित्र से निवेदन किया गया है कि प्रातःकाल के समय वह उन सभी वस्तुओं को अनाच्छादित कर दें जिन्हें वरुण ने आच्छादित कर दिया था। यह कथन ब्राह्मणों के उस विश्वास की पुष्टि करता है जिसके अनुसार मित्र दिन के साथ और वरुण रात्रि के साथ सम्बद्ध हैं।

मित्र स्पष्ट रूप से एक सूर्य देवता अथवा सूर्य से सम्बद्ध प्रकाश के देवता हैं।

ऋग्वेद में मित्र के दयालु स्वभाव का प्रायः उल्लेख है। अवेस्ता में 'मिथ्र' अपने चरित्र के नैतिक पक्ष से सम्बद्ध तथा विश्वसनीयता का रक्षक है।

सूर्य

ऋग्वेद के १० सम्पूर्ण सूक्तों में अकेले सूर्य की ही प्ररोचना है। सौर-देवों में सूर्य का भौतिक स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है—वह आकाश के प्रकाशमान ज्योतिष्पिण्ड का सर्वत्र द्योतक है। सूर्य सृष्ट प्राणियों का नेत्र है। यह दूर-दूर तक देखने वाला, सभी प्राणियों के पाप-पुण्यों का अवलोकन करने वाला है। सूर्य के द्वारा जागरित होने पर मनुष्य अपनी अभीष्ट-सिद्धि में प्रवृत्त हो जाता है। सूर्य के रथ को सात अश्व खींचते हैं। इस मण्डली का प्रमुख अश्व एतश है।

कभी-कभी कुछ अन्य देवताओं को सूर्य की उत्पत्ति और पोषण का श्रेय दिया गया है सूर्य समस्त संसार के लिए प्रकाशित होता है। इसकी किरणें अन्धकार को फेंक देती हैं। सूर्य व्याधियों और दु:स्वप्नों को विनष्ट करते हैं।

अवेस्ता में सूर्य को 'अहुरमज्द' का नेत्र कहा गया है। वहाँ इसका उच्चारण 'ह्वरे' है। बृहद्देवता में उन मनीषियों की धारणा की सुप्रस्तुति है जो सूर्य को अतीत, वर्तमान और भविष्यगत सभी स्थावर जङ्गमात्मक वस्तुओं के प्रभव और प्रलय का कारण मानते हैं :

भवद्भूतस्य भव्यस्य जङ्गम स्थावरस्य च।
अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदु:।।

पूषन्

ऋग्वेद में १२० बार पूषन् का नामोल्लेख है और आठ सम्पूर्ण सूक्त उन्हें समर्पित हैं। कुछ सूक्तों में इन्द्र और सोम के साथ भी उनकी स्तुति दिखाई देती है। मूर्तिकरण की प्रवृत्तियों के लाघववश पूषन् की वैयक्तिकता अस्पष्ट है। उनके पैरों, दाहिने हाथ, वेणीयुक्त केश और श्मश्रु का उल्लेख मिलता है। वे एक स्वर्ण-तोमर, आरा और अंकुश धारण करते हैं। वे सर्वश्रेष्ठ रथी हैं, जिनके रथ को अजाश्व खींचते हैं। उष्णिका उनका आहार है। सभी प्राणियों को वे युगपत् देखते हैं। उन्हें स्थावर जंगम का अधिपति भी कहा गया है। विवाह-सूक्त में सूर्या के पति के रूप में पूषन् से प्रार्थना की गई है कि वे सफल वैवाहिक जीवन के निमित्त वधू को आशीर्वाद दें।

संकटों, भेड़ियों, मार्ग-तस्करों को पथ से भगाने के लिए भी पूषन् से प्रार्थना की गई है। वे प्रत्येक पथ के रक्षक हैं। खोई हुई वस्तुओं को प्राप्त कराने के लिए भी पूषन् की स्तुति की गई है। पशुओं की सुरक्षा का दायित्त्व भी उन पर है। उन्हें बलवान्, सामर्थ्यशाली, क्षिप्र, अप्रतिकार्य, अविजेय रक्षक, द्रष्टा और मित्र कहा गया है। वे बुद्धिमान और उदार हैं। उनके वैभव के आधार पर उन्हें 'दस्मवर्चस' (आश्चर्यजनक वैभव वाले) कहा गया है। 'आघृणि, अजाश्व-विमोचन, विमुचोनपात्' आदि उपाधियाँ केवल पूषन् के लिए ही प्रयुक्त हैं।

पूषन् का प्राकृतिक अधिपत्य अस्पष्ट है। यास्क ने उनका उल्लेख 'सभी प्राणियों के रक्षक सूर्य' के रूप में किया है।

'पूषन्' शब्द की निष्पत्ति 'पुष्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है समृद्धिदायक।

विष्णु

ऋग्वेद में विष्णु की स्तुति ५ सम्पूर्ण सूक्तों में हुई है; इनका नामोल्लेख भी १०० बार से अधिक नहीं है किन्तु संख्या की दृष्टि से न्यून होने पर भी विष्णु का महत्त्व न्यून नहीं है। वैदिकोत्तर वाङ्मय में विष्णु ने जो सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त किया, उसके मूल बीज-बिन्दु ऋग्वेद में ही हैं।

इनका चित्रण सर्वथा युवक मानव के रूप में किया गया है। इनका सर्वाधिक उल्लेखनीय कार्य तीन पगों से पृथ्वी को नापना है: इनमें से दो पग तो मनुष्यों को दिखलाई पड़ते हैं किन्तु तीसरा अथवा उच्चतम पग मनुष्य की पहुँच या पक्षियों की उड़ान के परे हैं। निरुक्तकार और्णवाभ

तथा ह्विटनी, मैक्समूलर, हॉग, केगी, ड्यूसन आदि पाश्चात्य वेदानुशीलियों के अनुसार इन तीन पगों का अर्थ क्रमशः सूर्योदय, मध्याह्न में शिरोबिन्दु पर सूर्य की स्थिति तथा अस्त होना है। इसके विपरीत मत है शाकपूणि तथा मैक्डॉनेल और बर्गेन का, जिसके अनुसार ये तीन पग ब्रह्माण्ड के तीन विभाजनों से होकर जाने वाले सौरदेव के पथ हैं।

विष्णु का उच्चतम स्थान अग्नि के उच्चतम स्थान के तुल्य है। वहाँ पुण्यात्मा सानन्द निवास करते हैं; मधु का एक कूप है और जहाँ आशुगामिनी और अनेक सींगोवाली गाएँ हैं। वहाँ पहुँचने की कामना प्रत्येक स्तोता की है। एक स्थल पर विष्णु को 'त्रिषधस्थ' (तीन आवासों वाला) भी कहा गया है।

विष्णु की प्रमुख विशेषता उनकी गतिशीलता है। 'उरूगाय', 'ऊरुक्रम', 'विक्रम', 'एक्या', 'एक्यावन्' आदि उपाधियाँ इसी की वाचक हैं। उल्लेख है कि विष्णु ने अपने ९० अश्वों (=दिनों) को उनके चार नामों (=ऋतुओं) सहित एक घूमते पहिए की भाँति गतिशील बना दिया। ब्राह्मणों के अनुसार विष्णु का कटा हुआ मस्तक ही सूर्य बन गया। वैदिकोत्तर साहित्य में उल्लिखित विष्णु के आयुध चक्र और उनकी कौस्तुभ मणि का सादृश्य भी सूर्य से स्थापित किया गया है किन्तु ओल्डेनबर्ग इससे असहमत हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु के उन अवतारों एवं कार्यों के मूल बीज और स्रोत भी निहित हैं जिनका महाकाव्यों और पुराणों में प्रायः उल्लेख है।

इन्द्र विष्णु के घनिष्ठ मित्र हैं। वृत्र-वध, शम्बर के ९९ दुर्गों के ध्वस्तीकरण, दासों पर विजय प्राप्त करने और वर्चिन के दल को पराजित करने में इन्द्र के साथ विष्णु भी थे। कहीं-कहीं मरुतों को भी विष्णु के साथ सम्बद्ध किया गया है।

विष्णु के तीन पद-प्रक्षेपों की प्रतिध्वनि अवेस्ता में भी है। अवेस्ता के एक संस्कार में भी पृथ्वी से लेकर सूर्य के क्षेत्र तक बढ़ाए गए 'अभ्यस्पन्दस' के तीन पगों का उल्लेख है।

विष्णु देव परम उपकारी, निरुपद्रव, कृपालु, उदार, अभ्रमित रक्षक और मुक्ति प्रदाता हैं। पुराणों में विष्णु को विशेष महत्त्व का स्थान प्रदान किया गया है।

उषस्

ऋग्वेद के पूर्ण २० सूक्तों में उषस् का वर्णन है। उनके नाम का उल्लेख ३०० से भी अधिक बार हुआ है। उषस् के मंत्र संभवतः ऋग्वेद में सर्वाधिक काव्यात्मक सौन्दर्य से मण्डित हैं; स्वयं उषस् की सर्जना भी वैदिक कवि की सौन्दर्य-भावना का चरम निदर्शन है। मैक्डॉनेल के अनुसार 'किसी भी अन्य साहित्य के वर्णनात्मक धार्मिक गीतों में इससे अधिक आकर्षक स्वरूप उपलब्ध नहीं है। न तो इसके स्वरूप की तेजस्विता याज्ञिक कल्पनाओं द्वारा अवरुद्ध हुई है और न यज्ञ-सम्बन्धी सन्दर्भों के कारण कहीं भी विचार प्रतिमाएँ ही कुण्ठित हुई हैं।' एक नृत्याङ्गना-सी वह भड़कीले वसनाभूषणों से सुसज्जित होकर अपने वक्ष का प्रदर्शन करती है। प्रकाश का परिधान पहनकर पूर्व दिशा में उदित होती हुई वह अपनी मोहनी रूप-छवि को सबके लिए अनावृत कर देती है। सद्यःस्नाता और अलङ्कृता रमणी-सी उषस् अन्धकार का निवारण कर देती है। यह पुनः पुनः जन्म लेने वाली नित्य युवती है। यह अजर और अमर है। उषस् सभी की प्राण और प्राणवायु है।

उषस् प्रतिदिन एक निर्दिष्ट स्थान पर उदय होती हुई, दैवी-विधान का निरन्तर अनुपालन करती है। उसका जन्म एक उज्ज्वल और देदीप्यमान रथ पर हुआ है। प्रतिदिन उषस् ३० योजन की दूरी पार करती है।

सूर्य से उषस् का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह अपने प्रेमी सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होती है। सूर्य उषस् का पीछा उसी प्रकार से करता है जैसे एक पुरुष किसी रमणी का। वह सूर्य की पत्नी और आदित्यभग की बहन है। 'उषासानक्ता' तथा 'नक्तोषासा' आदि रूपों में उषस् का नाम प्राय: रात्रि के साथ युग्म भाव से संयुक्त कर दिया गया है। एक स्थल पर उषस् को आकाश की प्रियतमा भी कहा गया है। अग्नि और अश्विनों के साथ भी उषा का सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

उषस् अति-उज्ज्वल, प्रकाशमयी, श्वेत, अरुणिम, आलोकवसना, स्वर्णवर्णा और औदार्यपूर्णा है।

अश्विन्

इन यमज देवों की स्तुति ऋग्वेद के ५० से भी अधिक सूक्तों में हुई है और इनका नामोल्लेख ४०० बार हुआ है। इनका भौतिक स्वरूप बहुत अस्पष्ट रहा है। यास्क ने इन युग्म देवों में से एक को रात्रि का पुत्र और दूसरे को उषस् का पुत्र कहा है। मीरियन्थ्यूस तथा हॉपकिन्स के अनुसार ये उषा के पहले के उस ईषत्प्रकाश की अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं जब आधा अन्धकार और आधा प्रकाश रहता है और इस कारण इनमें से एक को उज्ज्वल आकाश अर्थात् द्यौस् का पुत्र कहा जा सकता है। मैनहार्ट, बालेनसेन और ओल्डेनबर्ग का मत है कि अश्विनों का प्राकृतिक आधार प्रात:कालीन तारा होना चाहिए जो अग्नि, उषस् और सूर्य के अतिरिक्त एकमात्र अन्य प्रात:कालीन प्रकाश होता है। वेबर ने इस देवयुग्म को मिथुन राशि के दो तारों का प्रतिनिधि माना है। गेल्डनर के अनुसार अश्विनयुग्म किसी प्राकृतिक घटना का प्रतिनिधि नहीं है; ये दो भारतीय उपकारी सन्त मात्र हैं।

ये दोनों उज्ज्वल स्वर्णकान्ति वाले और मधुवर्ण युवा हैं। इन्होंने कमल-कुसुमों की माला पहन रखी है। ये द्रुतगामी, बलिष्ठ, परम मेधावी और गुह्यशक्ति से युक्त हैं। 'दस्र' (शत्रु विनाशक) और 'नासत्य' (असत्यरहित) ये दो इनकी विशिष्ट और बहुप्रयुक्त उपाधियाँ हैं। 'रुद्रवर्तनि' (लाल पथ वाले) और 'हिरण्यवर्तनि' (स्वर्णपथ वाले) विशेषण भी इनके निमित्त आए हैं।

अश्विनों का स्वर्णरथ सूर्य के समान है। इसकी रचना विचित्र है, जिसमें तीन पहिए तीन चक्रधारें हैं। इसकी रचना ऋभुओं ने की थी।

उषा के आरम्भ में ये युगल देव प्रकट होते हैं। सूर्य की पुत्री इनके रथ पर चढ़ती है। ये विशिष्ट दिव्य चिकित्सक हैं जो नपुंसकों की पत्नियों को सन्तति प्रदान करते हैं और वन्ध्या गायों को दूध देने के लिए प्रेरित करते हैं। अश्विन अन्य देवों की अपेक्षा अधिक त्वरा से सहायता करने वाले तथा सामान्यत: सभी विपत्तियों से त्राण देने वाले हैं। जराग्रस्त ऋषि च्यवन को उन्होंने दीर्घायुष्य और नवयौवन प्रदान किया जिससे वे विवाह के योग्य हो सके। वृद्ध कलि को भी उन्होंने तारुण्य-दान किया। युवक विमद को अश्विनों ने कमद्यू नाम्नी पत्नी का पति बनाया।

विश्वक को उसके खोए पुत्र विष्णापू से पुनः मिला दिया। तुग्र के पुत्र भुज्यु का उद्धार भी अश्विन देवों ने ही किया था। वह समुद्र में जल-मेघों के मध्य फँस गया था। उसने अश्विनों को आर्त्त स्वर से पुकारा। अश्विनों ने तत्काल उसे संकटापन्न स्थिति से उबारकर घर पहुँचाया। ऋषि रेभ को आक्रामकों ने मार-पीट कर, बांधकर और मृत समझकर जल में छोड़ दिया था। वहां वे ९ दिन तक पड़े रहे। अन्त में अश्विनों ने ही रेभ का भी उद्धार किया। ऋषि सप्तवध्रि की जो एक दैत्य के कौटिल्यवश प्रज्ज्वलित गर्त में गिर गये थे, सहायता भी अश्विनों ने की।

ऋज्राश्व को अश्विनों ने दृष्टि-दान दिया था। अश्विन के उपकारों और उनके द्वारा उपकृत जनों की संख्या अनन्त है। विश्पला का एक पैर युद्ध में कट गया था। उसके उन्होंने लोहे की टांग लगा दी। वृद्धा घोषा को पति प्रदान करना अश्विन् के लिए ही संभव था। अश्विनों ने ही दध्यञ्च आथर्वण के कटे हुए सिर के स्थान पर अश्व का सिर लगाया था।

वैदिक भक्ति-भावना

कर्म और ज्ञान के साथ ही उपासना भी वेद का प्रतिपाद्य है। भक्ति उपासना की ही एक विधि है। भक्ति की जैसी अजस्र भागीरथी पुराणों में प्रवाहित हुई है तथा उसकी जैसी शास्त्रीय विवेचना और व्याख्या नारद और शाण्डिल्य सूत्रों, श्रीमद्भागवत, चैतन्य महाप्रभु तथा रूप और जीव गोस्वामी ने की है, वह भले ही वैदिक संहिताओं में न दिखलाई पड़े, किन्तु ऋगादि मन्त्रों में भावप्रवण मन की आराध्य के प्रति अनुरक्ति अवश्य गहराई से विद्यमान है। भक्ति की पारिभाषिक शब्दावली का आश्रय लिये बिना भी यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि आराध्य में चित्त को तदाकार करने और प्रभु के प्रति प्रीति-भाव प्रकट करने में वैदिक ऋषि-कवि की तन्मयता मन्त्रों में सर्वत्र देखी जा सकती है। प्रार्थना के द्वारा अपने आराध्य को रिझाने की चेष्टा वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र मुखर है। वैदिक आराधक में सन्तति, दीर्घ-जीवन, धन-धान्य और असपत्न आधिपत्य की स्पृहा अधिक रही है[६] इसलिए प्रायः उसकी स्थिति अर्थार्थी भक्त की ही रही है, किन्तु कहीं-कहीं ऋजुता और आध्यात्मिक आग्रहों से भी प्रार्थनाएँ रची गई हैं। शुनः शेप सदृश आर्त्त भक्त भी हैं, किन्तु परमात्मा के साहचर्य और अनन्य भक्ति के माधुर्य से भी वैदिक कवि सुपरिचित है। एक ऋङ्मन्त्र में कहा गया है कि परमात्मा की मित्रता और परमानुरक्ति (प्रणीति) अत्यन्त मधुर और अह्लादक है :

'यस्य ते स्वादु सख्यं स्वाद्वी प्रणीतिः' (ऋ० सं० ८.६८.११)। आराध्य देवता के प्रति प्रेम की प्रगाढ़ भावना का ही निदर्शक है यह मन्त्र–'प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे' (यजु० २३.१९)। कवि

६. प्र वां दंसास्यश्विनाववोचम् अस्य पति : स्यां सुगव : सुवीर :। उत पश्यन्नश्नुवन् दीर्घमायुर् अस्तमिवे ज्जरिमाणं जगम्याम्।। (ऋ० सं० १.११६.२५)

हे अश्विनों ! मैंने तुम्हारी प्रार्थना की; मैं इस राष्ट्र का स्वामी बनूं। मेरे पास अच्छी गायें और वीर सन्तानें हों। मेरी दृष्टि आजीवन बनी रहे, मुझे दीर्घायु मिले–और वृद्धावस्था में मेरा प्रवेश वैसे ही हो, जैसे प्रवास से लौटा यात्री अपने घर में प्रवेश करता है।

अपने साथियों से परमप्रिय प्रभु की स्तुति करने के लिए कहता है–'प्रेष्ठमुप्रियाणां स्तुहि' (ऋ० सं० ८.१०३.१०)।

मन्त्र-संहिताओं में, उपासकों ने उपास्य को प्राय: पितृभाव से ही भजा है। माता-पिता के प्रति सन्तान के हृदय में जो भावना रहती है, उसी भावना से भावित होकर अनेक ऋषियों ने देवता के प्रति प्रार्थनाएँ रची हैं। ऋ० सं० के प्रथम सूक्त में ही ऋषि मधुच्छन्दा अग्नि से निवेदन करते हैं कि जैसे पिता अपने पुत्र को नि:शङ्कभाव से अपने पास आने देता है, उसी प्रकार हमें अपने पास आने दो :

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव (ऋ० सं० १.१.९)।

आकाश और पृथिवी की जोड़ी ऋषि दीर्घतमा औचथ्य को माता-पिता की तरह ही सभी भुवनों को निवास स्थान देने वाली और सबकी रक्षा करने वाली प्रतीत होती है :

उरुव्यचसा महिनी असश्चता पिता माता च भुवनानि रक्षतः। (ऋ० सं० १.१६०.२)

ऋषि गृत्समद को रुद्र मरुतों के पिता के रूप में सम्बोध्य लगे हैं (ऋ० सं० २.३३.१)।

अपनी (पुत्र की) ओर ललक कर आगे बढ़ते हुए पिता का अभिवादन जैसे कोई पुत्र करता है, उसी भाव से ऋषि भी अपने आराध्य को प्रणाम करता है :

कुमारश्चित्पितरं वन्दमानं प्रतिनानाम रुद्रोपयन्तम् (ऋ० सं० २.३३.१२)।

ऋषि विश्वामित्र को विपाट् और शुतुद्रि संज्ञक नदियाँ माता के रूप में दिखती हैं। वे उन्हें कभी अपने बछड़े को प्यार से चाटने वाली दो गायें लगती हैं–'गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाटछुतुद्री पयसा जवेते' (ऋ० ३.३३.१), तो कभी मातृतमा लगती हैं–'अच्छा सिन्धुं मातृतमामयासम्' (वही ३.३३.३)। ऋषि वामदेव यज्ञानुष्ठान तथा हविष्य-समर्पणपूर्वक बृहस्पति को वैसे ही नमन करते हैं, जैसे पुत्र पिता को प्रणाम करता है :

एवा पित्रे विश्वेदवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः (ऋ० सं० ४.५०.६)।

पुत्रभाव की यह भक्ति-भावना पूर्णतया स्खलनभय से रहित है। व्यक्ति के जीवन में आकर्षण या राग की प्रथम अनुभूति माता-पिता के प्रति ही होती है–इसलिए प्रथम अनुभव के रूप में वह इस भावना से सर्वाधिक अनुप्राणित रहता है। भक्त के रूप में, इसी भावना से जब वह आराध्य के प्रति तादात्म्य प्रकट करता है, तो वह उसके लिए अनुभवसिद्ध होने के कारण सफलता की आशु संवाहक हो जाती है।

ऋषि-कवियों ने सख्यभाव से भी भक्ति भावना प्रकट की है। वे समग्र जगत् के प्रति मैत्री भाव के लिए उत्सुक हैं–'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे–(शु० यजु० ३६.१८)। देवताओं के प्रति जो ऋषियों ने सख्यभाव को बहुधा प्रकट किया है। प्रस्कण्व काण्व सूर्य से प्रार्थना करते हैं कि मित्र की तरह उपकारक होकर वह उनके हृदय-रोग और पाण्डुरोग का निवारण करे :

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।
हृदरोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय।। (ऋ० सं० १.५०.११)।

यज्ञानुष्ठान में संलग्न अध्वर्यु संज्ञक ऋत्विक् अग्नि को मित्रवत् वशीभूत करने का इच्छुक है–'अग्निं मित्रं न समिधान ऋञ्जते' (ऋ० सं० १.१.४३.३)।

ऋषि गृत्समद की कामना है कि वे अनेक मित्रों के समुदाय से अपांनपात् (वैद्युत और पार्थिवाग्नि) की सेवा मित्र की तरह यज्ञानुष्ठान, हविर्द्रव्य तथा नमस्कार पूर्वक करें–'अस्मै बहूनामवमाय सख्ये यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भि:' (ऋ० सं० २.३५.१२)। ऋषि विश्वामित्र ने भी अग्नि का वरण सख्यभाव से ही किया है–'सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्तास ऊतये' (ऋ० ३.९.१)। ऋषि भरद्वाज बार्हस्पत्य ने इन्द्र और पूषा की मित्रता पाने की आकांक्षा व्यक्त की है :

इन्द्रा नु पूषणा वयं सख्याय स्वस्तये। हुवेम वाजसातये (ऋ० सं० ६.५७.१)।

भक्ति धर्म का रसमय रूप है, इसलिए कहीं-कहीं अन्य भावों–पति-पत्नीभाव से भी आराध्य के प्रति अनुराग प्रकट किया गया है। एक मन्त्रांश के अनुसार जैसे पति अपनी प्रियतमा के पास शीघ्र जाता है, वैसे ही विश्ववरणीय सवितृदेव हमारे समीप पधारें–'पतिरिव जायामभिनोन्येतु धर्ता' (ऋ० सं० १०.१४९.४)।

रति या काम के आस्वाद के गध्यम से आध्यात्मिक आस्वाद को समझाने का प्रयत्न वैदिक साहित्य में भी है। उपनिषदों, विशेष रूप से छान्दोग्य उपनिषद् में तो वह बहुत स्पष्ट हो गया है। आध्यात्मिक अथवा भक्ति का आस्वाद बहुत ही मधुर और रसमय है–'स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्र: किलायं रसवाँ उतायम्' (ऋ० ६.४७.१)।

कहीं-कहीं देवता का आह्वान उस सम्बन्ध से भी किया गया हे, जो वैद्य और रोगी के मध्य होता है–ऋषिगृत्समद ने अपनी आतुरता में रुद्र के उस हाथ की कामना की है, जो कृपाप्रवण, सन्ताप-निवारक एवं रोगहर्त्ता है :

क्वस्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाष:। (ऋ० सं० २.३३.१०)

कहीं-कहीं, विह्वलता में, एक साथ सारे सम्बन्धों का उल्लेख कर दिया गया है–अग्नि को एक ऋङ्मन्त्र में एक साथ माता, पिता, भ्राता और सखा के रूप में सम्बोधित किया गया है :

अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित् सखायम्। (ऋ० सं० १०.७.१)

इसी प्रकार से एक अन्य मन्त्र में आराध्य को तारणहार, जानने योग्य, पिता, माता और हितकारक कहा गया है :

'त्वं त्राता तरणे ! चेत्यो भू: पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्'। (ऋ० सं० ६.१.५)

आराध्य ओर आराधक की उन क्षणों में निकटता की आत्यन्तिकता को गहराई से अनुभव किया जा सकता है, जब वह कहता है कि तुम हमारे हो और हम तुम्हारे हैं :

त्वमस्माकं तव स्मसि। (ऋ० सं० ८.८१.३२)

अथर्ववेद (६.७.९) के मन्त्र में 'भक्ति' शब्द का उल्लेख है। वहाँ भक्तियुक्त होने की कामना व्यक्त की गई है :

तस्य ते भक्तिवांसः स्याम।

भक्ति के लिए श्रद्धा परम आवश्यक है। ऋग्वेद के श्रद्धासूक्त (१०.१५१) में श्रद्धा का बहुविध महत्त्व उपवर्णित है।

उपासक की प्रार्थना से द्रवित होकर देवता कैसे कृपालु हो उठते हैं–इसका परिज्ञान विश्वामित्र-नदी संवाद के उस मन्त्र से होता है, जिसमें नदियाँ विश्वामित्र से कहती हैं कि हे स्तुतिकर्त्ता ! हम तुम्हारे वचन ध्यान से सुन रही हैं–हम तुम्हारे सम्मुख वैसे ही कृपालु हैं, जैसे दुग्ध से भरे हुए स्तनों वाली स्त्री नम्र हो जाती है, या युवा प्रियतम के सम्मुख आत्म-समर्पण करने वाली कामार्त्त कन्या आतुर हो उठती है :

आ ते कारो श्रृणवामा वाचांसि ययाथ दूरादनसारथेन।
निते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते।। (ऋ० सं० ३.३३.१०)

इस प्रकार वैदिक संहिताओं में भक्ति-भावना का अस्तित्त्व स्पष्ट ही है। आगे चलकर नामभक्ति का जो उत्कर्ष दिखलाई देता है, कहीं-कहीं उसके संकेत भी सुलभ हैं। इन्द्रपरक एक मन्त्र में, उनकी स्तुति करते समय ऋषि इन्द्र के बहुत-से नामों के अस्तित्व का उल्लेख करता है :

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे। (ऋ० सं० ३.३७.३)

नवधा-भक्ति का जो विशद निरूपण, वेदोत्तर काल में, भक्ति सूत्रों में दिखलाई देता है, उसके मूल बीज भी मन्त्र संहिताओं में सन्निहित हैं। वेदों में श्रवण, कीर्त्तन स्मरण, पादसेवन, अर्चन, सख्य, वन्दन प्रभृति के उदाहरण अनायास ही उपलब्ध हो जाते हैं[७] किन्तु इस ओर बहुत द्राविड़ प्राणायाम किये बिना इतना कहना ही पर्याप्त है कि भक्ति की भावप्रवणता सामान्यरूप से वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र सुलभ है।

७. (क) श्रवण–भद्रं कर्णोभि : शृणुयाम देवा : यजु० २५.२१।
(ख) कीर्त्तन–'सुष्टुतिमीरयामि' (ऋ० सं० २.३३.८)।
(ग) सख्य–देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम् - ऋ० सं० इत्यादि।

दशम अध्याय

वैदिक यज्ञों का स्वरूप

यज्ञ : वैदिक धर्म का केन्द्र बिन्दु

वैदिक वाङ्मय में समग्र सामाजिक जीवन एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्रबिन्दु यज्ञ प्रतीत होता है। इस यज्ञ-संस्था को समझे बिना वैदिक धर्म, दर्शन, साहित्य तथा संस्कृति के स्वरूप का यथातथ्य विश्लेषण नहीं किया जा सकता। ब्राह्मण ग्रन्थों में सम्पूर्ण मानव-जीवन यज्ञमय ही बतलाया गया है। यह श्रेष्ठतम कर्म है–'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।' एक स्थल पर सभी मानवीय अवयवों का निरूपण यज्ञाङ्गरूप में किया गया है–तदनुसार यज्ञ की आत्मा यजमान है, श्रद्धा पत्नी है, शरीर यज्ञ का ईंधन है, हृदय यज्ञ-वेदी है, कुश-मुष्टि (वेद) यज्ञ की शिखा है, कामना आज्य है, क्रोध पशु रूप है, तपस्या अग्नि है, दक्षिणा वाणी है, चक्षु अध्वर्यु हैं, मन ब्रह्मा है और अग्नीत् नामक ऋत्विक् हैं दोनों कान।[1] यही नहीं, सभी मानव-क्रियाएँ भी यज्ञाङ्गरूप ही हैं।[2] इनके अतिरिक्त सभी कालों और अवस्थाओं का प्रतिपादन भी श्रौतयज्ञों के रूप में किया गया है।[3]

संक्षेप में देवताओं को प्रसन्न करके अपनी कामनाओं को पूर्ण करने के लिए उनके निमित्त प्रिय खाद्य एवं पेय पदार्थों का विधिपूर्वक अग्नि में समर्पण ही यज्ञ है। प्रमुख रूप से यज्ञ द्विविध हैं–श्रौतयाग तथा गृह्ययाग। श्रौतयागों के अनुष्ठान तीन से पांच तक अग्नियों में सम्पन्न होते हैं–इनमें १६ या १७ ऋत्विकों की आवश्यकता होती है। सामान्यत: श्रौतयागों के अनुष्ठानार्थ आहवनीय, दक्षिण तथा गार्हपत्याग्नियों की स्थापना की जाती है। विशेष यागों में सभ्य तथा आवसथ्य संज्ञक दो अग्नियों की स्थापना और की जाती है। प्रमुख रूप से यज्ञों के दो प्रकार हैं–हविर्याग और सोमयाग। हविर्यागों का ही अवान्तर विभाजन इष्टियों और पशुबन्धों के रूप में किया जाता है। हविर्याग सात प्रकार के हैं–अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण, निरूढ पशुबन्ध और सौत्रामणी। इनमें दर्शपूर्णमास सभी हविर्यागों की प्रकृति है। सोमयाग की भी सात

१. तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी, शरीर मिध्यम् उरो वेदि : लोमानि बर्हि : वेदः शिखा, हृदयं यूपः काम आज्यम् मन्युः पशुः तपोऽग्नि दमः शमयिता, दक्षिणां वाक, चक्षुरद वर्यु : मनो ब्रह्मा श्रोत्रमग्नीत्।

२. यावद्ध्रियतेसा दीक्षा यदश्नाति तद्धविः यत्पिबति तदस्य सोमपानम्, यद्रमते तदुपसद : यत्संचरित उपविशति उत्तिष्ठते च स प्रवर्ग्य यत्सायं प्रातः अत्ति तत् समिधम् सायञ्च तानि सवनानि।

३. ये अहोरात्रे ते दर्शपूर्णमासौं येऽर्धमासाश्चमासाश्च ते चातुमस्यिानि य ऋतवस्ते पशुबन्धा : ये संवत्सराश्च परिवत्सराश्च तेऽहर्गणां सर्ववेदसं वा एतत् सत्रं यन्मरणं तदवभृथः।

संस्थाएँ मानी जाती हैं–अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र तथा अप्तोर्याम। अग्निष्टोम समस्त सोमयागों की प्रकृति है। हविर्यागों में दुग्ध, घृत, चरु तथा पुरोडाश प्रभृति की आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं और सोमयागों में सोमलता या उसके विकल्पों से होम करने का विधान प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त भी बहुविध श्रौतयागों का प्रतिपादन हुआ है, जिनका विवरण आगे प्रदेय है।

वैदिक कर्मकाण्ड का आरम्भ-बिन्दु यद्यपि अभी पूरी तरह सुनिश्चित नहीं हो सका है, तथापि यह स्पष्ट है कि मन्त्र-संहिताओं के संकलन से पूर्व यह अस्तित्त्व में था। इतना ही नहीं, उस समय तक यज्ञ-संस्था का पर्याप्त विकास हो चुका था।[४]

ऋग्वेद में सोमयागों, हविर्यागों, चातुर्मास्य, सायंप्रातर्होम तथा पशुयागों के भी सरल अनुष्ठान संकेतरूप में उपलब्ध हैं। ऋग्वेदसंहिता का संकलन यद्यपि मात्र याज्ञिक अपेक्षावश ही नहीं हुआ, उसकी पूर्ति उसकी खिल-संहिता करती है, किन्तु यजुर्वेद और सामवेद (आर्चिक और गानग्रन्थ सहित) की संहिताओं का संकलन तो निश्चितरूप से याज्ञिक अपेक्षावश ही किया गया।

संहिताओं के अनन्तर ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञों का विशद निरूपण किया गया है। इनमें यज्ञ के द्रव्य, देवता तथा होम-विधियों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन है; याज्ञिक कृत्यों के प्रतीकात्मक अर्थों एवं रहस्यात्मक औचित्यों का उद्घाटन है, मन्त्रों के तत्तद् कृत्यों में विनियोग की बहुआयामी मीमांसा की गई है। विभिन्न प्रसंगों में ब्रह्मवादियों के मध्य विद्यमान मतभेदों की भी चर्चा की गई है। प्रतिपाद्य की पुष्टि के लिए दृष्टान्तों और आख्यायिकाओं का उल्लेख भी है।

श्रौतयागों की संख्या

ऐतरेय ब्राह्मण में समस्त श्रौतयाग पाँच प्रकार के माने गये हैं–'स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुः सोमः।' स्व० पं० चिन्नस्वामि शास्त्री ने इन्हें चार प्रकारों में समाविष्ट कर दिया है–दर्विहोम, इष्टियाग, पशुयाग और सोमयाग। अग्निहोत्र और कुछ अन्य होम विशेष दर्विहोम हैं–इनके लिए 'इष्टि' या 'याग' नाम का व्यवहार नहीं होता। दर्शपूर्णमासादि याग स्वल्पकाल साध्य होने के कारण इष्टियाँ हैं। सोमयागों में सोमलता का क्रय कर उसके अभिषवनपूर्वक विभिन्न देवों के निमित्त रस-सम्प्रदान किया जाता है। हविर्यज्ञ तथा सोमयज्ञ दोनों की ही सात-सात संस्थाएँ हैं। अग्निहोत्र, दर्श और पूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढ पशुबन्ध, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञ प्रभृति हविर्यज्ञ हैं। सोमसंस्थ सात याग ये हैं–अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र तथा आप्तोर्याम। इनमें सात पाकयज्ञों को मिलाने से २१ संख्या हो जाती है।

अग्निहोत्र–सायं-प्रातः अग्नि के उद्देश्य से क्रियमाण यह विशेष कर्म है। इसे न करने से पाप लगता है। प्रातःकालीन अग्निहोत्र का सूर्य मुख्य देवता है और सायंकाल अग्नि। प्रजापति दोनों ही समय अंगदेवता होता है। छान्दोग्य उपनिषद् का वचन है कि जैसे क्षुधातुर बालक सर्वथा माता के समीप जाते हैं, वैसे ही प्राणी अग्निहोत्र की उपासना करते हैं–'यथेह क्षुधिता बालाः

४. Olden Berg, Religion, desVeda p. 3; Bloomfield, Religion of the Veda, p. 31.

मातरं पर्युपासत एवं सर्वापि भूतान्यग्निहोत्रम्' (५.२४)। इसमें दुग्ध मुख्य द्रव्य है और यवागू, तण्डुलादि काम्य प्रयोजनानुवर्तित द्रव्य हैं।

दर्शपूर्णमास–नामकरण से ही प्रकट है कि ये क्रमशः अमावस्या और पूर्णिमा को अनुष्ठेय हैं। पौर्णमासी को अग्नि के लिए आठ कपालों (–पात्रविशेष–) में पुरोडाश अग्नि एवं सोम के लिए आज्य (घृत) तथा पुनः उन्हीं के लिए ११ कपालों में पुरोडाश समर्पित किया जाता है। इस प्रकार ये तीन याग हो जाते हैं। आज्याहुतियाँ उपांशु सम्पन्न होती हैं। अमावस्या को भी तीन ही याग होते हैं। इनमें से प्रथम के देवता अग्नि हैं और शेष दो के इन्द्र। प्रथम में पुरोडाश द्रव्य है और दूसरे तथा तीसरे में दधि तथा पयस्। दर्शपूर्णमास के अन्तर्गत इस प्रकार कुल छह याग सम्पन्न होते हैं। इनमें अनुष्ठानाधिकारी सांनाय्ययाजी (सोमयागों का अनुष्ठाता) ही माना गया है। दूसरे भी इच्छानुसार कर सकते हैं–'कामादितरः' (कात्यायन श्रौतसूत्र, ४.१.२७)। इसमें सपत्नीक यजमान के साथ ही ऋत्विकों के रूप में अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता तथा अग्नीत् सम्मिलित होते हैं। अभिप्राय यह कि उदगातृ-मण्डली की इसमें आवश्यकता नहीं होती। ये छह याग समस्त इष्टियों के प्रकृतियाग हैं।

चातुर्मास्ययाग–नाम से व्यक्त है कि ये चार मासों पर अनुष्ठेय हैं। इनमें चार पर्व होते हैं–वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय। इनमें से प्रथम पर्व फाल्गुनी पूर्णिमा को करणीय है; आषाढ़ी पूर्णिमा को द्वितीय, कार्तिकी को तृतीय और फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा को चतुर्थ पर्व का अनुष्ठान करना चाहिए। इनमें प्रथम पर्व के देवता क्रमशः अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती, पूषन्, मरुद्गण, विश्वेदेव तथा द्यावापृथिवी होते हैं–तदनुसार द्रव्य हैं पुरोडाश, चरु, पयस्या प्रभृति। ये दर्शपूर्ण मास प्रकृति के हैं। वाजिदेवता के लिए वाजिनयाग भी इसमें होता है। विश्वेदेवों के लिए आमिक्षायाग भी होता है।

आषाढी पूर्णिमा को अनुष्ठेय वरुणप्रघास पर्व में विश्वेदेवता, इन्द्र, अग्नि, वरुण प्रभृति देवता होते हैं। इनके लिए पुरोडाश के साथ ही आमिक्षा भी द्रव्यरूप में विहित है। इसमें दो वेदियाँ होती हैं–दक्षिणावेदि और उत्तरवेदि। प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विक् वैश्वदेव से अधिक होता है। करम्भ पात्र (जौ के आटे से दीप के सदृश निर्मित पात्र) का निर्माण और होम भी इसमें होता है। इसे लेकर आती हुई यजमान-पत्नी से प्रतिप्रस्थाता प्रश्न करता है–'किसके साथ रहती हो? विवाहित पति के अतिरिक्त यदि तुम्हारा कोई अन्य प्रेमी भी हो, तो उसका नाम बतला दो।' इस पर्व की दक्षिणा के रूप में गौ, अश्व तथा छह अथवा बारह बैल विहित हैं।

साकमेध पर्व में, प्रथम दिन प्रातः अनीकवान् अग्नि के निमित्त अनीकवती इष्टि अनुष्ठेय हैं। मध्याह्न में सान्तपनेष्टि होती है, जिसके देवता सान्तपन (मरुत्) हैं और द्रव्य होता है चरु। सायंकाल गृहमेधीयेष्टि होती है। इसके देवता भी वास्तव में मरुत् ही हैं। दूध में पका हुआ चरु ही द्रव्य है। इस पर्व में क्रीडनीया इष्टि भी मरुतों के निमित्त होती है। द्रव्य है पुरोडाश। इसकी अन्य इष्टियाँ हैं महाहवि, पित्र्येष्टि (देवता हैं सोमवन्त पितर, बर्हिषद् पितर या अग्निष्वात्त पितर, पुरोडाश, धाना और मन्थ द्रव्य हैं), त्र्यम्बकेष्टि (रुद्र देवता, पुरोडाश द्रव्य)।

चतुर्थ पर्व में विश्वेदेवों के अतिरिक्त शुनासीरों के लिए पुरोडाश, वायु के लिए पयस् अथवा यवागू समर्पित किया जाता है।

चातुर्मास्य ऐष्टिक, पाशुक और सौमिक दृष्टि से त्रिविध होते हैं। इनके पुन: तीन अवान्तर प्रभेद हैं–सांवत्सरिक, पञ्चाहिक और ऐकाहिक।

निरूढ पशुबन्ध–यह वर्षा ऋतु में अनुष्ठेय है। पशु के रूप में अज द्रव्य होता है। देवता होते हैं इन्द्र और अग्नि, सूर्य (अथवा प्रजापति)। पशु यूप (बिल्व तथा खदिरादि से निर्मित खूंटे) में बाँधा जाता है। यह तीन अरत्नि का, वल्कल रहित और अष्टकोण होता है। पशु-वध बिना शस्त्र के, संज्ञपन (सांस रोककर)–प्रक्रिया से किया जाता है। इस कार्य को शमिता सम्पन्न करता है। यह याग ज्योतिष्टोमाङ्गभूत अग्नीषोमीय पशुयाग के रूप में ही सामान्यत: अनुष्ठेय होता है। अन्य सोमयागों में इनकी संख्या क्रमश: बढ़ती जाती है। वाजपेय में, पाँच पशुयाग किये जाते हैं। सत्रयागों में और भी बढ़ जाते हैं।

आग्रयण इष्टि–यह नवान्न-उत्पत्ति के अनन्तर आचरणीय है–'अग्रे नवान्नोत्पत्त्यनन्तरमयनमाचरणं यस्य तदाग्रयणम्।' शरद् और वसन्त में यह अनुष्ठेय है। द्रव्य पुरोडाश और चरु होता है। देवता होते हैं–इन्द्र, अग्नि, द्यावापृथिवी, विश्वदेव। नवीन व्रीहि और यव का प्रयोग किया जाता है। दक्षिणा रूप में पुनर्निर्मित रथ, क्षौम (रेशम), मधुपर्क एवं वस्त्र प्रदेय हैं। गृह्यसूत्रों में भी यह कृत्य वर्णित है–कुछ स्मार्तरूप में।

सौत्रामणी–सुत्रामा इन्द्र का नाम है–उन्हीं के निमित्त यह अनुष्ठेय है–'सुत्राम्ण इयं सौत्रामणी।' अश्विनौ और सरस्वती भी देवता हैं। इसमें तीन पशु होते हैं–अज, मेष और वृषभ। सौत्रामणी याग नित्य, काम्य और नैमित्तिकी रूप में त्रिविध होती है। एक अन्य सौत्रामणी भी विहित है–कोकिल सौत्रामणी, इसमें पाँच पशु होते हैं। यह याग चार दिनों में किया जाता है। इसमें सुरा से भी होम किया जाता है। सुराग्रह (सुरा-पात्र) भी पयोग्रहों के समान तीन होते हैं।

सोमयाग

सोमयाग करने का इच्छुक अधिकारी व्यक्ति (सपत्नीक आहिताग्नि) सोमलता का क्रय कर उसके अभिषवन तथा अग्न्याधानपूर्वक विभिन्न देवों के निमित्त उस रस का समर्पण करता है। अग्न्याधान के अन्तर्गत गार्हपत्यादि तीनों अग्नियों का आधान किया जाता है। इसमें सभी वर्गों के समस्त ऋत्विक् और चमसाध्वर्यु भाग लेते हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है–१. **अध्वर्युगण**–अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता; २. **होतृगण**–होता, मैत्रावरुण (प्रशास्ता), अच्छावाक तथा ग्रावस्तुत; ३. **उद्गातृगण**–उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता और सुब्रह्मण्य; ४. ब्रह्मगण–ब्रह्मा, ब्रह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र तथा पोता। प्रदेय दक्षिणा के अनुसार सभी गणों के सहायक ऋत्विकों को अर्धिन्, तृतीयिन् तथा पादिन् कहा जाता है। उदाहरण के लिए अध्वर्यु को प्राप्य गायों से आधी प्रतिप्रस्थाता को, तृतीय भाग नेष्टा को तथा चतुर्थांश उन्नेता को मिलता है। षड्विंश ब्राह्मण के अनुसार सभी ऋत्विकों को अपने-अपने कर्म का संपादन अत्यन्त योग्यता और कुशलता से करना चाहिए ताकि यजमान की हानि न होने पाये (३.१)।

सोमलता के विकल्प–सोमलता वास्तव में ब्राह्मणग्रन्थों के रचना-काल में ही विलुप्त हो गई थी, इसलिए उसके विकल्प के रूप में पूतीक और अर्जुन संज्ञक औषधियों का निर्देश है। आजकल 'रांशेर' नामक वनस्पति का प्रयोग महाराष्ट्र में, सोम-यज्ञों के अनुष्ठानों में किया जाता है।

सोमयागों का विभाजन–सोमयाग तीन प्रकार के हैं–एकाह, अहीन और सत्रयाग। यह वर्गीकरण यज्ञानुष्ठान में लगने वाले समय मुख्यत: सुत्या-दिनों के आधार पर अर्थात् सोमलता के निष्काशित रस का आहुति-प्रदान जितने दिनों में सम्पन्न हो जाता है, उसके आधार पर है। जिस सोमयाग में एक ही दिन में सोम रस का सम्प्रदान सम्पन्न हो जाता है, वह 'एकाह' है। 'एकाह' में, अग्नि में सोमरस-प्रदान यद्यपि एक ही दिन में हो जाता है, तथापि उससे पूर्व चार दिनों में कुछ अंग यागों का अनुष्ठान होता है–ये हैं प्रायणीया, आतिथ्या, प्रवर्ग्य (उपसद्) प्रभृति। इस प्रकार अंगयागों के साथ 'एकाह' संज्ञक सोम याग पाँच दिनों में सम्पन्न होता है, किन्तु शीघ्रतावश अंगयागों के साथ अनेकदिनसाध्य सोमयाग एक ही दिन में भी किया जा सकता है। उस समय वह 'साद्यस्क्र' कहलाता है।

'अहीन' श्रेणी में वे याग समाविष्ट हैं, जिनमें एकाह के पश्चात् १२ दिनों से पूर्व तक सोमरस से याग होता है। दिनों की संख्यानुसार 'अहीन' के भी 'द्वयह:', 'त्र्यूह' 'षडह' और 'द्वादशाह' प्रभृति अवान्तर भेद होते हैं। अहीन यागों में तीनों वर्णों का अधिकार रहता है। यह एक या उससे अधिक यजमानों के द्वारा सम्पन्न होता है। अन्त में अतिरात्र का अनुष्ठान होता है।

'सत्र' वे याग हैं, जिनमें १३ दिनों या इससे अधिक दिनों में प्रतिदिन सोमरस का समर्पण होता है। इसमें सभी यजमान होते हैं, इसीलिए सभी को समान रूप से सत्रानुष्ठान का फल प्राप्त होता है। इसमें दक्षिणा नहीं दी जाती। 'सत्रों' के अवान्तर भेद हैं रात्रिसत्र और अयन सत्र। १०० दिनों से न्यून अवधि में जब सोमयाग सम्पन्न होता है, तो वह 'रात्रिसत्र' है। उसके अनन्तर सम्पद्यमान सोमयाग 'अयनसत्र' कहलाता है।

'ज्योतिष्टोम' संज्ञक एकाह और उसके प्रभेद

ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में उल्लिखित बहुत-से एकाहों में 'ज्योतिष्टोम' प्रमुख है। 'ज्योतिष्टोम' नामकरण (ज्योति + स्तोम) का हेतु यह है कि त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश और एकविंश संज्ञक स्तोमों का पारिभाषिक नाम 'ज्योति' है–'ज्योतिष्टोम' संज्ञक एकाह इन्हीं त्रिवृत् प्रभृति स्तोमरूप ज्योतियों से निष्पन्न होता है। समाप्ति-भेद से वस्तुत: ज्योतिष्टोम की तीन ही संस्थाएँ हैं–अग्निष्टोम, उक्थ्य और अतिरात्र जैसाकि लाट्यायन श्रौतसूत्र का वचन है–'स्वतन्त्रस्य ज्योतिष्टोमस्य संस्था-विकल्पा:। आग्निष्टोम्यमुक्थ्यतातिरात्रमिति।' 'ज्योतिष्टोम' के सात भेद अन्यत्र निरूपित हैं–अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम। जिन सामों तथा स्तोत्रों से इनका समापन होता है, प्राय: उन्हीं के आधार पर इनका नामकरण हुआ है। उदाहरण के लिए 'अग्निष्टोम' स्वयं एक स्तोत्रविशेष है, जो 'यज्ञायज्ञा वो अग्नये ऋचा पर आधृत है। 'संस्था' शब्द का अर्थ है समाप्ति। इस प्रकार 'यज्ञायज्ञा वो अग्नये' ऋचा पर निबद्ध साम 'अग्निष्टोम' इस याग का अन्तिम साम होता है। इसीलिए यह 'अग्निष्टोम' अथवा 'अग्निष्टोम संस्थ सोमयाग' है। उक्थ्यसंस्थ सोमयाग अक्थस्तोत्रों से समाप्य हैं जो अग्निष्टोम के अनन्तर प्रयोज्य होते हैं। षोडशियाग 'षोडशि' संज्ञक साम से और अतिरात्रसंस्थयाग सन्धिरहित रात्रि-स्तोत्रों से समाप्य हैं। अग्निष्टोमगत चमस-भक्षण के अनन्तर जब षोडशिस्तोत्र का विधान पूर्ण करके ज्योतिष्टोम सम्पन्न किया जाता है; वह अत्यग्निष्टोम कहलाता है। ताण्ड्य ब्राह्मण (२०.३.४-५) के अनुसार 'अप्तोर्याम' का नामरकण इसके द्वारा अभीष्ट प्राप्त होने के आधार पर हुआ है।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (१४.१.१) तथा सत्याषाढ श्रौतसूत्र (९.७) के अनुसार उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र एवं अप्तोर्याम संज्ञक एकाह अग्निष्टोम के परिष्कृत रूप मात्र हैं। अग्निष्टोम में १२ शस्त्र एवं स्तोत्र हैं, उक्थ्य में तीन शस्त्र एवं तीन स्तोत्र अधिक होते हैं। कुल शस्त्र एवं स्तोत्र १५-१५ होते हैं। षोडशी में १६ शस्त्र एवं स्तोत्र होते हैं। अग्निष्टोम के १२ स्तोत्रों में एक बहिष्पवमान (उपास्मै + दविद्युतत्या + पवमानस्य ते इन सूक्तों से निष्पाद्य=गायत्रसाम से सम्पन्न), चार आज्यस्तोत्र, चार पृष्ठ्य स्तोत्र (रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज, शाक्वर और रैवत इन छः सामों से सम्पाद्य), १ माध्यान्दिन पवमान स्तोत्र (गायत्र, आमहीयव, रौरव, यौधाजय, उशनस् सामों से सम्पाद्य), एक आर्भजपवमान (गायत्र, संहित, शफ, पौष्कल, श्यावश्य, अन्धीगव सामों के द्वारा निष्पाद्य) और एक अग्निष्टोमस्तोत्र (इसकी योनिभूत ऋचा का पहले उल्लेख हो चुका है) सम्मिलित हैं।

अग्निष्टोम समस्त सोमयागों की प्रकृति है। इसके अनुष्ठान-हेतु विस्तृत देवयजन बनाया जाता है। इसमें पूर्व से पश्चिम तक क्रमशः उत्तरवेदी हविर्द्धानमण्डप, सदोमण्डप और ऐष्टिकवेदी बनाई जाती है। उत्तरवेदी से पूर्व की ओर यूपावट (यूपनिखनन के लिए गर्त) होता है। मध्यस्थान 'नाभि' है। ऐष्टिकवेदी के निमित्त निर्मित मण्डप 'प्राचीनवंशशाला' कहलाता है। बायीं ओर आग्नीयाध्रागार' और 'मार्जालीयधिष्ण्य' बनाये जाते हैं। उत्तरवेदी नाभिस्थान पर ही चौथे दिन आहवनीयाग्नि रखी जाती है। इसके पश्चात् प्राग्वंशशाला गत आहवनीयाग्नि 'गार्हपत्याग्नि' कहलाने लगती है। हविर्द्धान-मण्डप में सोमलता से भरे हुए दो शकट रखे जाते हैं। दक्षिण हविर्द्धान अर्थात् मध्यरेखा से दक्षिणपार्श्व में स्थापित सोमपूर्ण शकट के नीचे वर्गाकार भूमि की रचना कर उसके चारों कोनों पर चार-चार गड्ढे बनाये जाते हैं, इन्हें 'उपरव' कहते हैं। चारों ओर उपरवों के ऊपर दो काष्ठफलक रखे जाते हैं, इनमें से प्रत्येक को 'अधिषवणफलक' कहा जाता है। दक्षिण हविर्द्धान के सामने 'खर' बनाया जाता है। वहाँ 'ग्रह' (पात्र) और 'चमस' रखे जाते हैं। हविर्द्धान मण्डप में ही बायीं और हविर्द्धान शकट तथा २-३ कलश रखे जाते हैं। सदोमण्डप में शस्त्र-पाठी तथा स्तोत्रगायक बैठते हैं। वहाँ भूमि पर एक उदुम्बर वृक्ष की शाखा गाड़ी जाती है, उसी के समीप बैठकर उद्गातृ-मण्डल साम-गान करता है। प्राचीनवंशशाला में राजासन्दी पर सोम की स्थापना होती है, क्योंकि वह राजा रूप में मान्य है।

अग्निष्टोम का अनुष्ठान-क्रम–सर्वप्रथम 'सोमप्रवाक' नामक ऋत्विक् का वरण कर उसे अन्य ऋत्विकों को आमन्त्रित करने के लिए यजमान भेजता है। तत्पश्चात् ऋत्विग्वरण, अर्घ्यादि, देवयजनयाचनादि कृत्य होते हैं। इसके पश्चात् दीक्षणीया, महावीर-संभरण, प्रायणीया, आतिथ्येष्टि और उपसद् प्रभृति इष्टियों का संपादन होता है।[5] चतुर्थ दिवस प्रातरनुवाकोपाकरण के रूप में होता है। पञ्चम दिन 'सुत्या-दिवस' है। इसके पश्चात् ऋत्विग्संसपर्पण, प्रवृत होम, सदस् में उपवेशन प्रभृति कृत्य होते हैं। इनके विशद परिज्ञान के लिए लेखक की कृति 'सामवेदीय ब्राह्मणों का परिशीलन' द्रष्टव्य है।

अहीन यागों में द्वादशाह का विशिष्ट स्थान है।

५. इनमें से कुछ इष्टियों का विवरण ऐतरेय ब्राह्मण के विवरणान्त में प्राप्त है।

सत्रयाग

समस्त सत्रयागों का प्रकृतिभूत याग गवामयन सत्र है। यह ३६१ दिनों में सम्पन्न होता है। गवामयन सत्र का उपान्त्य दिन महाव्रत संज्ञक होता है। इसमें श्रान्त-क्लान्त ऋत्विकों के मनोरंजन के लिए अनेक रुचिर कार्यक्रम प्रायोजित हैं। हास-परिहास, विभिन्न वीणाओं तथा दुन्दुभिप्रभृति वाद्ययन्त्रों का वादन, ग्राम्यबोलियों का बोला जाना, एक-दूसरे पर छींटाकसी, धनुषबाण, कवच और हस्तत्राण लिए हुए राजपुरुषों का रथ-धावन, कुमारी कन्याओं के द्वारा नृत्य और गीति-गान, ब्रह्मचारी और वेश्या के मध्य आक्षेप-प्रत्याक्षेप तथा मागध पुरुष और पुंश्चली स्त्री के मध्य प्रतीकात्मक मैथुन इस कृत्य के अन्तर्गत हैं। मत्रयागों में तीन सारस्वत सत्र तथा सहस्रसंवत्ससाध्य विश्वसृजामयन विशेष उल्लेखनीय हैं।

वाजपेययाग–इस याग का अनुष्ठान करने से यजमान प्रजापति के समकक्ष हो जाता है। 'वाजपेययाजी प्रजापतित्वमाप्नोति' (ताण्ड्यब्राह्मण १८.६.४)। स्वर्ग, समृद्धि और स्वाराज्य की कामना इसके अनुष्ठान के मूल कारण हैं। शस्त्रों और स्तोत्रों के पाठ तथा गान और विभिन्न होम-विधियों के अतिरिक्त यजमान और अन्य क्षत्रियों के रथ धावन का इसमें विशिष्ट विधान है। इसे ही आजि-धावन भी कहा गया है। इसमें स्वर्गारोहण का भी एक प्रतीकात्मक कृत्य है। इसके अन्तर्गत यजमान और उसकी पत्नी पूर्वनिर्मित तथा यूप के ऊपर संस्थापित २१ सोपानों वाली सीढ़ी पर चढ़ते हैं और उनके पुत्र-पौत्रादि खारी मिट्टी से बने १७ मिट्टी के पुट उनकी ओर फेंकते हैं। इस याग का अनुष्ठाता दान दे तो सकता है, किन्तु ले नहीं सकता है। वह स्वयं किसी के अभिवादनार्थ खड़ा नहीं हो सकता। 'वाज' का अर्थ है पेयद्रव्यात्मक अन्न-इसी के आधार पर याग का नामकरण सम्पन्न हुआ है–'वाजोऽन्नं पेयद्रव्यात्मकं यास्मिन् स वाजपेयः' (ताण्ड्य ब्राह्मण १८.७.१ पर सायण-भाष्य)।

राजसूययाग–इसका अनुष्ठान स्वर्ग अथवा स्वाराज्य की कामना से राजा ही कर सकता है। 'सूय' शब्द अभिषेक का द्योतक है। सायणाचार्य के अनुसार इसमें यजमान का अभिषेक होता है, इसीलिए इसका यह नाम पड़ा-'सूयतेऽभिषिच्यते यजमानोऽस्मिन् महाक्रतौ सोऽयमभिषेकयुक्तो महाक्रतुः' (ताण्ड्य ब्राह्मण १८.८.१ पर सायण-भाष्य)। अग्निष्टोम के अनुष्ठान से इसका आरम्भ फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को होता है। इसमें तीन दीक्षाएँ और इतने ही उपसद् होते हैं। राजा को सोम के स्थान पर न्यग्रोध फल का रस दिया जाता है। विभिन्न इष्टियों और चातुर्मास्य पर्वों के अनुष्ठान के अनन्तर इसमें १२ रत्नहवियों का अनुष्ठान विशेषरूप से किया जाता है। १२ रत्न ये हैं–यजमान, सेनानी, पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्ता (कंचुकी), संगृहीता, अक्षावाप (द्यूताधिकारी), गोखिकर्ता (आखेटक), दूत या पालागला (रानी विशेष) पारिवृक्ता (रानी विशेष)।

राजसूय याग में सोम, इष्टि और पशु तीनों से सम्बद्ध कृत्य विहित हैं। राजसूयगत 'अभिषेचनीय' याग भी महत्त्वपूर्ण है। अनन्तर १७ प्रकार के जल से राजा का अभिषेक किया जाता है। इन जलों में सरस्वती नदी का जल, बहती नदी का जल, हलचल का जल, प्रतिकूल प्रवाह का जल, समुद्री जल, समुद्र की तरंगों का जल, भँवर का जल, आकाशीय जल, तडाग-जल, झील-जल कूप-जल एवं तुषार जल सम्मिलित हैं।

द्यूतक्रीड़ा भी इसमें विहित है। गायों की लूट का एक प्रतीकात्मक कृत्य भी इसमें है। इसकी

दक्षिणा के रूप में विभिन्न स्वर्णाभूषण, अश्व, वस्त्र, साड़ियां, गायें, शकट, बैल इत्यादि हैं। कुल प्रदेय गायों की संख्या है लगभग ढाई लाख।

कुल मिलाकर राजसूय एक महायाग अथवा छोटे-छोटे यागों का महासंघ है, जिसमें ४३९ इष्टियाँ, दो पशुयाग, आठ सोमयाग और सात दर्विहोम होते हैं।[६] अनुष्ठानावधि की दृष्टि से यह २१ मासों अथवा ३३ मासों में सम्पन्न होता है।

एक विचित्र याग-गोसव–यह वाजपेय और राजसूय के समकक्ष माना गया है। आपस्तम्ब के अनुसार गोसव याग के सम्पादन के अनन्तर एक वर्ष तक यजमान को पशुव्रत लेना पड़ता है, अर्थात् उसे पशु के सदृश ही जल-पान, घास चरना इत्यादि क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। सगोत्रीय स्त्री से सम्बन्ध की अनुमति भी इसमें दी गई है।

पुरुषमेध याग–इसमें २३ दीक्षाएँ, १२ उपसद् एवं पाँच सुत्यादिवस होते हैं। कुल ४० दिनों में यह सम्पन्न होता है। इसमें ११ अग्नीषोमीय पशु विहित हैं। ब्राह्मण यजमान अपना सर्वस्व दक्षिणा में दे देता है। इसमें कुल १८४ पुरुषों को, जो विभिन्न व्यवसायों से सम्बद्ध होते हैं, बांधकर छोड़ दिया जाता है। वध अथवा मारण किसी का भी नहीं होता। इसका अनुष्ठाता आजीवन ग्राम में नहीं लौटता। वानप्रस्थ ले लेता है। ग्रामागमन-हेतु इच्छुक अनुष्ठाता अग्नियों की स्थापना कर जीवनभर अग्निहोत्र करता है।

पितृमेध–इसमें एक ही अध्वर्यु ऋत्विक् होता है। मृत पितादि की अस्थियों को वन में ले जाकर पुरुष का आकार बनाया जाता है। उसे शैवाल और कुशादि से आच्छन्न किया जाता है। गाँव में लौटने पर स्नानादि करके घर में प्रवेश किया जाता है।

अश्वमेध–यह वस्तुतः सोमयाग है। अभिषिक्त एवं सार्वभौम राजा को ही इसके अनुष्ठान का अधिकार है। सामान्यतः फाल्गुन शुक्ला अष्टमी या नवमी को इसका प्रारम्भ किया जाता है। स्वर्णाभूषणों से अलंकृत यजमान की पत्नियाँ अपनी सेविकाओं के साथ (जिनमें राजकुमारियों, क्षत्रिय-कन्याओं, ग्रामाधिपों की कन्याओं और सारथि कन्याओं का परिगणन है) राजा के आगे आती हैं। विभिन्न योग्यताओं से युक्त अश्व को जल में ले जाकर नहलाया जाता है। इसके पश्चात् शूद्र द्वारा वैश्य स्त्री से उत्पन्न पुरुष के द्वारा ऐसे कुत्ते को मरवा दिया जाता है, जिसकी आँखों के ऊपर आँख जैसे ही चिह्न होते हैं। घोड़े को 100 वृद्ध अश्वों के साथ ईशान कोण में भ्रमणार्थ छोड़ दिया जाता है। उसकी रक्षा के लिए पीछे-पीछे शस्त्र संयुक्त 400 क्षत्रिय रहते हैं। एक वर्ष तक अश्व यथेच्छ घूमता रहता है। यह घोड़ा घोड़ी से मिलने नहीं पाता। फिर विभिन्न इष्टियों और सुत्या-दिवसों का अनुष्ठान होता है। पशु-याग भी होते हैं। उसी क्रम में लौटा हुआ अश्व मार दिया जाता है। मृत अश्व के समीप राजा की महारानी लेटती है। उन पर वस्त्र डाल दिया जाता है। कुछ हास-परिहास भी होता है। तदनन्तर राजारानियाँ सीसे, तांबे इत्यादि से बनी हुई सुइयां अश्व के शरीर में चुभाती हैं। अश्व के विभिन्न अंगों से होम होता है। इसके पश्चात् भी बहुत-से कृत्य होते हैं।

६. राजसूय याग के विशेष विवरण के लिए प्रो॰ जे॰सी॰ हीस्टरमैन कृत ग्रन्थ *The Sacrifice of Royal Consecretion'* द्रष्टव्य है।

अभिचार याग–षड्विंश ब्राह्मण में शत्रु-मारण के निमित्त विविध अभिचार याग हैं। ये हैं–श्येन, इषु, सन्दंश और वज्रयाग। श्येन (बाज) पक्षी जैसे पक्षी-समूह पर टूट पड़कर उन्हें मारने के लिए दबोच लेता है, वैसे ही यह याग भी यजमान के शत्रुओं को दबोच लेता है। श्येन याग में कांटेदार लकड़ी से यूप बनाया जाता है। उसका अग्रभाग खड्ग के आकार का होता है। अनुष्ठान में लगे ऋत्विक् ऊपर से नीचे लाल-लाल वस्त्र और पगड़ी पहनते हैं। वे कान या कण्ठ में यज्ञोपवीत डालकर ही कृत्य-संपादन करते हैं। इन ऋत्विकों का चयन श्रमिकों और योद्धाओं के वेदज्ञ पुत्रों में से किया जाता है। दक्षिणास्वरूप प्रदेय गाएँ कानी, लंगड़ी, टूटे सींगों वाली और कटी पूंछों वाली होती हैं। 'इषु' याग का नामकरण बाण की प्रतीकवत्ता के आधार पर हुआ है। जैसे सन्दंश से उस वस्तु को भी पकड़ लेते हैं, जो सामान्यतः पकड़ में नहीं आती, उसी प्रकार सन्दंश याग के अनुष्ठान से दुर्घर्ष शत्रु भी पकड़ में आ जाता है–'यद्वै दुरासदं तत्सन्दंशेन आदत्ते' (षड्विंश ब्राह्मण 4.4.10)। वज्र याग भी इसी क्रम में है।

व्रात्ययज्ञ–ताण्ड्य ब्राह्मण में चार व्रात्यस्तोम यागों का विधान है। व्रात्य का अभिप्राय है आचारहीन व्यक्ति। अपने कुलक्रमागत आचार-व्यवहार से पतित व्यक्तियों के द्वारा, जो न कृषि करते हैं और न वाणिज्य, अपनी व्रात्यता से छुटकारा पाने के लिए ये याग अनुष्ठेय हैं। इनकी दक्षिणा में विचित्र वस्तुओं का उल्लेख है–यथा, उष्णीष, प्रतोद (बैलों को हाँकने के लिए दण्ड), ज्याह्रोड (धनुर्दण्ड), काष्ठफलकों से आच्छन्न रथ, काली किनारी वाली धोती, काला और सफेद भेड़चर्म तथा चाँदी से निर्मित अलंकार। ये वस्तुएँ गृहपति ही जुटाता था। इन्हें व्रात्य-धन कहा गया है। ये उन व्रात्यों को ही दे दी जाती थीं, जो किन्हीं कारणों से अभी व्रात्यता से मुक्त होने की स्थिति में नहीं थे।

व्रात्यस्तोमयाग अग्निष्टोमसंस्थ और उक्थ्यसंस्थ बतलाये गये हैं।

अन्य याग–उपर्युक्त यागों के अतिरिक्त ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में अनेक प्रायश्चित्तपरक यागों का भी विधान है–ये वस्तुतः विभिन्न अपराधों और पापों से मुक्त होने के लिए किये गये कृत्यविशेष हैं। आगे चलकर वेदोत्तर युग में स्मृतियों में इन्हें विशेष रूप से उपबृंहित किया गया।

श्रौतयागों की प्रतीकात्मकता–शनैः शनैः यज्ञ के द्रव्यमय रूप के स्थान पर उसमें प्रतीकात्मकता और आन्तरिकता मुख्य होती गई। स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ इसी के प्रतिफल हैं। अन्ततः स्थिति यह हुई कि हर शुभ और मंगल कार्य को, जिसके अनुष्ठान-संपादन का प्रयोजन सर्वजन कल्याण रहा, यज्ञ कहा जाने लगा। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार जीवन की गतिशीलता ही यज्ञ है–चलते हुए वह सबको पवित्र कर देता है–'एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते, एष ह यन्निदं सर्वं पुनाति' (–4.16.1)।

एकादश अध्याय

वैदिक भाषा, स्वर-प्रक्रिया और पदपाठ

वैदिक भाषा के विकास की रूपरेखा

मानवीय संस्कृति के विकास में भाषा उतनी ही महत्त्वपूर्ण रही है,[१] जितना मनुष्य का हाथ। इस लिए यह आवश्यक है कि वैदिक साहित्य और संस्कृति का निरूपण करने के साथ ही वैदिक भाषा के विकास-क्रम का संक्षिप्त परिज्ञान भी प्राप्त कर लिया जाए।

पाणिनि के 'बहुलं छन्दसि' से लेकर आधुनिक काल तक भाषा तत्त्वज्ञों ने वैदिक भाषा की विविधता की ओर एक स्वर से सङ्केत किया है। यह तो ईश्वर की माया में अगाध विश्वास रखने वाला भी नहीं कह सकता कि संहिताओं और सूत्रग्रन्थों में भाषा का एक ही रूप व्यवहृत है। यदि हम सतर्कतापूर्वक देखें तो ऋग्वेद के वंश-मण्डलों से यजुर्वेद, अथर्ववेद, उपनिषदों और ब्राह्मणों के मध्य विभिन्न सोपान पार करती हुई वैदिक भाषा के अनेक स्तर सहज ही दृष्टिगोचर होंगे। भारोपीय भाषा-कुल के उस आदि युग से लेकर, जब ईरानी आर्य और भारतीय आर्य एक ही स्थान पर रहते थे, लौकिक संस्कृत-काल तक भाषा-विकास की प्रक्रिया के अध्ययन की सम्पूर्ण सामग्री का विश्लेषण करने पर विद्वानों को अनेक मनोरंजक तथ्य प्राप्त हुए हैं।

वैदिक भाषा का प्राचीन स्वरूप

अब तक विद्वानों की मान्यता थी कि ऋग्वेद की भाषा ही सर्वप्राचीन है। वैदिक भाषा, जिसका तात्पर्य है वेदों के साहित्य की भाषा का मूल रूप ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल में है-यहीं से उद्भूत होकर उसका विकास ऋग्वेद के प्रथम और दशम मण्डल तथा अन्य परवर्ती संहिताओं में हुआ। मैक्डॉनिल[२] के अनुसार तुलनात्मक दृष्टि से प्राचीनकाल मन्त्रों का है जिसमें देवताओं को

१. (a) Language should be studied not so much as language, but as an expression of human progress.—*Vendrys* (Language)

(b) Language is a natural outcome of life and that life having produced it continues to nourish it.—*Henry Berr.*

२. The older period is that of the mantras, the hymns and spells adressed to the gods, which are contained in the various Samhitas of these the Rigveda, which is the most important, represents the earliest stage.—Macdonell, Vedic grammar for students, p. 1.

सम्बोधित करके सूक्तों और मन्त्रों की रचना हुई। इनका सङ्कलन विभिन्न संहिताओं में हुआ। इनमें ऋग्वेद संहिता प्राचीनतम अवस्था को प्रस्तुत करती है। भाषा वैज्ञानिक डॉ॰ तारापुरवाला[3] भी इससे सहमत हैं। उनके कथनानुसार भारत में प्राचीनतम भाषा का जो अभिलेख है, वह ऋग्वेद है। उन्होंने इसे 'प्रारम्भिक प्राकृत-युग' नाम दिया है।

किन्तु नई शोधों से यह मान्यता निरस्त हो गई है। स्वयं ऋग्वेद ही इस तथ्य का प्रमाण है कि उससे प्राचीनतर भाषा भी अवश्य रही होगी। ऋग्वेद की भाषा और शैली का अध्ययन करके यह स्वीकार करना कठिन है कि वह विश्व की प्रथम रचना है और वह भी इतने सुन्दर काव्य के रूप में!! वस्तुत: इतनी परिष्कृत, परिमार्जित और प्राञ्जल कविता के सर्जन में, जैसी कि ऋग्वेद की है, अनेक शताब्दियाँ लगी होंगी। ऋग्वेद की इस सर्वाङ्गसुन्दर और अतिशय कवित्त्वपूर्ण रचना के पूर्व वैदिक द्रष्टा कुछ प्रारम्भिक प्रयोग अवश्य कर चुके होंगे और वे निश्चय ही इतने चारुतापूर्ण तथा अप्राकृत नहीं होंगे, जितने ऋग्वेद के मंत्र हैं।

ऋग्वेद से भी प्राचीन मंत्र हैं निविद्। इनकी रचना ऋग्वेद से भी पहले हो चुकी थी। ऋग्वेद से हमारा तात्पर्य है ऋगात्मक मन्त्र। वस्तुत: अनेक निविद् ऋङ्मन्त्रों के पूर्वरूप से हैं निविदों की भाषा ऋग्वेद के प्राचीनतम अंशों की भाषा से भी अधिक पुराकालिक है। निविदों की सर्वप्राचीनता का आधार ही इनकी भाषा का प्रारम्भिक स्वरूप है। निविद्मन्त्र प्राचीनतम सर्जना के प्रतीक हैं। यह उस शैशव-काल की अभिव्यञ्जना है, जब वैदिक भाषा विभिन्न भावों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त ध्वनि, पद तथा वाक्य-उपादानों की खोज कर रही थी।[4] निविदों की भाषा की कुछ विशेषताएँ ये हैं :

(१) समस्त रूप बड़े सरल हैं। कोई भी समस्त पद दो पदों से अधिक का नहीं है–'देवकाम:, वातध्राजिष:, चित्रामघा' आदि।

(२) कर्मकारक का प्रयोग द्वितीया और षष्ठी दोनों विभक्तियों में हुआ है–'सोमस्य पिबतु' तथा 'सोमं पिबतु'।

(३) 'मद्' धातु के साथ, जहाँ तृतीया का प्रयोग होना चाहिए, उसके स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है–'सोमस्य मत्सत।'

(४) वैदिक भाषा में उपसर्गों का प्रयोग क्रिया से ठीक पहले होना आवश्यक नहीं है, किन्तु निविदों में यह प्रवृत्ति बिल्कुल नहीं पाई जाती। निविदों में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं, जब क्रियापदों के बाद उपसर्गों का प्रयोग हुआ हो।

(५) निविदों में केवल वर्तमान (सोऽध्वरा करति) भूत और भविष्यत् (लेट् और लृट् लकारों के द्वारा) का प्रयोग हुआ है।

३. The oldest languages of which we have records in India are the old Indo Aryan Languages (rather dialects) or the Primary Prakrits. The literary remains of this period are the Vedic hymns. In the Rgveda we have the so-called family books (Mandalas 2-7) which show clear dialect distinctions. Taraporewala.—*Elements of Science of Lanauge*, p. 244.

४. इस विषय में विस्तृत जानकारी के लिए देखिए–लेखक का शोधप्रब॰ा 'वैदिक खिल : सूक्त : एक अध्ययन ग्रन्थ रामबाग, कानपुर।

ऋग्वेद के आरम्भिक मण्डलों की भाषा

भाषा की दृष्टि से ऋग्वेद को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है :

१. दूसरे से सप्तम मण्डल तक की भाषा। ये मण्डल वंश-मण्डल अथवा गोत्र-मण्डल भी कहलाते हैं।

२. प्रथम और दशम मण्डल की भाषा। नवम मण्डल का भाषा की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है। उसमें अनुक्रम का विचार किए बिना ही सोम विषयक मंत्रों का संग्रह कर दिया गया है। वाकरनागेल,[५] बटकृष्ण घोष,[६] टी॰ बरो,[७] पुसालकर,[८] सिद्धेश्वर वर्मा आदि विद्वानों का मत है कि वंशमण्डलों की भाषा आपेक्षिक दृष्टि से प्राचीन है। इसके विपरीत प्रथम और दशम मण्डल की भाषा उपर्युक्त वशंमण्डलों की तुलना में अर्वाचीन है। वंशमण्डलों की भाषा की कुछ विशेषताएँ ये हैं :

(१) 'ल' का प्रयोग बहुत कम है। रेफ का बहुत प्रयोग हुआ है। इन मण्डलों में 'सलिल' का प्रयोग 'सरिर' रूप में दिखाई देता है।

(२) पाँचवें मण्डल में क्रियार्थक क्रिया के लिए 'तु' प्रत्यय के प्रयोग का अभाव है।

(३) सातवें मण्डल में पूर्वकालिक क्रिया की सूचना देने वाले 'त्वा' की भी यही स्थिति है।

प्रथम और दशम मण्डल की भाषागत विशेषताएँ

(१) इनमें वंशमण्डलों की अपेक्षा लकार का प्रयोग आठ गुना अधिक हुआ है।

(२) वंशमण्डलों में उदात्त 'इ' और 'उ' सन्धि के क्षरा 'य' तथा 'व' में नहीं बदलते थे। कहा जाता है कि दशम मण्डल में यह सन्धि होने लगी।

(३) अकारान्त शब्दों के पुल्लिङ्ग बहुवचन में 'असस्' लगकर बने रूपों का अभाव है।

(४) पूर्वकालिक अर्थ में 'त्वाय' नामक एक नये प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

(५) 'कृणु' के स्थान पर दशम मण्डल में 'कुरु' का बिपुल प्रयोग हुआ है।

(६) 'सीम्' निपात का दशम मण्डल में केवल एक बार प्रयोग हुआ है, जबकि प्रथम नौ मण्डलों में वह ५० बार प्रयुक्त है।

(७) 'लभ्' धातु का प्रयोग दशम मण्डल में पहली बार हुआ है।

किन्तु सभी वैदिक इन भाषागत भिन्नताओं से सहमत नहीं हैं। इसका सबसे प्रबल विरोध किया है पं॰ सत्यव्रत सामश्रमी ने। उनका कथन है–'अथासु च पञ्चसु वेदसंहितासु बहुधैव पौर्वापर्य केचिदाहुरन्यदेशीया:। तथाहि ऋक् संहिताया: सर्वत एव प्राथम्यम्; तत्रापि द्वितीयमण्डलस्यापेक्षिकनूतनत्वम्' दशममण्डलस्य तु ऋक्संहिता परशिष्टरूपत्वञ्चेति...। किमत्र

५. आलतिन्दिशे ग्रामातीक, भाग-१।

६. Lingusitic Introduction to Sanskrit, pp. 80-82.

७. Sanskrit Language

८. Vedic Age

ब्रूमो वयम्? अस्मच्छ्रुतिषु हि दशम मण्डलस्य मण्डलान्तराणाञ्च भाषा एकविधैवोपलभ्यते, अस्मदबुद्धिषु च तथैकविधमेव तात्पर्यं इति न जानीमहे केषां बुद्धिमालिन्यं केषां वा श्रवणेन्द्रियदुष्टत्वं केषां वा हठकारित्वमिति'–त्रयी परिचय।[१]

अन्य संहिताओं की भाषा

ऋचाओं पर ही साम आरूढ़ होते हैं, इसलिए सामवेद और ऋग्वेद की भाषा में विशेष अन्तर नहीं है; केवल कण्ठ की लोच, गान एवं अन्य आवश्यकताओं के कारण कुछ अन्तर अवश्य है। यजुर्वेदीय संहिताओं में तैत्तिरीय संहिता की भाषा वाजसनेयि संहिता की अपेक्षा प्राचीन लगती है। यह ऋग्वेद और ब्राह्मणों के मध्य हुए भाषाई विकास की द्योतक है। कुछ नए प्रयोग भी हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद में लुट् लकार का प्रयोग नहीं मिलता, किन्तु तैत्तिरीय संहिता में उसे देखा जा सकता है।

अथर्ववेद की भाषा ऋग्वैदिक भाषा की विशिष्टताओं से बहुत मुक्त है। यह अन्तर लिखित और उच्चरित दोनों ही रूपों में देखा जा सकता है। 'ळ्' और 'ळह' जैसे ध्वनियों के उच्चारण यहाँ कम हैं, उनके स्थान पर अविकृत 'ड' और 'ढ' देखे जा सकते हैं–गृभ्णामिऽगृह्णामि। कृदन्त रूपों में भी अन्तर है।

ब्राह्मणों की भाषा

वैदिक और लौकिक संस्कृत के संक्रमण-काल की सूचना, वास्तव में, अथर्ववेद से ही मिलने लगती है। अथर्ववेद तक आते-आते वैदिक भाषा अनेक महत्त्वपूर्ण अन्तराल पार कर चुकी थी। वैदिक भाषा की अनेक विशेषताओं को आत्मसात् करती हुई लौकिक संस्कृत अपना विकास कर रही थी। कालान्तर से वैदिक भाषा सामान्य समाज के लिए कठिन होती जा रही थी। इसके सरलीकरण की प्रक्रिया बहुत पहले ही आरम्भ हो चुकी थी, किन्तु वह अधिकृत रूप से व्यवहृत हुई ब्राह्मणों की रचना में। इन गद्यात्मक ग्रन्थों में यद्यपि लौकिक संस्कृत का ही, यास्क की भाषा में कहें तो 'भाषा' का व्यवहार हुआ है किन्तु उसमें पुट वैदिक भाषा का है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से ब्राह्मणों का इसलिए भी प्रचुर महत्त्व है कि इनमें समाज के एक वर्ग पुरोहितों की भाषा सुरक्षित है। शतपथ ब्राह्मण की भाषा स्वराङ्कित है।

उपनिषदों की भाषा

ब्राह्मणों की ही भाषा का परवर्ती विकास यहाँ दिखाई देता है। उपनिषद् संवाद रूप में हैं, इसलिए उनमें शब्द और धातु-रूपों की जटिलता नहीं है। वेद की अपेक्षा यह भाषा लौकिक संस्कृत के अधिक निकट है। लेट् लकार के प्रयोग विरल हैं। आत्मनेपद और परस्मैपद के प्रयोग में अधिक निश्चितता नहीं आ सकी है।

१. इस विषय में विस्तृत जानकारी के लिए द्रष्टव्य है मेरे द्वारा अनूदित 'वेदत्रयी परिचय' (हिन्दी समिति, लखनऊ से प्रकाशित)।

वैदिक भाषा की सामान्य विशेषताएँ

वर्ण–केवल ५२ वर्ण हैं, जिनमें १३ स्वर एवं ३९ व्यञ्जन हैं।

स्वर–(१) समानाक्षर (Simple Vowels)–अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ। (2) सन्ध्यक्षर (Dipthongs)–ए, ओ, ऐ, औ।

व्यञ्जन–(१) कण्ठ्य–क्, ख्, ग्, घ्, ङ।

(२) तालव्य–च्, छ्, ज्, झ्, ञ्।

(३) मूर्द्धन्य–ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्।

(४) दन्त्य–त्, थ्, द्, ध्, न्।

(५) औष्ठ्य–प्, फ्, ब्, भ्, म्।

ये स्पर्श व्यञ्जन (Contact Sounds) हैं। चार व्यञ्जन अन्तःस्थ (Semivowels) हैं–य्, र्, ल्, व्। ऊष्म वर्ण–श्, ष्, स्, ह्।

प्रत्येक वर्ग की प्रथम दो ध्वनियाँ (क्ख्, च्छ्, ट्ठ्, त्थ्, प्फ्) अघोष हैं; दूसरी और चौथी ध्वनियाँ सोष्म (Aspirates) हैं; अन्तिमवर्ण (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) अनुनासिक है।

अनुस्वार को स्वर और व्यञ्जन का मध्यवर्ती माना जाता है।

ह्रस्व[10] अ, इ, उ, ऋ। दीर्घ[11]–आ, ई, उ, ऋ।

'ळ्' तथा 'ळह'–दो स्वरों के मध्य में आने पर 'ड' 'ळ' हो जाता है। यदि यही 'ड' ऊष्मध्वनि (ह) के साथ आए तो 'ळह्' हो जाएगा–इळा, साळहा।'

मात्रा–(Mora) यह उच्चारण का समय बतलाती है। ह्रस्व स्वर की एक मात्रा होती है। अवग्रह के उच्चारण का काल भी एक मात्रा होता है। दीर्घस्वर की दो मात्राएँ और प्लुत स्वर की तीन मात्राएँ मानी गई हैं।

सन्धि
(Euphonic Combinations)

वैदिक भाषा की सन्धियाँ लौकिक संस्कृत के सदृश ही हैं।

स्वर-सन्धियाँ

(१) **प्रश्लिष्ट सन्धि**–इसके अन्तर्गत लौकिक संस्कृत की दीर्घ और गुण वृद्धि सन्धियों के सदृश सन्धियाँ होती हैं। इसके अनेक भेद हैं :

(क) दो समानाक्षरों (अ, इ, उ, ऋ, ह्रस्व या दीर्घ के बाद यदि ये ही वर्ण आएँ तो) की

१०. ओजा : ह्रस्वा : सप्रमान्ता : स्वराणाम्।
११. अन्ये दीर्घाः।

सन्धि होने पर वह समानाक्षर दीर्घ हो जाए[१२]; यथा-अश्व + अजनि=अश्वाजनि।

(ख) अ या आ के बाद जब इ या ई आए तो दोनों मिलकर ए हो जाते हैं[१३]–आ + इन्द्रम्=एन्द्रम्।

(ग) अ या आ के बाद उ या ऊ के होने पर ओ हो जाता है[१४]–एतायाम+उप=एतायामोप।

(घ) अ, आ के बाद ए या ऐ आने पर ऐ हो जाता है[१५]–आ + एनम्=ऐनम्।

(ङ) अ, आ के बाद ओ या औ आए तो 'औ' हो जाता है[१६]–यत्र+ओषधीः=यत्रौषधीः।

(२) **क्षैप्रसन्धि**–लौकिक संस्कृत की यण् सन्धि। अकण्ठ्य समानाक्षर (इ, उ, ऋ, लृ तथा इनके दीर्घ स्वर के बाद जब असमान स्वर आए तो इनके स्थान पर अपने-अपने अन्तःस्थ (य्, व्, र्, ल) हो जाते हैं[१७]–अभि+आर्षेयम्=अभ्यार्षेयम्; अधीन्नु+अत्र=अधीन्नवत्र।

(३) **अभिनिहितसन्धि**–यह लौकिक संस्कृत की पररूप सन्धि के सदृश है।

इसके अनेक भेद हैं :

(क) जब ए या ओ किसी पाद के अन्त में हों और उसके बाद पादादि में आ आए तो वह ए या ओ के साथ एकरूप हो जाता है तथा उसके स्थान पर अवग्रह हो जाता है;[१८] यथा–दाशुषे+अग्ने दाशुषेऽग्ने; रथेभ्यो+अग्ने=रथेभ्योऽग्ने।

(ख) पाद के अन्तर्गत भी अ अपने पूर्ववर्ती ए या ओ के साथ एक रूप हो जाता है यदि इस अ के बाद य या व आए;[१९] यथा–सो+अयमगात्=सोऽयमगात्; पृच्छन्तो+अवरासः=पृच्छन्तोऽवरासः।

(ग) आवो, अये, अयो या अवे के बाद अ आए और उसके पश्चात् य्, व् के अतिरिक्त अन्य व्यञ्जनों के आने पर भी अ को पररूप हो जाता है।[२०] यथा–शावोऽभितः। अजीतयेऽहतये।

(घ) जब अ के पहले 'वो' आए और 'वो' के पहले आ, न, प्र, क्व, चित्र, सविता, एव, क 'शब्द' आएं तो 'अ' का पूर्वरूप हो जाता है;)[२१] यथा-आवोऽहम्; न वोऽश्वाः; प्रवोऽच्छा।

(४) **भुग्न सन्धि**–ओ, औ के बाद जब अनोष्ठ्य स्वर अ, आ आए तो ओ, औ के स्थान पर अ, आ हो जाता है तथा इस अ, आ और अनोष्ठ्य स्वर के बीच 'व्' रख दिया जाता है[२२]; यथा–वायो+आ=वाय्+ओ+आ=वाय्+अ+आ=वाय्+अ+व+आ=वायवा।

१२. समानाक्षरे सस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम्।
१३. इकारोदय एकारमकारः सोदयः।
१४. उकारोदय ओकारम्।
१५. परस्यैकारमोजयोः।
१६. औकारं युग्मयो :।
१७. समानाक्षरमन्त : स्थां स्वामकण्ठ्यं स्वरोदयम्।
१८. अथाभिनिहित : सन्धिरेतै : प्राकृतवैकृतै :। एकीभवति पादादिरकारस्तेऽत्रसन्धिजा :।
१९. अन्त : पादमकाराच्चेत् संहितायां लघोर्मघु।
२०. अन्यद्यापि तथायुक्तमावोऽन्तोपहितात्सेतः।
अयेऽयोऽवेऽव इत्यन्तैरकार : सर्वथा भवन्।
२१. व इत्येतेन चा न प्रक्व चित्रः सवितैव कः। पदैरुपहितेनैतेः।
२२. ओष्ठ्ययोन्योर्भुग्नमनोष्ठ्ये वकारोऽत्रान्तरागमः।

(५) **उद्ग्राह सन्धि**–ए और ओ के बाद कोई स्वर आए तो ए और ओ के स्थान पर 'अ' हो जाता है; यथा–अग्ने+इन्द्र=अग्न इन्द्रः वायो:उक्थेभिः=वाय उक्थेभिः।

(६) **उद्ग्राहपदवृत्ति सन्धि**–उद्ग्राह सन्धि की स्थिति में ए, ओ के पश्चात् किसी दीर्घ स्वर के आने पर यह सन्धि होती है; यथा–के+ईशते=कईषते; तिरन्तो+आयुः=तिरन्त आयुः।

(७) **प्रगृहीतपदसन्धि**–लौकिक संस्कृत के प्रकृतिभाव के सदृश। प्रकृतिभाव का अभिप्राय है सन्धि न होना, जैसा है, वैसा ही रहना। इसके अनेक नियम हैं :

(क) प्रगृह्य[23] स्वरों के बाद 'इति' के आने पर सन्धि नहीं होती; प्रगृह्य स्वरों को प्रकृतिभाव होता है। यथा–ऊँ इति। प्रोइति। इन्द्रवायू इमे सुता।

अपवाद–किन्तु त्र्यक्ष्रान्त (Three-syllabic) शब्दों के अन्त में आने वाले प्रगृह्य स्वरों के बाद जब 'इव' हो, तो प्रकृतिभाव नहीं होता; यथा–दम्पती+इव=दम्पतीव।

(ख) 'सु' के बाद जब 'ऊ' से प्रारम्भ होने वाला शब्द आए तो प्रकृति भाव होता है; यथा–ताभिरूषु ऊतिभिः।

(ग) श्रद्धा, सम्राज्ञी, सुशमी, स्वधोती, पृथुज्रयी, पृथिवी, ईषा, मनीषा, यया निद्रा, ज्या, प्रपा के अनन्तर यदि अ, इ, ई आए तो प्रकृति भाव होता है।

(घ) 'सचा' के बाद स्वर से प्रारम्भ होने वाले पाद के आने पर सन्धि नहीं होती; यथा–'मन्दिष्ट यदुशनेकाव्ये सचाँ इन्द्रः।'

(८) **द्विसन्धि**–प्रगृह्यसंज्ञा होने पर जब किसी स्वर के दोनों ओर स्वर होते हैं, जैसे अभूदु भा उ अंशवे' में प्रगृह्य 'उ' के दोनों ओर क्रमशः 'आ' और 'अ' है।

विवृत्ति–दो स्वरों के मध्य का व्यवधान विवृत्ति (Hiatus) कहलाता है; यथा 'नू इत्था।' 'पुरएता तितउना', 'प्रउग' और 'नम उक्तिभिः' में विद्यमानविवृत्ति 'अन्तःपाद विवृत्ति' कहलाती है।

व्यञ्जन सन्धियाँ

१. **अन्वक्षर सन्धि**–अनुलोम अन्वक्षर सन्धि (जब स्वर के बाद व्यञ्जन आए) और प्रतिलोम अन्वक्षर सन्धि (व्यञ्जन पहले और स्वर के बाद में आए) में वर्गों के प्रथम वर्ण को अपने वर्ण के तीसरे वर्ण में परिवर्तित किया जाता है; यथा–'अर्वागा वर्तया हरी'–यहाँ 'अर्वाक्' का 'क्' 'ग्' में परिवर्तित हो गया है।

२. वशंगम आस्थापित सन्धि–इसके विपुल भेदों में से कुछ ये हैं :

(क) वर्ग के प्रथम व्यञ्जन के बाद घोष (वर्ग का तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम वर्ण तथा ह् य् व् र् ल्) वर्ण आए तो पहले व्यञ्जन को वर्ग का तीसरा व्यञ्जन कर देते हैं यथा–यद्वाक्+वदति=यद्वाग्वदति।

२३. प्रगृह्य (१) ओकारान्त सम्बोधन या 'ओ' जब स्वयं पद हो (२) द्विवचनान्त शब्दों के अन्त में आने जाने ई, ऊ, ए (३) सप्तमी के रूप में शब्दान्त में आने वाले ई, ऊ (४) अस्मे, युष्मे, त्वे, अमी आदि पद (५) किसी समास के पूर्व पद के अन्त में न आने वाला ओ।

(ख) वर्ग का प्रथम वर्ण अपने ही वर्ग के पञ्चम वर्ण में बदल जाता है, यदि उसके अनन्तर किसी वर्ग का पाँचवाँ व्यञ्जन आए; यथा–अर्वाक्+नरा=अर्वाङ्नरा। तत्+नः=तन्नः।

(ग) वर्ग के प्रथम व्यञ्जन के बाद श आए तो 'श' 'छ' हो जाता है; यथा–'विपाट्+शुतुद्री=विपाट् छुतुद्री।

(घ) 'म्' के बाद यदि उससे भिन्न उच्चारण स्थान वाला स्पर्श व्यञ्जन आये, तो 'म' उस बाद में आने वाले स्पर्श व्यंजन के वर्ग गा पाँचवाँ वर्ण हो जाएगा; यथा–यम्+कुमारः=यङ्कमारः। अहम्+च=अहञ्च।

(ङ) यदि 'म्' के बाद अन्तःस्थ (य्, व्, ल्) आए तो 'म्' को उसी अन्तःस्थ को अनुनासिक रूप दे देते हैं; यम्+यम्+युजं कृ णुते=यँय्यँय्युजं कृ णुते। रेफ पर यह नियम नहीं लागू होगा।

(च) नकार के बाद यदि लकार आए तो नकार को लँकार दिया जाता है; यथा-जिगिवान्+लक्षमादत्=जिगिवाँल्लक्षमादत्।

(छ) नकार के बाद यदि शकार और च वर्ग ध्वनियाँ आएँ तो नकार को ञकार हो जाता है; आस्मान्+जगध्यात्=आस्माञ्जगभ्यात्।

(ज) लकार के अनन्तर किसी अघोष तालव्य ध्वनि के आने पर वकार को चकार हो जाता है; तत्+चक्षुः=तच्चक्षुः।

३. **परिपन्न सन्धि**–'म्' के बाद रेफ या किसी ऊष्मध्वनि के आने पर 'म्' के स्थान पर अनुस्वार हो जाता है–होतारम्+रत्नधातमम्–होतारं रत्नधातमम्। 'सम्राट्' शब्द अपवाद है।

४. **अन्तःपात सन्धि**–बीच में जब किसी पहले से अनुपस्थित वर्ण का आगम होता है, तो वह अन्तःपात् कहलाता है। इसके कुछ भेद हैं: (१) 'ङ्' के बाद अघोष ऊष्म वर्ण के होने पर 'क्' का आगम होता है; यथा–प्रत्यङ्+सविश्वः=प्रत्यङ्कसविश्वः। (२) 'ट्' और 'न्' के बाद 'स' आने पर 'त्' का आगम; यथा–अप्राट्+स=अप्राट्त्स। (३) 'ञ' के बाद 'श' आने पर दोनों के बीच 'च' का आगम–वज्रिञ्+श्नथिहि=वज्रिञ्छ्नथिहि।

विसर्ग सन्धियाँ

१. **पदवृत्ति**–अरिफित विर्जनीय के पहले दीर्घ स्वर हो और बाद में कोई स्वर हो तो विसर्जनीय को 'आ' हो जाता है; यथा–'या ओषधीः।'

२. **उद्ग्राह**–अरिफित विसर्जनीय से पहले ह्रस्व स्वर हो और बाद में कोई स्वर आए तो विसर्जनीय को उपधासहित 'अ' हो जाता है;–यः+इन्द्रः=य इन्द्रः।

३. **प्रश्रित अरिफित**–विसर्जनीय से पहले यदि ह्रस्व स्वर हो और बाद में कोई घोष व्यञ्जन आए तो विसर्ग अपने पूर्व के ह्रस्व स्वर के साथ 'ओ' हो जाता है; यथा–देवः+देवेभिः=देवो देवेभिः।

४. **रेफ**–रिफित विसर्जनीय से पहले जब कोई स्वर हो और बाद में कोई स्वर या घोष हो, तो इस विसर्जनीय को रेफ हो जाता है; यथा–प्रातः + अग्निम्=प्रातरग्निम्।

५. **उपाचरित**–निम्न स्थितियों में विसर्ग सकार में परिवर्तित हो जाता है–

(१) विसर्ग से पहले नामिस्वर (ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ) आएँ तो विसर्ग के स्थान पर षकार हो जाता है और जिससे पहले नामिस्वर नहीं आते और विसर्ग अरिफित होता है तो उसे 'स्' कर देते हैं; निः+कृती=निष्क्रिती। शश्वतः+कः=शश्वतस्कः।

(२) पाद के भीतर असमस्त पद के विसर्ग से पहले 'अ' हो और बाद में 'पति' शब्द आए तो विसर्ग को 'स्' हो जाता है; यथा–ब्राह्मण:+पते=ब्रह्मणस्पतै; वाच:+पति=वाचस्पति।

(३) जब विसर्ग के बाद कृतम्, करम्, कृधि, करत्, क शब्द आएं तो भी विसर्ग को स् होता है; यथा–सह स्करम्; नस्कृतम्; णस्कृधि आदि।

नकार विकार

(१) **आन्पदा पदवृत्ति**–यदि नकार के पहले आ हो और बाद में स्वर हो तो शब्द के अन्त में होने पर भी इसका लोप हो जाएगा। 'अन्नान्, जघन्वान्, इन्द्रसोमान्' आदि में नकार का लोप हो जाता है।

(२) **स्पशरिफ सन्धि**–'न' के पहले जब ई, ऊ हो और बाद में हतम्, योनौ, वचोभि:, यान् आदि शब्द या कोई स्वर हो तो न को रेफ हो जाता है; यथा–दस्यूँ रको, नृँरभि।

(३) **स्पर्शोष्मरेफ सन्धि**–'न' के पहले जब दीर्घ स्वर हो और बाद में चरित, चक्रे, चमसान्, च, चो, चिन्, चरसि, च्यौल:, चतुर: चिकित्वान् शब्द हों तो न को विसर्गवत् हो जाता है।

शब्द रूप

वैदिक भाषा में रूप-बाहुल्य है। एक-एक विभक्ति के प्रत्येक वचन में कई-कई रूप होते हैं। इसमें भी तीन लिङ्ग, तीन वचन और आठ कारक होते हैं। कुछ प्रमुख विशेषताएं ये हैं :

(१) अकारान्त पुल्लिग शब्दों के प्रथमा, द्वितीया तथा सम्बोधन के द्विवचन रूप 'औ' के साथ ही 'आ' लगकर भी निष्पन्न होते हैं; इसी प्रकार से उक्त विभक्तियों के बहुवचन रूप 'अस्' और 'असस्' दोनों प्रत्ययों से सिद्ध होते हैं। उदाहरण–द्विवचन–उभौ, उभा; बहुवचन–देवा:, देवास:।

(२) अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के तृतीया बहुवचन रूप 'ऐस्' और 'भिस्' दोनों ही लगकर बनते हैं–देवै:, देवेभि:।

(३) अकारान्त नपुंसक लिङ्ग शब्दों के प्रथमा, द्वितीया तथा सप्तमी के बहुवचन के अन्त में 'आनि' और कहीं-कहीं 'आ' आता है।

(४) आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के प्रथमा तथा सम्बोधन के बहुवचन रूपों के अन्त में 'आ:' होता है; कभी-कभी 'आस:' भी। तृतीया एकवचन के अन्त में 'आ' होता है या कोई विभक्ति चिह्न नहीं होता है।

(५) इकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द के तृतीया एक वचन के अन्त में 'आ' या 'ना' तथा सप्तमी एकवचन में 'आ' और कहीं-कहीं 'औ' होता है।

(६) स्त्रीलिङ्ग शब्दों के तृतीया एकवचन में 'आ' लगता है, किन्तु कभी-कभी कोई चिह्न नहीं होता। चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी और सप्तमी के एकवचन में प्राय: पुल्लिङ्ग के समान रूप होते हैं और चतुर्थी। एकवचन में 'ऐ' और 'आ:' भी पाया जाता है।

(७) इकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों के प्रथमा, द्वितीया तथा सम्बोधन के द्विवचन में 'ई' और बहुवचन में 'नि' लगता है, किन्तु कभी-कभी कोई भी चिह्न नहीं होता। तृतीया के एकवचन तथा द्विवचन में 'ना' भी लगता है।

(८) उकारान्त पुल्लिङ्ग मधु शब्द के षष्ठी एकवचन में 'मध्वो:' रूप भी बनता है।

विभक्ति-व्यत्यय

वैदिक भाषा में, जिस प्रकार से शब्दरूपों का बाहुल्य है, रूपों में अनेकरूपता है उसी प्रकार से विभक्तियों की स्थिति भी है। किसी विभक्ति के स्थान पर दूसरी विभक्ति का प्रयोग दिखाई पड़ सकता है। प्रथमा के स्थान पर द्वितीया, चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी, षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी का प्रयोग तो बहुत सामान्य है। अर्थ करते समय उसको ठीक कर लिया जाता है। कुछ सामान्य तथ्य ये हैं :

(१) 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' तथा 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या' इन पाणिनीय सूत्रों के अनुसार चतुर्थी और षष्ठी बहुधा एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त दिखते हैं; यथा-'अहिल्यायै जार:।' यहाँ 'अहिल्यायै' में चतुर्थी का प्रयोग षष्ठी के अर्थ में हुआ है।

(२) 'यज्' धातु का करण षष्ठी और तृतीया दोनों में हो सकता है-घृतस्य घृतेन वा यजते।

(३) 'हु' धातु का कर्म तृतीया या द्वितीया दोनों में होता है।

धातु रूप

वैदिक भाषा के धातु रूपों के विषय में प्रातिशाख्य, अष्टाध्यायी की वैदिकी प्रक्रिया आदि में जो नियम मिलते हैं, वे अपर्याप्त हैं। ह्विटनी और मैक्डॉनेल आदि ने इन धातु रूपों का अध्ययन पाश्चात्य प्रक्रिया पर किया है। बहुत से धातुरूप लौकिक संस्कृत के सदृश हैं किन्तु लेट् लकार का प्रयोग लौकिक संस्कृत में नहीं मिलता। वह केवल छन्दो भाषा में ही व्यवहृत हुई है। इसका विस्तृत विवरण इस प्रकार से है :

लेट् लकार (Subjunctive mood)-ऋग्वेद में और अथर्ववेद में भी इसका प्रचुर प्रयोग हुआ है। इसके प्रत्यय ये हैं :

कर्तृवाच्य	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष	– अ-ति, –आ	–अ–त:	–अ–न
मध्यम पुरुष	– अ-सि, अ–त	अ–थ:	अ–थ
उत्तम पुरुष	– आ-ति, अ–स	आ–व:	आ–म
कर्मवाच्य (Middle voice)			
प्र० पु०	अ–ते, अ–तै	ऐते,	अन्ते, अन्त
म० पु०	अ–से, अ–सै	ऐथे,	अ–हवे, अ–हवै
उ० पु०	–ऐ	आ–वहै	आ–महै, आ–महे

इसका अर्थ इच्छा (Will) और बहुत कुछ विधिलिङ् (Optative) से मिलता-जुलता होता है। उत्तम पुरुष में वक्ता की इच्छा स्पष्ट होती है-स्वस्तये वायु मुप ब्रवामहै (कल्याण हेतु हम

वायु देव की स्तुति करेंगे)। मध्यम पुरुष में कुछ-कुछ आज्ञार्थक भाव होता है–हनो वृत्रं जया अप:। प्रथम पुरुष में भी प्राय: यही भाव होता है। लेट् लकार का प्रयोग मुख्य वाक्य में, प्रश्नवाचक सर्वनाम या क्रियावाचक सर्वनाम या क्रियाविशेषण कदा, कथा, कुवित् के साथ, उपवाक्य में नकारात्मक अर्थ के साथ, विशेष उपवाक्य में आज्ञासूचक अर्थ में होता है। उदाहरणार्थ 'भू' धातु के रूप दिए जा रहे हैं :

प्र० पु०	भवाति,	भवात्	भवात:	भवान्
म० पु०	भवासि	भवा:	भवाथ:	भवाथ
उ० पु०	भवानि	भवा	भवाव	भवाम
आत्मनेपद में	भवाते,	भवातै	भवैते	भवान्ते
		भवासे	भवासै	भवैथे (भवाध्वे)
		भवै	भवावहै	भवामहै।

कृदन्त प्रत्यय

वर्तमानार्थक

(कर्तृ०) **अन्त**–भवन्त, क्षिपन्त. अस्यन्त दुहन्त, कृणवन्त

(कर्म०) **मान**–क्रियमाण, यजमान, ब्रुवाण

पूर्ण वर्तमानार्थक

(कर्तृवाच्य में) वांस–चकृवांस, जघन्वांस आदि।

(कर्मवाच्य में) आन्–आनजान, आनशान, ऊचान

(कर्म०) 'त' या 'इत'–यात, जित, भीत, कृत, शान्त, निन्दित।

भविष्यकालिक

(कर्तृ०) **अन्त**–भविष्यन्त

(कर्म०) **मान**–यक्ष्यमाण

भविष्यकालिक कर्मवाच्य में ५ प्रत्यय हैं :

(१) **य**–देय, योध्य, इत्य, श्रुत्यादि। (२) अय्यपानाय्य, स्पृध्याय्य। (३) एन्य–यसेन्य, युधेन्य, मर्मजेन्य। (४) त्व–कर्त्व (५) तव्य–जनितव्य, आदि।

पूर्वकालिक क्रियारूप (Gerund)

(१) **त्वीं**–कृत्वी, गत्वी, भूत्वी, वृक्त्वी

(२) **क्त्वा**–पीत्वा, भूत्वा, युक्त्वा आदि

(३) **त्वाय**–गत्वाय, जग्ध्वाय, दत्त्वाय आदि।

तुमर्थक प्रत्यय (Infinitive) लौकिक संस्कृत की तुलना में वैदिक भाषा में तुमर्थक प्रत्ययों की अधिकता है। से, इ, ति, तु, तवै, ध्यै, मन्, वन्, त्यै, अम्, तोस् आदि लगभग एक दर्जन प्रत्ययों का इस अर्थ में यहाँ प्रयोग होता है।

तद्धित प्रत्यय

ये भी वैदिक भाषा में बहुसंख्यक हैं। एक स्थूल अनुमान के अनुसार वेद में ७५ से भी अधिक तद्धित प्रत्यय प्राप्त होते हैं। कुछ प्रमुख प्रत्यय ये हैं :

अ–भाग, मेघ, सर्ग, प्रिय
अन्–उक्षन् (बैल), राजन्, मूर्धन
अनि–अरणि, वर्तनि,
इ–कृषि, आजि, चक्रि
उन–तरुण, धरुन, मिथुन
उस्–धनुस्, जयुस्, वजुस्
क–शुष्क, अत्क, श्लोक
तृ–गन्तृ, यजष्ट्र
लु–पीयलु
मन्–अज्मन्, नामन्, भूमन
मि–जामि, रश्मि
स्नु–जिष्णु, चरिष्णु
त्वन्–जनित्वन्, सखित्वन्
क–अन्तक, ममक
ताति–सर्वताति, ज्येष्ठताति इत्यादि।

उपसर्ग और निपात

लौकिक संस्कृत में उपसर्गों की स्थिति बहुत नियमित हो गई है; किन्तु वेद में ऐसी स्थिति नहीं है। यहाँ उपसर्गों का प्रयोग बहुत स्वतन्त्रतापूर्वक हुआ है। यह आवश्यक नहीं कि उनका प्रयोग ठीक क्रियापदों से पहले ही हो। वे कहीं भी आ सकते हैं। हाँ, अर्थ करते समय उन्हें क्रियापदों के साथ ही अन्वित कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए 'न' का लौकिक संस्कृत में निषेध अर्थ में ही प्रयोग होता है किन्तु वेद में यह इवार्थक भी है।

वैदिक भाषा और लौकिक संस्कृत में अंतर

वैदिक भाषा और संस्कृत में ध्वनि, सन्धि, शब्द, रूप, धातुरूप, कृदन्त और तद्धित प्रत्ययों तथा उपसर्गों के प्रयोग और अन्य दृष्टियों से विपुल अन्तर है। उसका कुछ निदर्शन यहाँ कराया जा रहा है :

१. लौकिक संस्कृत में ह्रस्व और दीर्घ दो ही स्वर हैं किन्तु वेद में त्रिमात्रिक प्लुत स्वर भी है–'आसीत् विन्दती ३ॐ'

२. वैदिक भाषा में स्वराघात का बहुत महत्त्व है।[२४] लौकिक संस्कृत में स्वर-प्रक्रिया लुप्त हो गयी है।

३. शब्द-रूपों की दृष्टि से आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों का रूप प्रथमा बहुवचन में 'अस्' और 'असस्' दोनों प्रत्ययों में से किसी के भी लगने से बन सकता है, यथा-'देवाः' तथा देवासः। लौकिक संस्कृत में केवल 'अस्' प्रत्यय है।

४. तृतीया बहुवचन में वैदिक भाषा में, अकारान्त शब्दों के रूप दो प्रकार के हैं-'देवेभिः' और 'देवैः'। लौकिक संस्कृत में केवल अन्तिम रूप है। आकारान्त शब्दों का प्रथमा द्विवचन 'आ' लगने से भी बन जाता है-अश्विना उभा।

५. ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का तृतीया एकवचन 'ई' लगकर भी बन जाता है-'सुष्टुती।'

६. अनेक स्थानों पर सप्तमी का एकवचन लुप्त हो जाता है, यथा-'परमे व्योमन्। लौकिक संस्कृत में यह 'व्योम्नि' या 'व्योमनि' है।

७. अकारान्त नपुंसक लिङ्गगत शब्दों का बहुवचन 'आ' तथा 'आनि' दोनों प्रत्ययों के योग से सिद्ध हो जाता है-'विश्वानि अद्भुता।' लौकिक संस्कृत में केवल 'आनि' प्रत्यय है।

८. वैदिक भाषा में क्रियापदों की रचना की दृष्टि से उत्तम पुरुष, बहुवचन (वर्तमान काल) में 'मसि' तथा 'मस', दोनों प्रत्यय प्राप्त होते हैं। 'मसि' का उदाहरण-'मिनीमसि 'द्यविद्यवि'। लौकिक संस्कृत में केवल 'मस' मिलता है-'मिनीमः'।

९. लोट्लकार में मध्यम पुरुष बहुवचन के 'त, तन, थन, तात' आदि अनेक प्रत्यय हैं; यथा-शृणोत, सुनोतन, यतिष्ठन, वृणुतात्।

१०. यह आवश्यक नहीं कि उपसर्ग ठीक क्रिया से पहले ही आये।

११. लौकिक संस्कृत में 'लिए' के अर्थ में केवल एक प्रत्यय है-'तुमुन्' किन्तु वेद में इस निमित्त आधे दर्जन प्रत्यय है, यथा से (जीवसे, ध्यै (पिबध्यै), वै दावै, कर्त्तवै) आदि।

१२. आज्ञा तथा संभावना अर्थ में, वेद में एक नया लकार है-लेट् लकार, जैसे 'तारिषत्'। लौकिक संस्कृत में यह नहीं मिलती।[२५]

ऋग्वेद में स्वराङ्कन

स्वराङ्कन वैदिक भाषा की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इन्द्र शत्रुर्वर्धस्व' की कथा से वेद

२४. इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिए पं॰ युधिष्ठिर मीसांसक का 'वैदिक स्वर मीमांसा' ग्रन्थ देखना चाहिए।

२५. ऊपर वैदिक व्याकरण के कुछ प्रमुख नियमों का ही उल्लेख किया गया है। विशेष जानकारी के लिये ये पुस्तकें अवलोकनीय हैं :

१. वैदिक व्याकरण-डा॰ रामगोपाल, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।

२. संस्कृत ग्रामर-डब्ल्यू॰ डी॰ ह्विटनी।

३. *Sanskrit Grammar for the Students*, - A.A. Macdonell.

४. सिद्धान्त कौमुदी-वैदिकी स्वर प्रक्रिया।

५. ऋक्प्रातिशाख्य।

के अध्येता परिचित ही हैं। स्वरहीन मन्त्र वाग्वज्र बनकर यजमान को नष्ट कर डालता है। स्वर तीन है–उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। प्रत्येक वेद में स्वराङ्कन की पद्धति भिन्न-भिन्न है।

यहाँ ऋग्वेद की स्वराङ्कन पद्धति के विषय में कुछ नियमों का उल्लेख किया जा रहा है :

ऋग्वेद में उदात्त पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता है, अनुदात्त को आड़ी रेखा (–) से अंङ्कित किया जाता है; किन्तु इसके दो अपवाद हैं :

१. प्रत्येक पद में एक उदात्त स्वर होता है, किन्तु इसके दो अपवाद हैं :

(क) जब कोई भी स्वर उदात्त नहीं होता,

(ख) जब एक पद में दो उदात्त होते हैं।

(ग) सर्वनाम शब्दों के वैकल्पिक रूप–मा, त्व, मे, ते, नौ, वाम् आदि उदात्तहीन होते हैं, च, उ, वा, इव, ध, ह, स्थित, स्वित् आदि निपात उदात्तहीन होते हैं, सम्बोधन (आमन्त्रित–Vocative) जब पाद के प्रारम्भ में न हो तो उदात्तहीन होता है। मुख्य वाक्य की क्रिया सर्वानुदात्त होती है।

(घ) 'तवै' से बने 'एतवै' आदि पदों में एक से अधिक उदात्त होते हैं, देवता द्वन्द्व समास में दो उदात्त होते हैं, यथा–'मित्रावरुणा।'

२. उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त नियम से स्वरित हो जाता है, यदि उसके बाद कोई उदात्त या स्वरित न हो।

३. स्वरित के बाद आने वाले बिना चिह्न के वर्ण 'प्रचय' कहलाते हैं। स्वरित के बाद कई वर्ण प्रचय हो सकते हैं। स्वरित के बाद आने वाले अनुदात्त प्रचित हो जाते हैं। वाक्य के अन्त में जब स्वरित के बाद कई प्रचय (या एकश्रुति) रहते हैं, उन्हें बिना चिह्न के छोड़ देते हैं और अन्त के अनुदात्त को भी चिह्नित नहीं करते।

४. समास में जब एक ही शब्द की आवृत्ति हो तो पहले पाद पर उदात्त होता है, यथा–अ ह् र ह्।

५. बहुव्रीहि में प्रथम पद उदात्त होता है।

६. सामान्य तत्पुरुष में अन्तिम पद उदात्त होता है।

७. जिन तत्पुरुष समासों का उत्तरपद 'पति' शब्द होता है, उनमें दो उदात्त होते हैं–'**बृहस्पति**'।

८. द्वन्द्व समास के उत्तर पद पर उदात्त होता है–**अहोरात्राणि**

९. जिन द्वन्द्व समासों में देवताओं के नाम होते हैं और दोनों द्विवचनान्त होते हैं तो दोनों पदों पर उदात्त होते हैं।

१०. यदि क्रिया वाक्य या पाद के प्रारम्भ में आए तो उस पर उदात्त होता है।

११. सम्बोधन के तुरन्त बाद क्रिया आए तो उस पर भी उदात्त होता है।

१२. मुख्य वाक्य में उपसर्ग पर उदात्त युक्त होते हैं।

१३. दो उपसर्ग हों तो दोनों स्वतन्त्र और उदात्त युक्त होते हैं।

१४. स्वरित प्रमुखतः दो प्रकार का होता है :

(क) सामान्य स्वरित–उदात्त के बाद आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है जब उसके बाद कोई उदात्त न हो। अभिनिहित स्वरित हो जाता है। क्षैप्रसन्धि होने पर क्षैप्रस्वरित कहलाता है।

(ख) जिससे पहले उदात्त न हो, उस स्वरित को जात्यस्वरित कहते हैं।

१५. **कम्प**—जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र एवं प्रश्लिष्ट स्वरित के बाद जब कोई उदात्त होता है तो कम्प होता है। जब जात्य स्वरित ह्रस्व स्वर पर हो तो कम्प को स्वरित एवं अनुदात्त युक्त एक (१) के अङ्क से व्यक्त करते हैं—**वी र्य** १ जब जात्य स्वरित दीर्घ स्वर पर हो तो कम्प

को स्वरित एवं अनुदात्त युक्त (३) के अङ्क से निर्दिष्ट करते हैं—तन्वा ३ स

१६. सन्धियों में निम्नलिखित स्वर होते हैं :

(क) उदात्त के बाद उदात्त की सन्धि हो तो उदात्त होता है; उ+उ=उ।

(ख) अनुदात्त के साथ उदात्त की सन्धि होने पर उदात्त होता है—अ+उ=उ।

(ग) स्वरित के साथ उदात्त की सन्धि होने पर उदात्त होता है। स्व+उ=उ।

(घ) जात्यस्वरित+उदात्त=उदात्त।

संहितापाठ से पदपाठ बनाने के नियम

वेद की रक्षा के उपायों के अन्तर्गत वैदिक मन्त्रों के अनेक पाठों का उल्लेख हो चुका है। उन्हीं में से एक है पद पाठ। संहितापाठ से मन्त्रों को पद पाठ में अन्तरित करते समय निम्नलिखित नियमों को ध्यान में रखना चाहिये :

१. संहिता पाठ की सन्धियों को विच्छिन्न कर पदों को अलग-अलग रखना चाहिए, यथा—इन्द्रेहि—इन्द्र। आ। इहि।

२. विसर्ग को यदि 'ओ', 'रेफ' या 'स' या 'स' हुआ हो तो उस शब्द को मूल सविसर्ग स्थिति में रख लेना चाहिए, यथा—देवो देवेभिः=देवः। देवेभिः। प्रातरिन्द्रम=प्रातः। इन्द्रम्।

३. संहिता पाठ के सन्धिजन्य 'ष' को 'स' और 'ण' को 'न' कर देना चाहिए।

४. संहिता पाठ में सन्धि या अन्य छान्दस कारणों से यदि कुछ वर्णों का लोप हुआ हो, विशेष रूप से 'ईम' का 'म' और द्विवचनान्त शब्दों का 'आ' तो पद पाठ में इन्हें लगा देना चाहिए।

५. शब्दों के साथ जुड़े विभक्ति प्रत्ययों को कहीं-कहीं अलग कर दिया जाता है और शब्द तथा प्रत्यय के मध्य अवग्रह लगा दिया जाता है—यथा—हरिभ्याम्=हरिऽभ्याम्। भ्याम्, भिस् और भ्यस् को शब्दों से अलग कर देते हैं किन्तु द्वाभ्याम्—अष्टाभिः, देवेभ्यः देवेभ्यः, अस्मभ्यम् और तुभ्यम् इस नियम के अपवाद हैं। इन्हें अवग्रह लगाकर पृथक नहीं दशति ।

६. जब सप्तमी बहुवचन का विभक्ति चिह्न 'सु', 'षु' में न परिवर्तित हुआ हो और ना ही उसके पहले दीर्घ स्वर ही हो शब्द से अलग कर दिया जाता है।

७. उपसर्ग जब शब्द के साथ हो, तो उन्हें अलग दिखाया जाता है, प्रचेता=प्रऽचेताः।

८. शब्दों के साथ लगने वाले प्रत्ययों को अलग किया जाता है; यथा—वृत्रहा=वृत्रऽहा।

९. निषेधार्थक 'अन्' और 'अ' उपसर्ग अलग नहीं किए जाते हैं।

१०. यदि किसी पद में एकाधिक उपसर्ग हों, तो पहले उपसर्ग को अवग्रह से अलग कर देते हैं—सुप्रवचनम्=सुऽप्रवचनम्।

११. किसी पद के साथ यदि 'इव' लगा हो तो 'इव' को अवग्रह से अलग कर दिया जाता है–प्रगर्धिनी इव=प्रगर्धिनीऽइव।

१२. समस्त पदों को अवग्रह से पृथक् कर दिया जाता है और उन्हें मूल रूप से रखा जाता है–पुरुवसु=पुरुऽवसु।

१३. जिस समास का पहला पद 'द्वा' हो, उसे अलग नहीं करते, यथा–द्वादश। 'वनस्पति' को भी अलग नहीं करते।

१४. अनार्ष इतिकरण–निम्नलिखित स्थितियों में प्रगृह्य पदों के आगे पद पाठ में 'इति' लग जाता है :

(क) 'ई' जब प्रथमा या द्वितीया का द्विवचनान्त हो या सप्तमी में हो तो इन द्विवचनान्त शब्दों या सप्तमी के रूप के बाद 'इति' लगता है–पति=पती इति, रोदसी इति।

(ख) 'अमी' की 'ई' भी प्रगृह्य होती है–इसे भी इतियुक्त कर दिया जाता है।

(ग) द्विवचन या सप्तमी के रूपों में जब शब्द के अन्त में 'ऊ' हो तो उसके साथ भी 'इति' लगाया जाता है–इन्द्रवायू इति, धृष्णू इति। चमू इति।

(घ) 'उ' के स्थान पर पद पाठ में 'ॐ इति' हो जाता है।

(ङ) एकारान्त द्विवचन भी प्रगृह्य संज्ञक होता है–अबुध्यमाने इति।

(च) अस्मे, युष्मे, त्वे के बाद 'इति' लगता है।

(ह) ओकारान्त सम्बोधन के आगे भी 'इति' लगता है–विष्णो इति।

(ज) 'अथो, उतो, तत्वो, भो' के 'ओ' के बाद भी इति लगता है।

(झ) होतर और नेण्टर आदि शब्दों में विसर्ग होने से पहले मूलतः 'ट' रहा हो तो उसके बाद इति लगता है–होतरिति।

(ञ) ईकारान्त एवं ऊकारान्त शब्द के साथ 'इव' आए तो उस शब्द में 'इव' के साथ इति लगता है और दुहराया जाता है–दम्पती इव इति दम्पती इव।

●●●

ग्रन्थ सूची

वैदिक ग्रन्थ

संहिताएँ

अथर्ववेद संहिता – १. सं॰-दुर्गादास लाहिड़ी, सायण भाष्य सहित, (२) सं॰-सातवलेकर, १९४३; पारडी, (३) सं॰-शंकर पण्डित - सम्पादित, बंबई, १८९८; (४) सं॰-विश्व बन्धु (सभाष्य) होशियारपुर १९६०-६४।

२. अथर्ववेदीय पैप्पलाद संहिता - सं॰-डॉ॰ रघुवीर।

३. ऋग्वेद संहिता - (१) वेंकटमाधव-भाष्य सहित, सं॰-डॉ॰ लक्ष्मण स्वरूप, लाहौर, १९३९। (२) सं॰-सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल, पारडी; (३) सं॰-चिं॰ ग॰ काशीकर, वैदिक संशोधन मण्डल, पुणे, (सायण- भाष्य सहित) १९४१; (४) स्कन्दस्वामी के भाष्य सहित, वि॰ वै॰ शो॰ सं॰ होशियारपुर १९६५।

४. कपिष्ठल-कठ संहिता, सं॰-रघुवीर, १९३२।

५. काठक संहिता - सं॰-सातवलेकर, पारडी।

६. काण्व संहिता - सं॰-सातवलेकर, पारडी।

७. तैत्तिरीय संहिता - (१) सं॰-सातवलेकर; (२) सायण भाष्य सहित, आनन्दाश्रम पूना।

८. मैत्रायणी संहिता - सं॰-सातवलेकर, १९४२।

९. यजुर्वेद संहिता - (१) सं॰-सातवलेकर, १९५७। (२) उव्वट एवं महीधर-भाष्यों सहित; निर्णयसागर प्रेस, १९२९। (पुनर्मुद्रण - मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली)

१०. सामवेद संहिता - (१) सं॰-सातवलेकर, १९३९; (२) सं॰-दुर्गादास लाहिड़ी (३) सं॰-सत्यव्रत सामश्रमी।

११. सामवेदीय गानग्रन्थ - (१) प्रकृतिगान (कौथुमशाखीय, दो भाग) - सं॰-रा॰ श॰ नारायण श्रौती, कांची, १९७६; (२) ऊहगानम् - उहयगानम् - सं॰-रामनाथ दीक्षित, का॰ हि॰ वि॰ काशी, १८६७; (३) जैमनीयम् सामगानम् - सं॰ वि॰ भू॰ भट्टाचार्य, वाराणसी १९७६।

भारतीय भाषाओं में अनुवाद (हिन्दी)

१. अथर्ववेद संहिता - (१) सातवलेकर-कृत सुबोधभाष्य; (२) क्षेमकरण दास त्रिवेदी-कृत हिन्दी-भाष्य (३) जयदेव विद्यालंकार-कृत अनुवाद; (४) श्री रामशर्मा-कृत अनुवाद।

२. ऋग्वेद संहिता - (१) सातवलेकर कृत सुबोध हिन्दी भाष्य; (२) राम गोविन्द त्रिवेदी-कृत हिन्दी अनुवाद; (३) दयानन्द और आर्यमुति के भाष्य; (४) श्री राम शर्मा कृत अनुवाद

३. यजुर्वेद संहिता - (१) पाँच अध्यायों तक सातवलेकर कृत सुबोध-भाष्य; (२) दयानन्द भाष्य; (३) जयदेव विद्यालंकार-कृत अनुवाद (४) ज्वाला प्रसाद मिश्र-कृत भाष्य; (५) श्री राम शर्मा-कृत अनुवाद।

४. सामवेद संहिता - (१) सातवलेकर-कृत अनुवाद; (२) जयदेव विद्यालंकार-कृत अनुवाद; (३) श्री राम शर्मा-कृत अनुवाद; (४) वीरेन्द्र शास्त्री-कृत अनुवाद।

बंगला - रमेश चन्द्रदत्त ने ऋग्वेद का और सत्यव्रत सामश्रमी ने शुक्ल यजुर्वेद और सामवेद का बंगला में अनुवाद किया।

मराठी - मराठी में ऋग्वेद के दो अनुवाद प्रसिद्ध हैं - (१) सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव-कृत; (२) कोल्हट और परवर्धन-कृत।

श्री धर पाठक ने शुक्ल यजुर्वेद का भी सुन्दर अनुवाद किया है।

ब्राह्मण ग्रन्थ

१. एतरेय ब्राह्मण - (१) सायण भाष्य सहित, आनन्दाश्रम पूना, १९३१; (२) सायण भाष्य सहित सं०-सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता; (३) षड्गुरुशिष्य-भाष्य सहित, तिरूअन्तपुरम्, १९४२; (४) सुधाकर मालवीय-कृत हिन्दी अनुवाद सहित, काशी।

२. कौषीतकि ब्राह्मण - (१) आनन्दाश्रम, पूना, १९११।

३. गोपथ ब्राह्मण - (१) सं० राजेन्द्र लाल मित्र, कलकत्ता, १८७२; (२) सं० डॉ० विजयपाल शास्त्री, रामलालकपूर ट्रस्ट।

४. जैमिनीय ब्राह्मण - सं०-रघुवीर एवं लोकेशचन्द्र, १९५४; आंशिक अंग्रेज़ी अनुवाद (१.६५) - बोडेवित्स, एच०, डब्लू०।

५. जैमिनीय आर्षेय ब्राह्मण - (१) मंगलौर १८७८ सं०-बे० रा० शर्मा, तिरुपति, १९६७।

६. जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण - (१) लाहौर, १९२१ (२) सं० बे० रा० शर्मा, तिरुपति, १९६७।

७. ताण्ड्य महाब्राह्मण - (१) सायण भाष्य सहित, सं०-चिन्नस्वामि शास्त्री, चौखम्बा, सं० १९९३; (२) कलकत्ता १८७०; (३) अंग्रेजी अनुवाद कालन्द कृत, १९३१ कलकत्ता।

८. तैत्तिरीय ब्राह्मण - (१) सायण - भाष्य सहित, सं० राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता, १८६२; (२) सं० नारायण शास्त्री, आनन्दाश्रम पूना, १९३४; (३) भट्टभास्कर - भाष्य सहित, सं०-महादेव शास्त्री, मैसूर, पुनर्मुद्रण - मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

९. देवताध्याय ब्राह्मण - (१) कलकत्ता, १८८१; (२) ed. by — A.C. Burnell; १८७३ (३) सायण-भाष्य सहित, सं०-बे० रा० शर्मा, तिरुपति, १९६५।

१०. मन्त्र ब्राह्मण - (१) सं०-सत्यव्रत सामश्रमी; (२) 'छान्दोग्य ब्राह्मण' के नाम से, सं० दुर्गामोहन भट्टाचार्य, कलकत्ता।

११. वंश ब्राह्मण - (१) सं०-सत्यव्रत सामश्रमी (२) edited by A.C. Burnell, Mangalore; (३) सं०-बे० रा० शर्मा, तिरुपति १९६५।

१२. शतपथ ब्राह्मण - अजमेर सं० १९५९; (२) सायण भाष्य सहित, वेंकटेश्वर प्रेस बंबई; (३) सायण-भाष्य सहित सं०-सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता १९०३-११(४) वंशीधर शास्त्री

– सम्पादित काशी (५) सं०-ए० वेबर, चौखम्बा; (६) विज्ञान-भाष्य मोती लाल शर्मा, जयपुर।

१३. शाङ्खायन ब्राह्मण – सं०-गुलाबराय, आनन्दाश्रम, पूना, १९११।

१४. षड्विंश ब्राह्मण – सं०-जीवानन्द विद्यासागर, सायण-भाष्य सहित, कलकत्ता १८८१; (२) सं० सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता १८७३ (३) सं०-बे० रा० शर्मा, तिरुपति, १९६७; (४) Eng. Trans. H. F. Eelsingh, Leiden, १९०८।

१५. संहितोपनिषद् ब्राह्मण – द्विजराज भट्ट-भाष्य तथा सायणीय वेदार्थ प्रकाश सहित, सं०-बे० रा० शर्मा, तिरुपति, १९६५।

१६. सामविधान ब्राह्मण – (१) सायण भाष्य-सहित, सं० सत्यव्रतसामश्रमी, सं० १९५१; (२) स० बे० रा० शर्मा, तिरुपति, १९६४।

भारतीय भाषाओं में अनुवाद

हिन्दी – स्व० गंगा प्रसाद उपाध्याय ने हिन्दी में ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणों के अनुवाद किये है। क्षेमकरण दास त्रिवेदी ने गोपथ ब्राह्मण का हिन्दी में अनुवाद किया है।

बंगला – स्व० पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी के वंश ब्राह्मण, देवताध्याय ब्राह्मण और मंत्र ब्राह्मण के बंगला-अनुवाद उल्लेखनीय हैं।

आरण्यक ग्रन्थ

१. ऐतरेय आरण्यक – (१) सायण-भाष्य सहित, आनन्दाश्रम, पूना, १८९८; (२) अंग्रेजी अनुवाद सहित, ए० बी० कीथ, आक्सफोर्ड; पुनर्मुद्रण – मोतीलाल बनारसीदास।

२. तैत्तिरीय आरण्यक – (१) आनंदाश्रम, पूना १८९८; (२) सं०-राजेन्द्र लाल मित्र, सायण-भाष्य सहित, कलकत्ता, १८७२, (३) भट्ट भास्कर भाष्य सहित, १९०२।

३. बृहदारण्यक – 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के अन्तर्गत, गीता प्रेस से प्रकाशित।

४. मैत्रायणीय आरण्यक-भाष्य – रामतीर्थ।

५. शाङ्खायन आरण्यक – आनन्दाश्रम, पूना, १९२२।

उपनिषद् ग्रन्थ

उपनिषदों का, वैदिक साहित्य में संभवत: सर्वाधिक प्रकाशन न हुआ है, प्राय: सभी प्राप्य उपनिषद् सम्प्रति परिनिष्ठित भाष्यों सहित प्रकाशित और विभिन्न भारतीय एवं विश्व की भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं। आनंदाश्रम एवं गीताप्रेस के संस्करण विशेष प्रचलित हैं।

वेदांग

शिक्षा

१. अथर्व प्रातिशाख्य - सं० - सूर्यकान्त, १९३९।
२. आथर्वण प्रातिशाख्य - सं० - विश्वबनधु १९२३।
३. ऋक् प्रतिशाख्य - उव्वट भाष्य सहित, सं० मंगलदेव शास्त्री १९३१, प्रयाग। (२) हिन्दी अनुवाद सहित, वी० के० वर्मा, काशी।
४. चरण व्यूह - चौखम्बा, १९३८।
५. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य - माहिषेय भाष्य सहित, मद्रास, १९३०।
६. पुष्पसूत्र (साम प्रातिशाख्य) - अजातशत्रु-कृत भाष्य सहित, चौखम्बा, १९२२।
७. पाणिनीय शिक्षा सूत्र - दयानन्द सरस्वती।
८. पाणिनीय शिक्षा पंजिका, चौखम्बा।
९. वाजसनेयि प्रातिशाख्य - (१) बनारस १८८८; (२) हिन्दी अनुवाद सहित, वी० के० वर्मा, वाराणसी।

कल्प

१. आश्वलायन श्रौत सूत्र - (१) कलकत्ता, १८७४; (२) आनान्दाश्रम पूना, १९१७।
२. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र - (१) हरदत्त मिश्र-कृत अनाकुला टीका, चौखम्बा, १९२८; (२) हिन्दी अनुवाद सहित, उमेश चन्द्र पाण्डेय, काशी।
३. आपस्तम्ब धर्म सूत्र - (१) बांबे संस्कृत सीरीज, १९३२; (२) हिन्दी अनुवाद सहित, उमेश चन्द्र पाण्डेय, वाराणसी।
४. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र - (१) कलकत्ता, १९०२ (२) धूर्तस्वामी भाष्य, बड़ौदा, १९५५ (३) नरसिंहाचारी, मैसूर, १९४५।
५. आपस्तम्ब शुल्ब सूत्र - मैसूर, १९३१।
६. आश्वलायन गृह्यकारिका - निर्णय सागर, १८९४।
७. आश्वलायन गृह्यसूत्र - (१) बंबई, १९०९; (२) त्रिवेन्द्रम, १९२३; (३) आनन्दाश्रम, पुणे।
८. कात्यायन श्रौत सूत्र - (१) याज्ञिक देव भाष्य सहित चौखम्बा, १९०८। (२) विद्याधर-सम्पादित, बनारस, १९०८।
९. कात्यायन शुल्ब सूत्र - चौखम्बा, १९०९।
१०. काठक गृह्यसूत्र - लाहौर, १९२५।
११. कौशिक सूत्र - (१) मद्रास, १९४४; (२) सं०-दिवेकर तथा लिमये तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पुणे, १९७२।
१२. कौषितकि गृह्यसूत्र-भवत्रात भाष्य सहित, मद्रास, १९४४।
१३. खादिर गृह्यसूत्र - रुद्रस्कन्द व्याख्या, महादेव शास्त्री, मैसूर, १९१३।
१४. क्षुद्रकल्प सूत्र - (१) लाहौर, १९२१; (२) सं० बे० रा० शर्मा, होशियारपुर, १९७४।

१५. गोभिल गृह्यसूत्र - सं॰ चिन्तामणि तथा भट्टाचार्य, कलकत्ता, १९२६।
१६. गौतम धर्म सूत्र - (१) मस्करी भाष्य, मैसूर, १९१७;
(२) सं॰ वेदमित्र-दिल्ली, १९६९।
१७. जैमिनीय श्रौतसूत्र - (१) सं॰ प्रेमनिधि शास्त्री, दिल्ली, १९६६;
(२) ASKO Parpola's Eng-work.
१८. जैमिनीय श्रौतसूत्र परिशिष्ट।
१९. जैमिनीय श्रौतसूत्र कारिका।
२०. जैमिनीय गृह्यसूत्र-लाहौर, १९२२।
२१. दर्शपूर्णमास प्रकाश - आनन्दाश्रम, पूना।
२२. द्राह्यायण श्रौतसूत्र - (१) धन्विन भाष्य, लाहौर।
(२) सं॰ वे॰ रा॰ शर्मा, गंगानाथ झा, विद्यापीठ, इलाहाबाद।
२३. द्राह्यायण गृह्यसूत्र - (१) पुणे, १९१४।
(२) हिन्दी अनुवाद सहित मुजफ्फरनगर, १९३४।
२४. पारस्कर गृह्यसूत्र - (१) चौखम्बा।
(२) पंच भाष्योपेत, गुजराती प्रेस, बम्बई।
(३) हरिहर-भाष्य तथा हिन्दी व्याख्या सहित, सं॰ ओम् प्रकाश पाण्डेय-चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी।
२५. बैजवाप-गृह्य-भगवद्दत-सम्पादित, लाहौर, १९२८।
२६. बोधायन-श्रौतसूत्र-सं॰-कालन्द, १९०४-२३।
२७. बोधायन गृह्यसूत्र-शाम शास्त्री, मैसूर, १९२०।
२८. बोधायन धर्मसूत्र-चौखम्बा, सं॰ १९९१।
२९. बोधायन शुल्बसूत्र-कलकत्ता, १९१३।
३०. भारद्वाज गृह्यसूत्र।
३१. भारद्वाज श्रौतसूत्र - (१) सं॰-रघुवीर, १९३६।
(२) Sutras of Bharadwaja-चि॰ ग॰ काशीकर।
३२. मानव गृह्यसूत्र - (१) बड़ौदा, १९२६।
(२) अष्टावक्र भाष्यसहित, सं॰-रामकृष्ण हर्षे, १९२६।
३३. मानव श्रौतसूत्र-सं॰ जे॰ एम॰ फान गोल्डर, नई दिल्ली, १९६१।
३४. लाट्यायन श्रौतसूत्र-कलकत्ता, १९०२।
३५. वासिष्ठ धर्मसूत्र-बंबई, १९१६।
३६. वाधूल श्रौतसूत्र-सं॰-ब्रजबिहारी चौबे, होशियारपुर, १९९३।
३७. वाराह गृह्यसूत्र-रघुवीर, लाहौर, १९३२।
३८. वैखानस गृह्यसूत्र-सं॰-कालन्द कलकत्ता, १९२६।
३९. वैखानस श्रौतसूत्र, कलकत्ता, १९४१।

४०. वैखानस धर्मसूत्र-मैसूर।
४१. वैतानसूत्र (सोमादित्य-भाष्य सहित) - सं० विश्व बन्धु १९६७, होशियारपुर।
४२. शांखायन गृह्यसूत्र-सं०-सीताराम सहगल दिल्ली, १९६०।
४३. शांखायन श्रौतसूत्र-कलकत्ता, १८८८।
४४. सत्याषाढ श्रौतसूत्र-आनन्दाश्रम, पुणे।
४५. हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र - (१) सं० जे० किर्स्ते, वियेना, १८८९।
(२) अंग्रेज़ी अनुवाद ओल्डेनबर्ग, सैक्रेड बुक्स ऑफ ईस्ट ३०वां भाग।
(३) हिरण्यकेशी स्मार्तसूत्र के रूप में आनन्दाश्रम, पुणे, १८८९।

अन्य

निरुक्त – १. सं० राजराम लाहौर।
२. सं० तथा हिन्दी अनुवादक भगवद्दत, अमृतसर सं० २०२१।
३. दुर्गाचार्य-भाष्य सहित आनन्दाश्रम, पूना।
४. लक्ष्मणसरूप, लाहौर।
५. दुर्गभाष्य सहित मनसुखराय मोर, कलकत्ता।
६. बी० के० राजवाडे-सम्पादित, पूना।
७. निर्णय सागर प्रेस, बंबई।
बृहद्देवता – १. राजेन्द्र लाल मित्र, कलकत्ता।
२. चौखम्बा, १९६३।

आधुनिक ग्रन्थ

१. अथर्ववेद : एक साहित्यिक अध्ययन - डॉ मातृदत्त त्रिवेदी।
२. अथर्ववेद कालीन संस्कृति - डॉ कपिल देव द्विवेदी।
३. अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण - ब्लूम फील्ड, (हिन्दी अनुवाद, चौखम्बा)।
४. आचार्य सायण एवं माधव - पं० बलदेव उपाध्याय।
५. आर्यों का आदि देश - संपूर्णानंद।
६. उपनिषद्-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण-रा० द० रानाडे।
७. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका - स्वामी दयानंद।
८. ऋग्वेदेर समालोचना - महेशचंद्र राय (बंगला)।
९. ऋग्वेदालोचन - नरदेवशास्त्री।
१०. ऐतरेयालोचन - सत्यव्रत सामश्रमी।

११. ऐतरेय ब्राह्मण - मंगल देव शास्त्री।
१२. ऐतरेयारण्यक पर्यालोचनम् - मंगलदेव शास्त्री।
१३. कौषीतकि ब्राह्मण - मंगलदेव शास्त्री।
१४. गंगा (वेदाङ्क) - सं०-रामगोविंद त्रिवेदी।
१५. चतुर्वेद भाष्य भूमिका संग्रह - (सायणाचार्य) - सं० - बलदेव उपाध्याय, काशी।
१६. निरुक्तालोचन - सत्यव्रत सामश्रमी।
१७. वेदत्रयी परिचय - सत्यव्रत सामश्रमी (हिन्दी अनु० - ओम प्रकाश पाण्डेय)।
१८. वेद-विद्या - डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल।
१९. वेद-रश्मि - डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल।
२०. वेदकाल निर्णय - पं० दीनानाथ शास्त्री चुलेट।
२१. वेद रहस्य - श्री अरविंद घोष।
२२. वेदों में भारतीय संस्कृति - आद्या दत्त ठाकुर।
२३. वैदिक वाङ्मय का इतिहास - भगवद्दत्त (फरवरी, '७४)।
२४. वैदिक खिल सूक्त - परिशीलन - डॉ० ओम प्रकाश पाण्डेय।
२५. वैदिक साहित्य - पं० राम गोविंद त्रिवेदी।
२६. वैदिक व्याख्यानमाला - पं० सातवलेकर।
२७. वैदिक साहित्य और संस्कृति - पं० बलदेव उपाध्याय।
२८. वैदिक साहित्य और संस्कृति - डॉ० मुंशीराम शर्मा।
२९. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति - गिरिधिर शर्मा चतुर्वेदी।
३०. वैदिक सम्पत्ति - रघुनन्दन शर्मा।
३१. वैदिक इण्डेक्स - (मूल ले०ए० बी० कीप, हिन्दी अनु० चौखम्बा।)
३२. वैदिक देव शास्त्र (मूल ले०ए०ए० मैक्डानेल, हिन्दी अनु० डॉ० सूर्यकांत)
३३. सामवेदीय ब्राह्मणों का परिशीलन - डॉ० ओम् प्रकाश पाण्डेय (प्राप्ति स्थान - २३, मिलनी पार्क युनिवर्सिटी कैम्पस, बादशाह बाग, लखनऊ)।
३४. वैदिक व्याकरण - डॉ० रामगोपाल (नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
३५. वैदिक कोश - डॉ० सूर्यकांत, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ENGLISH WORKS

1. Atharvaveda and the Ayurveda - Karambelkar.
2. Aspectual Function of the Rigvedic Present and Aorist - J. Gonda.
3. Age of the Rigveda - N.N. Law.
4. Arctic home in the vedas - B.G. Tilak.
5. A History of Sanskrit Literature - A.A. Macdonell.
6. Collection of the Fragments of the last Brahmanas — B.K. Ghosh.
7. Epithets in Rigveda. J. Gonda.

8. History of Indian Literature - ed by. J. Gonda (Vedic Literature and Ritual Literature - Volumes)
9. History of ancient Sanskrit Literature - J. Maxmuller.
10. (a) History of Indian Literature - Weler.
    (b) History of Indian Literature - Winternitz.
11. India in Vedic Age — P.L. Bhargava.
12. India of Vedic Kalpasutras - Ram Gopal.
13. Lectures of Rigveda - Ghatey.
14. On the Veda - Aurvindo
15. Orion - B.G. Tilak.
16. Rigvedic India - A.C. Dass.
17. Rigvedic Geography of India - P.L. Bhargava.
18. Religion and Philosophy of Vedas and Upnishads - A.B. Keith.
19. Stylistic Repetitions in the Veda - J. Gonda.
20. The Religion of the Veda - Bloomfield.
21. The Vedic Metre - E.V. Arnold.
22. Vedic Lectures - V.S. Agrawal.
23. Vedic Age - A.D. Dasalkar.
24. Vedic Mathematics - Bharati Krishna Teertha.
25. Vedic Bibliography - (5 Volumes) R.N. Dandekar.
26. Vedic Mythology - A.A Macdonell.
27. Vedic India - L. Renou
28. Vedic Concordance - Bloomfield.
29. Vedic Index - A.B. Keith & Macdonell.
30. Vedic Grammar for Students - Macdonell.
31. Vedic Hymns - Oldenberg.
32. Vision of the Vedic Poets - J. Gonda.
33. Woman in the Rigveda - B.S. Upadhyaya.

शब्दानुक्रमणिका

प्रमुख पारिभाषिक शब्दों एवं नामों की सूची

वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप

ओमप्रकाश पाण्डेय

प्रस्तुत ग्रन्थ में वैदिक साहित्य और संस्कृति का सर्वांगीण, वैज्ञानिक, संतुलित और नवीन शोध-निष्कर्षों से संवलित समीक्षात्मक इतिहास निबद्ध है। ऋग्वैदिक खिल सूक्तों, वेदों के आधुनिक भारतीय भाष्यकारों, वैदिक विज्ञान और गणित, सामगान की प्रक्रिया, वैदिक काव्य के सौन्दर्य, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, भक्ति भावना, श्रौत-सूत्रों और वैदिक यज्ञों पर इसमें नई, विशिष्ट और विस्तृत सामग्री का समावेश है। वेद हमारे गौरव-ग्रन्थ हैं, इस तथ्य पर विशेष ध्यान रखा गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ सामान्य अध्येताओं, उच्च कक्षाओं के छात्रों और शोध-प्रज्ञों के लिए समान रूप से उपादेय है।

डॉ ओमप्रकाश पाण्डेय लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत प्राकृत विभाग में (उप) आचार्य पद पर पदासीन हैं। आपने प्राचीन परम्परा तथा आधुनिक उभयविध पद्धतियों से शिक्षा प्राप्त की, जिसकी परिणति डी. लिट् उपाधि में हुई। अब तक आपके 15 से अधिक शोध-ग्रन्थ तथा अनेक निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। आप संस्कृत भाषा, साहित्य और वैदिक वाङ्मय के विशिष्ट अध्येता के रूप में जाने जाते हैं।

ISBN : 81-7328-037-1

विश्व प्रकाशन

(वाइली ईस्टर्न लिमिटेड का प्रभाग)

नई दिल्ली • बंगलूर • बम्बई • कलकत्ता • गुवाहाटी • हैदराबाद
लखनऊ • मद्रास • पुणे • लन्दन